महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली

4



संकलन सम्पादन

भारत यायावर

महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली

4



किताब घर
नयी दिल्ली-110002

महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली

खण्ड : चार

संकलन-सम्पादन • भारत यायावर

● विश्व के अनेक देशों के इतिहास एवं वहाँ के नवजागरण संबंधी लेख। ● विदेशी वैज्ञानिकों, लेखकों, समाजसेवियों, शिक्षाविदों एवं राजनीतिज्ञों की जीवनियाँ ●

ISBN—81-7016-263-7

प्रकाशक
किताबघर
24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण

आवरण
सत्यसेवक मुखर्जी और चेतन दास

मूल्य
दो हज़ार एक सौ रुपये (खण्ड एक से खण्ड सात तक)

मुद्रक
चोपड़ा प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

MAHAVEER PRASAD DWIVEDI RACHNAVALI (Hindi)
Collected & Edited by Bharat Yayavar



पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी
(कांस्य प्रतिमूर्ति)

[illegible]

श्रीमान

[illegible]

[illegible]

2 [illegible]

क्रम

भाग : पाँच

भाग : छह

परिशिष्ट

सम्पादकीय

फरवरी, 1914 की 'सरस्वती' में सत्यशोधक का एक लेख द्विवेदीजी ने प्रकाशित किया था—'इतिहास का अध्ययन'। इसके प्रारम्भ में कहा गया है—"आजकल हिन्दी-संसार का ध्यान इतिहास की ओर दिन-दिन अधिक होता जा रहा है। उपन्यासों के साम्राज्य पर इतिहास और जीवन-चरित ने हमला कर दिया है। यद्यपि हमारे यहाँ गिबन, मेकाले या फ्रीमेन नहीं उत्पन्न हुए तथापि जितना ऐतिहासिक साहित्य प्रकाशित हुआ है और उसका जैसा स्वागत हुआ है उससे भविष्यत् में ऐतिहासिक उन्नति की बहुत कुछ आशा होती है।" यानी साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा [उपन्यास] से भी अधिक इतिहासपरक लेख एवं जीवनीपरक सामग्री की लोकप्रियता 1914 में बढ़ गयी थी। यद्यपि इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य होना अभी बाकी था। सहज ही उत्सुकता हो सकती है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इतिहास एवं जीवन-चरित के क्षेत्र में क्या लिखा जा रहा था, जिसके कारण उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी थी। उन सामग्रियो में एक बड़ा हिस्सा महावीरप्रसाद द्विवेदी का लिखा हुआ था। भारतीय इतिहास से संबंध रखने वाले लेखों को पाठक 'द्विवेदी रचनावली' के तीसरे खण्ड मे पढ़ चुके है। चौथे खण्ड में द्विवेदीजी की विश्वव्यापी इतिहास दृष्टि से पाठक परिचित होंगे। इसमें विश्व के अधिकांश भूखण्ड से संबंध रखने वाली ऐतिहासिक बातों के अलावा अनेक विदेशी महापुरुषों के जीवन-चरित भी संकलित किये गये हैं। इन सामग्रियों में अत्यधिक विविधता होने के कारण उन्हें कई भागों में बाँटना पड़ा है। पहले भाग मे प्राचीन भारत की सभ्यता-संस्कृति का दूसरे देशो में किस प्रकार विकास हुआ था, इसकी झलकियाँ है। दूसरे भाग में विदेशों में संस्कृत-साहित्य पर जो काम हुए थे एवं जिन कामों के कारण यूरोपीय समाज में भारत के प्रति दृष्टि बदली थी—उन सामग्रियों को संयोजित किया गया है। तीसरे भाग में विश्व के अनेक देशों पर विविध विषयो से संयोजित निबन्ध हैं। चौथे भाग में जीवन-चरितात्मक लेख है। पाँचवे भाग में उत्तर एवं दक्षिण ध्रुव की यात्रा का रोमांचक वर्णन है, साथ ही पुरातत्त्व संबंधी दो लेख। छठे भाग में विभिन्न देशों की जंगली जातियों यानी जन-जातियों पर समाजशास्त्रीय लेख हैं। परिशिष्ट में दो लेख रखे गये हैं। पहला—'भारत-वर्ष का वैदेशिक संसर्ग' इसमें लाला हरदयाल के एक अंग्रेजी लेख का सारांश प्रस्तुत करते हुए द्विवेदीजी ने अपनी बात कही है। दूसरा लेख एक सीरीज़ की तरह 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था—'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें'। यह जून, 1913 से नवम्बर, 1913 की 'सरस्वती' के पाँच अंकों में प्रकाशित हुआ था। पहले चार लेख त्रिमूर्ति शर्मा एवं अंतिम त्रिविक्रम शर्मा नाम से प्रकाशित हुआ था। त्रिविक्रम शर्मा अनेक नामों की तरह ही द्विवेदीजी का एक छद्म नाम था। त्रिमूर्ति शर्मा भी एक छद्म नाम

था, पर इस नाम से संभवत: माधवराव सप्रे लिखा करते थे। इस लेखमाला को परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

इस खण्ड के पहले भाग का पहला लेख है—'पेरू का प्राचीन सूर्य्य-मन्दिर'। इस लेख के प्रारम्भ में द्विवेदीजी पेरू राज्य का सामान्य परिचय देते हुए बताते हैं कि अमेरिका को ढूंढ़ निकालने का श्रेय कोलम्बस को दिया जाता है, परन्तु उसके पाँच-छह सौ वर्ष पहले ही नारवे के रहने वालों ने उसका पता लगाया था। उनमें कई वहीं पर बस गये थे एवं अमेरिका के प्राचीन निवासियों के साथ व्यापार करते थे। फिर किसी कारणवश वे अमेरिका से नारवे लौट गये। यह एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है। 'बौद्धों द्वारा अमेरिका का आविष्कार' में वे दूसरे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य से परिचित करवाते हैं कि सबसे पहले बौद्ध ही थे जो अमेरिका महादेश में पहुँचे थे और जिन्होंने अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म का वहाँ की जन-जातियों में प्रचार-प्रसार किया था, जिनके अवशेष अब भी वहाँ पाये जाते हैं। बौद्धों ने जिन तंत्र-मंत्र, जादू-टोना का प्रचार वहाँ के रेड-इंडियन्स में किया था, वह बाद में [लैटिन अमेरिका में] कुछ स्पेनिश लोगों द्वारा अपनाया गया और उसकी परम्परा अब भी कायम है। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित मारक्वेज ने इन्हीं तांत्रिकों आदि के जादू-टोने का चित्रण अपने कथा-साहित्य में करके 'जादुई यथार्थवाद' का उद्घोष किया है।

पूरे अमेरिका में पेरू की सभ्यता बहुत विकसित थी। द्विवेदीजी वहाँ के सूर्य-मन्दिर को देखकर अनुमान लगाते हैं कि जरूर भारत के किसी महापुरुष ने पेरू पहुँच कर सूर्य-पूजा का प्रचलन वहाँ करवाया होगा। क्योंकि [द्विवेदीजी के मत में] बौद्ध लोगों का चीन, जापान, तिब्बत, लंका, कोरिया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो आदि देशों और द्वीपों को जाना तो सिद्ध ही है। इसलिए सूर्य और गणपति आदि के उपासकों का अमेरिका जाना असंभव नहीं। साथ ही एक तथ्य यह भी है कि पेरू का जो सूर्य-मन्दिर है, उसकी बनावट एवं आकृति, झाँसी के पास, उनाव गाँव में स्थापित सूर्य-मन्दिर से मिलती है। इन दोनों मन्दिरों की मूर्तियों में भी साम्य है।

इस क्रम का दूसरा लेख है—'प्राचीन मिश्र में हिन्दुओं की आबादी'। इस लेख में भी द्विवेदीजी प्राचीन भारतवासियो की दुर्जय-यात्रा का चित्रण करते हुए मिश्र में प्राचीन आर्यों की सभ्यता-संस्कृति के विषय में अनेक प्रमाण देते हैं। द्विवेदीजी बताते हैं कि प्राचीन मिश्रवाले हिन्दुस्तानियों ही के वंशज थे। मार्टन नाम के एक साहब ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि मसाला लगे हुए मुर्दों की सौ में अस्सी खोपड़ियाँ आर्य जाति की थी। भारत के समान मिश्रवाले भी कई वर्णों में विभक्त थे। मिश्र की साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी कब्रों में जो लकड़ियाँ पायी गयी है, वे सिर्फ भारत में ही होती हैं।

'बाली-द्वीप में हिन्दुओं का राज्य', 'कम्बोडिया में प्राचीन हिन्दू-राज्य', 'अफगानिस्तान में बौद्धकालीन चिह्न', 'जावा और सुमात्रा आदि द्वीपों में प्राचीन हिन्दू-सभ्यता' जैसे निबन्धों को लिखकर द्विवेदीजी ने प्राचीन भारतवासियों की साहसिक समुद्री यात्राओं को दर्शाते हुए विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों में स्थापित अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को सप्रमाण दर्शाया है। ये निबन्ध भारतीय इतिहास के अविस्मरणीय पन्ने हैं,

जो भारतवासियों में अपने अतीत का गौरव-गान पढ़कर आत्म-गौरव का भाव भरते थे, उनकी दीन-हीनता एवं पराधीनता की दशा में नवजागरण का संचार करते थे। ये पन्ने द्विवेदीजी के समय में एक दस्तावेज़ की तरह थे और आज भी धरोहर रूप में सुरक्षित हैं, साथ ही, उतने ही उत्प्रेरक, ताज़ा और पठनीय-संग्रहणीय।

पराधीन भारतवासियों के आत्म-गौरव को बढ़ाने वाला एवं पूरी दुनिया के सामने उसकी समृद्ध सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्परा को दर्शाने वाला संस्कृत का विपुल साहित्य जब यूरोपीयन विद्वानों की निगाहों से गुजरा एवं जब उन पर काम होने लगा, तब भारत के प्रति यूरोपीयन जनता के मन में आदर का संचार हुआ। इन विदेशी विद्वानों ने किस तरह संस्कृत साहित्य पर काम करना शुरू किया एवं उनके कामों का विवरण क्या है, इसे हिन्दी में सबसे अधिक द्विवेदीजी ने दर्शाया है। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा किये गये संस्कृत ग्रंथों के भाष्यों, टीकाओं एवं समालोचनाओं से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि भारत के प्राचीन इतिहास की विपुल सामग्रियाँ उजागर हुईं। दूसरा लाभ यह हुआ कि भारतीय दर्शन, साहित्य एवं ज्योतिष के विषय में भारतवासियों की प्राचीनता (इस संदर्भ में) पूरी दुनिया के हर देश से अधिक सिद्ध हुई। संस्कृत भाषा सीखने वाले पहले अंग्रेज अधिकारी विलियम जोन्स थे। इन्होंने किस तरह संस्कृत सीखी, इसका विवरण बेहद रोचक एवं पठनीय है, जिसे द्विवेदीजी ने पहली बार प्रस्तुत किया। संस्कृत भाषा सीखकर विलियम जोन्स ने 'मनु-स्मृति' एवं कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के अनुवाद से इंगलैंड के विद्वानों में तहलका मच गया। जो अंग्रेज भारतवासियों को अफ्रीकी जनजातियों की तरह असभ्य समझते थे, प्राचीन भारत की इस महान् कृति से अभिभूत हो गये एवं भारतीय लोगों के प्रति उनके मन में आदर का भाव जाग्रत हुआ। इसके बाद अनेक संस्कृत भाषा सीखने की ओर उत्प्रेरित हुए और इंगलैंड, जर्मनी तथा फ्रांस में अनेक संस्कृत भाषाविद् हुए, जिन्होंने विपुल संस्कृत साहित्य का अवगाहन किया। इनमें दो बड़े व्यक्तित्व हो चुके हैं—मैक्समूलर एवं मैकडोनल। मैक्समूलर से द्विवेदीजी का पत्राचार भी होता था। मैक्समूलर एवं मैकडोनल ने अपने नाम संस्कृत-प्रेम के कारण मोक्षमूलर भट्ट एवं मुग्धानलाचार्य्य तक रख लिये थे। द्विवेदीजी ने मैकडोनल की अलग से जीवनी लिखकर उनकी विचारधारा की आलोचना की है। दूसरे संस्कृत विद्वान् डॉ० कीलहार्न थे, जब मैक्समूलर साहब ऋग्वेद का सम्पादन कर रहे थे तब कुछ समय तक कीलहार्न ने भी उनकी सहायता की थी। द्विवेदीजी ने अलग से उन पर भी लेख लिखा है। द्विवेदी जी ने 'विदेशी विद्वान' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"इस चरितमाला के चार चरित ऐसे पुरुषों के हैं, जिन्होंने भारत से हज़ारों कोस दूर योरप में जन्म लेकर, केवल विद्याभिरुचि की उच्च प्रेरणा से, संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और अनेक उपयोगी ग्रंथों की रचना भी की। एक ने अरबी के सदृश क्लिष्ट भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त करके अरब के निवासी विद्वानों तक से साधुवाद प्राप्त किये। अलबरूनी ने तो, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर यहीं भारत में संस्कृत भाषा सीखी और वह अपनी भाषा में एक ऐसा ग्रंथ लिखकर छोड़ गया, जो अब तक बड़े ही महत्त्व का समझा जाता है।" 'विदेशी विद्वान'

पुस्तक में संकलित चार संस्कृतज्ञ विद्वान हैं—हर्मन जी० जैकोबी, डाक्टर जी० थीबो, मुग्धानलाचार्य्य एवं डॉक्टर कीलहार्न । अरबी भाषा के विद्वान हैं—एडवर्ड हेनरी पामर। ये सभी जीवन-चरित इस खण्ड में संकलित हैं ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विजेता जाति जिस देश पर अपना अधिकार करती है, उसकी सभ्यता, संस्कृति, उद्योग-धंधों को ही सिर्फ नष्ट नहीं करती, अपितु उसके जातीय गौरवशाली इतिहास को भी समाप्त कर देती है, सदियों से संचित उस देश के ज्ञान-विज्ञान और साहित्य को समाप्त करने के लिए वहाँ के ग्रंथों को भी जला डालती है । भारत में ऐसा ही लम्बे समय तक मुसलिम आक्रमणकारियों ने किया। अँगरेज़ो की आक्रामकता इनसे कम नही थी या ऐसा नही है कि उन्होंने हिन्दुस्तान मे अपना हिंसक रूप नहीं दिखलाया, परन्तु अँगरेज-जाति में एक सबसे बड़ा गुण था कि उसका साहित्य-प्रेम बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। इसी साहित्य-प्रेम के कारण वहाँ के कई विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य पर काम करते हुए अपना जीवन बिता दिया। द्विवेदीजी ने 'अँगरेज़ो का साहित्य-प्रेम' निबन्ध में इस बात को दर्शाया है ।

तीसरे भाग मे विविध-विषयक निबन्ध हैं । इन निबन्धों मे द्विवेदीजी की विश्व राजनीतिक चेतना बेहद मुखर है । पहला निबन्ध कोरिया पर है। इसमें कोरिया के इतिहास की एक झलक दिखलाने के बाद उसकी वर्तमान राजनैतिक स्थिति पर द्विवेदी जी ने प्रकाश डाला है। वे लिखते है—कोरिया में रूस का संचार जापान की आँखों का काँटा हो रहा है; वह उसे बहुत खटकता है। रूस का माहात्म्य यदि कोरिया में बढ़ा तो जापान की शक्ति कुछ अवश्य ही क्षीण हो जायगी। अतएव जापान की हानि सर्वथा सम्भव है। फिर एक ऐसी शक्ति का पास आ जाना, जिसकी राज्य-बुभुक्षा कभी शान्त नहीं होती, कदापि मंगलजनक नही हो सकता। इस लेख के अन्त मे द्विवेदीजी बताते हैं—"इस समय यही कोरिया-नरेश दो नृपति-सिंहों के पेचे में पड़े हुए हैं। यद्यपि उनसे, इन दोनों मे से कोई भी शत्रु-भाव नहीं रखता, तथापि यह रणाग्नि, जो इस समय सुलग रही है, उन्हीं के देश को ग्रास करने के लिए है।" यानी जापान और रूस का जो युद्ध छिड़ा, उसका मुख्य कारण कोरिया था। 1894 ई० मे जापान का चीन के साथ जो युद्ध हुआ था, उसका कारण भी कोरिया ही था। द्विवेदीजी लिखते हैं—"1894 तक इनी ई का राजत्व, चीन की रक्षा मे, अखण्डित बना रहा। परन्तु इस वर्ष जापान ने कोरिया के ऊपर चीन का स्वत्व स्वीकार न किया। चीन और जापान के युद्ध का यह भी एक कारण हुआ। इस युद्ध में जापान विजयी हुआ। चीन के साथ उसकी सन्धि हुई। सन्धि मे चीन ने कोरिया पर अपने प्रभुत्व का दावा छोड़ा। तब से कोरिया ने जापान की रक्षा में रहना कबूल किया।" द्विवेदीजी ने जुलाई, 1904 की 'सरस्वती' में जापान के मारकुइस ईटो का जीवन-चरित लिखकर प्रकाशित किया, जिसके प्रारम्भ में वे कहते हैं—"जिस विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष ने जापान को अल्पकाल ही में इस योग्य कर दिया कि उसने संसार में सबसे बड़े शक्तिशाली देश, रूस को परास्त कर दिया, उसका नाम ईटो है।" ईटो का चरित कितना महान् था, इसकी बानगी भी द्विवेदीजी के ही

शब्दों में सुनिए—"मारकुइस ईटो उदारता की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। उन्होंने अनेक होनहार युवकों की वित्त बाहर सहायता की है। वे युवक इस समय जापान में बहुत अच्छे-अच्छे पदों पर अधिष्ठित हैं। चीन के कोठलो हंग-चंग की तरह अगर वे भी चाहते तो अपरिमित धन संचय कर लेते। परन्तु वे अत्यन्त सत्य-प्रिय, संतोषी और नेक-नीयत आदमी हैं। अनुचित मार्ग से द्रव्य इकट्ठा करना वे महान पातक समझते हैं।—इस समय भूमण्डल के भिन्न-भिन्न देशों के जितने प्रधानमन्त्री हैं, मारकुइस ईटो उन सब में सबसे कम धनी हैं।" और अंत में, द्विवेदीजी उनके बारे में ये शब्द कहते हैं—"नीति-पटुता में वे चाणक्य हैं, देशभक्ति में वे विलियम पिट हैं; दृढ़ता और साहस में वे वाशिंगटन हैं; सन्धि-विग्रह में वे बिस्मार्क है। ऐसे मारकुइस ईटो के अनवरत परिश्रम से उन्नत और उत्साहित हुआ जापान इस समय संसार के सबसे अधिक बलवान राज्य से भिड़कर उसे उसने पछाड़ दिया। इस तरह उसने अपने निःसीम साहस और रण-कौशल से संसार को चकित कर दिया है।" जापान की रूस पर जीत एशिया वाले खासकर भारतवासियों के मन में एक नवीन साहस और उत्साह का संचार कर रहा था। द्विवेदीजी ये विवरण देते हुए कितनी स्फूर्ति और ओज में थे, यह उनके शब्दों से झलकता है। इसी युद्ध के सन्दर्भ में उन्होंने रूस के सेनानायक जनरल कुरोपाटकिन का जीवन-चरित लिखा। कुरोपाटकिन के सैन्य संचालन में रूस कई दिग्विजय कर चुका था। उसकी जापानियों द्वारा निरन्तर हार को देखते हुए द्विवेदीजी मानो हर्ष से भरे हुए थे। वे लिखते हैं—कुरोपाटकिन का नाम हमारे देशवासियों में से पहले प्रायः बहुत कम लोग जानते रहे होंगे। परन्तु जब से रूस और जापान का युद्ध छिडा है, तब से जनरल कुरोपाटकिन का नाम सबकी जबान पर है। आपने अमानुषी वीरता के काम किये हैं; आप साहस और शौर्य की मूर्ति हैं; बल में आप भीमकाय भीम के समान हैं। आपके सेना-नायकत्व की बहुत बड़ी शोहरत है। परन्तु ऐसे विश्वविख्यात वीर के द्वारा संचालित सेना को खर्वाकार [यानी बौने] भतखौवे जापानी पराजय पर पराजय देते चले जा रहे है। उस की समग्र स्थल-सेना का नायकत्व स्वीकार करके पुनः-पुनः परास्त होते देख कुरोपाटकिन अपने मन में क्या कहते होंगे, यह नहीं जाना जा सकता। क्या पीत-वर्ण जापानी कुरोपाटकिन के पूर्व संचित यश को बिल्कुल ही काला कर देंगे?" इस नन्हे-से जापान की यह वीरता, रण-कौशल आश्चर्य में डाल देने वाली थी। इससे जापान का महत्त्व पूरी दुनिया में सिद्ध हो गया और जापान एशियावालो के आत्म-गौरव का सम्बल बना। जापान की इस उन्नति का राज क्या था; इसका खुलासा द्विवेदीजी ने सितम्बर, 1912 की 'सरस्वती' में मिकाडो मुत्सू हीटो की संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करते हुए किया। इस लेख के प्रारम्भ में वे कहते हैं—"जिस नन्हे-से जापान ने हाल ही में संसार की महाशक्ति रूस को रण-क्षेत्र में पछाड़ा था, जिसके बल और वैभव, उन्नति और पराक्रम का इतने थोड़े ही काल में विकास होते देख संसार के बड़े-बड़े उन्नतिशील देशों तक को आश्चर्य से दांतों तले उँगली दबानी पड़ी थी और जिसने अपने बल द्वारा संसार की महान् से महान् जातियों की पंक्ति में खड़े होने का स्वत्व प्राप्त करके पूर्व के नीचे झुके हुए सिर को ऊपर उठाया था, उसे इस उन्नतावस्था को पहुँचाने के सबसे बड़े सूत्रधार, उसके सम्राट मुत्सू हीटो, का

देहान्त 29 जुलाई, 1912 को हो गया।'' यहाँ 'पूर्व के नीचे झुके हुए सिर' से तात्पर्य एशिया के दीन-हीन-पराधीन देशों से है, जो जापान के विकास के कारण आत्म-गौरव महसूस कर रहे थे। द्विवेदीजी ने 'जापान की शिक्षा-प्रणाली', 'जापान के स्कूलों में जीवन-चरित शिक्षा' एवं 'जापान और भारत में शिक्षा का तारतम्य' निबन्ध लिखकर अपने देश के शिक्षाविदों के सामने उनके आदर्श रखे। वहीं 'चीन के विश्वविद्यालयों की परीक्षा-प्रणाली' निबन्ध लिखकर उनकी हीनता पर प्रकाश डाला।

द्विवेदीजी ने अमेरिका पर 'सरस्वती' में अनेक लेख प्रकाशित किये। उन्होंने 'अमेरिका के गाँव' एवं 'अमेरिका में कृषि-कार्य' निबन्ध लिखकर अपने देश के कृषकों के सामने उसका आदर्श रूप निर्मित किया। वे अपने कृषक-बन्धुओं का आवाहन करते हैं कि पुरानी प्रणाली को छोड़कर किस तरह वैज्ञानिक रीति से खेती करें एवं अपने गाँवों को एक आदर्श ढाँचा दें। पर अमेरिका की एक युवती के नीलाम की खबर जब पढ़ते हैं, तब वहाँ की सभ्यता का मानो मज़ाक उड़ाते हुए अंत में कहते हैं—''ये सब सभ्यता के चोंचले हैं। देखते जाइए, यूरप और अमेरिका के सभ्य समाज में क्या-क्या गुल खिलते है !'' ['एक तरुणी का नीलाम' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत।]

यूरोप और अमेरिका की सभ्यता के इन्हीं चोंचलों को उजागर करने के क्रम में उन्होंने काफी कुछ लिखा है, जिनमें से एक निबन्ध है—'विलायत में उपाधियों का क्रय-विक्रय'। यह प्रकरण उसी विलायत में हो रहा था, जहाँ के अँगरेजों के पराक्रम पर द्विवेदी जी ने एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा था और बताया था कि किस तरह अँगरेज़ी प्रजा ने अपने पराक्रम के बल पर विलायत यानी इंगलैंड में पुरानी राजनीतिक व्यवस्था को समाप्त कर, नई प्रजातांत्रिक व्यवस्था की नींव रखी। उसी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में इंगलैंड की दोनों राजनीतिक पार्टियाँ पैसे लेकर किस तरह लोगों को उपाधियों से विभूषित करती हैं।

द्विवेदीजी ने कुछ देशों पर अलग से लिखा है जिसमें नेपाल, तिब्बत और बलगारिया प्रमुख हैं। इन देशों के भौगोलिक परिदृश्य को रखते हुए उनके पूरे इतिहास से परिचित करवा कर उनकी वर्तमान स्थिति की यथार्थ छवि वे प्रस्तुत करते हैं। तिब्बत पर जापानी कावागुची की यात्रा का वृत्तान्त संक्षेप में प्रस्तुत कर वे वहाँ के जीवन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

द्विवेदीजी का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध है—'लीग ऑफ नेशन्स का ख़र्च और भारत'। इस निबन्ध के प्रारम्भ में वे कहते हैं—''सन् 1857 के ग़दर की याद कीजिए। उसमें बड़ी-बड़ी नृशंसताएँ हुई थीं। कितने ही क़त्ले-आम भी शायद हुए थे। पर उन सबका सविस्तर और सच्चा वर्णन कहीं नहीं मिलता। लोगों का कहना है कि उनमें कुछ नृशंस बातें बढ़ाकर लिखी गयी हैं और कुछ पर धूल डाली गयी है। कलकत्ते के ब्लैक होल और कानपुर के क़त्ल की कथा तो खूब विस्तार के साथ और शायद बढ़ाकर भी लिखी गयी है। पर गोरों ने कालों पर जो अत्याचार किये हैं उन पर कम प्रकाश डाला गया है और कुछ घटनाओं पर तो बिल्कुल डाला ही नहीं गया।'' अँगरेज़ों के द्वारा दिये गये विवरण के आधार पर कानपुर में नाना साहब के द्वारा किये गये अँगरेज़ों

के नरसंहार एवं कलकत्ते के ब्लैक होल यानी काल-कोठरी का विवरण द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में लिखा था, जिनमें से दूसरे को रचनावली के तीसरे खण्ड में संयोजित भी किया गया है। कलकत्ते की कालकोठरी सर्वथा एक काल्पनिक चित्रण था, ऐसा द्विवेदीजी ने बाद में 'सरस्वती' मे प्रमाणित भी किया। वे इशारा इस ओर कर रहे हैं कि साम्राज्यवादियों द्वारा जो अत्याचार एवं कत्ले-आम किये गये, उन्हें वे छिपाते थे। गोरों द्वारा कालों पर किये गये अत्याचार को दर्शाने के लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ शुरू किये गये गांधी जी के आन्दोलन को आधार बनाकर 'निष्क्रिय प्रतिरोध का परिणाम' निबंध लिखा। इन्ही कालों में बुकर टी० वाशिगटन, जो नीग्रो जाति के थे, अमेरिका में एक बड़े व्यक्तित्व के रूप में उभरते है, तो द्विवेदीजी उनकी जीवनी 'सरस्वती' के पाठकों के लिए प्रस्तुत करते है। बुकर टी० वाशिंगटन की मृत्यु पर वे पुनः एक टिप्पणी लिखते हैं और उनके कार्यों को याद करते है। द्विवेदी जी इस काली जाति के महापुरुष को स्मरण करते हुए कहते है—"भारत को भी ऐसे ही सच्चे कर्म्मवीरों की आवश्यकता है। परमात्मा इस दीन भारत में भी एक-आध बुकर पैदा करने की कृपा करें।" 'लीग ऑफ नेशन्स का खर्च और भारत' निबन्ध में आगे द्विवेदीजी लिखते है—"नये जीते हुए देशों के निवासियों पर विजेता जाति, कभी-कभी भीषण अत्याचार कर बैठती है, यह तो इतिहास-प्रसिद्ध ही है। मिश्र, सीरिया, काँगो, रीफ प्रांत बालकन प्रदेश, कोरिया आदि के निवासियो के साथ कैसे-कैसे सलूक किये गये है, यह बात इतिहास-प्रेमियों और समाचार-पत्रों के पाठको से छिपी नही। योरप के कितने ही देश पशुबल में बहुत समय से प्रबल हो रहे है। इसी से उन्होंने अनेक अन्य निर्बल देशों को जीतकर उन पर अपना प्रभुत्व जमाया है। इस प्रभुत्व-जमौवल के कारण उन्हें बहुधा वहाँ के निवासियों पर जोरो-जुल्म भी करना पड़ा है और अब भी करना पड़ता है। चीन में इस समय क्या हो रहा है और बाक्सर-विद्रोह के समय क्या हुआ था, ये सब घटनाएँ उसी पशुबल और आतंक-जमौवल के उदाहरण है। भारत भी इसका शिकार हो चुका है और किसी हद तक अब भी इसका शिकार है।" यह है द्विवेदीजी की साम्राज्य-विरोधी चेतना। यूरप की सभी साम्राज्यवादी ताकतें इस लिप्सा में शामिल थीं और जहाँ उनके स्वार्थ टकराये, वे एक-दूसरे से भिड़ पड़ीं और प्रथम विश्वयुद्ध का भीषण संग्राम छिड़ पड़ा। इस युद्ध में छल-बल से जर्मनी को पराजित कर दिया गया, पर इन सभी देशों की जन-बल-धन की हानि हुई, तब उन्होंने 'लीग ऑफ नेशन्स' नामक संस्था की बुनियाद मिलजुलकर डाली। पर इसमें बोलबाला शक्तिशाली, समृद्ध देशों का ही रहा और यह लीग उन्हीं के हित-साधन में लगा रहा। द्विवेदीजी बताते हैं कि "इसके नियमों में एक नियम यह भी है कि यदि कोई देश किसी देश-विशेष पर अकारण ही, अथवा किसी क्षुद्र कारण से आक्रमण करे तो शान्ति-सभा उसकी रक्षा करेगी। पर रीफों के सरदार अब्दुल करीम पर अभी उस दिन फ्रांस और स्पेन के तथा सीरिया पर फ्रांस के जो आक्रमण हुए उनसे इस लीग ने उन देशों की रक्षा तो दूर, उन आक्रमणों के विषय में विशेष चर्चा तक अपने अधिवेशनों में न की। इधर विदेशी राज्यों के विशेषाधिकारों के कारण चीन में जो उत्पात हो रहे हैं, उन पर भी इस सभा ने टीका-टिप्पणी

तक नहीं की।" यह थी उस लीग की असलियत। पाठक द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गठित संयुक्त राष्ट्र संघ के चरित्र का इस लीग से मिलान करें और द्विवेदीजी की आलोचना को पढ़ें तो लगेगा जैसे वे संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में ही ये बातें कह रहे हों।

चौथे भाग में द्विवेदी जी द्वारा लिखे गये विभिन्न एवं विशिष्ट विदेशियों के जीवन-चरित हैं। ये जीवनियाँ विभिन्न तरह के व्यक्तित्वों पर हैं। इनमें वैज्ञानिक, साहित्यकार, पत्रकार, शिक्षाविद्, संस्कृतविद्, राजनयिक, दार्शनिक, विचारक, तत्त्ववेत्ता, समाज-सुधारक, पहलवान आदि हैं। इनमें से कुछ जीवन-चरितों की चर्चा हम पहले ही कर आये है। कुछ की चर्चा आगे करेंगे।

कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन यूरप के प्रारम्भिक वैज्ञानिक थे, जिनके जीवन-चरित सबसे पहले द्विवेदीजी ने लिखे। कोपर्निकस ने सबसे पहले ज्योतिष-विद्या का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया था और यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। उसने अपनी पुस्तक मृत्यु के कुछ दिन पूर्व ही छपवायी थी। द्विवेदी जी लिखते हैं कि पुस्तक छपने के अनन्तर वह कुछ दिन जीता रहता तो शायद उसे वही दुख भोगने पड़ते जो गैलीलियो को भोगने पड़े। गैलीलियो ने सबसे पहले दूरबीन का आविष्कार किया और उसके द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, और शनैश्चर आदि ग्रहों को देखकर उनके आकार, उनकी चाल और उनकी बनावट के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। और यह कहकर कोपर्निकस के मत को पुष्ट किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। पहले-पहल जब उसने यह बात प्रकाशित की कि पृथ्वी के समान चन्द्रमा पर भी पर्वत, गड्ढे और ऊँचे-नीचे स्थान हैं, तब पुराने विचार के लोग उसको खुल्लमखुल्ला गालियाँ देने लगे और उसकी शिकायत रोम के प्रधान धर्म्माधिकारी पोप से उन्होंने की। 1615 ई० में बाइबल के प्रतिकूल मत प्रचलित करने के इलजाम पर पोप ने गैलीलियो पर अभियोग चलाया। ऐसे ही एक अभियोग पर ब्रूनो नामक एक विद्वान को जिंदा जला दिया गया था और अंटोनियो डिडामिनस छह वर्ष तक कारागार में रहकर वहीं मर गया था। गैलीलियो ने इसी डर से न्यायाधीश के सामने यह स्वीकार किया कि जो बाइबल में लिखा है, वही सच है, मेरा मत गलत है। ऐसा करके उसने अपनी जान बचाई। पर वह चुपचाप अपना काम करता रहा। 1623 ई० में उसने अपनी दूसरी पुस्तक प्रकाशित की। इस पर भी बेहद हंगामा हुआ। पूरे रोमवासी उसके शत्रु हो गये। इस बार भी उस पर अभियोग लगाया गया और उसने माफी माँगी। 1642 ई० में गैलीलियो की मृत्यु हुई और इसी वर्ष न्यूटन का जन्म हुआ, जिसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का पता लगाया। गैलीलियो की बनाई दूरबीन की खामियों को इसने दूर किया। वह जीवन भर गणित एवं विज्ञान की नई खोज में लगा रहा। द्विवेदी जी बताते हैं कि यदि न्यूटन इंगलैंड में नहीं उत्पन्न हुआ होता तो शायद गैलीलियो की तरह उसे भी अनेक दुख और आपत्तियाँ झेलने पड़तीं।

इन जीवन-चरितों में अंतिम लुई पास्टर पर है, जो विश्व का प्रसिद्ध रसायन-

शास्त्री था। इसने कई संक्रामक रोगों का इलाज ढूंढ़ निकाला था। पागल कुत्ते के काटने से जो रोग होता है, उसकी दवा भी इसी ने ईजाद की थी।

मिल और स्पेन्सर की पुस्तकों के अनुवाद द्विवेदी जी ने किये थे, जो अपने समय में बेहद प्रशंसित हुए थे। द्विवेदीजी मिल और स्पेन्सर से बेहद प्रभावित भी थे और उनकी विचारधारा पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ा था। इन दोनों महान् चिंतकों की जीवनियाँ बेहद प्रेरक है।

फ़ारसी कवि 'हाफिज़' एवं 'अलबरुनी' की जीवनियाँ उनके फ़ारसी-ज्ञान का प्रत्यक्ष नमूना है। सुल्तान अब्दुल अज़ीज़ के जीवन-चरित के बहाने मुराको के इतिहास एवं उसकी वर्तमान राजनीतिक दशा का चित्रण किया गया है। उसी तरह अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ के चरित-चित्रण के साथ अफ़ग़ानिस्तान का एवं अफ्रीका के देश अबीसिनिया का इतिहास और वहाँ के वर्तमान शासक हबशीराज मैंग्यलिक के जीवन-चरित को प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह का जीवन-चरित फ़ारस के शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन का लिखा गया है।

विश्व कविता में आधुनिकता की शुरुआत करने वाले कवि वाल्ट ह्विटमैन एवं विक्टर ह्यूगो की संक्षिप्त जीवनियाँ एवं उनकी कविताओं का सामान्य परिचय भी द्विवेदीजी ने लिखा था, जो इसी भाग में संकलित हैं।

भाग पाँच में उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव की विभिन्न लोगों द्वारा की गयी यात्राओं का रोमांचक वर्णन है। इसी भाग में दुनिया के सबसे पुराने ज्वालामुखी पर्वत विस्यू-वियस पर दो लेख हैं एवं इसी विस्यूवियस के विस्फोट से नष्ट हुए प्राचीन युग के पांपियाई नगर का वर्णन भी। साथ ही पुरातत्त्व-सम्बन्धी दो लेख हैं जिनमें से एक डायनासोर पर है।

छठे भाग में आदिवासी जन-जातियों पर समाजशास्त्रीय लेख है। इनमें से पाँच अफ्रीकी जनजातियों पर हैं। एक प्रशात महासागर के टापुओं की जन-जातियों पर है। एक मैक्सिको की प्राचीन जन-जाति पर। एक मिशमी जाति पर एवं एक अंडमान-निकोबार द्वीप की जन-जातियों पर। द्विवेदी जी बताते हैं कि इन जन-जातियों के बीच यूरोपीयन देशों के लोगो के पहुँचने पर क्या-क्या कारनामे हुए। ये लेख कहानी पढ़ने का-सा सुख देते हैं।

परिशिष्ट में संकलित 'भारतवर्ष का वैदेशिक संसर्ग' लेख के प्रारम्भ में द्विवेदी जी बताते हैं कि कोई भी देश अन्य उन्नत देशों के साथ सम्पर्क रक्खे बिना उन्नति नहीं कर सकता। भारतवासी यदि अवनति के गढ़े से निकल कर उन्नति के शिखर पर चढ़ना चाहते हैं तो उन्हें भी, जापानियों की तरह संसार के सम्पूर्ण सभ्य और उन्नत देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इसी में भारतवर्ष का कल्याण है। इसी लेख में आगे वे लाला हरदयाल के एक अँगरेजी लेख का सार-संक्षेप अपनी बात को विस्तार देने के लिए प्रस्तुत करते हैं।

परिशिष्ट में संकलित दूसरा लेख 'यूरप के इतिहास से सीखने योग्य बातें'

'सरस्वती' के पाँच अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। यह लेख निम्न-लिखित उपशीर्षकों में बँटा हुआ है—(1) ग्रीस, रोम, (2) विद्या का पुनरुज्जीवन, (3) इंगलैंड में राज्य-क्रांति, (4) फ्रांस में राज्य-क्रांति, (5) धार्म्मिक परिवर्तन। इन उपशीर्षकों को देखकर ही इस लेख के विषय का अनुमान पाठकों को हो सकता है।

—भारत यायावर

भाग : एक

पेरू का प्राचीन सूर्य्य-मन्दिर

पेरू का प्रजातन्त्र राज्य दक्षिणी अमेरिका में है। उसका विस्तार 5,02,760 वर्गमील है। उसकी लम्बाई 1240 मील और चौड़ाई 70 से 600 मील तक है। पेरू में, सैंकड़ों कोस तक, बालुकामय उजाड़ मैदान चले गये हैं, जहाँ न तो कोई पशु-पक्षी आदि जीव ही रह सकते हैं, और न घास का एक तिनका ही उग सकता है। बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वत भी पेरू में कई एक है। वहाँ प्रायः कभी पानी नहीं बरसता। यदि वहाँ सोने और चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं की खानें न होतीं तो कदाचित् ही सभ्य देशों के वासी वहाँ रह सकते। पेरू का प्रजा-सत्तात्मक स्वतन्त्र राज्य प्रशान्त-महासागर से लगा हुआ है। उसकी राजधानी लीमा नगर है।

अमेरिका को ढूँढ निकालने का सारा यश कोलम्बस ही को दिया जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। परन्तु उसके पाँच-छ: सौ वर्ष पहले ही नारवे के रहने वाले नारवेजियन लोग अमेरिका गये थे और कई जगह बस गये थे। बहुत वर्षों तक उन्होंने अमेरिका के प्राचीन निवासियों के साथ व्यापार किया; परन्तु किसी कारण से, वे वहाँ से अपने देश को लौट गये और फिर वहाँ नहीं जा सके। इस विषय के अनेक प्रमाण मिले हैं; एक आध लेख भी पाये गये हैं। इसलिए कोलम्बस के पहले नारवेजियन लोगों का अमेरिका जाना निर्विवाद है।

अमेरिका के प्राचीन निवासी प्रायः असभ्य और जंगली हैं। परन्तु पेरू के आदिम निवासी वैसे नहीं। वहाँ सभ्यता का प्रचार बहुत पुराने समय से है। 1587 ईसवी में, जब पहले-पहल स्पेन वाले पेरू में पहुँचे तब उन्होंने वहाँ ह्वेना कपक नामक राजा को राज्य करते पाया। वह अपने वंश का बारहवाँ राजा था। उसकी राजधानी कज़को नगर में थी। उस समय पेरू में सभ्यता का बहुत कुछ प्रचार था। प्रजा से कर लिया जाता था; न्यायाधीश नियत थे; प्रजा की रक्षा के लिए सेना रक्खी गई थी, खेती खूब होती थी; मकान अच्छे-अच्छे थे; अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र-आभूषण आदि भी काम में आते थे; पुस्तकें थीं; काव्य था; धर्म्म-शास्त्र था। सभ्यता के प्रायः सभी चिह्न थे। 1531 ईसवी में, स्पेन के पिजारो नामक सेनापति ने, ह्वेना कपक राजा पर विजय प्राप्त करके, उसकी राजधानी कज़को अपने अधिकार में कर ली। तब से पेरू का प्राचीन राज्य नष्ट हो गया। पिज़ारो ने पेरूवालों को विद्या, बुद्धि, सभ्यता और कला-कौशल में अपने से बहुत बढ़कर पाया। उन लोगो ने पिज़ारो को सोने-चाँदी के बहुमूल्य आभूषण और रेशम और ऊन के बहुमूल्य वस्त्र नज़र किये।

पेरू की सरहद में टीटी काका नामक एक बड़ी झील है। कहते हैं, कोई

1000 वर्ष हुए उसके किनारे मानको कपक नामक एक मनुष्य अपनी स्त्री और बहन के साथ आया। देखने में उसका डीलडौल बहुत भव्य था। वह अपने को 'सूर्य्य का पुत्र' कहता था। उसने दूर-दूर जाकर व्याख्यानों द्वारा वहाँ के प्राचीन निवासियों को अपने अधीन कर लिया। कुछ दिनों में उसने कज़को नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। मानको कपक ने क्रम-क्रम से सारा पेरू अपने अधिकार में कर लिया और आप वहाँ का राजा हो गया। वह धार्म्मिक, न्यायी और बुद्धिमान था। उसने लोगों में धार्म्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रचार किया; सबको खेती करना, कपड़ा बुनना और उत्तमोत्तम घर तथा मन्दिर बनाना सिखलाया। उसके अनन्तर उसी वंश के 11 राजे और हुए। उन राजो ने कला-कौशल की बड़ी उन्नति की। जहाँ-जहाँ उन्होंने अपना राज्य फैलाया, वहाँ-वहाँ अनेक मन्दिर बनवाये; अनेक सड़कें बनवाई, अनेक धर्म्मशालाये बनवाई। ये राजे सूर्य्य के उपासक थे। इस उपासना वालों की 'इन्का' संज्ञा थी। इन्का लोगों के पहले भी जो लोग पेरू में थे वे वहाँ के जंगली मनुष्यों की अपेक्षा बहुय सभ्य थे; परन्तु सभ्यता का विशेष प्रचार इन्का राजों ही के समय में हुआ। इन्का लोगों के आचार-विचार और रीति-भाँति चीन के निवासियों से कुछ-कुछ मिलती है। इसलिए विद्वानो का तर्क है कि वे चीन वालों ही की सन्तति है। परन्तु कई बातें उनमें ऐसी है जो हिन्दुओं से भी समता रखती है। क्या आश्चर्य्य, जो शङ्कराचार्य्य से परास्त किये जाने पर सौर, गाणपत्य और कापालिक आदि मतो के अनुयायी देशत्याग करके अमेरिका चले गये हों और वहाँ अपनी विद्या और सभ्यता से पेरू के प्राचीन निवासियों को अपने धर्म्म की दीक्षा देकर राजा हो गये हो ? बौद्ध लोगों का चीन, जापान, तिब्बत, लंका, कोरिया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो आदि देशों और द्वीपों को जाना तो सिद्ध ही है। इसलिए सूर्य्य और गणपति आदि के उपासकों का अमेरिका जाना सम्भव नही। कपक और मानको आदि शब्द संस्कृत के अपभ्रंश जान पड़ते हैं।

पेरू में जहाँ प्राचीन नगर और इमारतें थी, वहाँ खोदने पर हज़ारों वर्ष के पुराने बर्तन, कारागार, मन्दिर, मकान और मूर्तियाँ निकली है। कुछ मूर्तियाँ तो बहुत ही सुन्दर और बहुत ही बड़ी हैं। इस देश की मूर्तियों से वे बहुत कुछ मिलती है। इससे जान पड़ता है कि पेरू के प्राचीन निवासी मूर्तिपूजक थे। जहाँ तक पता लगा है, जान पड़ता है, उनकी सम्पत्ति की सीमा न थी। सोना और चाँदी मिट्टी-मोल था। प्राचीन इन्का लोगों ने अपने मन्दिर बनाने में अपरिमित धन व्यय किया था। इन्का लोगों के मन्दिरों में सूर्य्य का एक मन्दिर बहुत ही विशाल और बहुत ही आश्चर्य्यमय था। वह इन्काओं की राजधानी कजको नगर में था। इस मन्दिर का विध्वंस स्पेन वालों ने कर डाला। जहाँ पर यह था वहाँ, इस समय, एक गिर्जाघर विद्यमान है। इस मन्दिर का नाम 'कोरीकञ्चा' था। कोरीकञ्चा का अर्थ 'सुवर्ण स्थान' है। इस नाम में कञ्चा शब्द संस्कृत 'काञ्चन' (सोना) का अपभ्रंश जान पडता है। इससे भी अनुमान होता है कि संस्कृत जानने वाले लोगों ही ने इस मन्दिर को निर्म्माण कराया था। इस सूर्य्य-मन्दिर के जो वर्णन आज तक मिले हैं उससे जान पड़ता है कि ऐसा भव्य मन्दिर शायद पृथ्वी की पीठ पर दूसरा न रहा होगा। उसमें सूर्य्य की एक प्रतिमा थी और वह सूर्य्य ही के समान देदीप्यमान

थी । सूर्य्य की यह प्रकाण्ड मूर्ति मन्दिर की पश्चिमी दीवार पर थी । मूर्ति बिलकुल सोने की थी । इस मूर्ति से सुवर्ण की प्रकाशमान किरणें चारों ओर फैली रहती थीं । मन्दिर में, इसके सिवा और अनेक देवताओं की भी सैंकड़ों सुवर्ण-मूर्तियाँ थीं । आभूषणों की तो बात ही नहीं, पूजा और प्रसाद आदि के बड़े-बड़े बर्तन भी सब सोने ही के थे । जिस समय असल सूर्य्य की दीप्तिमान किरणें सब ओर इस मन्दिर पर पड़ती थी उस समय वह सारा भवन दिव्य प्रकाश और दिव्य प्रभा का पुंज हो जाता था । सूर्य्य की मनोमोहिनी मूर्ति के नीचे सोने की बहुमूल्य कुरसियों पर पुराने इन्का राजाओं की प्रतिमायें रक्खी थीं । मन्दिर के आँगन में छोटे-छोटे और भी कई मन्दिर थे । इन छोटे मन्दिरों में चन्द्रमा और शुक्र का मन्दिर औरों की अपेक्षा अधिक शोभाशाली था । इन सब मन्दिरों में भी सोने और चाँदी का काम था । वेल, बूटे और चित्रों से कोई स्थान ख़ाली न था । विदेशी लोग इस महा अलौकिक मन्दिर को देखकर चकित होते थे और घण्टों तक एक ही जगह पर स्तब्ध खड़े रहकर, इसकी शोभा और कारीगरी को इकटक देखा करते थे ।

इस मन्दिर के बनाने में अपरिमित धन लगा था । जब पिजारो ने कज़को को अपने अधीन करके उसे लूट लिया तब उसके एक अधिकारी ने लूट के माल में से और कुछ न माँगकर केवल वे छोटी-छोटी कीलें माँगीं जिनको जोड़कर इस मन्दिर का नाम दीवारों पर उठाया गया था । उसकी यह प्रार्थना स्वीकार हुई । जब ये सोने की कीलें तोली गईं तब 25 मन निकलीं । इसी से इस मन्दिर की बहुमूल्यता का अनुमान करना चाहिए ।

हमारे देश में सूर्य्य के बहुत कम मन्दिर हैं । एक मन्दिर झाँसी के पास, दतिया राज्य के अन्तर्गत, उनाव नामक गाँव में है । उसमें सूर्य्य की जो मूर्ति है उसका आकार कज़को की मूर्ति से मिलता है । कज़को के इस प्राचीन मन्दिर का चित्र अँगरेज़ी भाषा की एक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है । जान पड़ता है, मन्दिर को आँखों से देखकर यह चित्र नहीं उतारा गया । ध्वंस किये जाने पर उसके वर्णन पढ़कर, अटकल से, किसी चित्रकार ने उसे बनाया होगा ।

[मई, 1904 को 'सरस्वती' में प्रकाशित । 'प्राचीन चिह्न' पुस्तक में संकलित ।]

प्राचीन मिश्र में हिन्दुओं की आबादी

बहुत लोगों का ख्याल है कि प्राचीन काल के हिन्दू कूपमण्डूकवत् रहना बहुत पसंद करते थे। अर्थात् वे अपना घर छोड़कर दूसरे देशों को जाने के बड़े विरोधी थे। फिर यह ख्याल भ्रममूलक है। न्यूयार्क, अमेरिका के ए० डी० मार साहेब ने 'इंडियन रिव्यू' में एक लेख लिखा है; उसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले भारतवासी व्यापार आदि के लिए अन्य देशों में केवल आते जाते ही न थे, किन्तु वे मिश्र में जाकर बस भी गए थे।

मिश्र में सोने की ऐसी बहुत सी खानें है जो ईसा के पहले सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में खोदी जाती थीं। उस समय पश्चिमी संसार में कोई देश, आबादी या व्यापार में इतना बढ़ा हुआ न था कि उसको सिक्के चलाने की ज़रूरत पड़ती। असल बात तो यह है कि इतने प्राचीन समय का एक भी पश्चिमी सिक्का अभी तक नहीं मिला। पुराने से पुराना सिक्का जो मिला है, ईसा के पहले चौदहवीं शताब्दी का है। इसके विरुद्ध इस बात के दृढ़ प्रमाण मिलते हैं कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल में भी खानें खोदी जाती थीं और उनसे सोना निकालकर सिक्के बनाये जाते थे। श्रुति, स्मृति आदि भारत के प्राचीनतम काल के साहित्य में भी अनेक प्रकार के सिक्कों के नाम आते हैं। यहाँ आबादी और व्यापार बढ़ाने के साथ साथ सिक्कों और गहनों आदि के लिए सोने की माँग भी अवश्य ही बढ़ गई होगी। सम्भव है, यहाँ काफी सोना न मिलने से भारतवासी मिश्र की खानों से सोना लाकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते रहे हों।

इस बात के सबूत मिलते हैं कि मिश्र में पहले पहल लंका निवासी समुद्र के रास्ते से अरब, अबीसीनिया, या एथिओपिया गए। इनके बाद मलाबार, कच्छ, उड़ीसा और बंगाल का [illegible] आस-पास के रहने वाले मिश्र में पहुँचे। उत्तरी भारत के निवासी बैक्ट्रिया, सीदि[illegible] और [illegible]या माइनर होते हुए, उन लोगों से बहुत पीछे, अर्थात् ईसा के पहले तेरहवीं शताब्दी में, पहुँचे। यद्यपि मिश्र वालों ने अपने इतिहास में भारतवासियों का ज़िक्र नहीं किया, [illegible]पि उन्होंने अपने इतिहास में अपने धर्म्मशास्त्र और अपनी वंश-परम्परा के स्वतंत्र रूप [illegible] की चेष्टा की है तथापि उन प्रत्येक बात से हिन्दुस्तानीपन टपकता है। पूर्वोक्त मा[illegible] साहब ने बड़ी ही दृढ़ और अकाट्य युक्तियों से यह साबित कर दिया है कि हिन्दू लोग [illegible] में जाकर बसे थे और उन्हीं से मिश्र वालों ने सभ्यता सीखी।

मिश्र वाले अपने पहले राजा और धर्म्म-शास्त्रप्रणेता का नाम मीनस बतलाते हैं जो हमारे मनु के सिवा और कोई नहीं। केवल मिश्र वालों ने ही नहीं, किन्तु उस समय की अन्य जातियों ने भी मनु को मनिस, मनस; मनः, मन, मनु, मन्नु आदि नामों से

अपना व्यवस्थापक माना है। मिश्र वाले कहते हैं कि मनु को हुए कोई 8684 वर्ष बीते। रोम और ग्रीस वाले भी अपने एक देवता को इतने ही साल का पुराना मानते हैं। डियोडोरस और जस्टिन आदि इतिहासकारों का कथन है कि यह देवता भारतवर्ष का है।

भारत और मिश्र के प्राचीन सम्बन्ध के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। मिश्र की एक प्राचीन जाति का नाम 'दानव' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'दानव' शब्द पुराणों में सैंकड़ों जगह आया है। सत्ताईस सौ वर्ष पुराने काल्डिया के शिलालेखो से मालूम होता है कि भारत का व्यापार फ़ारस की खाड़ी में खूब होता है। ज़िनाफ़न अपने ग्रन्थ में लिखता है कि ईसा के 600 वर्ष पहले भारत का एलची सीज़र बादशाह के दरबार में गया था। उसके बाद भारत का व्यापार केवल मिश्र ही में नही किन्तु कार्थेज और रोम तक फैल गया।

बड़े बड़े विद्वानों का कथन है कि भारतवर्ष ने साढ़े तीन हज़ार वर्ष पहले ज्योतिष में खूब उन्नति कर ली थी। मिश्र ने सैंकड़ो वर्ष पीछे भारतवासियो ही के द्वारा ज्योतिष में ज्ञान प्राप्त किया। इस बात को डूपस नामक एक फ्रेंच विद्वान ने बड़ी अच्छी तरह सिद्ध किया है।

मिश्र की इमारतें और गुफा मन्दिर सब हिन्दोस्तानी ढंग के हैं। यही क्यों, एक साहेब की तो यह राय है कि आयरलैंड के बुर्ज भी हिन्दोस्तानी काटछाँट के हैं।

मिश्र की कोई साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी क़बरों में नील, इमली की लकड़ी और ऐसी ही अन्य कई चीज़ें मिली हैं जो केवल भारतवर्ष में पैदा होती हैं। यूफ्रेटिस नदी के किनारे मघेर नामक स्थान पर एक क़ब्र में सागौन की लकड़ी पाई गई है। यह 5000 वर्ष की पुरानी साबित हुई है। स्मरण रहे कि सागौन के पेड़ हिन्दोस्तान के सिवा दुनिया में और कही नहीं होते। इतिहास का यह मत है कि प्राचीन समय में मिश्र, रोम, ग्रीस और एशिया माइनर में ऐसी बहुत सी औषधियाँ और वनस्पतियाँ काम में आती थीं जो केवल हिन्दोस्तान में उत्पन्न होती हैं।

प्राचीन भारत के सिक्कों के नाम भी मिश्र आदि कई पश्चिमी देशों में प्रचलित थे। जैसे माशा, सिकल (सिक्का), दीनारस (दीनार) आदि वहाँ के तौल, नाप के बाट आदि भी हिन्दोस्तान ही के समान थे। सबसे बढ़कर विचित्र बात यह है कि यहाँ का रुपया इसी नाप, तौल और रूप में प्राचीन मेक्सिको में प्रचलित था।

प्राचीन मिश्र वाले हिन्दोस्तानियों ही के वंशज थे। मार्टन नाम के एक साहेब ने अपने ग्रन्थ में एक जगह लिखा है कि मसाला लगे हुए मुर्दों की सौ में से अस्सी खोपड़ियाँ आर्य्य जाति की थीं। भारत के समान मिश्र वाले भी कई वर्णों में विभक्त थे।

एपीनस और ह्वीनी आदि इतिहास-लेखकों का कथन है कि लौकी, नारंगी, इंजीर, नाशपाती, चावल और लोहा आदि कई चीजें भारत से मिश्र आदि देशों में गईं।

मिश्र की बहुत सी जगहों के नाम—जैसे नील, शिव, एलीफेंटा और मेरु आदि

—बिल्कुल भारतवर्ष की नकल हैं। मासी साहेब ने अपनी एक पुस्तक के परिशिष्ट में ऐसे 560 शब्द दिये हैं जो संस्कृत और मिश्री, दोनों भाषाओं में, ही व्यवहृत हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीन काल में भारतवासी मिश्र में जाकर अवश्य आबाद हुए थे और इन्हीं से मिश्र वालों ने सभ्यता सीखी।

['पंडित कमलाकर त्रिपाठी' नाम से सितम्बर, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'अतीत-स्मृति' में संकलित।]

बौद्धों के द्वारा अमेरिका का आविष्कार

सारे सभ्य संसार का यह विश्वास है कि सन् 1492 ई० मे कोलम्बस साहब ही ने पहले-पहल अमेरिका का आविष्कार किया था। उनके पहले कोई बाहरी मनुष्य अमेरिका में न गया था। यह विचार केवल यूरोपियनो ही का नही, किन्तु एशियावालों का भी है। पर सर्वसाधारण का यह मत भ्रमात्मक है। कोलम्बस के सैकड़ो वर्ष पहले बौद्ध धर्म्म-प्रचारक गण अमेरिका गये थे। और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म्म और एशियाई सभ्यता का प्रचार किया था। अमेरिका के कई स्थानों मे इस बात के प्रमाण पाये गये है।

अमेरिका में हारपर्स मैगजोन (Harpers Magazine) नामक एक मासिक पत्र निकलता है। उसमें कई साल हुए पूर्वोक्त विषय पर एक महत्त्वपूर्ण लेख निकला था। उस लेख के अध्यापक जान फ्रायर ने उसमे यह सिद्ध किया था कि अमेरिका का पता पहले पहल बौद्धों ही ने लगाया था और वहाँ के मेक्सिको देश में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता का प्रचार किया था। फ्रायर साहेब के लेख का सारांश सुनिए—

बौद्ध लोगों ने अपने धर्म्म का प्रचार करने में बड़े ही अपूर्व साहस का परिचय दिया है। एशिया में शायद ही ऐसा कोई देश हो जहाँ उन्होंने अपने धर्म्म का प्रचार न किया हो। भारतवर्ष, लंका, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावा, चीन, जापान, तुर्किस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, एशिया माइनर आदि न मालूम कितने देशों में घूम घूम कर उन लोगों ने अपने मत का प्रचार किया था। ईसा की पाँचवी शताब्दी में बौद्ध धर्म्म एशिया में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसी समय काबुल, चीन और जापान के कुछ बौद्धों ने अमेरिका के मेक्सिको राज्य में जाकर अपने धर्म्म का प्रचार किया।

मेक्सिको से पूर्वोक्त मत के प्रमाणस्वरूप बौद्धों के बहुत चिह्न पाये जाते है।

उनमें से वहाँ के बौद्ध-युग का भास्कर्य्य और स्थापत्य सबसे अधिक विश्वसनीय है। इसके चिह्न मेक्सिको के घर घर में पाये जाते है। इसके सिवा वहाँ के नगरों और ग्रामो से भी यह मालूम होता है कि मेक्सिको में बौद्ध धर्म्म का प्रभाव बहुत दिनों तक रहा। उदाहरणार्थ, ग्वाटीमाला (Guatimala) लीजिए। यह 'गौतमालय' का अपभ्रंश है। Oaxaca, Zacaticas, Sacatepec, Zacatton, Sacapulas आदि स्थानों के नाम भी 'शाक्य' शब्द की छाया पर बने हैं। इस बात को सब लोग जानते हैं कि संस्कृत का 'श' अक्षर अन्य भाषाओं में 'ह', 'ज' अथवा 'ख' बन जाता है। इसलिए शाक्य से साका और ज़ाकरा आदि हो जाना कुछ विचित्र नहीं। मेक्सिको में पाल के नाम का एक स्थान है। वहाँ बुद्ध महाराज की एक मूर्ति मिली है। उस मूर्ति पर लिखा है—'शाकोमल'। हमारी समझ में यह शब्द 'शाक्यमुनि' का अपभ्रंश है। तिब्बत के बौद्ध लोग अपने पुरोहित को 'लामा' कहते हैं। मेक्सिको में बौद्ध मत और बुद्ध-मूर्तियाँ सैकड़ों की तादाद में पाई गई हैं। उसके सिवा वहाँ ऐसे कई प्राचीन शिलालेख भी मिले

हैं जिनसे यह मालूम होता है कि प्राचीन मेक्सिकोवासी बौद्ध धर्म्मावलम्बी थे और गौतम बुद्ध की पूजा करते थे।

चीन के इतिहास-लेखक मातवानलिन कहते हैं कि—"कफिन देश (काबुल) का निवासी हुईशेन (इयसेन) नामक एक बौद्ध संन्यासी 499 ई० में फुसाँग देश से चीन में आया था। उसने चीन के तत्कालीन सम्राट युंगयुआन को बहुत कुछ नज़र भी दी थी। सम्राट ने युकी नाम के मन्त्री को हुईशेन का भ्रमण वृत्तान्त लिख लेने की आज्ञा दी थी।" चीनी भाषा में लिखा हुआ हुईशेन भ्रमण वृत्तान्त अत्र तक मौजूद है। उसमें 'हुईशेन ने कहा है कि सम्राट तामिंग के राजत्वकाल (458 ई०) में काबुल बौद्ध का केन्द्र-स्थान था। उसके पहले वहाँ के पाँच बौद्ध भिक्षु फुसाँग देश को गये थे और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया था।

फुसाँग देश चीन से कोई 2000 ली अर्थात् 65000 मील दूर है। वह 10000 ली अर्थात् 3250 मील चौड़ा है और चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है।

फुसाँग एक प्रकार का वृक्ष होता है। वह वृक्ष पूर्वोक्त फुसाँग देश में बड़ी कसरत से होता है। हुईशेन ने उसी वृक्ष के नाम पर पूर्वोक्त देश का नाम फुसाँग देश रक्खा था। मेक्सिको वाले आज-कल फुसाँग वृक्ष को आगेवी कहते हैं। उपर्युक्त चीन ग्रन्थ में फुसाँग वृक्ष का जो वर्णन लिखा है वह आगेवी से बिलकुल मिलता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि फुसाँग देश और मेक्सिको देश एक ही हैं और काबुली बौद्धों ने वहाँ जाकर बौद्ध धर्म्म का अवश्य प्रचार किया था। कहते है कि फुसाँग वृक्ष की छाल में एक प्रकार का जन्तु होता है। यह रेशम की तरह होता है। हुईशेन ने अन्यान्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ इसे भी चीन सम्राट को भेंट किया था। हुईशेन ने एक जगह कहा है कि फुसाँग प्रदेश में चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा बहुत होता है। कोलम्बस ने भी इस बात को प्रत्यक्ष देखा था। वह तो अपने साथ बहुत सा सोना चाँदी स्पेन को लाया भी था।

फुसाँग देश और मेक्सिको एक ही हैं, उसका एक और भी प्रमाण सुनिए। मेक्सिको वाले कहते हैं कि प्राचीनकाल में एक श्वेतकाय दीर्घ परिच्छदधारी महापुरुष मेक्सिको में आया था। वह लोगों को नीति और धर्म्म की शिक्षा दिया करता था। उसका नाम हुईशीवेकोको था। मालूम होता है कि यह नाम 'हुईशेन भिक्षु' का अपभ्रंश है। मेक्सिको के एक और महापुरुष के सम्बन्ध में भी ऐसी ही किंवदन्ती है। इन लोगों की शिक्षा और धर्म्म-प्रचार का जैसा वर्णन पाया जाता है उससे मालूम होता है कि ये लोग बौद्ध थे।

काबुल, चीन और जापान के बौद्ध संन्यासी देश देशान्तरों में सदा धर्म्म-प्रचार करते फिरते थे। पहले वे निकट के द्वीपों में प्रचार करने जाते थे। वहाँ से आगे के अन्य द्वीपों का संवाद पाकर वे वहाँ भी जाया करते थे।

यों ही धीरे धीरे आगे बढ़ते बढ़ते वे बड़ी दूर दूर के द्वीपों और देशों में पहुँच जाते थे। और वहाँ अपने धर्म्म का प्रचार करते थे। मालूम होता है कि इसी तरह प्रचार करते करते वे अमेरिका पहुँचे थे। अमेरिका का अलास्का प्रदेश चीन के निकट है। मालूम होता है कि इसी रास्ते बौद्ध लोग वहाँ गये थे। क्योंकि अलास्का से

मेक्सिको तक समुद्र के किनारे किनारे जितने ही प्रदेश है उन सब में बौद्ध धर्म्म और सभ्यता के चिह्न पाये जाते हैं। यद्यपि इनमें से अधिकांश चिह्न स्पेनिश लोगों ने नष्ट कर दिये हैं, तथापि अभी बहुत कुछ अवशिष्ट हैं।

यह लिखा जा चुका है कि मेक्सिको के स्थानों और पुरोहितों के नामों में बौद्ध धर्म्म की झलक पाई जाती है। इसके कुछ उदाहरण और दिये गये हैं। एकाध और भी सुनिए। मेक्सिको वाले अपने प्रधान पुरोहित को देशाक्का या शाक्का पुरुष कहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शब्द शान्ध शाक्य का रूपान्तर मात्र है। एक अन्य पुरोहित का नाम कौनर शाक्का था। यह शब्द गौतम शाक्य का बिगड़ा हुआ रूप मालूम होता है।

मेक्सिको में जितने शिलालेख, मूर्तियाँ और मन्दिर आदि मिले हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म्म से सम्बन्ध रखते है। बौद्ध-मन्दिर और दीर्घ परिच्छदधारी बौद्ध पुरोहित मेक्सिको में जगह जगह देखे जाते है। नाना प्रकार की बुद्ध-मूर्तियों की भी वहाँ कमी नही है। सुनते हैं कि गणेश और राहु आदि की मूर्तियाँ भी मेक्सिको में मिली है।

पर जितने प्रमाण लिखे गये है उन सब से सिद्ध है कि प्राचीन काल में एशिया के बौद्ध संन्यासी अमेरिका गये थे। और वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया था। साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि वही लोग अमेरिका के वास्तविक आविष्कारक थे, न कि कोलम्बस और उसके साथी। इसलिए उस यश के सच्चे अधिकारी बौद्ध संन्यासी ही हैं जो इस प्रसंग में कोलम्बस को प्राप्त हुआ है।

[दिसम्बर, 1909 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'अतीत-स्मृति' में संकलित।]

बाली द्वीप में हिन्दुओं का राज्य

भारत-महासागर और प्रशान्त महासागर जहाँ पर मिलते हैं वही सुमात्रा, जावा आदि बहुत से द्वीप हैं। किसी समय इन द्वीपों में हिन्दुओं का राज्य था। संस्कृत भाषा और हिन्दू धर्म्म ने यहाँ पर अपना अटल प्रभाव जमा लिया था। इस बात के यहाँ सैकड़ों चिह्न पाये जाते है। चौदहवीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण के बाद इन द्वीपो में हिन्दुओं का प्रभाव घटने लगा। धीरे धीरे हिन्दू धर्म्म, हिन्दू राज्य और संस्कृत भाषा का यहाँ लोप हो गया। इन द्वीपों के अधिकांश अधिवासी मुसलमान हो गये। परन्तु जो लोग अपने धर्म्म को अपनी जान से अधिक प्यारा समझते थे वे मुसलमान-संसर्ग-दूषित बड़े बड़े द्वीपों को छोड़ कर छोटे छोटे टापुओं में जा बसे। बाली, लम्बक आदि द्वीप इसी प्रकार के छोटे टापुओं में हैं। इन टापुओं में अब भी हिन्दू धर्म्म और हिन्दू राजाओं का राज्य है।

बाली और लम्बक द्वीप जावा के पूर्व हैं। यों तो यहाँ पर सैकड़ों छोटे छोटे द्वीप हैं, पर हिन्दुओं का राज्य केवल इन्हीं दो द्वीपों में बाकी रह गया है। जिन लोगों ने इन दोनों द्वीपो को देखा है उनका कथन है कि ये द्वीप प्राकृतिक सौन्दर्य्य में अद्वितीय हैं। यहाँ के नगर और ग्राम संसार के बड़े बड़े सुन्दर, मनोहर और शोभा सम्पन्न स्थानों से टक्कर ले सकते हैं। बाली की बनावट बड़ी विचित्र है। वह बीच में तो खूब ऊँचा है, पर चारो ओर ढालू होता चला गया है। कहते हैं कि इन दोनों द्वीपों के चारों तरफ का समुद्र सदा तरंगसंकुल रहता है। वहाँ अकसर तूफान आया करते हैं। इसलिए जहाज के द्वारा इन टापुओं में जाना बड़ा विपज्जनक है।

बाली और लम्बक द्वीप के आदिम निवासियों को शशक कहते हैं। उनको पराजित करके हिन्दुओं ने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। सुनते हैं कि लम्बक द्वीप के कुछ शशक इस समय मुसलमान हो गये है। परन्तु वहाँ के अधिकांश निवासी हिन्दू ही हैं और उन्ही का इन द्वीपो में राज्य है। हिन्दू लोग शशक मुसलमानों पर किसी प्रकार का अत्याचार नही करते, किन्तु उन लोगों से अच्छी तरह मिलते जुलते हैं। यहाँ का राज्य यद्यपि राजतन्त्र है, तथापि सर्वसाधारण जन राज-शासन से अप्रसन्न नहीं है। हाँ, इसमें सन्देह नही कि किसी किसी अपराध का दण्ड बड़ा ही कठोर है। इन राज्यों में चोरो को अब भी प्राणदण्ड दिया जाता है। व्यभिचारी (स्त्री पुरुष दोनों ही) बाँधकर समुद्र में फेंक दिये जाते हैं। सतीत्व धर्म्म का इतना अधिक सम्मान किया जाता है कि पता लगते ही असती स्त्रियाँ तुरन्त मार डाली जाती हैं। एक बार किसी व्यभिचारिणी स्त्री को एक यूरोपियन सौदागर ने अपने यहाँ रख लिया। खबर लगते ही राजा का दूत साहेब के घर पहुँचा। साहेब और कुलटा एक कमरे में बैठे बात कर रहे थे। यह देखते ही राज-दूत क्रोध से जल उठा। उसने आव देखा न ताव, म्यान से तलवार निकाल कर उस

असती का सिर धड़ से जुदा कर दिया और यह कहकर वहाँ से चल दिया कि हमारे राजा ने साहेब को ऐसा ही पुरस्कार देने के लिये कहा था ।

बाली और लम्बक के निवासियों में जितने हिन्दू हैं वे प्रायः सभी शैव है । केवल दो चार बौद्ध हैं । शैव लोग चतुर्वर्ण में हैं । वहाँ वाले उन्हें अपनी भाषा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, विषिय और शूद्र कहते हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के परिवर्तित उच्चारण मात्र हैं । बाली निवासी चतुर्वर्ण को 'चतुर्जन्म' कहते हैं । उच्च जाति के लोग नीची जाति की कन्या के साथ विवाह कर सकते हैं, परन्तु उन्हें अपनी कन्या नही दे सकते । यदि ऐसा सम्वन्ध कही हो जाता है तो उससे जो सन्तान होती है वह वर्णसंकर कहलाती है । असवर्ण-विवाह में कोई बाधा नही दे सकता । तथापि ऐसा सम्बन्ध धर्म्मानुमोदित नही समझा जाता । केवल सवर्ण विवाह ही को वे लोग धर्म्मानुकूल समझते हैं । इस हिन्दू-राज्य मे जितने नगर और ग्राम है उनमें केवल चतुर्वर्ण ही रह सकते हैं । कुम्हार, धोबी, रँगरेज, चमार और मेहतर आदि नगरों और ग्रामों के भीतर नहीं रह सकते, उनके लिये गाँव के बाहर स्थान नियुक्त होना है । वे लोग वहीं रहते है । इन सब जातियो को बाली के चतुर्वर्ण चाण्डाल कहते है और उन्हे छूते तक नही ।

इन चतुर्वर्ण हिन्दुओं में केवल वैश्य और शूद्र ही नाना प्रकार के देवताओ और देवियों की मूर्ति नहीं पूजते । यहाँ ब्राह्मणों का प्रताप अब भी अक्षुण्ण है और सर्वसाधारण उन्हे भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखते है । क्षत्रिय लोग सेना और विचार-विभाग में काम करते है । ब्राह्मण लोग शिक्षा धारण करते है, पर यज्ञोपवीत नही पहनते । मन्त्रोच्चारण में ओंकार का व्यवहार प्रचलित है । परन्तु वहाँ वाले उसे 'ओग शिव चतुर्वंज' यह मन्त्र पढ़ते हैं । ये शब्द 'ओ3म् शिव चतुर्भुज' का केवल बिगड़ा हुआ रूप है ।

बाली-द्वीप के ब्राह्मणेतर हिन्दू खाद्याखाद्य का कुछ भी विचार नही करते । वे गो-मांस तक खाते है । अन्य पशु-पक्षियो की तो बात ही क्या है । मुर्गी और सुअर का मांस तो वहाँ वालो का अत्यन्त प्रिय खाद्य है । यह बात बाली के केवल क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ही की है । वहाँ के ब्राह्मण निरामिषहारी है । उनमें से कोई कोई ऐसे भी हैं जो केवल फल फूल खाकर ही अपना जीवन निर्वाह करते है । अन्य खाद्य पदार्थ हाथ से भी नही छूते ।

द्वीप में भिखारी ढूंढ़ने पर भी नही मिलते । यदि कोई मनुष्य कोई साधारण पाप-कर्म्म करता है तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है । परन्तु प्रायश्चित्त करने वाले को शारीरिक दण्ड नहीं भोगना पड़ता । गोबर या गोमूत्र भी नही खाना पड़ता । किन्तु जब वह अपना प्रियतम खाद्य त्याग करता है तब किसी गुफा में जाकर अज्ञात वास करता है और ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करता है । तभी उसका प्रायश्चित्त होता है । बाली और लम्बक में सतीदाह की प्रथा अब भी वर्तमान है । इसे वहाँ वाले 'सत्य' कहते हैं । यह प्रथा क्षत्रियों और वैश्यों में विशेष रूप से प्रचलित है । यहाँ के हिन्दू बहु-विवाह कर सकते हैं । इसलिये यह अकसर देखा जाता है कि एक मनुष्य के मरने पर विधवायें चिता

पर जलती हैं। मृत मनुष्य का सत्कार करने की प्रणाली कुछ विचित्र सी है। जब कोई मनुष्य मरता है तब उसी समय वह जलाया नहीं जाता, किन्तु एक मास के बाद उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है।

साधारण आदमियों की अन्त्येष्टि क्रिया जिस तरह की जाती है उस तरह राजा की नहीं की खाती। रानियों की सहमरण-रीति भी कुछ भिन्न है। राजा की अन्त्येष्टि क्रिया समाप्त हो जाने पर उसकी चिताभस्म रख ली जाती है। उसके पाँचवें दिन सब रानियाँ एक निर्दिष्ट स्थान पर इकट्ठी होती हैं। उस समय पटरानी एक गोला फेंकती हैं। यह गोला जहाँ गिरता है उसी जगह रानियाँ अपनी छातियों में छुरियाँ भोंक लेती हैं। इस तरह उनकी सहमरण क्रिया समाप्त हो जाती है।

बाली द्वीप में शालवाहन का शकाब्द अब भी व्यवहृत होता है। वहाँ वाले उसे 'शकवर्षचन्द्र' कहते है। यहाँ के शैव लोगों के पास बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ पाये जाते हैं। उनमें से प्रधान ग्रन्थों के नाम उन लोगों की बोली में ये हैं—आगम, आदिगम, सारसमुच्चयागम, देवागभ, मैश्वरलत्व, श्लोकान्तरागम, गम्यागम इत्यादि। वहाँ के अनेक शास्त्र ग्रन्थ विलुप्त हो गये है।

बाली और लम्वक द्वीप के हिन्दू पहले जावा में रहते थे। मुसलमानो के भय से वे वहाँ से बहुबाहु नामक राजा के साथ बाली द्वीप में चले आये। ये लोग जावा मे कब और किस सिलसिले से आये थे, यह बात कोई नहीं जानता। हाँ, इतना पता अवश्य लगता है कि कलिङ्ग देश के शैवों ही ने जावा में हिन्दू-राज्य स्थापित किया था।

भाषा, धर्म्म, आचार-व्यवहार आदि सभी बातें देश और काल के भेद से विभिन्न हो जाती हैं, परन्तु विभिन्न हो जाने पर भी उनमें कुछ कुछ सादृश्य बना रहता है। बाली द्वीप की भाषा, धर्म्म, आचार और व्यवहार में भी उसका परिचय पाया जाता है। इस द्वीप तथा आस पास के अन्यान्य द्वीपों की भाषा के साथ संस्कृत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बात को इन द्वीपों में जाने वाले सभी लोगों ने स्वीकार किया है।

भारत महासागर के इन दो हिन्दू-द्वीपों का इतिहास इस समय तिमिराच्छन्न है। इन द्वीपों से हिन्दू लोगों ने कब और किस प्रकार उपनिवेश-स्थापन किया उसका लिखित इतिहास न तो बाली द्वीप ही में मिलता है और न अन्य ही किसी देश में।

यदि यह मान लिया जाय कि शैव लोगों ने यहाँ उपनिवेश स्थापित किया तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह घटना बौद्ध धर्म्म के आविर्भाव होने के पीछे की है। बाली द्वीप में शकाब्द का प्रचलन इस मत को पुष्ट करना है। परन्तु उपनिवेश-स्थापन करने के पहले भी हिन्दू लोग इन द्वीपों में प्राचीन काल से आते थे। इस बात के बहुत प्रमाण पाये जाते हैं। मृत्यु के बाद एक मास तक शव रखना बहुत पुरानी पद्धति है। बौद्ध धर्म्म के आविर्भाव होने के पहिले भी भारतवर्ष में इसका चलन था।

भारतवर्ष की भाषा (संस्कृत) बाली आदि द्वीपों में वहाँ की असभ्य भाषाओं के मेल से जिस प्रकार बदल गई है उसी प्रकार के आचार-व्यवहार भी वहाँ परिवर्तित हो गये हैं : जब स्थान, काल और पात्र के भेद से भारतवर्ष ही के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-

भिन्न आचार-व्यवहार और भाषायें प्रचलित हैं तब यदि समुद्र पार के द्वीपों की भाषा, आचार और व्यवहार भारत की भाषा, आचार-व्यवहार से कुछ कुछ भिन्न हो जायँ तो आश्चर्य्य ही क्या है ? इस भिन्नता के होते भी भारतवर्षीय हिन्दुओं और बाली आदि द्वीपों के हिन्दुओं के आचार-व्यवहार और भाषा में बहुत कुछ सादृश्य वर्तमान है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि इन द्वीपों के हिन्दू भारत के प्राचीन हिन्दुओं के अध्यवसाय की कीर्ति-चिह्न-स्वरूप होकर अब भी उनकी पताका फहरा रहे हैं।

['श्रीयुत भुजंगभूषण भट्टाचार्य' नाम से मई, 1911 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'अतीत-स्मृति' में संकलित।]

कम्बोडिया में प्राचीन हिन्दू-राज्य

प्राचीन काल में भारतवासी विदेशों ही को नहीं, द्वीपान्तरों तक को, जाते थे। यह बात अब काल्पनिक नहीं, ऐतिहासिक है। इस विषय की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके लेखक देशी पुरातत्त्वज्ञ भी हैं और विदेशी भी। इस विषय में लिखे गये और प्रकाशित हुए लेखों की तो संख्या ही नहीं निश्चित की जा सकती। उन्हें तो संख्यातीत समझना चाहिए। भारतवासियों के विदेश-गमन के विषय में आज तक जो कुछ खोज हुई है और जो कुछ लिखा गया है उससे सिद्ध है कि सन्-ईसवी से कितने ही शतक पहले से भारतवासी दूर दूर देशों की यात्रा करने लगे थे। पश्चिम में वे मिश्र, रूम, यूनान, तुर्किस्तान तक जाते थे। पूर्व में चीन, जापान, स्याम, अनाम, कम्बोडिया तक ही नहीं, सुमात्रा, जावा, वोर्नियो और बाली आदि द्वीपों तक भी उनका आवागमन था। उस समय समुद्र पार करना मना न था। उससे धर्म्म की हानि न होती थी और जाति-पाँति को धक्का न पहुँचता था। उस प्राचीन काल में भारतवासी आर्य्य अथवा हिन्दू व्यापार के लिए भी विदेश-यात्रा करते थे, धर्म्म-प्रचार के लिए भी करते थे और दूर देशों में बस कर अन्य मार्ग से भी धन-संचय करने के लिए करते थे।

स्याम के उत्तर, पूर्व और दक्षिण में एक बहुत विस्तृत देश है। उस पर फ्रांस की प्रभुता है। उसका संयुक्त नाम है इंडो-चायना। इस विस्तृत देश का उत्तरी भाग टानकिन, पश्चिम अनाम और दक्षिणी कोचीन-चाइना अथवा कम्बोडिया कहाता है। इसी अनाम और कम्बोडिया में किसी समय हिन्दुओं का राज्य था। फ्रांस के कई पुरातत्त्वज्ञों और विद्वानों ने इन देशों या प्रान्तों का प्राचीन इतिहास लिखा है। उन्होंने अपने इन इतिहासों में पास-पड़ोस के द्वीपों तक की पुरानी बातों का उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने एक छोटा-सा लेख अँगरेज़ी भाषा की मासिक पुस्तक, 'माडर्न रिव्यू' में, प्रकाशित कराया है। इसके सिवा विश्वभारती के अध्यापक बाबू फणीन्द्रनाथ बसु की एक पुस्तक अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। उसमें प्राचीन चम्पा राज्य का वर्णन है। चम्पा से मतलब उस देश या प्रदेश से है जिसे आज-कल अनाम कहते है। प्राचीनकाल में भारतवासियों ने जाकर वहाँ अपने राज्य की स्थापना की थी। फ्रेंच-इतिहास-वेत्ताओं ने बहुत खोज के अनन्तर वहाँ की हिन्दू-सभ्यता और शासन के सम्बन्ध में पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उन्हीं की खोज की प्रधान प्रधान बातों का समावेश बसु महाशय ने अपनी इस छोटी-सी पुस्तक में किया है। इन समस्त पुस्तकों और लेखों में उल्लिखित बातों में से कुछ का सार नीचे दिया जाता है।

इंडो-चायना मे 120 लाख अनामी, 15 लाख कम्बोडियन, 12 लाख लाउस, 2 लाख चम और मलाया, 1 हज़ार हिन्दू और 40 लाख असभ्य जंगली आदमी रहते हैं। अनामी, कम्बोडियन और लाउस नाम के अधिवासी बौद्ध हैं। जो एक हज़ार हिन्दू हैं

वे सबके सब तामिल हैं। चम और मलाया लोग प्रायः मुसलमान है। उनमें से कोई 25 हजार चम, जो अनाम के वासी हैं, बहुत प्राचीन ब्राह्मण धर्म्म के अनुयायी है। वे सब शैव है और अपने को 'चमजात' कहते हैं।

खोज से मालूम होता है कि कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व भारतवासियों ने पहले-पहल स्याम के पूर्वी प्रदेशों और द्वीपों को जाना आरम्भ किया। बहुत करके वे लोग प्राचीन कलिङ्ग और तैलङ्ग देश के समुद्र तटवर्ती प्रान्तों से उस तरफ़ गये; क्योंकि वही प्रान्त वर्तमान अनाम और कम्बोडिया आदि प्रान्तो के निकट है। उस समय समुद्रमार्ग से वहाँ जाने में विशेष सुभीता रहा होगा। भारतवासियो का ख़याल था कि वर्तमान इंडो-चायना के दक्षिणी और पूर्वी भाग धन-धान्य से बहुत अधिक सम्पन्न हैं। इसी से उन भागों को वे लोग 'सुवर्ण-भूमि' कहते थे। जाने वालों में से कुछ तो बनिज-व्यापार करने वाले थे, कुछ सैनिक थे और कुछ ब्राह्मण थे। पहले तो ये लोग रुपया पैदा करने ही के लिए जाते रहे होंगे और धीरे धीरे उनमें से बहुत लोग वहीं बस गये होंगे। उनकी संख्या बढ़ने पर धर्म्म-प्रचार और पौरोहित्य कार्य्य करने वाले भी पीछे से जाने लगे होंगे। इस तरह का आवागमन सैकड़ों वर्षों तक जारी रहने पर वहाँ गये हुए भारतवासियों के उपनिवेश, विशेष विशेष जगहो में, हो गये होंगे। उस समय उन देशों मे रहने वाले लोग सभ्य और शिक्षित न थे। उन पर भारतवासियों के आचार-व्यवहार और धर्म्म आदि का प्रभाव पड़े बिना न रहा होगा। बहुत सम्भव है सौ दो सौ वर्ष साथ साथ रहने पर, उन्होंने वहाँ वालो को अपने धर्म्म का अनुयायी बना लिया हो, असभ्यों को सभ्यता प्रदान की हो और उनमें से बहुत को अपना दास, सेवक या कर्म्मचारी भी बना लिया हो। ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में पत्थरो पर खुदे हुए कई लेख इंडो-चायना में मिले है। वे सब विशुद्ध संस्कृत में हैं। इससे सूचित होता है कि उस समय भारवासियो का आधिपत्य दृढ़ता को पहुँच गया था। इससे यह भी सूचित होता है कि उस समय के हज़ार पाँच सौ वर्ष पहले ही से भारतवासी वहाँ जाने लगे होंगे। बिना इतना काल व्यतीत हुए विदेशी भारतवासियों की स्थिति वहाँ बद्धमूल न हुई होगी। संस्कृत भाषा का प्रचार ओर शिलालेखो पर ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अन्य देशवासी अल्पकाल-स्थायी यात्रियों के द्वारा सम्भव नहीं। अतएव सन् ईसवी के कम से कम सात आठ सौ वर्ष पहले ही से भारतवासी वहाँ बसने लगे होंगे।

बौद्ध धर्म्म की उत्पत्ति सन् ईसवी के कोई तीन सौ वर्ष पहले हुई। अशोक के समय में उसने बड़ी उन्नति की। भारत के अधिकांश भागों में उसकी तूती बोलने लगी। बौद्ध श्रमण विदेशों में जाकर अपने धर्म्म का प्रचार करने लगे। इसमें सन्देह नही कि वे लोग प्राचीन चम्पा (अनाम) और कम्बोडिया(काम्बोज) में भी पहुँचे और वहाँ भी अपने धर्म्म का प्रचार किया। धीरे-धीरे हिन्दू धर्म्म के अनुयायियों के साथ ही साथ वहाँ बौद्ध धर्म्म के अनुयायियों की भी संख्या बढ़ गई और ये दोनों सम्प्रदाय वाले वहाँ पाये जाने लगे।

चम्पा और काम्बोज में जब से बौद्ध धर्म्म पहुँचा, बराबर उन्नति करता गया। वह वर्द्धिष्णु धर्म्म था; भारतवासियों की तत्कालीन प्रकृति के वह अनुकूल था। इसी से

उसकी दैनंदिन वृद्धि होती गई। फल यह हुआ कि हिन्दू धर्म्म के अनुयायियों की संख्या कम होती गई और बौद्ध धर्म्म के अनुयायियों की बढ़ती गई। कम्बोडिया (काम्बोज) में जो शिलालेख मिले हैं उनसे सूचित होता है कि तेरहवीं सदी तक बौद्ध और हिन्दू दोनों ही वहाँ साथ ही साथ रहते थे। बौद्ध तो महायान-सम्प्रदाय के मानने वाले थे और हिन्दू प्रायः शैव थे। उस समय तक दोनों धर्म्मों के अनुयायी संस्कृत भाषा का आदर करते थे। उनके शिलालेखों में यह भाषा बहुत ही विशुद्ध रूप में पाई जाती है।

आर्य्यों ने अपने उपनिवेश चम्पा और काम्बोज ही में नहीं स्थापित किये। वे वहाँ से आगे बढ़ने हुए टापुओं तक में जा बसे। जावा में कुछ ऐसे शिलालेख मिले है जो 400 ईसवी के अनुमान किये गये है। वे सभी संस्कृत में हैं। उनमें नारूमनगर के राजा पूर्णवर्म्मा का उल्लेख है। बोर्नियो नाम के टापू में भी संस्कृत भाषा में खुदे हुए शिलालेख मिले हैं। उनमें भी जिन राजों के नाम आये हैं सभी के अन्त में 'वर्म्मा' शब्द है। सुमात्रा द्वीप में तो अनेक शिलालेख पाये गये हैं। वे भी संस्कृत ही में हैं। उनमें वर्म्मान्त-नामधारी नरेशों के उल्लेख हैं। इन लेखों का प्रकाशन और सम्पादन फेराड नाम के एक विद्वान् ने किया है। प्राचीन काल में सुमात्रा द्वीप श्रीविजय नाम से ख्यात था।

कम्बोडिया अर्थात् प्राचीन काम्बोज का पहला वर्म्मा नामधारी राजा श्रुतवर्म्मा था। उसने अपने राज्य की सीमा की विशेष वृद्धि की और उसे स्थायित्व प्रदान किया। वह कौण्डिन्य-गोत्र का था। शिलालेखों में उसने अपने को सोमवंशी बताया है। उसने 435 से 495 ईसवी तक राज्य किया। 680 ईसवी तक वहाँ वर्म्मा-नामधारी सात नरेशों ने राज्य किया। उसके बाद कोई सौ वर्ष तक वहाँ अराजकता सी रही। तदनन्तर 18 नरेश वहाँ और हुए। उनके नामों के अन्त में भी 'वर्म्मा' शब्द था। इस तरह काम्बोज में 24 राजे ऐसे हुए जिनके उल्लेख शिलालेखों में पाये जाते हैं। प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए शिलालेख ही सबसे अधिक विश्वसनीय साधन हैं। और चूँकि इन सब राजों के नाम धाम और काम आदि का वर्णन इन्हीं से मालूम हुआ है, अतएव इन बातों के सच होने में ज़रा भी सन्देह नहीं।

ईसा के छठे शतक में काम्बोज में भव वर्म्मा नाम काएक राजा था। वह शैव था। देवी-देवताओं के विषय में उसकी बड़ी पूज्य बुद्धि थी। उसने कितने ही मन्दिर बनवाये और उनमे देव-विग्रहों की स्थापना की। एक मन्दिर में उसने रामायण, महाभारत और अष्टादश पुराणों की पुस्तकें रखवा दी और उनके यथानियम पारायण का प्रबन्ध कर दिया। सातवे शतक में ईशानवर्म्मा नाम का एक राजा इतना शिवोपासक हुआ कि उसने अपनी राजधानी का नाम बदल कर ईशानपुर कर दिया।

काम्बोज में जितने प्राचीन शिलालेख मिले हैं सब संस्कृत में हैं। उनकी भाषा व्याकरण की दृष्टि से बहुत ही शुद्ध है। उसमें लालित्य और रसालत्व भी है। इन लेखो की प्रणाली बिलकुल वैसी ही है जैसी कि भारत में प्राप्त हुए उस समय के शिलालेखों की है। इनमें सर्वत्र शक-संवत् का प्रयोग है और वह भी उसी ढंग से किया गया है जिस ढंग से कि भारतीय शिलालेखों में पाया जाता है। जो चीज जिसे दी गई

उसे छीननेवालों को महारारव नरक में ढकेले जाने की विभीषिका दिखाई गई है। यह विभीषिका भी भारतीय शिलालेखों ही की नक़ल है।

प्राचीन काम्बोज के प्रान्तों और नगरों के नाम भी वैसे ही थे जैसे कि इस देश के हैं। यथा—पाण्डुरंग, विजय, अमरावती आदि।

काम्बोज में प्राप्त शिलालेखों से विदित होता है कि यहाँ किसी समय क्षत्रिय नरेशों की राजकुमारियाँ ब्राह्मणों को भी ब्याही जाती थी। वेद-वेदांग में पारंगत अगस्त्य नाम का एक ब्राह्मण ईसा की सातवी शताब्दी के अन्त में 'आर्य्य देश' से काम्बोज को गया था। वहाँ उसने राजकुमारी यशोमति का पाणिग्रहण किया था। उसी का पुत्र नरेन्द्र वर्म्मा वहाँ के राजसिंहासन का अधिकारी हुआ और राज्य-संचालन भी उसने किया। दसवी शताब्दी में राजा राजेन्द्र वर्म्मा की कुमारी इन्द्रलक्ष्मी का विवाह यमुना तट के निवासी दिवाकर नाम के विद्वान् ब्राह्मण से हुआ था। वासुदेव ब्राह्मण और जनेन्द्र पण्डित के साथ भी काम्बोज की राजकुमारियो का विवाह हुआ था।

काम्बोज में जन्म-मृत्यु आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सस्कार हिन्दू-धर्म्मशास्त्रों के अनुसार होते थे। मृतप्राणी 'शिवलोक' को प्राप्त होते थे। नये नरेशो के सिंहासनासीन होने पर अभिषेक का काम दिवाकर, योगीश्वर और वामशिव आदि नामधारी पण्डित कराते थे। राज-गुरुओं का बडा मान था। वे अपने शिष्य राजो को धर्म्मशास्त्र, नीति और व्याकरण आदि पढ़ाते थे। काम्बोज-नरेश महाहोम, लक्षहोम, कोटिहोम, भुवनार्थ और शास्त्रोत्सव आदि धार्म्मिक कृत्य करते थे।

ईसा के सातवे शतक तक बौद्ध धर्म्म का प्रचार काम्बोज मे था। हाँ, वह अपने शुद्ध रूप मे न रह गया था। उसके अनुयायियो के आचार और धार्म्मिक व्यवहार हिन्दुओ के आचार-व्यवहार से कुछ कुछ मिल गये ये। दोनों का सम्मिश्रण-सा हो गया था। शिव और विष्णु के मन्दिरो को जैसे धन, भूमि, दास-दासियां और नर्तकियाँ दान के तौर पर दी जाती थी वैसे ही बौद्ध-विहारों को भी दी जाती थी।

बौद्ध धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाली और जातकों में वर्णन की गई कथाओं की दर्शक मूर्तियाँ भी काम्बोज में पाई गई हैं। पर उनकी संख्या कम है। हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का ही आधिक्य है। सबसे अधिक मूर्तियाँ शिव, उमा और शक्ति की पाई गई हैं। उसके बाद विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, गणेश, स्कन्द और नन्दी आदि की।

['श्रीयुत 'ज्ञ' नाम से सितम्बर, 1926 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'पुरातत्त्व-प्रसंग' में संकलित।]

अफगानिस्तान में बौद्धकालीन चिन्ह

भारत की कूपमण्डूकता और दीनावस्था बहुत पुरानी नहीं। एक समय था जब इस बूढ़े भारत की सत्ता और सभ्यता की पताका एशिया ही में नहीं, योरप और अफ़रीका तक में फहराती थी। सम्राट् अशोक के राजत्व-काल की याद कीजिए, जब बौद्ध-श्रमणों के जत्थे के जत्थे सीरिया, स्याम, मिस्र, मकदूनिया और एपिरस तक पहुँचे थे और भगवान् बुद्ध के प्रतिष्ठित धर्म्म के सदुपदेशों में वहाँ वालों को उपकृत करते थे। उस समय उन देशों में यूनानियों का आधिपत्य था। बौद्ध धर्म्म के उपदेशकों का प्रभाव विदेशियों पर यहाँ तक पड़ा था कि कुशान-नरेश कनिष्क भी इस धर्म्म में दीक्षित हो गया था। कनिष्क कोई छोटा-मोटा राजा न था; वह राजेश्वर था। उसने अपने गृहीत धर्म्म के प्रभाव से दूरवर्ती चीन तक को प्रभावान्वित किया था। भारतीय धर्म्म ही नहीं, भारतीय चित्रकला, मूर्ति-निर्म्माण-विद्या और संगीत तक ने मध्य-एशिया की राह चीन और जापान तक में प्रवेश किया था। हाय, जिस भारत ने अपने धर्म्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यता का पाठ दूसरे दूसरे देशों और दूसरी दूसरी विलायतों को पढ़ाया वही आज असभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने ठीक कहा है —

हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः

रणजीत पण्डित नाम के एक बारिस्टर ने 'माडर्न रिव्यू' में एक लेख, अभी कुछ ही महीने पूर्व लिखा है। उसमें उन्होंने उन बौद्ध-कालीन इमारतों—स्तूपों, चैत्यों और विहारों आदि—के ध्वंसावशेषों का वर्णन किया है जो अफ़ग़ानिस्तान के सदृश मुसलमानी देश में भी अब तक पाये जाते हैं। उनका वर्णन पढ़कर कौन ऐसा स्वदेशप्रेमी भारत-वासी होगा जो अपनी वर्तमान दयनीय दशा पर शोक से आकुल न हो उठे? बौद्ध विद्वान् कुमारजीव भारतवासी ही थे। उन्होंने चीन जाकर वहाँ अनेक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। परमार्थ पण्डित और बोधिधर्म्म आदि भारतवासियों ने, सैकड़ों हस्तलिखित बौद्ध ग्रन्थों को अपने साथ ले जाकर, चीन में उनका प्रचार किया और अनन्त चीनियों को अपना समानधर्म्मा बनाया। इधर इन लोगों ने यह सब किया, उधर चीन देश के निवासी कितने ही बौद्ध श्रमणों ने भारत की यात्रायें करके यहाँ के धर्म्मग्रन्थों और धर्म्म-भावों से अपने देशवासियों को बौद्ध बनाने में सहायता पहुँचाई।

ईसा के आठवें शतक में अरबों ने अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण किया। धीरे धीरे वे लोग मध्य-एशिया तक जा पहुँचे। अतएव उन देशों में फैली हुई भारतीय सभ्यता पर आघात होने लगे। तथापि भारतीय विद्या और कलाकुशलता की क़दर उन

लोगों ने भी की। ख़लीफ़ा हारूनुर्रशीद के ज़माने में भारतीय विद्वानों और कला-कोविदों का सम्मान बग़दाद में भी हुआ। वहाँ उन्होंने अरबों पर भी अपनी विद्वत्ता की धाक जमाई।

नवीं सदी में सम्राट् कनिष्क का वंशज अफ़ग़ानिस्तान और उसके आस पास के प्रान्तों का अधीश्वर था। उसकी राजधानी काबुल नगर में थी। 870 ईसवी में अरबों के सेनानायक याकूब-ए-लैस ने उसे परास्त करके उसका राज्य छीन लिया। तभी से वहाँ इस्लामी राज्य की नींव पड़ी। परन्तु यह समझना चाहिए कि, इस कारण, उन देशों का सम्पर्क भारत से छूट गया। नहीं, भारतीय पण्डितों और भारतीय शास्त्रवेत्ताओं की क़दर करना उस समय के मुसलमान बादशाहों और ख़लीफ़ों ने बन्द नही किया। वे उन्हें बराबर अपने देश में सादर बुलाते और उनकी विद्या-बुद्धि से लाभ भी खूब उठाते रहे। यह उस समय की बात है जब अफ़ग़ानिस्तान तथा उसके पास-पड़ोस के प्रान्तों में हिन्दुओं और बौद्धों ही की बस्ती अधिक थी। ये लोग अलप्तगीं और सुबुक्तगीं इत्यादि जनरलों के आक्रमणों से अपनी रक्षा यथाशक्ति करते रहे। पर अनेक कारणों से इन्हें [illegible] होना पड़ा और 990 ईसवी में लमगान का किला भारतीयो के हाथ से निकल गया। यह जगह काबुल से 70 मील है। अन्त में महमूद ग़ज़नवी ने भारतीय सत्ता का समूल ही उन्मूलन कर डाला। केवल काफ़िरिस्तान उसके आधिपत्य से बच गया। वहाँ, उस प्रान्त में, अब तक भी बहुत कम मुसलमान पाये जाते हैं। तदितर धर्म्म वाले ही वहाँ अधिक हैं।

इस संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि जिस अफ़ग़ानिस्तान और मध्य-एशिया में इस समय इस्लामी डंका बज रहा है वहाँ मुसलमानों की अधिकार-प्राप्ति के पहले हज़ारों वर्ष तक भारतीय सभ्यता और सत्ता का दौर-दौरा था। अतएव यदि वहाँ बौद्धकालीन ऐतिहासिक चिह्न अब भी, टूटी फूटी दशा मे, बहुत से पाये जायँ तो कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं।

मुसलमानों ने तो हिन्दुओं की पुरानी इमारतों और पुराने चिह्नों की रक्षा दूर, उनका विनाश करना ही, बहुधा अपना कर्त्तव्य समझा। अतएव उनके जो ध्वंसावशेष यत्र तत्र बच गये हैं उसे दैवयोग ही समझना चाहिए। मध्य-एशिया के प्राचीन चिह्नों की खोज करके कई अँगरेज़, जर्मन और फरासीसी विद्वान् अनेक अज्ञात और विस्मृत बातों का पता लगा चुके हैं। उनका यह काम 1897 ईसवी से शुरू हुआ था और अब तक जारी है। पर 1922 ईसवी तक, किसी भी स्वदेशी पुरातत्त्वज्ञ ने अफ़ग़ानिस्तान में प्राचीन चिह्नों का पता लगाने की चेष्टा नहीं की थी। फरासीसी पण्डित फूशर (Foucher) ने उस वर्ष, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर की आज्ञा से, पहले-पहल खोज का काम शुरू किया। खोज से उन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण स्तूपों, मीनारों, मूर्तियों आदि का पता लगा। उनमें से कितनी ही वस्तुओं को उठाकर वे पेरिस ले गये। वहाँ पर वे एक अजायबघर में रक्खी गई हैं। उन्हें देख कर पुरातत्त्व के पण्डितों और भारत की प्राचीन कारीगरी के ज्ञाताओं को अपार आनन्द और आनन्द के साथ आश्चर्य्य तथा परिताप भी होता है। जो भारत इस समय अपने प्राचीन गौरव को भूल सा गया है उसी ने

किसी समय, दूर दूर तक के देशों में अपनी सभ्यता और अपनी कला-कुशलता का प्रकाश फैला कर अपनी सत्ता चलाई थी। यह जानकर किस विवेकशील भारतवासी की आँखों से आँसू निकल पड़ेंगे ?

जलालाबाद, हिद्दा और काबुल में जो बौद्धकालीन चिह्न—मूर्तियाँ और मूर्ति-खण्ड आदि—मिले हैं, उनमें गान्धार शैली की शिल्पकला पाई जाती है। पर जो चिह्न बामियान और उसके पास-पड़ोस के स्थानों में प्राप्त हुए है वे बौद्ध-कालीन शिल्प के सच्चे नमूने हैं। हाँ, उनमें ग्रीस अर्थात् यूनान की कारीगरी का भी कुछ असर पड़ा मालूम होता है।

सम्राट् कनिष्क का ग्रीष्म-निवास, कपिशा नाम के नगर में था। जहाँ पर वह था वहाँ अब वेगरम नाम का नगर आबाद है। जिस नगरहार मे दीपकर बुद्ध ने, अपनी तपस्या के प्रभाव से, कितनी ही आश्चर्य्यजनक घटनायें कर दिखाई थी वही अब जलालाबाद के नाम से विख्यात है। हिद्दा वह जगह है जहाँ गौतम बुद्ध के भौतिक शरीर का कुछ अंश रक्खा गया था और जिसके दर्शनों के लिए सैकड़ों कोस दूर से बौद्ध-यात्री आया करते थे। इन स्थानो में जो स्तूप, विहार, चैत्य और मूर्तियां मिली है वे बिलकुल वैसी ही हैं जैसी कि तक्षशिला और तख्ते-बाही आदि के धुस्सों को खोदने से मिली हैं। हिद्दा मे तो पत्थर की कारीगरी की कुछ ऐसी भी चीज़े प्राप्त हुई है जिनकी बराबरी भारत मे प्राप्त हुई गान्धार शैली की कारीगरी वाली चीज़ें भी नहीं कर सकतीं।

हिद्दा में जिस स्तूप को फ़रासीसी पुरातत्त्वज्ञों ने खोज निकाला है उसे वहाँ वाले अपनी भाषा पश्तो मे ख़ायस्ता का स्तूप कहते है। 'ख़ायस्ता' का अर्थ है—विशाल। और यह स्तूप सचमुच ही बहुत विशाल है। यह बहुत अच्छी दशा में भी है। जिस समय फ़ाहियान नाम का चीनी परिव्राजक हिद्दा के पवित्र तीर्थ का दर्शन करने आया था उस समय वहाँ पर एक अभ्रंकष बौद्ध-विहार था। उसके विषय में उसने लिखा है कि धरातल चाहे फट जाय और आकाश चाहे हिंडोले की तरह हिलने लगे, पर यह विहार अपने स्थान से इंच भर भी हटने वाला नहीं।

हिद्दा में कई स्तूप थे। उनमें बुद्ध भगवान् के शरीरावशिष्ट अंश—शीर्षास्थि, दाँत और दण्ड आदि—रक्षित थे। उनकी रक्षा और पूजा-अर्चा के लिए कपिशा के राजा ने कुछ पुजारी नियत कर दिये थे। जिस स्तूप में बुद्ध के सिर की अस्थि रक्खी थी उसका दर्शन करने वालो को एक सुवर्ण-मुद्रा देनी पड़ती थी। जो यात्री मोम इत्यादि पर उस अस्थि का चित्र अर्थात् प्रतिलिपि लेना चाहते थे उनसे पाँच सुवर्ण-मुद्रायें ली जाती थी। इसी तरह अन्यान्य शरीरांशो के दर्शनो की भी फीस नियत थी। फिर भी—इतने दाम देकर भी—दर्शनार्थियों की भीड़ लगी ही रहती थी। इन बातो का उल्लेख चीन के प्रसिद्ध परिव्राजक हुएन-संग ने, अपनी यात्रा-पुस्तक में, किया है। उसने लिखा है कि बुद्ध के ये शरीरांश हिद्दा के स्तूपों में एक बहुमूल्य स्वर्ण-सिंहासन पर अधिष्ठित हैं।

किसी समय जिस हिद्दा की इतनी महिमा थी और जिसके विशालत्व और

वैभव की इतनी ख्याति थी वह अब इस समय एक छोटा सा गाँव मात्र रह गया है। अथवा यह कहना चाहिए कि उसका तो सर्वथा नाश हो चुका। उसकी जगह पर कुछ घरों का एक नया पुरवा या खेरा आबाद है। संघारामों और विहारों की इमारतें नष्ट-भ्रष्ट होकर टीलों में परिणत हो गई हैं। वहाँ अब मिट्टी, बालू और कंकड़ों के सिवा और कुछ भी शेष नही। स्तूपों में जो मूर्तियाँ और जो कारीगरी थी वह भी नामशेष हो गई है। बहुत ढूँढने से कही कहीं कारीगरी और रंग-आमेजी के कुछ चिह्न देखने को मिल जाते हैं।

जिस समय हुएन-संग भारत आया था उस समय गान्धार में बौद्ध धर्म्म का ह्रास हो रहा था। गान्धार की राजधानी पुरुषपुर, अर्थात् वर्तमान पेशावर थी। पुरुषपुर, नगरहार और हिड्डा, ये तीनों नगर और उनके पास के प्रान्त कपिशा के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कपिशा का राजराजेश्वर क्षत्रिय था। वह बौद्ध धर्म्म का अनुयायी था। हर साल वह 18 फुट ऊँची चाँदी की एक बुद्ध-मूर्ति तैयार कराकर उसका पूजन करता था। इस सम्बन्ध में एक बहुत बड़ा उत्सव होता था और मोक्षमहापरिषद् नाम की एक सभा का अधिवेशन किया जाता था। उस समय सम्राट् दीन-दुखियों को दान देना और हर तरह से उसकी सहायता करता था।

कपिशा के विस्तृत राज्य मे उस समय कोई एक सौ विहार थे। उनमे 6 हजार बौद्ध श्रमण रहते थे। स्तूपों और संघारामों की इमारतें बहुत विशाल थी। वे इतनी ऊँची थी कि दूर से वे देख पड़ती थी। उनके सिवा, हिन्दुओं के भी सैकड़ों मठ और मन्दिर थे।

बौद्ध काल मे काबुल मे भी बौद्धो के कितने ही स्तूप और विहार थे। पर वे सब अब नामनिःशेष हो गये है। उनकी जगह पर अब केवल खँडहरों के कुछ चिह्न और धुस्स-मात्र रह गये हैं। हाँ, एक बहुत ऊँचा स्तम्भ अब तक खड़ा हुआ है। न वह भूकम्पों ही से भूमिसात् हुआ, न उस पर भवनभंजकों और मूर्तिसंहारकों ही की कुदालो का कुछ बस चल सका।

हुएनसंग जिस समय बामियान मे आया था उस समय वहाँ बौद्ध धर्म्म ऊर्जितावस्था में था। वहाँ के निवासी बड़े ही धर्म्मनिष्ठ थे। वे विशेष करके लोकोत्तर-वादी सम्प्रदाय के थे। दस विहार और कोई एक हजार श्रमण, उस समय, वहाँ थे। बुद्ध की एक प्रस्तरमूर्ति, 150 फुट ऊँची और उससे कुछ दूरी पर धातु की दूसरी मूर्ति 100 फुट ऊँची, खड़ी आसमान से बातें करती थी। छोटी छोटी मूर्तियाँ तो और भी कितनी ही थी। 1879 ईसवी के अफ़ग़ान-युद्ध के समय जनरल के० ने जो मूर्ति वहाँ देखी थी उसका वर्णन उन्होंने भी अपने, एक लेख में किया है। यह मूर्ति यहाँ अब तक विद्यमान है। बामियान के निवासी उसे अजदहा कहते हैं। उन्होने यह कल्पना कर ली है कि किसी मुसलमान फ़क़ीर ने इस अजदहे को मारा था। उसी की यह यादगार है।

बौद्धों के ज़माने मे जो बामियान धन-लक्ष्मी का विलास-स्थान था और जहाँ हजारों कोस दूर से यात्रियों के जत्थे आया करते थे, उसे, ईसा की आठवीं सदी में, अरबों ने उजाड़ दिया। अनन्त बौद्ध भिक्षुओं को उन्होंने तलवार के घाट उतार दिया। उनकी

इमारतों को तोड़-फोड़कर ज़मींदोज़ कर दिया। इसके कुछ समय पीछे, बामियान की तराई की दूसरी तरफ़, शहरे-ग़ोल-ग़ोला नाम का एक नगर बसा। परन्तु बारहवीं सदी में चंगेज़ख़ाँ मंगोल ने उसे भी विध्वंस करके बौद्धों से बामियान की दशा को पहुँचा दिया। काल बड़ा बली है। वह सदा बनाने और बिगाड़ने ही के खेल खेला करता है। अभ्रङ्कष प्रासादो और दुर्दान्त सम्राटों को देख देखकर वह हँसता है। वह कहता है—तुम्हारी यह शानो-शौकत है कितने दिन के लिए! इन्ही खेलों को देखकर एक कवि ने कहा है—

न यत्र स्थेमान दधुरतिभयभ्रान्तनयना
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकं गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव शिव शिवानां कलकलः॥

['श्रीयुत परमेश्वर शर्म्मा' नाम से जुलाई, 1927 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'पुरातत्त्व-प्रसंग' पुस्तक में संकलित]

सुमात्रा और जावा आदि द्वीपों में प्राचीन हिन्दू-सभ्यता

उस दिन अखबारों में पढ़ा कि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्याम, अनाम, कम्बोडिया और मलय द्वीप-समूह की यात्रा के निमित्त कलकत्ते से प्रस्थान कर दिया। आप इन देशो और द्वीपों के निवासियों पर वेदों और उपनिषदों की अमृत-रस से सिंचित वाणी की वर्षा करेंगे और हिन्दुओं तथा बौद्धों की प्राचीन सभ्यता के तत्रस्थ चिह्नों के दर्शनों से कृतार्थ होंगे।

सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, कम्बोडिया (काम्बोज) और बाली आदि में किसी समय हिन्दुओं ही का राज्य था। उन्हीं ने वहाँ उपनिवेशों की स्थापना की थी। उन्हीं ने वहाँ वैदिक सभ्यता फैलाई थी। इन देशों तथा द्वीपों में भारत की प्राचीन सभ्यता की धुँधली झलक अब भी देखने को मिल सकती है। कौन ऐसा सभ्यताभिमानी भारतवासी होगा जो अपने पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की उस झलक के दर्शन करने की इच्छा न करे।

अध्यापक विज्ञानराज चैटजी (Bijanraj Chatterji) अथवा परम पवित्र और परमपूर्ण अँगरेजी भाषा की कृपा से विजनराज या विजानराज चैटर्जी ने तिब्बत, इंडो-चायना और जावा आदि की खूब सैर की है और वहाँ के प्राचीन इतिहास से विशेष अभिज्ञता भी प्राप्त की है। उन्होंने पुरातन काम्बोज अर्थात् अर्वाचीन कम्बोडिया पर एक पुस्तक भी लिखी है। उनके लेख से मालूम होता है कि छोटे से बाली नामक टापू में अब तक प्राचीन हिन्दुओं के वंशज वर्तमान हैं। उनमें हिन्दुओं के अनेक रीति-रवाज अब तक वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि किसी समय हमारे पूर्वज भारत-वासियों के थे। उनके धर्म्म में यद्यपि बौद्ध धर्म्म का मिश्रण हो गया है तथापि अनेक विषयों में वे अब भी हिन्दुओं ही के धर्म्म-विश्वास के पक्षपाती हैं। उनकी उपासना-पद्धति, उनके खानपान और उनके मन्दिर आदि देखकर यह निश्चय करने में देर नहीं लगती कि वे लोग प्राचीन हिन्दुओं ही की सन्तति हैं।

जिन अध्यापक विज्ञान (विजान या विजन) राज चैटर्जी का उल्लेख ऊपर किया गया उनका लिखा हुआ एक लेख गत जून के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ है। वह अँगरेजी भाषा में है। उसमें जावा आदि टापुओं के प्राचीन इतिहास का महत्त्वपूर्ण दिग्दर्शन है। उसमें निर्दिष्ट अनेक बातें भारतवासियों के लिए नई, अतएव जानने योग्य हैं। इसी से हम उसके कुछ अंशों का अवतरण नीचे देते हैं।

गत 30 वर्षों में हालैंड के पुरातत्त्वज्ञों ने प्राचीन पुस्तकों, लेखों और परम्परा से सुनी गई गाथाओं की सहायता से जावा आदि टापुओं के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है।

रामायण कम से कम ईसा के पहले शतक की पुस्तक है। उसमें जावा अर्थात् यवद्वीप का नाम आया है। मिस्र देश के प्राचीन इतिहासवेत्ता टालमी ने, दूसरे शतक में, उसका उल्लेख किया है। बोर्नियो नाम के टापू में एक बहुत पुराना शिलालेख मिला है। वह संस्कृत भाषा में है और ईसा के चौथे शतक का मालूम होता है। वह जिस लिपि में है उसी लिपि के लेख चम्पा और काम्बोज में भी मिले है। उनकी लिपि और भाषा दक्षिणी भारत के पल्लव-नरेशों के शिलालेख से मिलती-जुलती है। बोर्नियो के शिलालेख में अश्ववर्म्मा नामक राजा का उल्लेख है। यह राजा अपने वंश का आदि पुरुष था। इसके पुत्र मूलवर्म्मा ने बहुसुवर्णक नाम का यज्ञ किया था। इसके बाद पाँचवे शतक के शिलालेख मिले है; वे पश्चिमी जावा के राजा पूर्णवर्म्मा के है। इनकी भी लिपि पल्लव-वंशी नरेशों की ग्रन्थ नामक लिपि के सदृश है। वर्तमान बटेविया नगर के पास किसी समय तरुण-नगर नाम की एक बस्ती थी। पूर्णवर्म्मा वहीं का राजा था। उसने दो नहर खुदाये थे। एक का नाम था चन्द्रभागा और दूसरे का गोमती। ये दोनों ही नाम उत्तरी भारत की नदियों के नाम की नकल हैं। बहुत सम्भव है कि इसी पूर्णवर्म्मा या इनके परवर्ती राजा के राजत्व-काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाहियान सिहल द्वीप से पश्चिमी जावा मे पहुँचा हो। इस यात्री ने लिखा है कि उस समय वहाँ अनेक ब्राह्मण थे। बौद्ध धर्म्म का प्रचार शुरू हो गया था, परन्तु तब तक उसके अनुयायी बहुत कम थे। इस यात्री ने, 413 ईसवी में, जावा से कैण्टन नामक नगर के लिए जिस जहाज पर प्रस्थान किया था उस पर 200 हिन्दू व्यापारी थे। यह बात उसने स्वयं ही अपने यात्रा-वर्णन में लिखी है।

पुराने अवतरणो और उल्लेखों से मालूम होता है कि जावा में पहले-पहल काश्मीर के राजा या राजकुमार गुलवर्म्मा ने, 423 ईसवी में बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया। यह राजकुमार जावा से चीन को एक ऐसे जहाज पर गया था जिसका मालिक नन्दी नाम का एक हिन्दू था। इससे सिद्ध है कि उस समय इन टापुओ के हिन्दू जहाज़ बनाने, जहाज चलाने और जहाजों के द्वारा वाणिज्य करने में निपुण थे।

चीन की प्राचीन पुस्तको से भी जावा के अस्तित्व और वहाँ हिन्दुओं का राज्य होने का प्रमाण मिलते है। चीन के पहले सुङ्ग वंश के इतिहास मे लिखा है कि 435 ईसवी में जावा-नरेश श्रीपाद धारावर्म्मा ने अपने दूत के द्वारा चीन के राजाधिराज के के पास एक पत्र भेजा था। छठे शतक के एक अन्य चीनी इतिहास मे लिखा है कि जावा निवासी कहते है कि उनके राज्य की स्थापना हुए 400 वर्ष व्यतीत हुए।

मालूम होता है कि छठे शतक के अन्त में पश्चिमी जावा के राज्य का पतन हो गया और मध्य जावा में एक नये ही राज्य की स्थापना हुई। चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थों मे लिखा है कि मध्य जावा मे कलिङ्ग नामक राज्य का उदय हुआ। उसमें यह भी लिखा है कि उस राज्य से तथा बाली से भी, 637 और 649 ईसवी के बीच कई राजदूत चीन को गये और वहाँ के राजेश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर उन्होंने अपने अपने देश के स्वामियों के पत्र उसे दिये। 674 ईसवी में कलिङ्ग के राजासन पर सीमा नाम की एक रानी आसीन हुई। उसका राज्य राम-राज्य के सदृश था। प्रजा का पालन

उसने पुत्रवत् किया—'चोरी' का शब्द केवल कोश में रह गया—

वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि
काल्म्बयेदाहरणाय हस्तम् ।

उस समय सुमात्रा के पश्चिमी समुद्र-तटवर्ती प्रान्त मे कुछ अरब बस गये थे। उनके सरदार ने अशर्फ़ियों से भरी हुई एक थैली कलिङ्ग-राज्य की सीमा के भीतर, एक सड़क पर, रखवा दी कि देखें उसे कोई उठा ले जाता है या नहीं। तीन वर्ष तक वह वहीं पड़ी रही; किसी ने उसे छुवा तक नहीं। इसके बाद एक दिन कलिङ्ग के युवराज के पैर से वह थैली टकरा गई। इस पर रानी सीमा सख्त नाराज हुई। पहले तो उसने युवराज को वध-दण्ड दिये जाने की आज्ञा दे दी; पर लोगों के बहुत कुछ समझाने पर उसने युवराज के उस पैर का केवल अँगूठा कटवाकर उसे छोड़ दिया। इस घटना का भी उल्लेख चीनियों के इतिहास में है।

मध्य जावा में एक जगह जंगाल है। वहाँ एक शिलालेख, शक 654 (732 ईसवी) का मिला है। यह पहला ही शिलालेख है, जिसमे सन्-संवत् दिया हुआ है। इसकी भी भाषा संस्कृत और लिपि वही पल्लव-ग्रन्थ है। इसमें एक शिवालय के पुनर्निम्मर्ाण का उल्लेख है। दक्षिणी भारत में अगस्त्य मुनि के एक आश्रम का नाम कुञ्जर-कुञ्ज था। जावा का वह शिवालय इसी कुञ्जर-कुञ्ज के शिवालय के ढंग का बनाया गया था। इसमें मध्य जावा के दो नरेशों—सन्नाह और सञ्जय—का जिक्र है और लिखा है कि उन्होंने इस भू-मण्डल पर, चिरकाल तक, मनु के सदृश न्यायपूर्वक राज्य किया। सञ्जय बड़ा ही बलशाली राजा हुआ। उसने सुमात्रा, बाली और मलय प्रायद्वीप के समस्त नरेशों को पराजय करके उन्हें अपने अधीन कर लिया था।

शक 682 (सन् 760 ईसवी) में उत्कीर्ण एक और शिलालेख, पूर्वी जावा में, प्राप्त हुआ है। उसमे अगस्त्य ऋषि की एक प्रस्तर-मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। उसकी स्थापना गजयान नामक राजा ने की थी। यह राजा ब्राह्मणों का पुरस्कर्ता और कुम्भयोनि अगस्त्य का उपासक था।

यवद्वीप के निवासी अगस्त्य के परम उपासक थे। 863 ईसवी के एक और शिलालेख मे भी अगस्त्य का नाम आया है। इस लेख की भाषा 'कवी' है। संस्कृत और जावा की तत्कालीन प्रान्तिक भाषा के मिश्रण से बनी हुई भाषा का नाम 'कवी' है। इस शिलालेख मे भद्रलोक नाम के एक मन्दिर का उल्लेख है। उसे स्वयं अगस्त्य ने बनवाया था। उसमे अगस्त्य की सन्तति के विषय में आशीर्वाद है। इससे सूचित होता है कि अगस्त्य मुनि दक्षिणी भारत से जावा मे बसे थे।

इस बीच मे राजनैतिक उलट-फेर बहुत कुछ हो जाने के कारण मध्य जावा, शैव-सम्प्रदाय के नरेशों के हाथ से निकलकर, सुमात्रा के महायान-सम्प्रदाय वाले बौद्धों के अधिकार में चला गया। यह घटना ईसा के आठवें शतक के मध्य में हुई जान पड़ती है। चीन के ऐतिहासिक ग्रन्थों में लिखा है कि सुमात्रा में, ईसा के पाँचवें शतक में, हिन्दुओं का राज्य था। वहाँ के शैलेन्द्र-वंशी नरेशों ने अपने राज्य का विस्तार धीरे-

धीरे, बहुत दूर तक बढ़ा लिया था। बौद्ध हो जाने पर उन्होंने मध्य जावा के शैवों से उनका राज्य छीनकर वहाँ भी अपना प्रभुत्व जमाया। दसवें शतक में इसी वंश के एक राजा ने मदरास के पास नेगापट्टन में एक मन्दिर बनवाया। इस काम में जो कुछ ख़र्च पड़ा वह उसी राजा ने दिया; मन्दिर बनवाने की आज्ञा-मात्र दक्षिण के तत्कालीन चोल-नरेश ने दी। सुमात्रा के इन नरेशों ने भारत में और भी कई मठ तथा मन्दिर आदि बनवाये। नालन्द में एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें लिखा है कि सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) के शैलेन्द्र-वंशी राजा बालपुत्रदेव ने वहाँ पर एक मठ या विहार बनवाया। उसके ख़र्च के लिए बंगाल के पाल-नरेश ने कुछ गाँव अलग कर दिये, क्योंकि उसका झुकाव बौद्ध धर्म्म की ओर था।

सुमात्रा के नरेशों की राजधानी श्रीविजय नामक नगर था और वहाँ के पराक्रमी अधिपति महायान-सम्प्रदाय के बौद्ध थे। ये लोग पहले हीनयान-सम्प्रदाय के थे; क्योंकि सातवें शतक में जब चीनी परिव्राजक इत्सिंग सुमात्रा में था तब उसने वहाँ हीनयान-सम्प्रदाय ही का आधिक्य पाया था।

सुमात्रा और जावा में उपनिवेश स्थापित करके वहीं बस जाने वाले हिन्दुओं का अधिक सम्पर्क, पहले पहल, दक्षिणी भारत से था। वे लोग दक्षिण ही से जाकर वहाँ बस गये थे। पर निकट होने के कारण, कालान्तर में, उनका आवागमन बंगाल और मगध से अधिक होने लगा। फल यह हुआ कि शिलालेखों और ताम्रपत्रों में दक्षिण की पल्लव-ग्रन्थ-लिपि के बदले उत्तरी भारत का लिपि स्थान पाने लगी। शैलेन्द्र-वंशी एक राजा ने 700 शक (778 ईसवी) में तारा का एक मन्दिर, जावा में, बनवाया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले लेख में उत्तरी भारत की लिपि का प्रयोग हुआ है। यह लिपि देव-नागरी से कम, बँगला से अधिक, मिलती-जुलती है।

श्रीविजय के नरेशो के शासन-काल में जावा अर्थात् यवद्वीप की बड़ी उन्नति हुई। कला-कौशल और मन्दिर-निर्म्माण आदि के कुछ ऐसे काम उस समय हुए जिन्हें देखकर बड़े बड़े यंजिनियर और कला-कोविद शतमुख से उनकी प्रशंसा करते हैं। बोरो-बोदूर के विश्वविश्रुत मन्दिर-समूह उसी समय बने। चण्डी-मेन्दूत की अवलोकितेश्वर की प्रसिद्ध मूर्ति का निर्म्माण भी तभी हुआ। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्ति-निर्म्माण-प्रणाली से टक्कर खाती है और बहुत ही अच्छी है। श्रीविजय के शैलेन्द्र-नरेश संस्कृत भाषा के साहित्य के भी उन्नायक थे। उनमें से एक राजा ने अपने यहाँ की 'कवी' भाषा में संस्कृत एक शब्दकोश की रचना भी की। जावा में सुमात्रा के श्रीविजय-नरेशों का राज्य ईसा के दसवें शतक तक रहा।

दसवें शतक में मध्य जावा के शैव-नरेश, जो अपने देश से निकाले जाने पर पूर्वी जावा में जा बसे थे, फिर प्रबल हुए। उस समय श्रीविजय के सूबेदार या गवर्नर मध्य जावा में शासन करते थे। उन्होंने उन सूबेदारों को निकाल बाहर किया और अपना राज्य उनसे छीन लिया। तब बौद्धों का प्रभुत्व वहाँ फिर बढ़ा और अनेक विशालकाय शिवालयों और मन्दिरों का निर्म्माण हुआ। उनमें से एक मन्दिर में रामायण से सम्बन्ध रखने वाली बड़ी ही सुन्दर चित्रावलियाँ और मूर्तियाँ बनाई गईं। इसके बाद किसी

दुर्घटना—बहुत करके किसी ज्वालामुखी पर्वत के स्फोट—के कारण मध्य जावा उजड़ गया।

तदन्तर पूर्वी जावा की बारी आई। यू-सिन्दोक नामक नरेश के प्रताप से उसकी उन्नति हुई। उसने वहाँ एक बलवान राज्य की नीव डाली। उसकी पौत्री महेन्द्रदत्ता का विवाह बाली के गवर्नर उदयन के साथ हुआ। उदयन का पुत्र एरलिङ्ग बड़ा प्रतापी हुआ। पन्द्रह ही वर्ष की उम्र में उसे, अपने शत्रुओं के भय से, वाणगिरि नामक जगल को भाग जाना पड़ा। वहाँ उसने बहुत समय बड़े कष्ट से काटा। उसने वहाँ प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे मेरा पैत्रिक राज्य फिर प्राप्त हुआ तो मैं इस अरण्य में एक आश्रम बनवाऊँगा। उसकी इच्छा, कालान्तर में, पूर्ण हुई। सब उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस अरण्य में एक भव्य आश्रम का निर्म्माण कराया। वहीं पर प्राप्त हुए सन् 1035 ईसवी के एक शिलालेख से ये सब बातें मालूम हुई हैं। यह राजा वड़ा प्रतापी था। अपने सभी शत्रुओ पर इसने विजय प्राप्त की। इसके राज्यकाल मे साहित्य की बहुत उन्नति हुई। अर्जुन-विवाह और विराट पर्व काव्य तथा रामायण और महाभारत के अनुवाद आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, इसी के समय में, जावा की पुरानी ('कवी') भाषा में निर्म्मित हुए। वृद्ध होने हर एरलिङ्ग वानप्रस्थ हो गया। उसने अपना राज्य अपने दोनों बेटों को बराबर बाँट दिया। यह हिस्सा-बाँट भरत नाम के एक 'सिद्ध' मुनि ने किया। एक को केदरी का और दूसरे को जांगल का राज्य मिला। यह घटना 1042 ईसवी में हुई।

जांगल-राज्य के विषय में तो विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं; परन्तु केदिरी-राज्य ने बड़ी ख्याति पाई। उस राज्य के कवियों ने 'कवी' भाषा के साहित्य की बहुत उन्नति की। वर्षजय नामक राजा के आश्रित कवि त्रिगुण ने, 1104 ईसवी में, सुमनसान्तक और कृष्णजन नामक प्रसिद्ध काव्यों की रचना की। 1120 ईसवी के आसपास कामेश्वर नामक राजा के समय में, पू-धर्म्मज नाम के कवि ने स्मरदहन नाम के काव्य का निर्म्माण किया। इस राजा का विवाह जांगल-देश की राजकुमारी चन्द्रकिरण के साथ हुआ था।

सन् 1135 और 1155 ईसबी के बीच, केदिरी-राज्य के सिहासन पर जयवय नाम का राजा आसीन रहा। उसने बढ़ी ख्याति पाई। उसके राज्यकाल के सुखैश्वर्य्य वर्णन प्राचीन पुस्तकों मे लिखे हुए पाये जाते हैं। उसका राज्य धर्म्म-राज्य माना गया है। उसके समय में भारत-युद्ध और हरिवंश नामक ग्रन्थों का उदय हुआ। भारत-युद्ध का वर्णन प्रथम पुस्तक में इस तरह किया गया जैसे वह जावा ही में हुआ हो और कौरव-पाण्डवों के बदले वहीं के नरेशो ने आपस में युद्ध किया हो। लिखा है कि जयवय राजा इतना प्रतापी और पराक्रमी हुआ कि उसने सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। यह राजा वैष्णव था।

1129 ईसवी में केदिरी-नरेश को चीन के राजराजेश्वर ने 'राजा' की उपाधि से अलंकृत किया। उस समय यवद्वीप के व्यवसायी सामुद्रिक यात्रायें दूर दूर तक करते

थे। अफ़रीका के पूर्व-तटवर्ती सोफाला नामक बन्दरगाह तक उनके जहाज़ जाते थे। वे लोग वहाँ से हबशी दास भी जावा को ले आते थे। वे केदिरी-नरेश की सेवा के लिए नियुक्त होते थे। कुछ पुरातत्त्व-वेत्ताओं का खयाल है कि सन् ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में सुमात्रा और जावा के हिन्दुओं ने मैडेगास्कर नामक द्वीप में अपने उपनिवेश स्थापित करके उसे आवाद किया था।

जावा की पुरानी भाषा 'कवी' में दो इतिहास बड़े मार्के के हैं। एक का नाम है नगर कृतागम, दूसरे का पररारतन। पहले ग्रन्थ में ईसा की बारहवीं सदी से 1365 ईसवी तक का और दूसरी मे 1478 ईसवी तक का इतिहास निबद्ध है। इनसे जो बातें जानी जाती हैं उनका दिग्दर्शन नीचे किया जाता है।

जावा में केन-अरोक नाम का एक बड़ा ही मायावी सरदार था। वह बुद्धिमान् भी था और साथ ही कुटिल और कपटी भी था। केदिरी के अन्तिम अधिपति का नाश करके, 1220 ईसवी में, वह उस राज्य का स्वामी बन बैठा। उसने शृङ्गश्री (सिङ्गसारी) को अपनी राजधानी बनाया। सात वर्ष मे वह अपने राज्य को दृढ़ कर ही पाया था कि 1227 ईसवी में वह मारा गया। उसके अनन्तर दो राजे और हुए, पर उनके राजत्वकाल में कुछ भी विशेष घटनाये नही हुई। शृङ्गश्री के चौथे राजा कृतनगर का राजत्वकाल, अनेक विषयों में, महत्त्वपूर्ण घटनाओ के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य की सीमा के पास-पड़ोस वाले कितने ही देशों और प्रदेशो पर चढ़ाइयाँ करके उन पर विजय प्राप्त की। परन्तु बाहरी लड़ाइयों में लगे रहने के कारण वह स्वदेश का शासन अच्छी तरह न कर सका। वह बड़ा अभिमानी था। उसने चीन के राजेश्वर कुबिलाईख़ाँ के भेजे हुए राजदूत तक का अपमान किया। उससे उसके सरदार और मण्डलेश भी नाराज़ थे। फल यह हुआ कि केदिरी के मण्डलेश्वर जयकटोंग ने उसे मार डाला। उसका दामाद रेटन-विजय, इस युद्ध में; अपने ससुर कृतनगर का सहायक था। वह भी जयकटोंग के भय से एक छोटे से टापू को भाग गया। कुछ समय के अनन्तर वह वहाँ से लौटा और कपटाचार की बदौलत अपने शत्रु जयकटोंग को मार कर आप राजा बन गया। उसने माजापिहित नाम का एक नया नगर बसाया। वहीं उसने, 1214 ईसवी मे, अपना अभिषेक कराया। सिहासनासीन होने पर उसने अपना नाम रक्खा—कृतराजस जयवर्धन। जिस स्थान पर इस राजा के शव का दाह हुआ था वहाँ पर उसकी एक बड़ी ही सुन्दर प्रस्तरमूर्ति विद्यमान है। उसमें उसकी आकृति विष्णु की जैसी बनाई गई है। विष्णु के आयुध भी उसमें ज्यों के त्यों बने हुए हैं। इससे सिद्ध है कि वह पूर्ण वैष्णव था।

कृतराजस का पुत्र निकम्मा नरेश हुआ। उसके बाद उसकी बहन त्रिभुवनो-तुङ्गदेवी जयविष्णुवर्द्धिनी सिहासन पर बैठी। उसकी बहन राजदेवी और माता गायत्री भी उसके साथ, राजकार्य्य में, भाग लेती रही। रानी का प्रधानामात्य गजमद बड़ा चतुर और शासन-कुशल था। उसने, 1343 ईसवी में, बाली और उसके निकटवर्ती द्वीपों और प्रान्तों को जीत कर माजापिहित-राज्य की सीमा खूब विस्तृत कर दी। उसने और भी कई राज्यों पर विजय पाने की प्रतिज्ञा की थी। पर उसका यह काम,

शायद जयविष्णुवर्द्धिनी रानी के अनन्तर राजासन प्राप्त करने वाले हेमऊरुफ नामक राजा के राज्यकाल में, सफल हुआ।

इसी समय (शक 1269) का एक शिलालेख मिला है। वह आदित्यवर्म्मा का है। वह सुमात्रा का राजा था। उससे सिद्ध है कि यह राजा तान्त्रिक-सम्प्रदाय का वर्द्धी था। नगरकृतागम के कर्त्ता प्रपंच पण्डित ने भी अपने ग्रन्थ में लिखा है कि उस समय वहाँ तान्त्रिक क्रियाओं का बड़ा जोर था। सुमात्रा और जावा दोनों ही में तान्त्रिकों का आधिक्य होते होते हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्म्मों की जड़ में घुन लग गया। फल यह हुआ कि कालान्तर में, इन द्वीपों में, मुसलमानी धर्म्म के प्रचार के लिए मैदान साफ़ होता गया।

माजापिहित की रानी जयविष्णुवर्द्धिनी राजासन पर इस कारण बैठी थी कि उसका पुत्र हेमऊरुफ अल्पवयस्क था। 1350 ईसवी में वह वयस्क हुआ और गद्दी पर बैठा। गजमद ही उसका प्रधान मन्त्री बना रहा। इस राजा के राज्य-काल में गजमद के पराक्रम और चातुर्य्य के प्रभाव से, माजापिहित राज्य की बड़ी उन्नति हुई। दूर दूर तक के देश—न्यूगिनी तक के—इस राज्य के अन्तर्भुक्त हो गये। सुमात्रा, बोर्नियो और सिंहपुर (सिंहापुर) आदि सभी द्वीपों के अधिकारियों ने माजापिहित के अधीश्वर के सामने सिर झुकाया। वह एक प्रकार से चक्रवर्ती राजा हो गया और अपना नाम हेमऊरुफ बदल कर श्रीराजसनागर रक्खा। इस राजा ने अनेक बलशाली देशों के शासकों के साथ मैत्री की भी स्थापना की। उनमें से मर्त्तमा (मर्तबान), काम्बोज, चम्पा, यवन (उत्तरी अनाम) और स्यामदेश की अयोध्या तथा राजपुरी के नरेश मुख्य थे।

श्रीराजसनागर के राज्य-काल में माजापिहित राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। दूर देशों में राज्य-शासन के लिए जो सरदार या गवर्नर उसने रक्खे थे वे समय समय पर माजापिहित में उपस्थित होकर राजा की पाद-वन्दना कर जाते थे।

राजा ने भिन्न भिन्न महकमों के कार्य्यनिरीक्षण के लिए 5 मन्त्री रक्खे थे। उन्हीं की सलाह से वह राज्य-संचालन करता था। उसके मन्त्री और 'भुजङ्ग' देश में दौरे भी करते थे। भुजङ्ग एक प्रकार के धर्म्माध्यक्ष अथवा पुरोहित थे। वे राजकार्य्य भी करते और धर्म्म-सम्बन्धी व्यवस्था आदि भी देते थे। शैव और बौद्ध दोनों धर्म्मों के अध्यक्ष अलग अलग थे। राजाज्ञा का उल्लघन करने वालों को राजा के 'जलधि-मन्त्री' देते थे।

श्री राजसनागर की प्रधान महिषी का नाम षुम्नादेवी था। वह रति का अवतार मानी जाती थी। राजधानी माजापिहित बड़ा ही शोभाशाली नगर था। उसके इस यवद्वीपीय नाम का संस्कृत रूप बिल्वतिक्त अथवा तिक्त श्रीफल होता है। उसमें सुन्दर सरोवर, विशाल उद्यान, अभ्रंकष प्रासाद, बड़े बड़े बाज़ार और मनोहर मन्त्रणागृह (वितान) थे। शैव ब्राह्मण एक तरफ़ रहते थे, बौद्ध दूसरी तरफ़। क्षत्रियों, राज-कर्म्मचारियों और मन्त्रियों के रहने के स्थान भी अलग, एक ओर, थे। सर्वसाधारण-जन, विशेष करके शैव थे। उच्चपदस्थ कर्म्मचारी और मन्त्रिमण्डल तथा धनी मनुष्य प्रायः बौद्ध थे।

1389 ईसवी में हेमऊरुफ की मृत्यु हुई। इसके अनन्तर ही माजापिहित की अवनति का आरम्भ हो गया। मृत राजा के पुत्र और दामाद में युद्ध छिड़ गया। इस बहुकालव्यापी युद्ध ने राज्य को तहस-नहस कर दिया। कितने ही देशांश और प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। वे बिल्वतिक्त के चक्रवर्ती राजा के आधिपत्य से निकल गये। इसी समय देश में घोर दुर्भिक्ष भी पड़ा। उसने बची-खुची प्रजा का अधिकांश मृत्यु के मुख में पहुँचा दिया।

इसके आगे बिल्वतिक्त के नरेशों का वृत्तान्त बहुत कम मिलता है। हेमऊरुफ की पौत्री सुहिता के राज्यकाल में और भी कई प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। उसके अनन्तर उसके छोटे भाई कृतविजय ने राज्य पाया। उसने चम्पा की राजकुमारी का पाणिग्रहण किया। वह 1448 ईसवी में मरी। इस रानी का झुकाव इस्लाम धर्म्म की ओर था। अतएव उसके राज्य-काल ही में इस धर्म्म ने उसके राज्य में धीरे धीरे प्रवेश आरम्भ कर दिया था।

माजापिहित के अन्तिम राजा ब्रा-विजय (पंचम) ने मुसलमानों के साथ बहुत कुछ रियायत की। पर उन्होंने उसकी कृपाओं का बदला कृतघ्नता से दिया। वह 1478 ईसवी में मरा। उसी समय से जावा में मुसलमानों का राज्य हो गया। कालान्तर में उसका नाश करके हालैंड के डचों ने जावा आदि द्वीपों को अपने अधिकार में कर लिया। उनका वह अधिकार अब तक अक्षुण्ण है।

जावा के अनेक निवासी भाग कर बाली में जा बसे। वहाँ यद्यपि बौद्ध धर्म्म का भी प्रचार है, पर शैव ब्राह्मणों ही की संख्या अधिक है। इस छोटे से टापू में हिन्दुओं के कई पुराण, वेदों के कुछ भाग तथा राजनीति के कई ग्रन्थ या ग्रन्थांश अब तक, संस्कृत भाषा में, विद्यमान हैं। रामायण और महाभारत भी, खण्डित रूप में, वहाँ पाये जाते हैं। पर उनकी भाषा संस्कृत नहीं, जावा की प्राचीन भाषा 'कवी' है।

['श्रीयुत परमेश्वर शर्म्मा' के नाम से अक्टूबर, 1927 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'पुरावृत्त-प्रसंग' में संकलित।]

भाग : दो

सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी

सर विलियम जोन्स संस्कृत के बहुत प्रसिद्ध पंडित हो गए हैं। उन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की नींव डाली थी। यद्यपि उनके पहले भी कई योरप निवासियों ने इस देश में आकर संस्कृत की थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि सर विलियम की तरह बड़ी बड़ी कठिनाइयों को झेलकर संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान और किसी ने उनके पहले नहीं प्राप्त किया था। एशियाटिक सोसायटी की स्थापना करके उन्होंने बहुत बड़ा काम किया। इस सोसायटी की बदौलत पौर्वात्य भाषाओं के अनेक अलभ्य ग्रन्थ आज तक प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक अश्रुतपूर्व विद्या और कला आदि के विषय की बातें मालूम हुई हैं। यदि सर विलियम जोन्स संस्कृत सीखकर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेज़ी में न प्रकाशित करते तो शायद संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य का महत्त्व योरप के विद्वानों पर विदित न होता। और यदि होता भी तो बहुत दिन बाद होता।

जून, 1907 के 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में एक छोटा सा लेख, श्रीयुत एस० सी० सन्याल, एम० ए०, का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने दिखलाया है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को झेलकर सर विलियम ने कलकत्ते में संस्कृत सीखी। क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयाँ उठा कर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो? कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अँगरेज़ी-शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किसका है! संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते। और जो लोग जानते हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है! इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे! सात समुद्र पार कर इंगलैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और ख़र्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते है। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। पर खुद कुछ नहीं करते। करते हैं सिर्फ व्यर्थ कालातिपात। और करते हैं अँगरेज़ी लिखने की अपनी योग्यता का प्रदर्शन। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते। विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।

सर विलियम जोन्स, सुप्रीम कोर्ट के जज मुक़र्रर होकर, 1783 ईसवी में

कलकत्ते आये। वहाँ आकर उन्होंने थोड़ी-सी हिन्दी सीखी। उसकी मदद से वे अपने नौकरों से किसी तरह बातचीत करने लगे। उसके बाद उन्हें संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। इससे वे एक पंडित की तलाश में लगे। पर पंडित उन्हें कैसे मिल सकता था? वह आजकल का जमाना तो था नहीं। एक भी ब्राह्मण वेद और शास्त्र की पवित्र संस्कृत भाषा एक यवन को सिखाने पर राजी न हुआ। कृष्णनगर के महाराज शिवचंद्र सर विलियम के मित्र थे। उन्होंने भी बहुत कोशिश की, पर व्यर्थ। यवन को संस्कृत-शिक्षा! शिव-शिव! सर विलियम ने बहुत बड़ी तनख्वाह का भी लालच दिया। पर उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। लालच के मारे दो-एक पंडित सर विलियम के यहाँ पधारे भी और इसका निश्चय करना चाहा कि यदि वे उन्हें संस्कृत पढ़ावें तो क्या तनख़्वाह मिलेगी? पर जब यह बात उनके पड़ोसियों ने सुनी तब उनके तलवों की आग मस्तक तक जा पहुँची। तुम यवनों के हाथ हमारी परम पवित्र देववाणी बेचोगे! अच्छी बात है, तुम बिरादरी से खारिज। तुम्हारा जलग्रहण बन्द। बस, फिर क्या था, उनका सारा साहस काफ़ूर हो गया। फिर उन्होंने सर विलियम के बँगले के अहाते में कदम नहीं रक्खा। अब क्या किया जाय। ख़ैर, कलकत्ते में न सही, और कहीं कोई पण्डित मिल जाय तो अच्छा। यह समझकर सर विलियम संस्कृत के प्रधान पीठ नवद्वीप को गये। वहाँ भी उन्होंने बहुत कोशिश की, परन्तु किसी ने उन्हें संस्कृत शिक्षा देना अंगीकार न किया। मूँड़ मारकर वहाँ से भी लौट आये।

इस नाकामयाबी और नाउम्मेदी पर भी सर विलियम जोन्स ने रगड़ नहीं छोड़ी। पण्डित की तलाश में वे बराबर बने ही रहे। अन्त में ब्राह्मण तो नहीं, वैद्य जाति के एक संस्कृतज्ञ ने, 100 रुपये महीने पर, आपको पढ़ाना मंज़ूर किया। इस पण्डित का नाम था रामलोचन कवि-भूषण। ये पण्डित महाराज संसार में अकेले ही थे। न स्त्री थी, न सन्तति। हावड़ा के पास सलकिया में आप रहते थे। किसी से कुछ सरोकार न रखते थे। सबसे अलग रहते थे। इसी से आपको जाति या समाज के बहिष्कार का डर न था। पण्डित महाशय वैद्य-विद्या भी जानते थे। पास-पड़ोस के लोग चिकित्सा कराने आपको अक्सर बुलाते थे। कभी-कभी इनके रोगी अच्छे भी हो जाते थे। इससे इन्होंने अपने मन में कहा कि यदि हम इस यवन को संस्कृत पढ़ायेंगे तो भी हमारे टोले महल्ले के लोग हमें न छोड़ सकेंगे। जब कोई बीमार होगा, लाचार होकर उन्हें हमी को बुलाना पड़ेगा। क्योंकि और कोई वैद्य यहाँ है ही नहीं। इसी से इन्हें सर विलियम जोन्स को पढ़ाने का साहस हुआ। एक तो 100 रुपये महीने तनख्वाह, फिर सलकिया से चौरंगी तक रोज़ आने-जाने के लिए मुफ़्त में पालकी की सवारी। याद रहे उस समय पालकी की सवारी के लिए महीने में 30 रुपये से कम न ख़र्च होते थे। अतएव अपना सब तरह से फ़ायदा समझकर रामलोचन ने सर विलियम को पढ़ाने का निश्चय किया।

कवि भूषणजी ने सर विलियम जोन्स के साथ बड़ी-बड़ी शर्तें कीं। पर सर विलियम इतने उदार हृदय थे कि उन्होंने सब शर्तों को मंज़ूर कर लिया। उनके बँगले के नीचे के खण्ड का एक कमरा पढ़ाने के लिए पसन्द किया गया। उसके फ़र्श में संगमरमर

बिछवाया गया। एक हिन्दू नौकर रक्खा गया। उसके सिपुर्द यह काम हुआ कि वह रोज हुगली से जल लाकर कमरे के फर्श को, और थोड़ी दूर तक दीवारों को भी, धोवे। दो-चार लकड़ी की कुरसियां और एक लकड़ी के मेज़ के सिवा और सब चीज़ें उस कमरे से हटा दी गई। ये चीज़ें भी रोज धोई जाने लगी। शिक्षा-दान के लिए सवेरे की बेला नियत हुई। पढ़ने के कमरे में क़दम रखने के पहले सर विलियम को हुक्म हुआ कि एक प्याला चाय के सिवा न कुछ खायें, न पियें। यह भी उन्हें मंजूर करना पड़ा। कवि भूषणजी की यह भी आज्ञा हुई कि गो-मांस, वृष-मांस; शूकर-मास मकान के अन्दर न जाने पावे। यह बात भी कबूल हुई। एक कमरा पण्डितजी को कपड़े पहनने के लिए दिया गया। उसके भी रोज़ धोये जाने की योजना हुई। पण्डित महाशय ने दो जोड़े कपड़े रक्खे। उनमें से एक जोड़ा इस क़मरे में रक्खा गया। रोज प्रातःकाल जिस कपड़े को पहन कर आप साहब के यहाँ आते थे उसे इस कमरे मे रख देते थे और कमरे में रक्खा हुआ जोड़ा पहन कर आप पढ़ाते थे। चलते समय फिर उसे बदलकर घर वाला जोड़ा पहन लेते थे।

इतने महाभारत के बाद सर विलियम ने 'रामः, रामौ, रामाः' शुरू किया। न सर विलियम सस्कृत जानें, न कविभूषण महाशय अँगरेज़ी। पाठ कैसे चले? खैर, इतनी थी कि साहब थोड़ी-सी टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेते थे। उसी के मदद से पाठारम्भ हुआ। दोनों ने उसी की शरण ली। सौभाग्य से अध्यापक और अध्येता दोनों बुद्धिमान थे। नही तो उतनी थोड़ी हिन्दी में कभी न काम चलता। सर विलियम ने बड़ी मिहनत की। एक ही वर्ष में वह सरल संस्कृत मे अपना आशय प्रकट कर लेने लगे। संस्कृत में लिगभेद और क्रियाओं के रूप बड़े मुश्किल है। बहुत सम्भव है, पहले-पहल सर विलियम ने बहुत सी संज्ञाओं और क्रियाओं के रूप कागज पर लिख लिये होंगे। उनकी तालिकाये बना ली होंगी। उन्हीं की मदद से उन्होंने आगे का काम निकाला होगा। किस तरह उन्होंने पंडित रामलोचन से संस्कृत सीखी, कही लिखा हुआ नहीं मिलता। यदि उनकी पाठ-ग्रहण-प्रणाली मालूम हो जाती तो उसे जानकर ज़रूर कुतूहल होता।

एक दिन सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय से बातचीत कर रहे थे। बातों बातों में नाटक का ज़िक्र आया। आपको मालूम हुआ कि संस्कृत मे भी नाटक के ग्रन्थ है। उस समय भी कलकत्ते में अमीर आदमियो के यहाँ नाटक खेले जाते थे। अँगरेज़ो को यह बात मालूम थी। पण्डित रामलोचन ने कहा कि पुराने ज़माने में भी राजों और अमीर आदमियों के यहाँ ऐसे ही नाटक हुआ करते थे। यह सुनकर सर विलियम को आश्चर्य्य हुआ और पण्डित रामलोचन से आप 'शकुन्तला' पढ़ने लगे। उस पर आप इतने मुग्ध हुए कि, उस पर गद्य-पद्यमय अँगरेज़ी अनुवाद आपने कर डाला। यद्यपि अनुवाद अच्छा नहीं बना, तथापि योरपवालों की आँखें खोल दीं। उसे पढ़कर लोगो ने पहले-पहल जाना कि संस्कृत का साहित्य खूब उन्नत है। जर्मनी का गैटी[1] नामक कवि तो सर विलियम के अनुवाद को पढ़कर अलौकिक आनन्द से मत्त हो उठा। उसने उसी मत्तता

1. द्विवेदी जी जर्मन कवि गेटे का नाम गेटी भी लिखते थे।

—भारत यायावर

की दशा में शकुन्तला की स्तुति में एक कविता तक बना डाली।

सुनते हैं, सर विलियम जोन्स के संस्कृत-शिक्षक बड़े तेज-मिज़ाज आदमी थे। जो बात सर विलियम की समझ में न आती थी उसे गुरुजी से पूछना पड़ता था। गुरु महाशय ठीक तौर से पढ़ाना जानते न थे। वे सर विलियम को भी उसी रास्ते ले जाते थे जिस रास्ते टोल (पाठशालाओं) के विद्यार्थी जाते हैं। इससे सर विलियम को कभी-कभी कोई बात दो-दो, तीन-तीन दफ़े पूछनी पड़ती थी। एक दफ़े बताने से वह उनके ध्यान ही में न आती थी। ऐसे मौकों पर गुरुदेव महाशय का मिज़ाज गरम हो उठता था। आप झट कह बैठते थे—"यह विषय बड़ा ही क्लिष्ट है, गो-मांस-भोगी लोगों के लिए इसका ठीक-ठीक समझना प्रायः असम्भव है"। पर सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय को इतना प्यार करते थे और उन्हें इतना मान देते थे कि उनकी इस तरह की मलामतों को हँसकर टाल दिया करते थे।

पण्डित रामलोचन कविभूषण 1812 ईसवी तक जीवित थे। वे अच्छे विद्वान् थे। काव्य, नाटक, अलंकार और व्याकरण में वे खूब प्रवीण थे। पर धर्म्मशास्त्र और दर्शन में उनकी विशेष गति न थी। इसलिए व्याकरण और काव्य का यथेष्ट अभ्यास कर चुकने पर, जब सर विलियम ने धर्म्मशास्त्र का अध्ययन शुरू किया तब उन्हे एक और पण्डित रखना पड़ा। यवनों को संस्कृत सिखाना पहले घोर पाप समझा जाता था, पर अब इस तरह का ख्याल कुछ ढीला पड़ गया था। इससे सर विलियम को धर्म्मशास्त्री पंडित ढूंढ़ने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा।

सर विलियम जोन्स, 1783 ईसवी में, जज होकर कलकत्ते आये और 1794 में वही मरे। हिन्दुस्तान आने के पहले आक्सफ़र्ड में उन्होने फ़ारसी और अरबी सीखी थी। उनका बनाया हुआ फारसी का व्याकरण उत्तम ग्रन्थ है। वह अब नही मिलता। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी उन्ही की कायम की हुई है। उसे चाहिए कि इस व्याकरण को वह फिर से प्रकाशित करे, जिसमें सादी और हाफ़िज़ की मनोमोहक भाषा सीखने की जिन्हें इच्छा हो वे उससे फ़ायदा उठा सकें। हिन्दुस्तान की सिविल सर्विस के मेम्बरो के लिए वह बहुत उपयोगी होगा।

[जून, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'साहित्य-सीकर' पुस्तक में संकलित।]

अँगरेजों का साहित्य-प्रेम

हमारे हिन्दी-साहित्य की दशा बहुत गिरी हुई है। इसका कारण यह है कि हमारे लेखकों, प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं को यथेष्ट धन-प्राप्ति नहीं होती। सर्वसाधारण लोगों में पुस्तक खरीदने और पढ़ने का उत्साह और शौक नहीं के बराबर है। खोटे-खरे की पहचान करने वाले समालोचकों का भी अभाव है। पहले तो अच्छी पुस्तकें लिखी नहीं जातीं; यदि कोई लिख भी गई तो लेखक को उसकी मिहनत का भरपूर बदला नहीं मिलता; यहाँ तक कि बेचारे प्रकाशक को अपनी लागत तक वसूल करना मुश्किल हो जाता है। पर इंगलैंड की दशा यहाँ की ठीक उलटी है। वहाँ के लेखकों, प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं की हमेशा पाँचों उँगलियाँ घी में रहती हैं। सर्वसाधारण में पुस्तकें ख़रीदने और पढ़ने का शौक़ इतना बढ़ा-चढा है कि सिर्फ एक ही दिन में किसी किसी पुस्तक की हज़ारों कापियाँ बिक जाती हैं। छोटे-छोटे लेखकों तक को इतनी काफी आमदनी हो जाती है कि उन्हें दूसरा रोज़गार नहीं करना पड़ता। अच्छे लेखकों की तो बात ही जुदा है। वे तो थोड़े ही दिनों में अच्छे खासे मालदार हो जाते है। अँगरेजी साहित्य के उन्नत दशा में होने का यही मुख्य कारण है। एक साहब ने अँगरेज़ी साहित्य के आर्थिक पक्ष को लेकर एक लेख लिखा है। उसमें से मुख्य-मुख्य दो-चार बातें हम यहाँ पर लिखते हैं।

इंगलैंड के समालोचको का यह स्वभाव सा हो गया है कि वे नये ग्रन्थकारों की पुस्तको की बड़ी कड़ी समालोचनायें करते हैं और पुराने तथा प्रसिद्ध लेखकों को प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करते हैं। अँगरेज़ बड़े ही साहित्य-प्रेमी हैं। इसका प्रमाण यह है कि नई पुस्तकें खूब महँगी होने पर भी बहुत बिकती है। और एक-एक पुरानी पुस्तक के सैकड़ो सस्ते से सस्ते संस्करण छपते है। जो चीज़ अँगरेज़ों को पसन्द आ गई उसके लिए ख़र्च करने में वे बड़ी दरिया-दिली दिखलाते हैं। वे आश्चर्य्यजनक, मनोरंजक और शिक्षाप्रद बातें बहुत पसन्द करते हैं। इसी से वे खेल-तमाशा, शिकार, अगम्य देशों की यात्रा और जीवन-चरित्र-सम्बन्धी पुस्तकों के बड़े शौकीन हैं।

इंगलैंड में ऐसे बहुत से पुस्तकालय हैं जो नियत चन्दा देने पर अपने मेम्बरो को पुस्तकें पढ़ने को देते हैं। कैसी महँगी, कोई पुस्तक क्यों न हो, ये उसकी हजारों कापियाँ लेने का ठेका, छप जाने से पहले ही लेते हैं। इससे पुस्तकें खूब महँगी हो जाती हैं। अकेले 'टाइम्स' के पुस्तकालय के 80,000 चन्दा देने वाले मेम्बर हैं। इंगलैंड के वर्तमान प्रसिद्ध उपन्यास लेखकों में से किसी का उपन्यास ज्यों ही छपा त्यों ही अपने मेम्बरों के लिए बारह हज़ार कापियाँ वह तुरन्त ले लेता है। हमारे पाठकों को मालूम कि महारानी विक्टोरिया के पत्र हाल ही में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। यह हद से ज़्यादा महँगी पुस्तक है। तिस पर भी उक्त पुस्तकालय ने अकेले ही इस पुस्तक की 45,000 रुपये की

क़ीमत की जिल्दें खरीद ली हैं।

पर जैसे नई पुस्तकें अधिक से अधिक महँगी होती हैं, वैसे ही पुरानी पुस्तकों के सस्ते से सस्ते सस्करण, सैंकड़ों की तादाद में, निकलने चले आते है। अँगरेज-लेखकों और प्रकाशकों ने अपने तजुरबे से यह नतीजा निकाला है कि सस्ती पुस्तको से लोगों को पढ़ने का चसका जहाँ एक बार लग गया तहाँ वे नई पुस्तकें, महँगी होने पर भी ख़रीदने को मजबूर होते है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे साहित्य-व्यापार की जड़ लेखक ही हैं। उन्ही की क़दर या नाक़दरी पर साहित्य की उन्नति या अवनति का दारोमदार है। यह कहा जा चुका है कि इंगलैंड के लेखक खूब रुपया पैदा करते हैं—इसके कुछ उदाहरण भी सुन लीजिये। वहाँ 'स्ट्रैंड' और 'ब्लेकउड' नामक दो प्रसिद्ध मासिक पत्र हैं। वे अपने लेखको को 45 से 75 रुपये तक प्रति हज़ार शब्दों के देते है। मामूली मासिक पत्र भी कम से कम अपने लेखकों को बत्तीस रुपये प्रति हज़ार शब्दों के देते हैं। अधिक से अधिक की बात ही न पूछिए। उपन्यासकारों को प्रति शब्द के हिसाब से उजरत दी जाती है। जब, 1894 में स्टेविन्सन नामक उपन्यास-लेखक मरा तब हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि अपने जीवन भर में जितने शब्द उसने लिखे, छः आने प्रति शब्द के हिसाब से उसको उजरत मिली। पर आज-कल यह दर कुछ बहुत नहीं समझी जाती। 'ग्रियर्सन्स मैगज़ीन' के प्रकाशक ने एक क़िस्से के लिए उसके लेखक किपलिंग साहब को बारह आने प्रति शब्द दिये थे। सर आर्थर केनन डायल जासूसी क़िस्से लिखने में बड़े सिद्धहस्त हैं। उन्होंने उक्त मासिक पत्र में जो आख्यायिकायें लिखी हैं, उनमें से प्रत्येक आख्यायिका का पुरस्कार उनको 11,030 रुपये मिले हैं। अर्थात् प्रति शब्द सवा दो रुपये, या प्रति पंक्ति साढ़े बाईस रुपये !!! वेल्स नामक एक साहब अपने लेखों के लिए प्रति एक हजार शब्दों के 455 रुपये पाते है। हम्फ्री वार्ड नाम की एक मेम साहबा को अमेरिका की मासिक पुस्तकें उनके उपन्यासों की लिखाई एक लाख शब्दों के डेढ़ लाख रुपये देती हैं !!!

मतलब यह कि इस समय इंगलैंड के ग्रन्थकारो की दशा बहुत अच्छी है। ईश्वर करे, भारत के ग्रन्थकारों को भी ऐसे सुदिन देखने का सौभाग्य प्राप्त हो!

[सितम्बर, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'साहित्य-सीकर' में संकलित।]

पुराने अँगरेज़ अधिकारियों के संस्कृत पढ़ने का फल

इंगलिस्तान के व्यापारी तो बहुत पहले से भारत में व्यापार करते थे; पर उन सब का काम अलग अलग होता था, एक में न होता था। इससे काम-काज मे सुभीता कम था और मुनाफ़ा भी कम होता था। इस त्रुटि को दूर करने के लिए 125 आदमियों ने मिल-कर, साढ़े दस लाख रुपये की पूँजी से, एक कम्पनी बनाई। इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ ने 31 दिसम्बर,1600 को इस कम्पनी की दस्तावेज पर दस्तखत करके इंगलैड और भारत के बीच व्यापार करने की आज्ञा दी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की जड़ यही से जमी, अथवा यों कहिए कि अँगरेजी राज्य का सूत्रपात यही से हुआ। इसी 125 व्यापारियों की कम्पनी ने, कुछ दिनों में, राजसी ठाठ जमा लिया और अपने देश इंगलिस्तान की अपेक्षा जिस देश की आबादी दस गुनी से अधिक है, उस पर व्यापार करते-करते राज-सत्ता भी चलाने लगी। इस कम्पनी के साझीदार अपने देश में तो अपने बादशाह की रियाया थे, पर भारत में खुद ही बादशाह बनकर हुकूमत करते थे; फ़ौजें रखते थे; बड़े-बड़े राजों, महाराजों और शहंशाहों की बराबरी करते थे; लड़ाइयाँ लड़ते थे; सन्धि-स्थापना करते थे और न मालूम कितने सत्तासूचक काम करते थे। ऐसा दृश्य इस भूमण्डल में बहुत कम देखा गया होगा। यह हमारा निज का कथन नहीं, किन्तु लन्दन की टी० फ़िशर अनविन कम्पनी के लिये ए० रगोजिन साहब ने जो भारतवर्ष का एक प्राचीन इतिहास लिखा है उसके एक अंश का अवतरण मात्र है।

भारत में व्यापार करने वाले योरप के गोरे व्यापारियों की यह पहली ही कम्पनी न थी। पोर्चुगीज लोग यहाँ बहुत पहले से—जब से वास्कोडिगामा ने 1498 ईसवी में इस देश की भूमि पर कदम रक्खा—व्यापार में लगे थे। विदेशी व्यापारियों में वे अकेले ही थे और खूब मालामाल हो रहे थे। अँगरेज व्यापारियों ने देखा कि ये लोग करोड़ों रुपये अपने देश ढोये लिये जा रहे हैं; चलो हम भी इन्ही की तरह भारत में व्यापार करें और जो मुनाफ़ा इन लोगों को हो रहा है, उसका कुछ अंश हम भी लें। पोर्चुगीजों का व्यापार कोई सौ वर्ष तक बिना किसी विघ्न बाधा के भारत मे जारी रहा। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वे लोग एक प्रान्त के बाद दूसरे प्रान्त को अपनी जमींदारी में शामिल करके पूरे मुल्क को अपने कब्ज़े में कर लेने का इरादा रखते थे। वे लोग अपने इस इरादे को कार्य्य में परिणत कर रहे थे कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में पदार्पण किया। अँगरेज़ व्यापारी पोर्चुगीज लोगों से किसी बात में कम न थे। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से पोर्चुगीजों का सामना किया। उनके साथ चढ़ा-ऊपरी करने में अँगरेज़ों ने बड़ी सरगरमी दिखाई। फल यह हुआ कि पोर्चुगीज लोगों का प्रभुत्व धीरे-धीरे कम

हो चला। उनकी आमदनी के द्वार क्रम-क्रम से बन्द होने लगे। यहाँ तक कि 1661 ईसवी में उन लोगों ने अपनी बची-बचाई एकमात्र ज़मींदारी इंगलिस्तान के राजा को दे डाली। उस समय केवल बम्बई और उसके आसपास का भूभाग उन लोगों के कब्ज़े में था। पूर्वोक्त सन् में पोर्चुगल की राजकुमारी कैथराइन का विवाह इंगलैंड के राजा दूसरे चार्ल्स के साथ हुआ। तब बम्बई की ज़मींदारी को अपने किसी काम की न समझकर पोर्चुगल के राजा ने कैथराइन के दहेज में दे डाला। परन्तु अँगरेज़-राज ने इस दहेज को तुच्छ समझकर 150 रुपये सालाना मालगुज़ारी देने का इकरारनामा लेकर, ईस्ट इंडिया कम्पनी को दे डाला। बम्बई और उसके आस-पास के प्रदेश की क़ीमत उस समय साढ़े बारह रुपये महीने से अधिक नहीं समझी गई !!!

व्यापार व्यवसाय और ज़मींदारी आदि बढ़ाने में पोर्चुगीज लोगों की प्रतियोगिता यद्यपि जाती रही तथा अँगरेज़ों को भारत में सत्ता-विस्तार करते देख योरप के और लोगों के मुँह से भी लार टपकने लगी। फ्रांस, डेनमार्क और हालैंड में भी ईस्ट इंडिया नाम की कम्पनियाँ खड़ी हुई। उन्होंने भी भारत में व्यापार आरम्भ करके अँगरेज-कम्पनी के मुनाफ़े को घटाना आरम्भ कर दिया। यही नही, किन्तु जर्मनी और स्वीडन में भी इस तरह की कम्पनियाँ बनी। उन्होने भी भारत मे अपनी-अपनी कोठियाँ खोलीं। परन्तु डेनमार्क, जर्मनी और स्वीडन की कम्पनियो से हमारी अँगरेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का कुछ भी नहीं बिगड़ा। इन तीन कम्पनियों का महत्त्व इतना कम था कि अँगरेजी कम्पनी के साथ ये नाम लेने योग्य चढ़ा-ऊपरी नही कर सकी। परन्तु डच और फ्रेंच कम्पनियो के विषय में यह बात नही कही जा सकती। उनके कारण अँगरेज़ कम्पनी का मुनाफ़ा और प्रभुत्व ज़रूर कम हो गया ! डच लोग उस समय सामुद्रिक बल में अपना सानी न रखते थे। इससे उन लोगों ने हर तरह से अँगरेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ चढ़ा ऊपरी आरम्भ कर दी—यहाँ तक कि बल-प्रयोग करके भी अपना मतलब निकालने मे डच लोगो ने कसर नहीं की। भारत ही में अपना प्रभुत्व-विस्तार करके डच लोग चुप नही रहे। उन्होंने बड़ी फुरती से लंका, सुमात्रा, जावा और मलाया आदि द्वीपों का भी अधिकांश अपने कब्ज़े में कर लिया। इस डच कम्पनी ने अँगरेज़ व्यापारियों की कम्पनी के साथ जी-जान होमकर प्रतियोगिता की। इस कारण दोनो में विषम शत्रुभाव पैदा हो गया। एक दूसरी को नीचा दिखाने की सदा ही कोशिश करती रही। यहाँ तक कि कभी कभी मारकाट तक की भी नौबत आई। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलने के बाद अँगरेज़ व्यापारियों को इन डच व्यापारियों की प्रतियोगिता से फ़ुरसत मिली। कोई सौ वर्ष तक उनके साथ तरह-तरह के दाँव-पेच खेले गये। अन्त मे डच लोगों ने आजिज़ आकर भारत से अपना सरोकार छोड़ दिया।

अब अकेली फ्रेंच कम्पनी का सामना अँगरेज़ों को करना पड़ा। इस फ्रेंच कम्पनी का भी आंतरिक अभिप्राय भारत को धीरे धीरे अपनी मुट्ठी में कर लेने का था। और अँगरेज़ भी इसी इरादे से पैर फैला रहे थे। एक बिल में दो साँप कैसे रहें ? इससे दोनों मे घोर कलह उपस्थित हो गया। एक ने दूसरे को अपदस्थ करने को कोशिश आरम्भ कर दी। कूटनीति से काम लिया जाने लगा। जब उससे कामयाबी न हुई तब लड़ाइयाँ

तक लड़ी गईं। एक कम्पनी दूसरी के पीछे ही पड़ी रही। होते-होते अँगरेज़ों का प्रभुत्व बढ़ा, उसने फ्रांसवालों के बल को नष्ट-प्राय कर दिया। पांडीचेरी और चन्द्रनगर की ज़मींदारियों को छोड़कर फ्रेंच लोगों का भारत मे और कुछ बाकी न रहा। पोर्चुगीजों के कब्ज़े में भी समुद्र के किनारे-किनारे सिर्फ दस-पाँच मील ज़मीन रह गई। अँगरेज़ों ने कहा, "कुछ हर्ज नहीं। इन लोगों के पास इतनी ज़मींदारी बनी रहने दो। इससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ सकता।"

अब अँगरेज़ों को अपना बल विक्रम और प्रभाव बढ़ाने में रोकने वाला कोई न रहा—फ्रेंच, पोर्चुगीज, डच सबने उनके लिए रास्ता साफ कर दिया। अँगरेज़ों की महिमा बढ़ने लगी। व्यापार-वृद्धि के साथ-साथ राज्य वृद्धि भी होने लगी। एक के बाद दूसरा प्रान्त उनका वशवर्ती होता गया। क्लाइव ने अँगरेज़ी राज्य की नींव और भी मजबूत कर दी।

वारन हेस्टिंग्ज ईस्ट इंडिया कम्पनी के पहले गवर्नर-जनरल हुए। उन्हीं ने सबसे पहले भारतवासियो की रीति, रस्म और स्वभाव आदि का ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश की। उस समय भारतवासी बोझा ढोनेवाले पशुओं के समान समझे जाते थे। उनके देश मे कदम रखना सिर्फ रुपया कमाने के लिए ही ज़रूरी समझा जाता था। खैर। वारन हेस्टिंग्स ने कहा कि जिन लोगो से और जिन लोगो के देश से हमे इतना काम है उन पर, जहां तक हमें कोई हानि न पहुँचे, अच्छी तरह शासन करना चाहिये। परन्तु सुशासन की योग्यता आने के लिए भारतवासियों का इतिहास, विश्वास, धर्म्म, साहित्य आदि का ज्ञान होना ज़रूरी समझा गया। अतएव वारन हेस्टिंग्ज ने अपने अधीन कर्म्मचारियो का ध्यान इस ओर दिलाया और सर विलियम जोन्स ने पहले-पहल संस्कृत सीखना आरम्भ किया।

सर विलियम बंगाल की 'सुप्रीम कोर्ट' के जज थे। उन्होंने 1784 ईसवी में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की और हम लोगो के धर्म्म-शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया। क्योंकि बिना धर्म्म-शास्त्र के ज्ञान के भारतवासियों के मुक़द्मों का फ़ैसला करने में अँगरेज जजों को बेहद कठिनाई का सामना करना पड़ता था और दत्तक आदि लेने का विषय उपस्थित होने पर वारन हेस्टिंग्ज को पण्डितों की शरण लेनी पड़ती थी। सर विलियम जोन्स ने किस तरह संस्कृत सीखी, इस पर एक लेख पहले ही लिखा जा चुका है। इस काम में उन्हे सैकड़ों विघ्न बाधायें हुई। पर सबको पार करके सर विलियम ने, मतलब भर के लिये, संस्कृत का ज्ञान प्राप्त ही कर लिया। अरबी और फ़ारसी तो वे इंगलैंड ही से पढ़कर आये थे। संस्कृत उन्होंने यहाँ पढ़ी। पूर्वी देशों की भाषाओं में से यही तीन भाषायें, साहित्य के नाते, उच्च और बड़े काम को समझी जाती हैं। सर विलियम ने पहले मनुस्मृति का अनुवाद किया। यह अनुवाद 1790 ईसवी में छपा। इससे बड़ा काम निकला। अँगरेज जजों को भारतीय पण्डितों की जो पद-पद पर सहायता दरकार होती थी उसकी ज़रूरत बहुत कम रह गई। भारतवासियों को अपने धर्म्म-शास्त्र के अनुसार न्याय कराने में तब सुभीता हो गया।

इसके बाद संस्कृत-नाटकों का नाम सुनकर सर विलियम जोन्स ने नाटकों का

पता लगाना आरम्भ किया और 'शकुन्तला' नाटक को पढ़कर उसका अनुवाद अँगरेज़ी में किया। इस नाटक ने योरप के विद्यारसिक जनों की आँखें खोल दीं। तब तक योरप वाले भारतवासियों को, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, निरे जंगली समझते थे। उनका ख्याल था कि भारत में कुछ भी साहित्य नहीं है और जो कुछ है भी वह किसी काम का नहीं। तब तक योरप वालों की दृष्टि में भारतवासी अत्यन्त ही घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। घृणा की दृष्टि से तो वे अब भी देखे जाते है, पर अब और तब में बहुत अन्तर है। तब हम लोगो की गिनती कुछ-कुछ अफ्रीका की हाटेनटोट, पुशम्येन और जूली आदि महा असभ्य जातियों में थी और भारत की कुछ क़दर यदि की जाती थी तो सिर्फ इसलिए कि उसकी बदौलत करोड़ो रुपये विलायत ले जाने को मिलते थे। पर 'शकुन्तला' को पढ़कर उन लोगो का यह भाव एकदम तिरोहित हो गया। 'शकुन्तला' की कविता, उसके पात्रों का चरित, उसकी भाव-प्रवणता आदि देखकर वे लोग मुग्ध हो गये। 'शकुन्तला' के अँगरेज़ी अनुवाद के भी अनुवाद जर्मन और फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं में किये गये, जिन्हें पढ़कर तद्देशवासियो ने भी उसकी श्रेष्ठता एक स्वर से कबूल की।

'शकुन्तला' वह चीज़ है जिसकी कृपा से भारतवासी हैवान से इन्सान समझे जाने लगे—पशु से मनुष्य माने जाने लगे। अतएव भगवान् कालिदास के हम लोग हृदय से ऋणी है। शकुन्तला से योरपवालों को मालूम हो गया कि नाट्यविद्या में हिन्दू-सन्तान उन लोगों से यदि बढ़ी हुई नही है तो कम भी किसी तरह नही। वे यह भी जान गये कि जिस ग्रीक भाषा के साहित्य की श्रेष्ठता के वे लोग इतने कायल है, संस्कृत का साहित्य उससे भी किसी-किसी अंश में, आगे बढ़ा हुआ है। प्राचीनता में तो संस्कृत-साहित्य की बराबरी किसी भी भाषा का साहित्य नहीं कर सकता।

'शकुन्तला' के रचना-कौशल को देखकर योरपवालो को जितना कौतूहल हुआ उसके कथानक का विचार करके उससे भी अधिक आश्चर्य्य हुआ। उसके कथानक का सादृश्य उन्हें एक ग्रीक कहानी में मिल गया। और जब उन लोगो ने 'विक्रमोर्वशी' देखी तब उनके कथानक की भी सदृशता उन्हें ग्रीक भाषा की एक कहानी में मिली। इस पर उनलोगों के आश्चर्य्य की सीमा न रही। वे सोचने लगे कि क्या बात है जो इन असभ्य अथवा, अर्द्धसभ्य भारतवासियो की बातें उन पूज्यतम ग्रीक लोगों की बातों से मिलती हैं। कहीं दोनों के पुरुषो का किसी समय एकत्र वास तो नही रहा? यह तो साधारण आदमियो की बात हुई। भाषा-शास्त्र के जानने वालो को, पुरातत्त्व-वेत्ताओ को तथा पुरानी कथा-कहानियों का ज्ञान रखने वालों को तो विश्वास सा हो गया कि इस साम्य का जरूर कोई बहुत बड़ा कारण है। 'शकुन्तला' के पाठ और बंगाले की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से सर विलियम जोन्स के सिवा चार्ल्स विलकिन्स और हेनरी टामस कोलब्रुक आदि और भी कब अँगरेज विद्वानो की संस्कृताध्यन की ओर रुचि हुई। नई-नई खोज होने लगी; नई-नई पुस्तकें बनने लगी। फल यह हुआ कि इन गौरांग पण्डितों को संस्कृत के सैकड़ो शब्द ग्रीक आदि योरप की प्राचीन भाषाओं में प्रायः तद्वत् अथवा कुछ फेरफार के साथ मिल गये। इससे इन लोगों के आश्चर्य्य, कौतूहल और

एक प्रकार के आतंक का ठिकाना न रहा। अरे इन वहशी हिन्दुस्तानियों की प्राचीन भाषा क्या किसी समय हमारे भी पूर्व पुरुषों की भाषा थी !

बस फिर क्या था, योरप के कितने ही पण्डित काव्य, नाटक, इतिहास, धर्म्म-शास्त्र आदि का अध्ययन जी लगाकर करने लगे। जर्मनी के वान शेलीजल और वान हम्बोल आदि प्रकाण्ड पण्डितों ने बड़ी ही सरगरमी से संस्कृत सीखना शुरू किया। जब इन लोगों को वेद पढ़ने और समझने की शक्ति हो गई तब इन्होंने अपना अधिक समय वैदिक ग्रन्थों ही के परिशीलन में लगाना आरम्भ किया। इससे उनकी आँखें खुल गईं। संस्कृत-शिक्षा का प्रचार इंगलिस्तान और जर्मनी के सिवा फ्रांस, हालैंड, अमेरिका और रूस तक में होने लगा। वैदिक ग्रन्थों को इन विद्वानों ने एक स्वर से दुनिया के सब ग्रन्थों से पुराना माना और उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की चर्चा आरम्भ हो गई। तब से आज तक योरप में कितने ही विद्वान् ऐसे हो गये हैं और कितने ही होते जा रहे हैं जिनकी कृपा से संस्कृत-साहित्य के नये-नये रत्न हम लोगों को प्राप्त हुए हैं और अब तक प्राप्त होते जाते हैं।

अँगरेज अधिकारियों ने संस्कृत सीखने की ओर ध्यान तो अपने स्वार्थसाधन के लिए दिया था—उन्होंने तो इसलिए पहले-पहल संस्कृत सीखने की जरूरत समझी थी, जिसमें हम लोगों की रीति-रस्में आदि जानकर भारत पर बिना विघ्न-बाधा के शासन कर सकें—पर संस्कृत-साहित्य की श्रेष्ठता ने उन लोगों को भी उसका अध्ययन करने के लिए लाचार किया जिनका शासन से क्या, इस देश से भी, कुछ सम्बन्ध न था। यदि योरपवाले संस्कृत की कदर न करते तो हजारों अनमोल ग्रन्थ यहीं कीड़ों की खुराक हो जाते। जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड आदि के पुस्तकालयों में क्यों वे पहुँचते और क्यों प्रतिवर्ष नये नये ग्रन्थों का पता लगाया जाता ? आज तक योरप के विद्वानों ने जो अनेकानेक अलभ्य ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, अनेकानेक वैदिक रहस्यों का उद्घाटन किया है, हमारे और अपने पूर्वजों के किसी समय एकत्र एक ही जगह रहने और एक ही भाषा बोलने के विषय में जो प्रमाणपूर्ण अनेकानेक पुस्तकें लिखी हैं उसके लिए भारतवासी उनके बहुत कृतज्ञ हैं। यदि हमारी देववाणी संस्कृत की महिमा से आकृष्ट होकर योरप के विद्या-व्यसनी जन उसका परिशीलन न करते तो भारत में राजा और प्रजा के बीच इस समय जैसा भाव है, शायद वैसा कभी न होता। बहुत सम्भव है, पूर्ववत् हम लोग पशुओं ही की तरह लाठी से हाँके जाते। अतएव हम लोग अँगरेज कर्म्मचारी, योरप के विद्वान्, संस्कृत भाषा और महाकवि कालिदास के बहुत ऋणी हैं। विशेष कर कालिदास ही की बदौलत हमारी सभ्यता और विद्वत्ता का हाल युरपवालों को मालूम हुआ है। हमारा धर्म्म है कि हम कालिदास की पूजा करें और प्रेमपूर्वक संस्कृत सीखें।

[फरवरी, 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'साहित्य-सीकर' में संकलित।]

योरप में विद्वानों के संस्कृत-लेख और देवनागरी-लिपि

हिन्दुस्तान में हज़ारों लोग ऐसे हैं जिन्होंने अँगरेज़ी जैसी क्लिष्ट और विदेशी भाषा में बड़े-बड़े गहन ग्रन्थ लिखे हैं, जो अँगरेज़ी के प्रतिष्ठित पत्रों और सामयिक पुस्तकों का बड़ी ही योग्यता से सम्पादन करते हैं, जो अँगरेज़ी में धारा-प्रवाह वक्तृता देते हैं और, जिन्हे अँगरेज़ी भाषा मातृभाषा ही सी हो रही है। कितने ही भारतवासियों की लिखी हुई अँगरेज़ी पुस्तकें विलायत तक के पुस्तक-प्रकाशन बड़े ही आग्रह और उत्साह से प्रकाशित करते हैं और लेखकों को हज़ारों रुपया पुरस्कार भी देते हैं। इस देश के कितने ही वक्ताओं की मनोमोहनी और अविश्रान्त वाग्धारा के प्रवाह ठेठ विलायत की भूमि पर भी सैंकड़ों-हजारों दफ़े बहे हैं और अब भी, समय-समय पर, बहा करते हैं। हम लोगों की अँगरेज़ों को 'जाबू इंगलिश' कह कर घृणा प्रकाशित करने वाली आँखों के सामने ही ये सब दृश्य हुआ करते हैं। परन्तु आज तक इंगलिस्तान वालों में से ऐसे कितने विद्वान् हुए हैं जिन्होंने हमारी हिन्दी या संस्कृत भाषा में पुस्तकें लिखी हों, अथवा इन भाषाओं में कभी वैसी वक्तृता दी हो जैसी कि बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी या पण्डित मदनमोहन मालवीय देते है। ढूंढने से शायद दो ही चार विद्वान् ऐसे निकलेंगे। विलायत वाले चाहे संस्कृत में कितने ही व्युत्पन्न क्यों न हो जायँ, पर, यदि उसके विषय में कभी कुछ कहेंगे तो अपनी ही भाषा में, लिखेंगे तो अपनी ही भाषा में, व्याख्यान देंगे तो भी अपनी ही भाषा में। संस्कृत पढ़ कर ये लोग अधिकतर भाषा-विज्ञान और संस्कृत शास्त्रों के सम्बन्ध ही में लेख और पुस्तकें लिखते हैं। कोई प्राचीन पुस्तकों के अनुवाद करते हैं, कोई वैदिक साहित्य-सागर में गोता लगा कर नये-नये तत्त्वरत्न ढूंढ़ निकालते हैं; कोई साहित्य की अन्य शाखाओं का अध्ययन करके उसकी तुलनामूलक समालोचना करते हैं। परन्तु यह सब वे अपनी ही मातृभाषा में करते हैं। उन्हें संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातें संस्कृत ही में लिखने की आवश्यकता भी नहीं। संस्कृत में लिखने से कितने आदमी उनके लेख और पुस्तकें पढ़ सकें ? बहुत ही कम। और जो पढ़ भी सकें उनमें से भी बहुत ही कम भारतवासी पण्डित ऐसी पुस्तकें मोल ले सकें। शायद इसी से योरप के संस्कृतज्ञ संस्कृत भाषा और देवनागिरी-लिपि में अपने विचार प्रकट करने का अभ्यास नहीं करते। अतएव यदि कोई यह कहे कि उनमें संस्कृत लिखने का माद्दा ही नहीं तो उसकी यह बात न मानी जायगी। अभ्यास से क्या नहीं हो सकता ? योरपवाले सैकड़ों काम ऐसे करते हैं जिन्हें देखकर अथवा जिनका वर्णन पढ़कर हम लोगों को अपार आश्चर्य्य है। अतएव अभ्यास करने से अच्छी संस्कृत लिख लेना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं। वह उनके लिए सर्वथा साध्य है। जो लोग भारत आते हैं और यहाँ

कुछ समय तक रहते हैं उनके लिए तो यह बात और भी सहज है।

इस पर भी कई विद्वान् योरप में ऐसे हो गये है, और अब भी कई मौजूद हैं, जिनकी लिखी संस्कृत भाषा देखकर, मालूम होता है कि वह उन्हे करतलगत आमलकवत् हो रही है। डाक्टर बूलर और पिटर्स विना रुके संस्कृत में बातचीत कर सकते थे। कुछ समय हुआ, रूस के एक विद्वान् भारत आये थे, वे भी अच्छी संस्कृत बोल लेते थे। विदेशियों की संस्कृत बोली में यदि कोई विलक्षणता होती है तो वह उच्चारण सम्बन्धिनी है। परन्तु इस प्रकार की विलक्षणता स्वाभाविक है। हम लोगों की अँगरेज़ी भी तो विलक्षणता से खाली नहीं।

कोई साठ वर्ष हुए जेम्स राबर्ट बालेंटाइन नामक एक विद्वान्, बनारस के गवर्नमेंट कालेज में, प्रधान अध्यापक थे, वे संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। अरबी-फ़ारसी में भी उनकी गति थी। संस्कृत वे बोल भी सकते थे और लिख भी सकते। संस्कृत भाषा और देवनागिरी लिपि के वे बड़े भारी पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि अँगरेज़ी में जो ज्ञान-समूह है उससे भारतवासी लाभ उठावें और संस्कृत में जो कुछ ज्ञेय है उससे अँगरेज़ी जाननेवाले लाभ उठावें। इसी से उन्होंने बनारस कालेज के संस्कृत-विभाग में पढने वालों को अँगरेज़ी भाषा सीखने का भी प्रबन्ध किया था। अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए उन्होंने गवर्नमेंट की आज्ञा से, कुछ उपयोगी पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। उनमें से एक पुस्तक का नाम है—Synopsis of Science. उसमें योरप और भारत के शास्त्रों का सारांश अँगरेजी और संस्कृत भाषाओं में है। बालेंटाइन साहब की यह पुस्तक देखने लायक़ है। इस पुस्तक को छपे और प्रकाशित हुए पचास वर्ष से अधिक समय हुआ। इसका दूसरा संस्करण जो हमारे सामने है, मिर्ज़ापुर के आर्फ़न स्कूल प्रेस का छपा हुआ है। न्याय, सांख्य, वेदांत, ज्यामिति, रेखागणित, बीजगणित, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र समाजशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, कीट-पतंगशास्त्र, भूगोल विद्या, भूस्तरविद्या, राजनीति-विज्ञान, यहाँ तक कि सम्पत्तिशास्त्र तक के सिद्धान्तों का इसमें वर्णन है। पुस्तक दो भागों में विभक्त है। प्रथमार्द्ध में पूर्वोक्त शास्त्रों का सारांश, अँगरेजी में दिया गया है, और उत्तरार्द्ध में संस्कृत में। गौतमीय न्यायशास्त्र के आधार पर साध्य की सिद्धि की गई है। योरप और भारत के शास्त्रीय सिद्धान्तो में जहाँ-जहाँ विरोध है वहाँ-वहाँ योग्यतापूर्वक वह विरोध स्पष्ट करके दिखलाया गया है। परन्तु किसी के मत, सिद्धान्त या विवेचन पर कटाक्ष नहीं किया गया। एक उदाहरण लीजिए। गौतम-सूत्रों के आधार पर बालेंटाइन साहब ने एक जगह अपवर्ग, अर्थात् मोक्ष की व्याख्या करके यह लिखा—

"पुनर्दुःखोत्पत्तिर्यथा न स्यात् विमोक्षो विध्वंसः तथा च पुनर्दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धको दुःखध्वंसः परमपुरुषार्थस्तत्त्वज्ञानेन प्राप्तव्य इति गौतममतम्।"

इसके आगे ही आपने अपने, अर्थात् योरप के तत्त्वज्ञानियों के, मत का इस प्रकार निदर्शन किया—

"अस्मन्मतं तु नैवंविधदु:खध्वंसमात्रं परमपुरुषार्थ: । तस्याभावरूपतया तुच्छत्वेन स्वतो मनोहरत्वाभावात् । किन्तु परमपुरुषार्थे दु:खध्वंसादन्यत् किमपि स्पृहणीयमस्ति । यद्वा तद्वा तदस्तु, तत् सर्वथा सर्वज्ञस्य परमदयालो: परमेश्वरस्यैव प्रसादेन तद्‌भक्तै: प्राप्यमस्तीति ॥"

इसी तरह बराबर आप, जहाँ जहाँ आवश्यकता थी, अपना मत देते गये हैं। पर कहीं भी अनुचित आक्षेप किसी धर्म्म, मत या सिद्धान्त पर नहीं किया।

वालेंटाइन साहब की पूर्वोक्त पुस्तक के आरम्भ में जो उपोद्‌घात, अँगरेजी में है, उसमें आपने कितनी ही ज्ञातव्य बातो का समावेश किया है। उसमें आपके उदारता-पूर्ण विचारों की बड़ी ही भरमार है। आपने तत्त्वज्ञान को सब ज्ञानों से श्रेष्ठ समझ कर पहले उसी का विचार किया है। पुस्तक के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में आपकी लिखी हुई एक छोटी सी भूमिका, संस्कृत में भी, है। उससे भी आपके हृदय के औदार्य्य का सोता सा बह रहा है। उसका कुछ अंश हम यहाँ उद्‌धृत करते हैं—

"सुनिपुणानां बुद्धिमतांमविचारे परस्परविरोध: केवलं दु:खहेतु:। वादिप्रतिवाद्यभिमतार्थस्याभेदेऽपि यदि तयोर्भाषाभेदमात्रेण भेदावभास: तर्हि सोऽपि तथैव। अन्योन्यमतपरीक्षणात्पूर्वं परस्परनिन्दादिकं निष्फलत्वादनुचितम्। अपि च यत्र केवलं विवदमानयोर्द्वयोरपि भ्रान्तिमूलकविवाददूरीकरणार्थ: प्रयत्नो महाफलत्वात्प्रशस्यस्तत्र भूखण्डद्वयनिवासियावद्‌व्यक्तीनां परस्परं विवाददूरीकरणार्थप्रयत्न: प्रशंसायोग्य इति किं वक्तव्यम्। एतादृशप्रयत्नकारी पुरुष: सपूर्णफलप्राप्तावपि न निन्द्य:। भारतवर्षीयार्यजनानां प्राचीनमतग्रन्थपरपालनं तत्प्रेम च तेषां महास्तुतिकारणम्। एवं प्रतिदिनं वर्द्धमानस्वमतग्रन्थाभ्यासजनितमननजान्वृद्धया मन्नुष्यन्तो यूरोपीयलोका अपि न निन्द्या:। यदि कश्चिद् यूरोपीयजनोभारतवर्षीयार्योक्तं वास्तवमपि तदीयव्यवहारं तन्मतं तत्त्वञ्च यथार्थतोऽविज्ञाय निन्देत्तदनुचितमेव। एवं यदि भारतीयजनो यूरोपीयमतमविज्ञाय निन्देत्तदपि तथैव। एवं चान्यतरभ्रान्तिजनितमतविरोधप्रयुक्तदु:खस्य हेयतया तद्‌दूरीकरणायावश्यं कश्चिदुपायोचितमतस्वीकारे मतिमत्फलासम्भवोऽभीप्सितदुष्टफलसम्भवश्च। अतो विचारिणोर्द्वयोरेकविषये मतभेदे सदसन्निर्णयाय वाद: समुचित:। परन्तु यावत्सम्यक् प्रकारेण मतभेदो नावधृतस्तावद्वादोऽपि न समीचीन:। प्रथमतो मतयोर्यथासम्भवं साम्यं निर्णीय तदुत्तरं भेदनिर्णय: कर्त्तव्यो येन मतैक्ये विवादो न भवेत्।"

इसीलिए आपने यह उभयभाषात्मक 'न्यायकौमुदी' नामक शास्त्र संग्रह ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया। आपकी पुस्तक के इस अवतरण में कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनसे हम लोगों को बहुत कुछ शिक्षा और उपदेश की प्राप्ति हो सकती है। इस इतने बड़े अवतरण देने का मतलब यह है कि पाठक बालेंटाइन साहब के उस उद्देश को भी समझ जायँ जिससे प्रेरित होकर उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा और साथ ही उनकी संस्कृतज्ञता का अन्दाज़ा भी उन्हें हो जाय। आपकी संस्कृत बड़ी ही सरल और सुबोध है। पुस्तक भर में आपने इसी तरह की प्रांजल भाषा लिखी है। आपको संस्कृत में पद्य-रचना का भी अभ्यास था। पाठक कह सकते हैं कि, सम्भव है, उन्होंने इस पुस्तक को किसी

बनारसी पण्डित की सहायता से लिखा हो। ऐसी शंका के लिए जगह अवश्य है। काशी में, विशेष करके कालेज में, पण्डितों के बीच रहकर उन्होंने पण्डितों से सहायता ली हो तो कोई आश्चर्य्य की बात नही। परन्तु बालेंटाइन साहब की संस्कृत पण्डितों की जैसी लच्छेदार संस्कृत नहीं। वह इतनी सरल और स्वाभाविक है कि प्रकाण्ड पाण्डित्य की गन्ध उसमें ज़रा भी नही आती। वह पुकार पुकार कर कह रही है कि मैं काशी के पण्डितों की करामात नहीं। इस भीतरी साध्य के सिवा हमारे पास पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र का भी साक्ष्य है। वे बालेंटाइन साहब के समय ही से बनारस कालेज में थे और बालेंटाइन साहब ही की सूचना के अनुमार 'लघु कौमुदी' का अनुवाद उन्होंने हिन्दी में किया था। इस प्रबन्ध के लेखक ने उनके मुख से सुना था कि बालेंटाइन साहब अच्छे संस्कृतज्ञ ही न थे, किन्तु अच्छे संस्कृत-वक्ता और अच्छे सस्कृत-लेखक भी थे।

1844 ईसवी में जे० म्यूर साहब बनारस-कालेज के प्रधानाध्यापक थे। वे भी संस्कृत में अच्छी योग्यता रखते थे। यह बात उनके एक ग्रन्थ से प्रमाणित है। यह ग्रन्थ बड़ी-बड़ी पांच जिल्दों में है। इसका नाम है—"Original Sanskrit Texts on the Origin and History of the People of India, their Religion and Institutions." इसके सिवा बालेंटाइन साहब ने भी म्यूर साहब की संस्कृतज्ञता और योग्यता की गवाही दी है। अपनी 'न्यायकौमुदी' की अँगरेज़ी भूमिका मे उन्होंने लिखा है—

"Mr. Muir delivered lectures, in Sanskrit on moral and intellectual philosophy, and the sentsiments which he then inculcated have been since that time furnished topics for discussion in the College."

म्यूर साहब जब संस्कृत में लेक्चर द सकने थे तव वे अवश्य ही अच्छी तरह संस्कृत बोल लेते रहे होंगे। यह उनकी संस्कृतज्ञता और सम्भाषणशक्ति का प्रमाण हुआ। यह बात तो डाक्टर टीबो और वीनिस साहब आदि संस्कृत विद्वानों में पाई जाती है। म्यूर साहब में एक और विशेषता थी। वे संस्कृत लिखते भी थे। गद्य ही नही, पद्य भी उनकी लिखी हुई 'मत परीक्षा' नामक एक बहुत बड़ी पुस्तक सस्कृत पद्य में है। उससे दो चार श्लोक हम नीचे उद्धृत करते है—

य: पूर्वभूतवृत्तान्त: पारम्पर्येण लभ्यते
स जातु प्रत्ययाहोऽस्ति जातु नास्तीति बुध्यते ।।
वृत्तान्त: कश्चिदेको हिसप्रमाण: प्रतीयते !
प्रमाणवर्जितोऽन्यस्तु प्रतिभाति परीक्षणात् ।।
अतोत्सुका पुरावृत्तकथा विश्वासमर्हति ।
न वेत्यतद्विवेकाय तद्विशेषो विचार्यताम् ।।
असो कथा कदा कुत्र कस्य वक्त्रादजायत ।
श्रोतारश्चादिमास्तस्या: कीदृशा: कति चाभवन ।।

इन पद्यों की रचना कह रही है कि ये म्यूर साहब ही के लिखे हुए हैं। अतएव

इसमें सन्देह नहीं कि वे संस्कृत बोल भी सकते थे और लिख भी सकते थे।

The Light of Asia, India Poetry, Secret of Death आदि पुस्तकों के लेखक सर एडविन आर्नल्ड का नाम पाठकों में से बहुतों ने सुना होगा। आपकी भी गिनती संस्कृतज्ञों में है। 1896 में आपने 'चौरपञ्चाशिका' का पद्यात्मक अनुवाद अँगरेज़ी में करके मूल-सहित उसे प्रकाशित किया। परन्तु टाइप में नहीं, लीथो में। प्रत्येक पृष्ठ को अपने ही हाथ से खींचे गये चित्रों से भी अलंकृत किया। ऐसा करने में किसी किसी पद्य के भाव को आपने चित्र में भी अलंकृत कर दिया। आपकी लिखी हुई 'चौरपञ्चाशिका' की कापी लीथो में छपी हुई हमने खुद देखी और पढ़ी है। आपके नक़ल किये हुए पद्यों में से कई पद्यों में त्रुटियाँ हैं। परन्तु वे क्षम्य हैं।

फ्रेडरिक पिनकाट, भट्ट मोक्षमूलर और अध्यापक मुग्धानलाचार्य्य की नागरी-लिपि के नमूने तो 'सरस्वती' में निकल ही चुके हैं। डाक्टर ग्रियर्सन भी अच्छी देवनागरी लिपि लिख सकते हैं। उनसे और इन पंक्तियों के लेखक से, एक दफ़े कविता की भाषा के सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार हुआ। इस विषय में आपने अपने हाथ से बाबू हरिश्चन्द्र की सर्वश्रुत सम्मति लिख भेजी थी—"भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोऊ होय"।

आपकी भी वही राय है जो बाबू हरिश्चन्द्र की थी। डाक्टर साहब अनेक पूर्वी भाषाओं और बोलियों के ज्ञाता हैं। हिन्दी भी आप बहुत अच्छी जानते हैं; परन्तु लिखते नहीं। हमारे प्रार्थना करने पर भी आपने हिन्दी में लेख लिखने की कृपा न की। कुछ भी हो, देवनागरी आप सफ़ाई और शुद्धता के साथ लिख सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

आर० पी० ड्यूहर्स्ट साहब इन प्रान्तों में सिविलियन हैं। कुछ समय पहले आप रायबरेली में डेपुटी कमिश्नर थे। आप हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी के अच्छे पण्डित हैं। शायद आप अरबी भी जानते हैं। बड़े विद्वान, बड़े विद्याव्यसनी और बड़े पुरातत्त्वप्रेमी हैं। आपके लेख एशियाटिक सोसाइटी आदि के जर्नलों में निकला करते हैं। आपकी देवनागरी लिपि बड़ी ही सुन्दर और स्पष्ट होती है। शुद्ध भी होती है। मार्च 1907 में इस लेखक के प्रश्नों के उत्तर में आपने कृपा करके एक पत्र लिखा था। उसके लिफ़ाफ़े पर अँगरेज़ी के सिवा देवनागरी में भी पता लिखने की आपने कृपा की थी।

जो कुछ यहाँ तक लिखा गया, उससे सिद्ध हुआ कि योरप के विद्वान् यदि अभ्यास करें तो पूर्वी देशों की भाषायें और लिपियाँ उसी तरह लिख सकें, जिस तरह कि भारतवासी अँगरेज़ी भाषा और रोमन लिपि लिख सकते हैं।

[अगस्त, 1912 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'साहित्य-सीकर' में संकलित।]

योरप में कालिदास

कवि का जन्म मानव-जाति का कल्याण करने के लिए होता है। उसकी कृति पर किसी एक ही देश अथवा जाति का अधिकार नहीं रहता। वह समस्त विश्व के लिए है; उसके काव्य पर सम्पूर्ण मानव-जाति का समान अधिकार रहता है। शेक्सपीयर की जन्मभूमि होने का गर्व इंगलैंड को है; पर आज सभी देशों में उसका यशोगान होता है; सभी उस की रचनाओं से शान्ति-लाभ करते हैं। जर्मनी ने तो यह बात अभिमानपूर्वक कही है कि शेक्सपीयर हमारा है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिनका सम्बन्ध केवल एक ही देश अथवा काल से रहता है। ऐसों की गणना विश्व-कवियों में नहीं होती। विश्व-कवि तो वे होते हैं जिनकी कविता से प्रभावान्वित होकर मनुष्य अपनी अहन्ता, अपना वैरभाव और अपना व्यक्तित्व तक भूल जाता है। यदि पृथ्वी पर कभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त प्रचलित होगा तो वह ऐसे ही कवियों के द्वारा होगा।

कालिदास विश्व-कवि हैं। उनकी जन्मभूमि होने का गौरव तो भारतवर्ष ही को है, पर अब उनकी कृति संसार की सम्पत्ति हो गई है। सभी उसका उपभोग कर रहे है। जब तक संस्कृत भाषा का प्रचार योरप में नहो हुआ था तब तक कालिदास की कीर्ति-प्रभा भारतवर्ष मे ही अवरुद्ध थी। पर अब उनकी ज्योति योरप में भी फैल गई है और बढ़ती जा रही है। कुछ ही समय बाद वह सम्पूर्ण ससार में व्याप्त हो जायगी। ऐसा होना असम्भव नहीं। कालिदास के काव्य यथार्थ ही सार्वजनिक और सार्वकालिक हैं।

योरप में कालिदास के काव्यों का प्रचार सबसे पहले सर विलियम जोन्स ने किया। सर विलियम जोन्स भारतवर्ष में न्यायाधीश होकर आये थे। यहाँ आने पर उन्हें हिन्दू धर्म्म-शास्त्र समझने के लिए संस्कृत भाषा का अध्ययन करना पड़ा। संस्कृत सीखने में उन्हें कितनी कठिनाई पड़ी, उसे यहाँ बताने की जरूरत नहीं। 'सरस्वती' में यह हाल प्रकाशित भी हो चुका है। संस्कृत पढ़ते समय उन्हें अपने गुरु से यह जान कर बड़ा कौतूहल हुआ कि संस्कृत भाषा में नाटक भी है और वे कभी रंगभूमि पर खेले भी जाते थे। तब उन्होंने अपनी कौतूहल-निवृत्ति के लिए अपने गुरु से कालिदास का 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' पढा। वह उन्हे इतना पसन्द आया कि उन्होंने उसका अनुवाद अँगरेज़ी में कर डाला। वह अनुवाद कुछ अच्छा न हुआ था, तो भी उसे पढ़ कर जर्मन कवि गेटी मुग्ध हो गया। शकुन्तला की प्रशंसा में उसने एक पद्य-रचना भी कर डाली। उसका मतलब यह था—"अगर कोई वसन्त के फूल और शरद ऋतु के फल पाने की अभिलाषा करे—अगर कोई मन को अपनी ओर खींचने वाले अर्थात् वशीकरण की, वस्तु देखना चाहे—अगर कोई स्वर्ग और पृथ्वी को एक जगह देखने की इच्छा करे, तो वह कालिदास के 'अभिज्ञान-शकुन्तल' को पढ़े'। गेटी जर्मनी का साहित्य-सम्राट् था।

उसकी इस प्रशंसा ने योरप में कालिदास की कीर्त्ति फैलाने में बड़ा काम किया। शेज़ी (Chezy) ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद फ्रेंच में किया। आर० पीशल (R. Pischal) ने भी आलोचना सहित 'शकुन्तला' का एक अच्छा संस्करण, 1877 में निकाला। उसमे वही पाठ-प्रणाली रक्खी गई। बंगाल मे प्रचलित थी। देवनागरी पाठ-प्रणाली का अनुसरण करके 'शकुन्तला' नाटक के और भी कई संस्करण निकले। एक का प्रकाशन ओ० बोटलिंक (O. Boatlink) ने किया। जर्मन भाषा में रुकर्ट ने 1876 में, उसका अनुवाद किया। उसी साल फ्रीटज़े का किया हुआ भी अनुवाद निकला।

कालिदास का 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' पढकर योरप के विद्वानों का ध्यान संस्कृत-भाषा की ओर आकृष्ट हुआ। संस्कृत भाषा का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ने लगा। इसके साथ ही साथ कालिदास के अन्य काव्यों और नाटकों के अनुवाद भी प्रकाशित होने लगे। कालिदास का 'विक्रमोर्वशी' नामक जो दूसरा नाटक है, उसका सम्पादन करके, 1875 में, आर० पीशल ने उसे प्रकाशित किया। विल्सन और कावेल ने उसको अँगरेज़ी में अनुवादित किया। कावेल का अनुवाद 1851 में निकला था। 1880 में फ्रीटजे ने लिपजिक से एक अनुवाद निकाला। 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद, अँगरेज़ी मे, सी० यच० टानें (C. H. Tawney) ने, 1991 में, किया उसके पहले जर्मन भाषा में ए० वेबर द्वारा उसका एक अनुवाद, 1856 में, निकल चुका था। 'शकुन्तला' नाटक का एक अनुवाद मोनियर विलियम्स ने भी किया है। फ्रीटजे का 'मालविकाग्निमित्र', 1881 में, निकला।

कालिदास के काव्यों मे 'रघुवंश' श्रेष्ठ है। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि उसमे एक ऐसी विशेषता है जो अन्य किसी काव्य में नही पाई जाती। उसमें मुख्य पात्र बीच मे ही लुप्त होते जाते हैं, पर कथा की शृंखला नहीं टूटती; वह वैसी ही बनी रहती है। 'रघुवंश' का लैटिन भाषा में अनुवाद करके, 1832 में, स्टेंजलर साहब ने प्रकाशित किया। उन्होंने, 1838 मे, 'कुमारसम्भव' का भी अनुवाद लैटिन भाषा में किया। ग्रीफिथ साहब का किया हुआ भी 'कुमारसम्भव' का एक अनुवाद अँगरेज़ी में है। वह 1871 मे प्रकाशित हुआ था।

कालिदास के काव्यो में 'मेघदूत' की भी बड़ी प्रशंसा है। गेटी तो उससे मुग्ध हो गया था। स्टेंजलर साहब ने, 1874 मे, उसका सम्पादन करके उसे प्रकाशित किया। उनके इस संस्करण मे शब्दों की एक सूची भी दी गई। विल्सन ने उसका अनुवाद अँगरेज़ी-पद्यों में किया। वह 1867 में प्रकाशित हुआ। टी० क्लार्क का 'मेघदूत', लन्दन में, 1882 में, प्रकाशित हुआ। मैक्समूलर द्वारा जर्मन भाषा में किया गया, 'मेघदूत' का अनुवाद, 1847 मे, निकला। 1859 में स्कूट्ज़ (Schutz) का और 1879 में फ्रीटज़े (Fritze) का अनुवाद निकला।

'ऋतुसंहार' कालिदास का सबसे छोटा काव्य है। वह कदाचित् उनकी प्रथम रचना है। पर उसमे भी कवि की प्रतिभा झलक रही है। मुग्धानलाचार्य्य ने उसकी बड़ी तारीफ़ की है। लैटिन और जर्मन भाषाओं में किया गया उसका अनुवाद पी० बी०

बोलन (P. V. Bohlen) द्वारा, लिपज़िक में, 1840 में, प्रकाशित हुआ।

इनके सिवा भारतीय विद्वानों ने भी कालिदास के काव्यों के अनुवाद अँगरेज़ी में किये हैं। अरविन्द बाबू का किया हुआ 'विक्रमोर्वशी' का, अँगरेज़ी-पद्य में, अनुवाद अपूर्व है।

इससे यह भली भाँति स्पष्ट है कि संसार के श्रेष्ठ कवियों मे कालिदास का जो स्थान है उसके अनुकूल ही उनके काव्यो का प्रचार हो रहा है।

मोनियर विलियम्स ने कहा है, "कालिदास की कल्पना-शक्ति की प्रबलता, मानवीय अन्तःकरण का उत्कृष्ट ज्ञान, रचना-चातुर्य्य आदि ऐसे गुण हैं जिनसे हमें उन्हे भारतवर्ष का शेक्सपीयर कहना चाहिए।" फिर भी खेद की बात है कि जैसी आलोचना शेक्सपीयर के नाटकों की हो रही है वैसी आलोचना इस भारतवर्ष के शेक्सपीयर (कालिदास) की कृतियों की नहीं हो रही।

[मई, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

योरप के कुछ संस्कृतज्ञ विद्वान् और उनकी साहित्य-सेवा

आज-कल योरप में संस्कृत भाषा का बड़ा आदर है। वहाँ संस्कृत के अच्छे अच्छे विद्वान् भी हैं। उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य के कितने ही ग्रन्थ-रत्नों का उद्धार किया है। उनकी गवेषणाओं से भारतवर्ष को बड़ा लाभ हुआ है। यह उन्हीं के संस्कृत साहित्य-परिशीलन का फल है कि प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास लिखा जा सका है। उनका ही अनुसरण करके डाक्टर भाऊ दाजी, राजेन्द्रलाल मित्र, डाक्टर भाण्डारकर आदि भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय पुरातत्त्व का अनुशीलन किया। योरप में संस्कृत का प्रचार होने से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और धर्म्म-विज्ञान की उन्नति हुई। सच तो यह है कि यदि ये योरप के विद्वान् इतना परिश्रम न करते तो कदाचित् भारत-वासी अपने प्राचीन साहित्य का महत्त्व बहुत समय तक न समझते। 'सरस्वती' में इन विद्वानों का परिचय समय समय पर दिया जा चुका है। यहाँ हम इनके कुछ कार्यों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

संस्कृत भाषा का अध्ययन पहले पहल सर विलियम जोन्स ने किया। उसके पहले भी कुछ ईसाई धर्म्म प्रचारकों ने संस्कृत का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हेनरिच नाथ नामक एक जर्मन ने, 1664 ईसवी में, ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ करने के लिए संस्कृत का अध्ययन किया था। एक और जर्मन ईसाई, हेनक्सलेडन, जो यहाँ 1699 ईसवी में आया, संस्कृतज्ञ था। चार्ल्स विल्किन्स अवश्य संस्कृत के विद्वान् थे। उन्होंने गीता का अनुवाद किया। वह अनुवाद सन् 1785 ईसवी में, इंगलैंड में प्रकाशित हुआ।

सर विलियम जोन्स कलकत्ते में सुप्रीम कोर्ट के जज थे। उन्होंने 1784 ईसवी में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। 1792 ईसवी में उनका किया हुआ 'ऋतुसंहार' का अँगरेज़ी-अनुवाद प्रकाशित हुआ। 'मनुस्मृति' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का भी उन्होंने अँगरेज़ी में अनुवाद किया। इसके पहले योरप के विद्वानों को प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का बहुत ही कम ज्ञान था। सर विलियम जोन्स ने ही उनमें प्राचीन भारत के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न कर दी। एशियाटिक सोसाइटी से जो जर्नल निकलता है उसमें सर जोन्स ने कई गवेषणापूर्ण लेख लिखे। सबसे पहले उन्होंने ही यह प्रमाणित किया कि मेगास्थनीज का संड्रोकोटस और चन्द्रगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं और पालिबोथा पाटलिपुत्र का ही अपभ्रंश है। सन् 1794 ईसवी में उनकी मृत्यु हुई। उनके स्थान पर हेनरी कोलब्रुक साहब आये।

कोलब्रुक साहब संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत के सिवा वे अन्य भी अनेक

विषयों के ज्ञाता थे। उनका जन्म 1765 ईसवी में, लन्दन में, हुआ था। 18 वर्ष की अवस्था में उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक नौकरी मिल गई। यहाँ वे 32 वर्ष तक भिन्न-भिन्न पदों पर काम करते रहे। 1807 ईसवी में वे बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के सभापति हुए। 1815 ईसवी में वे इंगलैंड लौट गये। वहाँ, 1822 में, उन्होंने लन्दन में रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। 1837 में उनकी मृत्यु हुई। उन्हीं के परिश्रम से योरप में संस्कृत का विशेष प्रचार हुआ।

होरेस हेमन विलसन ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के चिकित्सा-विभाग में 1808 से 1832 ईसवी तक काम किया। वे भी संस्कृत के विद्वान् हुए। आक्सफ़र्ड में सबसे पहले वही बोडेन-प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त हुए।

फ़ोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता, में रेवरन्ड केरी संस्कृत के अध्यापक थे। वाल्मीकीय रामायण को सबसे पहले प्रकाशित करने का श्रेय उन्ही को है।

सर हेनरी मैकनाटन, जो काबुल में मारे गये थे, अच्छी संस्कृत जानते थे।

योरप के अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी में संस्कृत का अधिक प्रचार हुआ। फ्रेड्रिक शेजल नामक विद्वान् ने वहाँ लोगों का ध्यान संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर आकृष्ट किया। उसका भाई अगस्ट डब्ल्यू० शेजल भी संस्कृत का प्रेमी था। उसने जर्मनी में संस्कृत का खूब प्रचार किया। उसने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों को जर्मन भाषा में अनुवादित करके प्रकाशित किया। 1818 में वह पेरिस के विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने अपनी गवेषण पेरिस में आरम्भ की। उसके गुरु थे शेजी।

फ्रेंचों में सबसे पहले शेजी ने ही संस्कृत का अध्ययन किया। वह कालेज डी-फ्रांस में संस्कृत का अध्यापक था। वहाँ उसने संस्कृत-साहित्य की बड़ी सेवा की। अनेक भारतीय ग्रन्थों का सम्पादन किया और कुछ के अनुवाद भी। 1823 ईसवी में 'दि इंडियन लाइब्रेरी' नामक पत्र का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। उसमे भारतीय भाषा-विज्ञान पर निबन्ध थे। प्रायः सभी शेजल की रचना थी। उसी साल शेजल ने भगवद्गीता का एक अच्छा संस्करण निकाला। 1829 में उसकी रामायण का पहला भाग निकला। पर वह अपूर्ण ही रह गया।

शेजल के समसामयिक फ्रेंच विद्वान् बॉप थे। उनका जन्म सन् 1791 ईसवी में हुआ था। 1812 में वे भी पेरिस आये और शेजी के पास संस्कृत पढ़ने लगे। 1816 में बाप ने संस्कृत भाषा के तुलनात्मक विज्ञान पर निबन्ध लिखा। इस विज्ञान के जन्मदाता बॉप ही थे। उन्होने 'नल-दमयन्ती' के उपाख्यान को लैटिन भाषा मे अनुवाद करके प्रकाशित किया। सबसे पहले उन्होंने ही महाभारतीय उपाख्यानों का अनुवाद जर्मन भाषा में किया। उनका संस्कृत भाषा का व्याकरण 1837 में निकला। उन्होंने एक कोष भी तैयार किया। इन दोनों ग्रन्थों से उनकी अच्छी प्रसिद्धि हुई और इन ग्रन्थों का प्रचार भी योरप में खूब हुआ।

डब्ल्यू० हम्बोल्ट (Mr. Humbolt) साहब ने 1821 ईसवी में संस्कृत भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। उनसे उनके भाई अलेक्जेंडर हम्बोल्ट का नाम, संस्कृत विषय में, अधिक विख्यात है। तथापि ये भी संस्कृत के ऐसे वैसे ज्ञाता न थे। भगवद्गीता

पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। इनकी राय थी कि इससे अधिक गम्भीर और उच्च विचारों से पूर्ण दूसरा ग्रन्थ नही। हेगल ने गीता की अच्छी आलोचना नहीं की। इस पर इन्होंने कहा—"गीता के विरुद्ध जितने ही अधिक उग्र विचार हेगल के हैं उतनी ही उस पर मेरी श्रद्धा अधिक बढ़ गई है।"

भारतवर्ष में जितनी ख्याति मैक्समूलर की है उतनी शायद अन्य योरोपीय पण्डित की नही है। मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य का अच्छा अनुशीलन किया। उनका जन्म 1823 ईसवी में जर्मनी के डेशो नामक स्थान में हुआ था। उन्होने लिपजिक, हाल और हर्मन ब्रूक से पहले पहल संस्कृत का परिचय प्राप्त किया। फ्रांस मे आकर उन्होने यूजेन वर्नो से संस्कृत पढी। 1849 ईसवी मे उन्होंने ऋग्वेद का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया। फिर बीस वर्ष तक लगातार परिश्रम करके उन्होने ऋग्वेद को सम्पूर्ण कर डाला। इस काम मे बैरन बुनसेन ने उनको बड़ी सहायता दी। ऋग्वेद के सिवा पचास भागो मे प्राच्य धार्म्मिक ग्रन्थमाला को भी उन्होंने प्रकाशित किया। अच्छे अच्छे, कई ग्रन्थों की रचना भी, उन्होने की। 1907 में उनकी मृत्यु हो गई।

जब मैक्समूलर साहब ऋग्वेद का सम्पादन कर रहे थे तब कुछ समय तक डाक्टर कीलहार्न ने भी उन्हें सहायता दी थी। डाक्टर कीलहार्न जर्मनी के निवासी थे। वहीं उन्होंने संस्कृत पढी। लिपजिक से 1866 मे उन्होने पितृ-सूत्रों का प्रकाशन किया। वे कुछ समय तक पूने के डेकन कालेज में अध्यापक भी रहे। यही उन्होंने अनन्त शास्त्री नामक एक विद्वान् से सस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया। फिर उन्होंने नागोजी भट्ट के 'परिभाषेन्दुशेखर' और पतञ्जलि के 'महाभाष्य' का सम्पादन किया। कुछ समय के बाद वे जर्मनी लौट गये। वहाँ वे गार्टजिन मे अध्यापक नियुक्त हुए। वहीं 1908 ईसवी में उनकी मृत्यु हुई।

आर० पिशल नामक संस्कृतज्ञ विद्वान् का जन्म जर्मनी में ब्रेसला नामक नगर मे हुआ। वहीं उनको शिक्षा मिली। बर्लिन, आक्सफ़र्ड और लन्दन में भी उन्होने कुछ काल तक अध्ययन किया। 1875 ईसवी में वे कील के विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक हुए। 1885 में उनकी नियुक्ति हेल के सैक्सन विश्वविद्यालय में हो गई। 1902 मे उससे भी उनका सम्बन्ध छूट गया। तब उन्हे बर्लिन के विश्वविद्यालय में जगह मिली। मृत्यु तक वे उसी पद पर काम करते रहे। उन्होने हेमचन्द्र के कई ग्रन्थो का सम्पादन किया। कालिदास के काव्यों और वेदों पर भी उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। वे जैसे संस्कृत के ज्ञाता थे वैसे ही प्राकृत के भी थे।

भारतवर्ष के शिक्षा-विभाग में डाक्टर टीबो का अच्छा नाम है। वे भी जर्मन थे। मैक्समूलर के साथ वे तीन-चार वर्ष तक रहे थे। इसलिए उन्हें भी संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो गया था। 1785 मे वे अध्यापक नियुक्त होकर बनारस भेजे गये। उन्होंने सुल्व-सूत्रों पर एक बड़ा अच्छा निबन्ध लिखा। इससे उनका अच्छा नाम हुआ। बनारस कालेज में वे 1888 ईसवी तक रहे। फिर वे पंजाब के रजिस्ट्रार नियत हुए। इसके बाद वे म्यूर सेन्ट्रल कालेज मे अध्यापक हुए। उन्होंने 'पंचसिद्धान्तिका' और शंकर-रामानुज-भाष्ययुक्त वेदान्त-सूत्रों का एक उत्तम संस्करण निकाला। इनके सिवा वराह-

मिहिर पर उन्होंने टिप्पणियाँ लिखी और मीमांसा और ज्योतिष-वेदाङ्ग' पर निबन्ध।

फ्रांस के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ, एम० शेजी का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। योरप में संस्कृत के अध्यापक होने का गौरव सबसे पहले आपको ही मिला। आप 1814 से 1832 ईसवी तक संस्कृत पढ़ते रहे। आपके बाद यह पद यूजिन बर्नफ साहब को मिला। बर्नफ साहब ने संस्कृत-साहित्य में बड़ा काम किया है। उनका जन्म 1801 ईसवी में हुआ था। 1824 में पेरिस से वे पदवीधर होकर निकले। दो साल बाद प्रसिद्ध पण्डित लासन के साथ उन्होंने पाली भाषा पर एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा। उन्हीं ने योरप को बौद्ध धर्म्म का परिचय कराया। भारतवर्ष के इतिहास में बौद्ध काल की प्रधान घटनाओं का समय उन्हीं ने निश्चित किया। 'भागवत-पुराण' का भी सम्पादन करके उसे उन्होंने प्रकाशित किया। 50 वर्ष की अवस्था में ही उनकी मृत्यु हो गई.

जर्मनी में रह कर जिन विद्वानों ने प्राच्य साहित्य का अनुशीलन किया और नाम पाया उनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि वेबर साहब की हुई। वेबर साहब मैक्समूलर के समकालीन थे। उनका जन्म 1825 ईसवी में हुआ था और मृत्यु 1901 में। उन्होंने यजुर्वेद का सम्पादन किया और बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय के हस्तलिखित संस्कृत-ग्रन्थों की सूची तैयार की। 1850 से 1885 ईसवी तक 35 सालों में, उनका 'Indischen Studien' नामक ग्रन्थ, 17 जिल्दों में, प्रकाशित हुआ। उनके पढ़ाये हुए शिष्यों में योरप और अमरीका के अनेक प्राच्य-विद्या-विशारद हैं। उनकी प्रसिद्धि भारतीय साहित्य के इतिहास में भी हुई है।

पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण का एक बड़ा अच्छा संस्करण बोटलिक साहब ने निकाला। राथ साहब के साथ मिलकर उन्होंने एक संस्कृत-कोष का भी सम्पादन किया। यह कोष अभी तक योरप में अद्वितीय गिना जाता है। गोलडस्टुकर साहब ने पाणिनि के स्थिति-काल पर एक बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

भारतवर्ष के शिक्षित समाज में अब प्रोफ़ेसर जेकोबी का भी नाम प्रसिद्ध हो गया है। जेकोबी साहब ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। जैन-साहित्य के आप अच्छे पण्डित गिने जाते हैं। उनका किया हुआ जैन सूत्रों का अनुवाद प्राच्य धार्म्मिक ग्रन्थ-माला में प्रकाशित हुआ है।

इनके सिवा और भी अनेक योरोपीय विद्वानों को संस्कृत का अच्छा ज्ञान है। इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी के अध्यक्ष डाक्टर रीनहोल्ड रोस्ट, कलकत्ता-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर जाली, जो टगोरला-लेक्चरर नियुक्त हुए थे, जेम्स राबर्ट बालेंटाइन जो बनारस के गवर्नमेंट कालेज के प्रधान अध्यापक थे, सर एडविन आर्नल्ड, जिन्होंने 1896 में, 'चौरपञ्चाशिका' का पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित किया था—ये सभी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे।

यहाँ तक हमने सिर्फ़ कुछ योरोपीय विद्वानों का परिचय-मात्र दिया है।

[अक्टूबर, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

संस्कृत-साहित्य-विषयक विदेशियों की ग्रंथ-रचना

सस्कृत भाषा का ग्रंथ-साहित्य बहुत विस्तृत है। किसी समय तो वह अपरिमेय था। छापने की कला का प्रचार इस देश में हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ। उसके पहले यहाँ का समस्त ग्रंथ-समुदाय हस्तलिखित पोथियों ही के रूप में था। तिस पर भी उसकी बहुत रक्षा हुई और रक्षा ही नहीं, समय-समय पर, उसकी वृद्धि भी होती आई। वह ऐसा समय था कि खर्च कम था, लोग सादगी से रहते थे, और थोड़ी ही आमदनी पर संतोष करते थे। विद्वान् पंडितों का सर्वत्र आदर था; उन्हें राजाश्रय मिलता था, सर्वसाधारण जन भी उनकी पूजा-अर्चा करते और दान-दक्षिणा से उनकी अर्थ-कृच्छ्रता को सदा उनसे दूर रखते थे। विद्या-व्यासंग में रत रहना और अपने छात्रों को अपनी विद्या का दान देना ही पंडितों का काम रहता था। इस तरह सुख और संतोष से वे जीवन बिताते और नये-नये ग्रंथो का निर्म्माण भी करते थे। परंतु समय के फेर से उनके वे सुभीते धीरे-धीरे नष्ट नही, तो कम होते गये। उन्हें पेट पालना दूभर हो गया। बात यहाँ तक पहुंची कि काशी की आचार्य्य और पंजाब की शास्त्री-परीक्षा पास कर लेने पर भी उन्हें सरकारी स्कूलों और पाठशालाओ मे 30 रुपये महीने की नौकरी मिलना मुश्किल हो गया। ऐसी दशा में, अँगरेजी भाषा के एकाधिकार के पेच में पड़े हुए पंडितों को नवीन ग्रंथ-रचना करने की बात कैसे सूझती ? वे रोटी की फ़िक्र करते या पुस्तक-प्रणयन की ?

राज-विप्लव के कारण एक तो यों ही अनंत ग्रंथ-रत्न नष्ट हो गये। फिर जीविका का यथेष्ट प्रबंध न होने के कारण संस्कृत भाषा पढ़ने से लोगों को विरक्ति भी हो गई। संस्कृतज्ञ विद्वानो की क़दर न होने से नये-नये पंडितों का उद्भव बंद हो गया। फल यह हुआ कि संस्कृत-ग्रंथ साहित्य की वृद्धि के बदले उसका ह्रास ही होता गया। न अधिक पढ़ने वाले ही रहे, न क़दर ही करने वाले। यही कारण है, जो अब इस भाषा में रचे गये नवीन मौलिक ग्रंथों का कहीं नाम भी सुनने को नहीं मिलता।

पर इस दुरवस्था के अस्तित्व में आने के पहले ही भारत के प्राचीन पंडितों ने प्रचंड ग्रंथ-साहित्य तैयार कर लिया था कि लूटने-फूंकने, कीटभक्ष्य होने, सड़ने-गलने और रद्दी के भाव बिकने पर भी उसका इतना अंश बच रहा जिसे देखकर उसकी अधिकता पर अब भी विद्वानों को आश्चर्य्य होता है। एकत्र करने से अकेले वैदिक ग्रंथ ही इतने होंगे जो शायद बंगाल लैन की रेल की 16 रेल वाली एक किराची में न समा सकें। पर दुर्भाग्यवश इन ग्रंथों का भी बहुत सा अंश नेपाल, काश्मीर तथा भारत के अन्यान्य प्रांतों का आश्रय छोड़ कर योरप और अमेरिका में जा पहुँचा। निःसहाय और निरुपाय होने के कारण, अभागे भारतवासियों से उस सबकी रक्षा न हो सकी। एक हिसाब से यह अच्छा ही हुआ। यहाँ पड़े रहने से शायद उस अंश का भी नाश हो जाता; क्योंकि जो अंश बच रहा है उसी की हम लोग कौन बड़ी क़दर करते हैं। उसे भी पढ़ने और पढ़ाने

वाले ढूंढ़ने से भी शायद इने ही गिने मिलें। ज़िले के ज़िले और प्रांत के प्रांत आप ढूंढ़ डालिए, शायद ही कहीं किसी सौभाग्यशाली के यहाँ ऋग्वेद-संबंधी सभी ग्रंथ मिल सकें। वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, आरण्यकों और गृह्य-सूत्रों के नाम तक लोग भूल गये। उन्हें अपने संग्रह में रखना और उनका अध्ययन-अध्यापन करना तो बहुत दूर की बात है।

हाँ, जो ग्रंथ विदेशों में पहुँच गये—विशेष करके जर्मनी, इंगलैंड और फ्रांस में—उनकी क़दर अलबत्ते वहाँ हुई। राजकीय संपर्क के कारण कुछ अँगरेज़ों ने, संस्कृत भाषा सीख कर, उसमें विद्यमान ग्रंथ-रत्नों के महत्त्व का ज्ञान जब प्राप्त कर पाया तब उन्होंने उस बात को औरों पर भी प्रकट किया। इस कारण जिज्ञासा बढ़ी और अन्यान्य पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भी संस्कृत सीख कर ग्रंथ-संग्रह आरंभ कर दिया। धीरे-धीरे इस विषय की चर्चा अधिक होती गई। फल यह हुआ कि कुछ विद्वानों ने संस्कृत भाषा के महत्त्वपूर्ण और दुष्प्राप्य ग्रंथों को अपनी देश-भाषाओं में प्रकाशित करना आरंभ किया। अनेक ग्रंथों के संस्करण, टीका-टिप्पणी सहित, उन्होंने प्रकाशित किये। अनेक ग्रंथों के अनुवाद भी उन्होंने कर डाले। उन पर अनेक आलोचनात्मक और तुलनात्मक पुस्तकें भी उन्होंने लिख डालीं। उनकी विशेषतायें समझाने के लिए भी उन्होंने बहुत ग्रंथ-रचना की, यह सब ग्रंथ-राशि अब इतनी हो गई है कि यदि वह सबको सब एक स्थान पर एकत्र की जाय तो एक बहुत बड़ा पुस्तकालय हो जाय। इन विदेशी विद्वानों ने अधिक ग्रंथ-रचना और अधिक ग्रंथ-प्रकाशन वैदिक साहित्य के संबंध ही में किया है। पर और विषयों पर भी इन्होंने लेखनी उठाई है। आयुर्वेद, ज्योतिष, कोश, काव्य, स्मृति—यहाँ तक कि इस देश की कथा-कहानियों की ओर भी इनकी दृष्टि गई है। इनके इस कार्य्य से भारत को बहुत लाभ पहुँचा है। पश्चिमी देशों को हमारी प्राचीन सभ्यता और शिक्षा का सबसे अधिक ज्ञान इन्हीं विद्वानों ने कराया है। इस विषय में जर्मनी के विद्वान् हमारी कृतज्ञता के सबसे अधिक पात्र हैं।

यहाँ पर हम इन पश्चिमी पंडितों के कुछ गौरव-पूर्ण ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देते है। पाठक देखेंगे कि इन्होंने कितना काम किया है, कैसे-कैसे ग्रंथ लिखे है और कितने अनमोल ग्रंथों को लोप होने से बचाया है।

कोष

(1) सेंट पीटर्सबर्ग (पेट्रोग्रेड) मे प्रकाशित संस्कृत-कोष। इसका नाम है—The Sanskrita Worterbuch or The St. Petersburg Lexion. इसका संपादन ओटो बोटलिक और रूडल्फ़ रोट ने किया है। बड़ी-बडी सात जिल्दों में है। अद्भुत ग्रंथ है। बड़े महत्त्व का है। अनेक वर्षों के परिश्रम का फल है। संस्कृत-शब्दों की उत्पत्ति, उनके भिन्न-भिन्न अर्थ, उनके प्रयोग के उदाहरण इत्यादि के सिवा और भी बहुत सी बातों का विचार इसमे किया गया है। संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में इस कोष से बड़ी सहायता मिल सकती है। यह अब अप्राप्य सा है। यदि कहीं होगा तो इसका मूल्य हज़ार बारह सौ रुपये से कम न होगा। इसकी एक कापी हमने कायमगंज में पंडित परमानंद चतुर्वेदी के पुस्तकालय में देखी थी। उन्होंने उसे बड़ी खोज के अनंतर रूस से प्राप्त किया था।

(2) सर मोनियर विलियम, एम० ए०, का बनाया संस्कृत-अँगरेज़ी कोष (Sanskrita-English Dictionary, Etymologically and Philologically Arranged), मूल्य अंदाज़न 75 रुपये।

(3) एच्० एच्० विल्सन का संस्कृत-अँगरेज़ी कोष—मूल्य 40 रुपये।

(4) पौराणिक कोष। इसकी रचना जे० डौमन ने की है। इसमें भारत के पौराणिक आख्यान, साहित्य, धर्म्म, भूगोल और इतिहास आदि का विवरण है। ग्रंथ अँगरेज़ी भाषा में है। मूल्य है 10 रुपये।

(5) हेमचंद्रसूरि-कृत, महेन्द्रसूरि-रचित टीका-सहित, अनेकार्थ-संग्रह। यह वायना में छपा है। जकरिया नामक विद्वान् ने इसका संपादन किया है। मूल्य है 24 रुपये।

(6) मंखकोष। इसका भी संपादन ज़करिया (Zachariae) ने किया है। वायना में, 1898 में, छपा था। मूल्य 18 रुपये।

(7) वैजयंती-कोष—ओपर्ट द्वारा संपादित। मूल्य 12॥ रुपये।

वैद्यक

(8) सुश्रुत-संहिता। अनुवाद। एफ़्० हेसलर का किया हुआ। चार भागों में। 1844 ईसवी में जर्मनी में छपा। दुष्प्राप्य है। मूल्य 50 रुपये।

(9) 'वात्स्यायन-कामसूत्र'। जयमंगल की टीका-सहित। जर्मन भाषा में अनुवादित। अनुवादक, आर० शिमिट (R.Schmidt)। मूल्य 30 रुपये।

ज्योतिष

(10) 'सूर्य्य-सिद्धांत'। समग्र। अँगरेज़ी भाषा में अनुवादित। टिप्पणियों-समेत। सचित्र और सोदाहरण। बर्जेस-कृत। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य 45 रुपये।

(11) 'आर्य्यभटीय'। भट्टदीपिका नामक टीका-सहित। डॉक्टर एच्० कर्न (Kern) द्वारा, 1874 में, संपादित। मूल्य 15 रुपये।

(12) 'वसंतराज-शकुन'। टिप्पणियों-सहित। संपादक, हुल्श (Hultzsch)। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 7 रुपये।

काव्य

(13) 'मेघदूत', वल्लभदेव-कृत व्याख्या-सहित। संस्कृत-अँगरेज़ी शब्दकोष-युक्त। अनुवाद, ई० हुल्श (E. Hultzsch) विलायत में छपा। मूल्य 10 रुपये।

(14) 'मेघदूत' का छंदोबद्ध अनुवाद। जर्मन भाषा में। अनुवादक, मारकुसेन। मूल्य 4 रुपये।

(15) 'किरातार्जुनीय' का अँगरेज़ी अनुवाद। अनुवादक, सी० कैपेलर (Cappeller)। अमेरिका में छपा। मूल्य 10 रुपये।

(16) 'शिशुपाल-वध' (माघ) का अनुवाद। सी० कैपेलर का किया हुआ। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 10 रुपये।

(17) गीतगोविंद का अनुवाद। कोर्टीलियर (Courtillier) का किया हुआ। लीवाई (Levi) की भूमिका-सहित। मूल्य 6 रुपये।

(18) नलोदय-काव्य। प्रज्ञाकर मिश्र की लिखी टीका-युक्त। टिप्पणियों और अनुवाद-सहित। एफ्० बेनारी (Benary) द्वारा अनुवादित और संपादित। 1830 ईसवी में छपा। दुष्प्राप्य। मूल्य 20 रुपये।

(19) मयूर कवि के काव्य और बाण का चंडीशतक अँगरेज़ी अनुवाद। नोटिस, भूमिका आदि सहित। क्वैकनबास (Quackenbos) द्वारा संपादित। मूल्य 10 रुपये।

(20) रुद्रट-कृत शृंगारतिलक और रुय्यक-कृत सहृदय-लीला। नोट्स और भूमिका-सहित। आर० पिशल द्वारा संपादित। मूल्य 12 रुपये।

(21) 'कथाकौतुक', श्रीवर्गविरचित। मूल और अनुवाद। शिमिट-संपादित। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 15 रुपये।

(22) 'कथासरित्सागर', सोमदेव-भट्ट-विरचित। दो जिल्दों में। एच्० ब्राकहासे द्वारा संपादित। जर्मनी में छपा। मूल्य 20 रुपये।

(23) 'रावणावहो महाकाव्य', सेतुबंध विरचित। दो भागों में। मूल प्राकृत और अनुवाद-सहित। गोल्डस्मिट-द्वारा संपादित और अनुवादित। मूल्य 60 रुपये।

इनके सिवा और भी अनेक काव्य, नाटक, चंपू, भाण, प्रहसन आदि इंगलैंड, अमेरिका, जर्मनी और फ्रांस में संपादित और प्रकाशित हुए हैं।

वेद

(24) ऋग्वेद-संहिता, सायनभाष्य-सहित। भट्ट मोक्षमूलर द्वारा संपादित। चार जिल्दों में। विलायत में छपी। मूल्य 240 रुपये।

(25) ऋग्वेद-संहिता, अध्यापक ए० लडविग के अनुवाद और विस्तृत सूची-सहित। छः जिल्दों में। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 150 रुपये।

(26) ऋग्वेद, एच्० ग्रासमन का अनुवाद। वैदिक छंदों के विवेचन तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के सहित। दो जिल्दों में। जर्मनी में छपा हुआ। मूल्य 50 रुपये।

(27) ऋग्वेद, ओल्डनबर्ग-द्वारा संपादित। जर्मनी। 2 जिल्दों में। मूल्य 50 रुपये।

(28) ऋग्वेदीय कोष, ग्रासमन-कृत। दुष्प्राप्य। जर्मनी का संस्करण। मूल्य 60 रुपये।

(29) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, अँगरेजी-अनुवाद-सहित। संपादक, भट्ट मोक्षमूलर। मूल्य 70 रुपये।

इस वेद के और कितने ही संस्करणों का उल्लेख हम छोड़े देते हैं।

(30) कृष्ण-यजुर्वेद, तैत्तिरेय-संहिता। टिप्पणी-सहित। वेबर साहब-द्वारा संपादित। दो जिल्दों में। मूल्य 25 रुपये।

(31) वही, अर्थात् नंबर (30) अँगरेज़ी-अनुवाद और भाष्य-सहित। दो जिल्दों में। ए० बी० कीथ साहब की कृति। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य 25 रुपये।

(32) कृष्ण-यजुर्वेद (काठक-शाखा) संपूर्ण। चार भागों में। जर्मनी में छपा हुआ। मूल्य 60 रुपये।

(33) कृष्ण-यजुर्वेद (मैत्रायणी संहिता) सूत्र-ब्राह्मण-समेत। टिप्पण, सूची, भूमिका-सहित। संपादक, एल्० बी० श्रोडर (Schroeder) चार भागों में। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 100 रुपये।

(34) तैत्तिरेय प्रातिशाख्य। मूल, भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। अनुवादक, डब्लू० डी० ह्विटने। अमेरिका में प्रकाशित। मूल्य 30 रुपये।

(35) शुक्ल-यजुर्वेद। अँगरेज़ी अनुवाद। ग्रिफिथ साहब का। मूल्य 4 रुपये।

(36) सामवेद। मूल, सूची, टिप्पणी और अनुवाद-सहित। संपादक टी० बेनफी। जर्मनी का छपा। मूल्य 75 रुपये।

(37) वही, अर्थात् नंबर (36) केवल मूल और अनुवाद। बेनफी-कृत। मूल्य 50 रुपये।

(38) सामवेद, मूल मात्र। स्टेवेंसन-द्वारा संपादित। मूल्य 10 रुपये।

(39) अथर्ववेद-संहिता। पिप्पलाद-शाखा। महाराज काश्मीर के संग्रह में रक्षित, भूर्जपत्र पर लिखित प्रति से लिये गये फोटो चित्रों का प्रतिरूप। संपादक, ब्लूमफ़ील्ड और गार्वे। तीन भागों में प्रायः अप्राप्य। मूल्य 30 पौंड, अर्थात् 450 रुपये।

(40) अथर्व-वेद। अँगरेज़ी-अनुवाद। समालोचना और नोट्स-सहित। दो भागों में। अध्यापक ह्विटने की कृति। इसमें अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री भी है। मूल्य 42 रुपये।

इस वेद के और भी अनेक संस्करण पाश्चात्य पंडितों ने प्रकाशित किये हैं। इसी तरह सामवेद के भी।

अन्य वैदिक ग्रंथ

(41) ऐतरेय ब्राह्मण, सायन-भाष्य-सहित। संपादक, टी० आफ़रेट (Aufrecht)। जर्मनी का छपा। मूल्य 25 रुपये।

(42) आश्वलायन-गृह्यसूत्र। संपादक, स्टेंजलर। मूल्य 10 रुपये।

(43) बृहद्देवता। अँगरेज़ी-अनुवाद और नोट्स सहित। अनुवादक, ए० ए० मेकडानल। दो भागों में। मूल्य 25 रुपये।

(44) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र। वाइना में प्रकाशित। मूल्य 25 रुपये।

(45) बौधायन-पितृमेधसूत्र। भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित। सी० एच्० गार्वे-कृत। मूल्य 12 रुपये।

(46) मानवकल्पसूत्र। कुमारिल स्वामी-कृत। व्याख्या-सहित। गोल्डस्टुकर की विस्तृत भूमिका से युक्त। मूल्य 125 रुपये।

(47) आपस्तंबीय गृह्यसूत्र। वायना में प्रकाशित। मूल्य 15 रुपये।

(48) पारस्कर गृह्यसूत्र। नोट्स और अँगरेज़ी अनुवाद-सहित। जर्मनी में प्रकाशित। मूल्य 10 रुपये।

(49) शतपथ-ब्राह्मण। अँगरेज़ी-अनुवाद। जे० एग्लिंग-कृत। पाँच जिल्दों में। मूल्य 75 रुपये।

(50) जैमिनीय गृह्यसूत्र । व्याख्या-सहित । मूल्य 15 रुपये ।

(51) जैमिनीय श्रौतसूत्र । मूल मात्र । मूल्य 15 रुपये ।

(52) सामविधान-ब्राह्मण । सायन-भाष्य-सहित । बर्नेल-द्वारा संपादित । मूल्य 7॥ रुपये ।

(53) षड्विंश-ब्राह्मण । सायन-भाष्य-सहित । योरप में छपा । मूल्य 15 रुपये ।

(54) गोभिल-गृह्यसूत्र । मूल, भाष्य और अँगरेज़ी-अनुवाद-सहित । मूल्य 10 रुपये ।

(55) कौशिक-सूत्र । सभाष्य । अमेरिका में प्रकाशित । मूल्य 40 रुपये ।

(56) गोपथ-ब्राह्मण । अनेक विषय-विभूषित । मूल्य 25 रुपये ।

वैदिक साहित्य से संबंध रखने वाले और भी सैकड़ों ग्रंथों का प्रकाशन पश्चिमी देशों में हो चुका है । उनमें से कुछ तो मूल मात्र हैं, कुछ भाष्य-विभूषित हैं, और कुछ अँगरेज़ी-अनुवाद-युक्त भी हैं । इसके सिवा वैदिक साहित्य-विषयक अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना भी इन पंडितों ने की है । उनमें गुण-दोष-विवेचन के साथ ही साथ अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश भी उन्होंने किया है । इस विषय में जितनी ग्रंथ-रचना अन्य देशों में हुई है, उसकी चौथाई भी शायद इस देश में न हुई होगी ।

वेदांगों पर भी इन विद्या-रसिकों ने अपनी लेखनी चलाई है । छंद.शास्त्र, व्याकरण, उपनिषद्, दर्शन, धर्म्मशास्त्र आदि कोई भी विषय इनसे नहीं छूटने पाया । पुराणों का प्रकाशन भी इन्होंने किया है और उन पर आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं ।

जैनों और बौद्धों के साहित्यों पर भी इनकी दृष्टि गई है । उनकी कथा-कहानियों तक के संस्करण इन्होंने निकाले हैं । जैनों के आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, कल्पसूत्र, औपापतिक सूत्र, आवश्यक सूत्र आदि के अनुवाद इन्होंने कर डाले हैं । हेमविजय के कथारत्नाकर नामक ग्रंथ तक का अनुवाद हर्टल साहब ने, जर्मन भाषा में, कर दिया है । उसका मूल्य 25 रुपये है । बौद्धों के ललित-विस्तर का प्रकाशन, लेफमैन की बदौलत, सुलभ हो गया है । उसके दोनों भागों का मूल्य 67 रुपये है । महावस्तु-अवदान का मूल्य 80 रुपये है । उसका संपादन सेनार्ट ने किया है । बुद्धचरित, अवदानकल्पलता, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, सुखावजी-व्यूह आदि ग्रंथ भी अब सुप्राप्य हैं ।

जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, रूस, अमेरिका के बड़े-बड़े पुस्तकागारों में जो अनंत हस्त-लिखित ग्रंथ संगृहीत हैं उन सबके सूचीपत्र भी इन लोगों ने प्रकाशित कर दिये हैं । बर्लिन के पुस्तकालय के सूचीपत्र का मूल्य 150 रुपये है । इन सूचीपत्रों को देखकर आश्चर्य्य और खेद से हृदय अभिभूत हो जाता है । भारत का संस्कृत-ग्रंथ साहित्य कितना विस्तृत था, इसका कुछ अंदाज़ा इन सूचीपत्रों से लगाया जा सकता है । पर साथ ही दुःख भी होता कि हाय, हम अपने इस अनमोल ख़ज़ाने की रक्षा न कर सके और वह देशांतर को चला गया । पर एक हिसाब से यह जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ । अन्यथा, हम अकर्म्मण्य शायद इसे भी खो देते—अन्य ग्रंथों के सदृश यह भी कीटक-खाद्य हो जाता । बर्लिन, पेरिस, लंदन और पेट्रोग्राड में भला यह सुरक्षित तो है ।

[जून, 1923 में प्रकाशित । 'साहित्य-संदर्भ' में संकलित ।]

जर्मनी में संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन

अँगरेज़ लोग संस्कृत भाषा के अध्ययन और अध्यापन की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। भारतवर्ष में उनके शासन का आरंभ हुए कोई डेढ़ सौ वर्ष हो चुके। परंतु इस देश के ज्ञान का जो अनंत भांडार संस्कृत के ग्रंथों से भरा पड़ा है उसे आयत्त करने के लिए उन्होंने बहुत ही कम श्रम और यत्न किया है। उन्होंने न अपने ही देश में उसके अध्ययनाध्यापन के लिए यथेष्ट प्रबंध किया और न भारत में ही नियुक्त अपने देश-वासियों के लिए संस्कृत सिखाने की कोई अच्छी योजना की। फल यह हुआ कि कुछ इने-गिने अँगरेज अब तक इस भाषा का अध्ययन कर पाये हैं। सो भी उन्होंने राज-सत्ता की प्रेरणा से यह काम नहीं किया, किंतु अपनी विद्याभिरुचि की प्रेरणा से किया है। प्रतिकूल इसके अन्य देश वालों ने, उदाहरणार्थ जर्मनी, फ्रांस और आस्ट्रिया के निवासियों ने, इस विषय की ओर अँगरेजों की अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान दिया है। उनमें से अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य—विशेष करके वैदिक-साहित्य—का अध्ययन करके सैकड़ों उपादेय ग्रंथों की रचना, आलोचना, संपादना और अनुवादना कर डाली है। उनके इस काम से भारतवर्ष की कीर्ति सारे योरप, अमेरिका और चीन-जापान तक फैली है। उन्हीं की बदौलत विदेशवासियों ने भारत को अधिकतर पहचाना है, इंगलिस्तान के निवासियों की बदौलत नहीं। क्या वह दुःख और परिताप की बात नहीं कि जिनका संबंध भारतवर्ष से इतना घना है वे तो उसके प्राचीन साहित्य से इतने उदासीन रहें और जिनका संबंध उससे दूर का भी नहीं वे उसके साहित्य के अध्ययन में इतना मनोनिवेश करें?

लोगों की शिकायत में पहले हमें कुछ अत्युक्ति जान पड़ती थी; पर उस दिन अँगरेजी के 'माडर्न रिव्यू' नामक मासिक पत्र में एक लेख पढ़ने पर हमारी वह भावना दूर हो गई। यह लेख जर्मनी की राजधानी बर्लिन विश्वविद्यालय के अध्यापक जान नोबल, पी-एच्० डी०, ने, उक्त पत्र के फ़रवरी, 1923 के अंक में, प्रकाशित कराया है। इस लेख से सूचित है कि इंगलिस्तान की अपेक्षा जर्मनी में संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का बहुत अधिक प्रचार है। वहाँ एक भी प्राचीन और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जहाँ संस्कृत भाषा की शिक्षा के लिए अध्यापक न हो। आज तक उस देश में सैकड़ों जर्मनी-निवासियों ने संस्कृत भाषा का अध्ययन करके अनेकानेक ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन कर डाला है। उनकी इस विद्याभिरुचि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। इस विषय में जर्मनी और इंगलैंड की पारस्परिक तुलना करने पर आकाश-पाताल का अंतर देख पड़ता है।

बर्लिन के विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा सिखाने के लिए इस समय तीन अध्यापक हैं—लूडर्स, ग्लासनैप और नोबल। लूडर्स जो काम करते हैं वही काम उनके

पहले वेबर और पिशल करते थे। वेबर ने 53 वर्ष तक (1848 से 1901 ईसवी तक) अध्यापन कार्य्य किया। उनके पहले इस पद पर अध्यापक वॉप थे। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रथम आचार्य्य वॉप ही थे। वेबर ने संस्कृत-साहित्य की प्राय प्रत्येक भाषा का ज्ञान-संपादन किया था। इसी से वे संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखने में समर्थ हुए। उनका यह इतिहास अब तक बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। प्रशिया के राजकीय पुस्तकालय में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की जितनी हस्तलिखित पुस्तकें हैं—और कई हजार होंगी—उनका एक विस्तृत सूचीपत्र वेबर ने तैयार किया। उसमें उन्होने प्रत्येक पुस्तक का बहुत कुछ परिचय भी दिया। उनका यह सूचीपत्र बड़ी-बड़ी चार जिल्दों में छपा है और संस्कृत के प्रेमियों के लिए अनमोल है।

पिशल ने केवल 7 वर्ष अध्यापना की। 1908 ईसवी में उनकी मृत्यु, मदरास में, हुई। उन्होंने कालिदास के 'शाकुन्तल'-नाटक पर एक आलोचनात्मक उत्तम पुस्तक लिखी। 1903 ईसवी में उन्होंने अपना प्राकृत-व्याकरण प्रकाशित किया, जिसके अवलोकन से यह स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने प्राकृत भाषाओं का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। वैदिक ग्रंथों का भी अध्ययन उन्होने किया था और वैदिक साहित्य की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर जो ग्रथ (Vedischi Studien) उन्होंने लिखा है खूब गवेषणा-पूर्ण है और तीन जिल्दों मे प्रकाशित हुआ है।

पिशल के बाद उनकी जगह लूडर्स को मिली। इसके पहले ही तुर्किस्तान के खॅडहर खोदने पर सैकड़ो प्राचीन पुस्तकें, वस्तुयें, सिक्के, लेख आदि मिल चुके थे। उनकी प्राप्ति ने भारत ही के नही, जो और देश तुर्किस्तान के आसपास थे उन सबके भी, इतिहास, साहित्य और धर्म्म आदि से संबंध रखनेवाली नई-नई बातो का पता बता दिया। अतएव गवेषणा का द्वार पहले से बहुत अधिक विस्तृत हो गया। उससे लाभ उठाकर अध्यापक लूडर्स ने अनेक महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। वे सब बर्लिन की एक सस्था (प्रशियन अकाडमी आफ़ सायंस) के जर्नल में निकले। इसके सिवा लूडर्स ने पुरातत्त्व-विषयक और भी कितने ही काम किये है। प्राचीन उत्कीर्ण लेखों के संपादन और प्रकाशन से भी उन्होंने विशेष कीर्ति लाभ किया है।

डॉक्टर ग्लासनैप और नोबल के कार्य्य का अभी आरंभ-काल ही है। तिस पर भी इन दोनो ने संस्कृत-काव्य और अलंकार-शास्त्र पर कितने ही लेख, बड़े मार्के के, लिख कर प्रकाशित किये हैं।

अब गार्टिजन के विश्वविद्यालय का हाल सुनिए। वहाँ संस्कृत भाषा की अध्यापना का काम ई० सिग कर रहे हैं। डॉक्टर डब्लू० सीजलिंग नाम के एक जर्मन पंडित बर्लिन में रहते हैं। उन्हें भी पूर्वी देशों की भाषाओं से बड़ा प्रेम है। वे और सिग दोनों मिल कर तुर्किस्तान में प्राप्त हुए कुछ लेखा और ग्रंथों आदि का संपादन-कार्य्य कर रहे हैं। ये लेख एक अज्ञात भाषा में हैं। अध्यापक लूडर्स की राय है कि यह अज्ञात भाषा साकिश नाम की भाषा है। गार्टिजन में सिग के पहले एच् ओल्डनबर्ग संस्कृताध्यापक थे। उनकी विद्वत्ता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वेद और पाली भाषा के वे अपूर्व पंडित थे। वैदिक ग्रंथों पर उनका लिखा हुआ ग्रंथ देख कर उनके अगाध पांडित्य का पता लगता है।

ओल्डनबर्ग ने गौतम बुध का जो चरित लिखा है वह बड़े आदर की चीज़ है। इस ग्रंथ के निकलने के पहले बुध को लोग एक कल्पित व्यक्ति समझते थे। ओल्डनबर्ग के पहले गार्टिजन में कीलहार्न साहब संस्कृत पढ़ाते थे। वे वही कीलहार्न हैं जो बहुत समय तक दक्षिणी भारत में संस्कृत के अध्यापक थे। ये नामी वैयाकरण थे। बहुत शुद्ध संस्कृत बोलते और लिखते थे। इनका बनाया हुआ संस्कृत-व्याकरण भारत के कितने ही कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तक नियत है। इनका प्रकाशित किया हुआ व्याकरण-महाभाष्य का जो संस्करण है और व्याकरण पर जो लेख लिखे हुए हैं उनसे सूचित होता है कि इस शास्त्र में इनकी गति अप्रतिहत थी। बहुत से भारतीय उत्कीर्ण लेखों का भी संपादन और अनुवादन करके कीलहार्न ने अपनी संस्कृतज्ञता और गवेषणा की गंभीरता का परिचय दिया है।

बॉन-विश्वविद्यालय के अध्यापक आफ़रेट ने हस्तलिखित संस्कृत-ग्रंथो का एक सूचीपत्र, बड़ी-बड़ी तीन जिल्दों में, प्रकाशित करके अपना नाम अमर कर दिया है। उनका संपादित ऋग्वेद भी बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। आफरेट के बाद उनकी जगह एच० जैकोबी को मिली। ये, कुछ ही समय पूर्व, भारत गये थे और वहाँ बहुत समय तक रहे थे। वहाँ उनका बड़ा आदर हुआ था। इन्होंने अपने कल्पसूत्र के संस्करण में पहले पहल यह प्रमाणित किया कि जैन धर्म्म का उद्गम बौद्ध धर्म्म से नहीं हुआ। इन्होंने यहाँ तक सिद्ध कर दिखाया कि जैन धर्म्म बौद्ध धर्म्म से भी पुराना है। इन्होंने जैनों के साहित्य का बड़ा गहरा अध्ययन किया। इस कारण प्राकृत भाषाओं से भी इनका विशेष परिचय हो गया। भाषा-शास्त्र तथा भारतीय काव्य और अलंकार-शास्त्र पर भी जैकोबी साहब ने कितने ही महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये हैं।

लेपज़िक के विश्वविद्यालय में पहले अध्यापक ब्राकहास संस्कृत पढ़ाते थे। उन्होंने 'कथासरित्सागर' का अनुवाद जर्मन भाषा में किया। उनके बाद उसकी जगह ई० विनडिश को मिली। इन्होंने बौद्ध धर्म्म पर, वेदों पर और भारतीय नाट्यकला पर अनेक लेख लिखे और कितनी ही नई-नई बातें खोज निकालीं। इन्होंने एक अभूतपूर्व ग्रंथ लिखा। वह है संस्कृत भाषा-शास्त्र। इनके इस ग्रंथ को विद्वान् इस विषय का सबसे अधिक प्रामाण्य ग्रंथ समझते हैं। अब इनकी जगह पर अध्यापक हर्टल काम करते हैं। इन्होंने पंचतंत्र का अनुवाद करके उसे अपनी विवेचनात्मक आलोचना के साथ प्रकाशित किया है।

ब्रेसलाऊ में हिलेब्रांट साहब संस्कृत के नामी विद्वान् हैं। उन्होंने वैदिक साहित्य पर कई लेख प्रकाशित किये हैं। उनमें अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य वेद के कल्पित देवताओं का विवेचन करके उनकी तुलना अन्य देशो के देवताओं से की गई है। हिलेब्रांट के पहले स्टेंज़लर साहब, ब्रेसलाऊ में, संस्कृताध्यापक थे। उन्होंने धर्म्म-शास्त्र पर बहुत कुछ लिखा है और कालिदास के 'मेघदूत', 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश' का अनुवाद किया है।

मारबर्ग में अब तक ग्यल्डनर साहब संस्कृत की शिक्षा देते थे। वेदों और ज़ेंद-अवस्ता के ये नामी पंडित हैं। इन विषयों में इनकी बात विद्वन्मंडली में, बिना किंतु-परंतु

के, मानी जाती है। गत वर्ष इनकी जगह पर बर्टल साहब नियत हुए हैं।

हाले के अध्यापक हुल्श भी संस्कृत के नामी पंडित हैं। भारत में ये बहुत समय तक रह चुके हैं। दक्षिणी भारत के उत्कीर्ण लेखों (South Indian Inscriptions) का संपादन करके इन्होंने उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया है। भारत की कई भाषाओं से ये परिचित हैं। आजकल ये अशोक के अभिलेखों का संपादन-कार्य्य बड़ी योग्यता से कर रहे है। हाले ही में आर० शिमिड साहब भी अध्यापक थे। वे अब मन्स्टर-विश्वविद्यालय को बदल गये हैं। उन्होंने 'कामसूत्र' नामक ग्रंथ का अनुवाद, जर्मन भाषा में, किया है।

कील के विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक श्रेडर साहब, अभी कुछ समय पहले तक, भारत ही में थे। उनका प्यारा विषय है भारतीय दर्शनशास्त्र। डॉक्टर स्ट्राम भी कील के अध्यापक है। वे भी दर्शनशास्त्रों के ही अध्ययन में विशेष मनोयोग देते हैं। इन लोगों से पहले, कील में, एफ़० डूसन संस्कृत पढ़ाते थे। इनका सर्वाधिक प्रेम वेदांत और उपनिषदों पर था। इन्होंने इनका खूब अध्ययन किया था। इन विषयों को ये बड़ी योग्यता से पढ़ाते थे।

ग्रीफ्सवाल्ड में लडविक हेलर संस्कृताध्यापक हैं। ये कीलहार्न के चेले हैं। व्याकरण के अच्छे ज्ञाता है। विदेशियों को संस्कृत पढ़ाने के बड़े सरल ढंग उन्होंने निकाले हैं। इनसे संस्कृत पढ़ने मे विदेशी छात्र बहुत कम घबराते है।

उर्जबर्ग विश्वविद्यालय मे अध्यापक जॉली काम करते हैं। भारतीय राजनीति, धर्मनीति और आयुर्वेद में इनकी गति बहुत दूर तक है।

म्यूनिक में पहले अध्यापक कून संस्कृत पढ़ाते थे; अब एल्० गेगर पढ़ाते है। इन दोनों ही ने पाली भाषा के विषय में, ज्ञातव्य बातों से पूर्ण, कितने ही लेख प्रकाशित किये हैं। सिंहाली और ईरानी भाषाओं का जितना ज्ञान गेगर को है उतना जर्मनी के और बहुत कम विद्वानो को होगा। यह इनमें बहुत बड़ी विशेषता है।

तूबिंजन के अध्यापक गार्बे सांख्य और योग के विशेषज्ञ हैं।

हीडलबर्ग में सबसे पहले लेफमान साहब संस्कृत पढ़ाते थे। अब अध्यापक बार्थोलोमी पढ़ाते हैं। ये पिछले महाशय ईरानी भाषाओ के उत्कृष्ट ज्ञाता हैं। इन्होने इबस्ता की भाषा का एक कोश बनाया है। इस कोश से प्राचीन संस्कृत भाषा, अर्थात् वैदिक संस्कृत, से संबंध रखनेवाली भी बहुत सी बातें जानी जा सकती है। इस विश्व-विद्यालय में दो अध्यापक और भी हैं—वालेज़र और ज़िमर। बौद्ध-साहित्य के परिशीलन में ये खूब दत्तचित्त है।

हैम्बर्ग का विश्वविद्यालय नया है। पर वहाँ भी संस्कृत भाषा पढ़ाई जाती है। यह काम अध्यापक शूब्रिंग के सिपुर्द है। जैन धर्म्म पर उन्होंने बहुत लेख लिखे हैं।

फ्रैंकफर्ट का विश्वविद्यालय भी अभी कल का है। वहाँ के अध्यापक प्रिज़ प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के प्रेमी हैं।

कोनिग्ज़बर्ग के अध्यापक फ्रांके पाली भाषा के ज्ञाता हैं। इस विषय में वे अपना सानी, जर्मनी में, नहीं रखते। उन्होंने इस भाषा पर और इसमें लिखे गये ग्रंथों पर बहुत

कुछ लिखा है। बहुत से अनुवाद भी उन्होंने किये हैं। इस विश्वविद्यालय में पहले नीजलिम साहब संस्कृत पढ़ाते थे। अब वे यरलांजन को बदल गये हैं। अथर्ववेद-संबंधी ग्रंथो पर उन्होंने अनेक लेख लिखे है और बहुत कुछ टीका-टिप्पणी की है।

जेना के विश्वविद्यालय के अध्यापक कैपलर ने संस्कृत और जर्मन भाषा का एक कोश बनाया है। उन्होंने 'शिशुपालवध' और 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद, जर्मन भाषा में, किया है और जर्मन भाषा की कुछ कविताओं का अनुवाद संस्कृत में।

रोस्टाक और गीसन के विश्वविद्यालयों में संस्कृत-शिक्षा का अभी तक प्रबंध नहीं हो पाया।

इस इतने ही विवरण से यह बात अच्छी तरह जानी जा सकती है कि जर्मनी के निवासी कितने विद्याव्यसनी हैं: संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य ही के नहीं प्राकृत भाषाओं तक के वे कितने प्रेमी हैं; और इन विषयों का अध्ययनाध्यापन उन्होंने अपने प्राय: सभी विश्वविद्यालयों में कहां तक सुलभ कर दिया है। जिन अध्यापकों का उल्लेख इस लेख में किया गया है उनके सिवा और भी अनेक जर्मन-पंडित संस्कृत भाषा के ज्ञाता है। उन्होंने अनेक ग्रंथों, लेखों और अनुवादों की रचना की है। इन समस्त जर्मन विद्वानों और लेखों आदि का यदि संग्रह किया जाय तो एक बहुत बड़ा पुस्तकालय हो जाय।

[मई, 1923 में 'श्रीयुत विनायक विश्वनाथ वैद्य' छद्म नाम से प्रकाशित। 'साहित्य-संदर्भ' में संकलित।]

भाग : तीन

कोरिया और कोरिया-नरेश

कोरिया एक प्रायद्वीप है। वह जापान के बहुत निकट है। कोरिया और जापान के बीच समुद्र का एक बहुत ही पतला भाग है। उसे कोरिया का मुहाना कहते है। जैसे फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच 'इंगलिश चैनल' है, कोरिया और जापान के बीच वैसे ही यह मुहाना है। इसी सन्निकटता के कारण कोरिया मे रूस का सचार जापान की आँखो का काटा हो रहा है; वह उसे बहुत खटकता है। रूस का माहात्म्य यदि कोरिया मे बढा तो जापान की शक्ति कुछ अवश्य ही क्षीण हो जायगी। दोनो में छेड़छाड़ बढेगी; अतएव जापान की हानि सर्वथा सम्भव है। फिर एक ऐसी प्रबल शक्ति का पास आ जाना, जिसकी राज्य-बुभुक्षा कभी शान्त नही होती, कदापि मंगल-जनक नही हो सकता। कोरिया का दक्षिणी भाग जापान के निकट है और उत्तरी मंचूरिया से मिला हुआ है। मंचूरिया चीन का एक सूबा है, परन्तु उसे रूस ने दबा लिया है। अनेक आशाये और आश्वासन देकर भी और सन्धिपत्रों मे छोड़ने की शपथ खाकर भी रूस उसे ग्रास ही किये हुए है। मचूरिया की सीमा कोरिया की सीमा से मिली होने के कारण, रूस भी कोरिया के बहुत निकट है। मचूरिया का रूस के अधीन रहना जापान के लिए किसी प्रकार मंगल-जनक नही। परस्पर के इसी नैकट्य ने, और परस्पर की इसी प्रभुत्व-वृद्धि की कामना ने, रूस और जापान को उत्तेजित कर दिया है। युद्ध की मेघ-माला पूर्वी आकाश मे, पीत और प्रशान्त सागर के ऊपर, बडा ही विकराल रूप धारण करके उमड़ आई है। इस लेख के प्रकाशित होने के पहले ही, रक्तपात रूपी प्रचण्ड धारासार के साथ उसकी भीम गर्जना शायद सुनाई पडने लगे।

कोरिया एक बहुत छोटा प्रायद्वीप है। उसका क्षेत्रफल कोई 80,000 वर्ग मील है। वह पहाड़ी देश है। उसमें कितने ही छोटे बड़े पहाड़ है, नदियाँ भी बहुत सी हैं। वहाँ की पृथ्वी के गर्भ में अनन्त सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और कोयला भरा पड़ा है। एक बंगाली यंजिनियर वहाँ गये थे। उन्होंने अमेरिका में जाकर एक व्याख्यान दिया है। उसमें उन्होने कहा कि इस भूमण्डल में और कोई देश ऐसा नही जहाँ खनिज द्रव्यो का इतना आधिक्य हो। इसी सम्पत्ति को लूटने की गुप्त इच्छा से रूस और जापान दोनो के मुँह से लार टपक रही है; दोनों लालायित हो रहे है।

कोरिया में सब आठ सूबे हैं। उसकी राजधानी सियूल नामक नगर है। च्यमलफू बन्दर से सियूल तक रेल जारी है। च्यमलफू से सियूल कुल 24 मील है। यह रेल जापानियों के प्रबन्ध से बनी है; वही उसके कर्त्ताधर्त्ता हैं। कोरिया में कोरिया ही की

भाषा बोली जाती है; परन्तु उस पर वहाँ वालों की प्रीति कम है। पढ़े लिखे आदमी बहुधा चीनी भाषा बोलते हैं। राजकार्य्य भी उसी भाषा में होता है। अच्छे-अच्छे ग्रन्थ भी उसी भाषा में बनते हैं। राज्य-प्रणाणी सब चीन से नक़ल की गई है। चीन की तरह कोरिया में भी 'मन्दारिन' हैं। परीक्षायें भी वैसी ही होती हैं; और, कोई भी कोरिया-वासी उनमें शामिल हो सकता है। पास हो जाने पर, और बातों का कुछ भी ख़याल न करके, उम्मेदवार को, उसकी योग्यता के अनुसार जगह मिलती है। कोरियावाले पहले बौद्ध थे; अब भी कहीं-कहीं इस धर्म्म का प्रचार वहाँ है, परन्तु चीन के 'कनक्यूशश' नामक धर्म्म की वहाँ विशेष प्रबलता है। कोरिया-नरेश इसी धर्म्म के अनुयायी हैं। कोरिया में स्त्रियों का बहुत कम आदर होता है; परन्तु स्वतंत्रता उनको खूब है। बड़े बड़े घरों की स्त्रियों को छोड़कर और कहीं वे परदे में नही रक्खी जातीं।

पुराने जमाने में जापान ने कोरिया को कई बार हराया है। 1790 ईसवी तक कोरिया-नरेश जापान की रक्षा में समझे जाते रहे हैं। परन्तु उसके बाद कोरिया ने चीन का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। कोरिया को यद्यपि सब तरह की स्वतत्रता थी, परन्तु चीन-राज को उसे अपना राजेश्वर समझना पड़ता था, और वार्षिक कर भी देना पड़ता था। 1875 ईसवी में जापान ने दबाव डालकर कोरिया के साथ सन्धि की। उसके अनुसार जापान को कई अधिकार मिले। उसका वहाँ प्रवेश हो गया, और धीरे-धीरे महत्त्व बढ़ा। जापान का एक अधिकारी 'रेजिडेंट' की तरह वहाँ रहने लगा। जापान के जहाज़ कोरिया के बन्दरों में आने जाने लगे, जापानी व्यापारी भी वहाँ अधिकता से व्यापार करने लगे।

कोरियावाले अपने नरेश को देवता समझते हैं, देवता ही के सदृश वे उसको पूज्य मानते हैं। परन्तु राजा का वह नाम, जो उसे चीन के राजराजेश्वर से, सिंहासन पर बैठने के वक़्त, मिलता है, मुँह से निकालना पाप है। राजा के शरीर को लोहे के शस्त्र से स्पर्श करना सबसे भारी अपराध है, उसका प्रतिशोध केवल प्राण-दण्ड है। लोहे का स्पर्श होना बहुत ही बुरा समझा जाता है। 1800 ईसवी में टेंग-सांग-ताप-वोग नाम का राजा एक फोड़े से पीड़ित होकर मर गया, परन्तु उसको चीरने के लिए लोहे के शस्त्र का स्पर्श उसने स्वीकार नहीं किया। सियूल में घुड़सवार को यदि राजप्रासाद के पास से निकलना पड़े तो उसे घोड़े से उतरना पड़ता है। यदि कोई राजसभा में पैर रक्खे, और राजदर्शन करना चाहे, तो सिंहासन के सामने, हाथ-पैर लम्बे करके, पृथ्वी पर गिरकर, उसे दण्ड-प्रणाम करना पड़ता है।

कोरिया के वर्तमान नरेश का पवित्र नाम 'ह्वनी ई' है। 1864 में आप राजा हुए, और 1897 में, आपने राजराजेश्वर की पदवी धारण की। आपका वंश कोरिया में 1392 ईसवी से चला आता है। आप अपने वंश के तेरहवें नृपराज हैं। आपके अधीन एक मन्त्रिमण्डल है, वही कायदे-कानून बनाता है। वही सब विषयों का विधि-निषेध करता है। उसके मन्तव्यों का विचार राजेश्वर करते है और विचार करके उनको मंजूर करते हैं। 1894 तक ह्वनी ई का राजत्व, चीन की रक्षा में, अखण्डित बना रहा। परन्तु इस वर्ष जापान ने कोरिया के ऊपर चीन का स्वत्व स्वीकार न किया। चीन और

जापान के युद्ध का यह भी एक कारण हुआ। इस युद्ध में जापान विजयी हुआ। चीन के साथ उसकी सन्धि हुई। सन्धि में चीन ने कोरिया पर अपने प्रभुत्व का दावा छोड़ा। तब से कोरिया ने जापान की रक्षा में रहना क़बूल किया। जापान की सहायता से, कोरिया में, इन सात आठ वर्षों में बहुत कुछ सुधार हुआ है।

चीन से सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराके जापान जब निश्चिन्त हुआ, तब उसने कोरिया-नरेश से कहा कि सर्वसाधारण के सामने और पितरों के पवित्र मन्दिर में, वे चीन की प्रभुता परित्याग करने की शपथ करें। कोरिया-नरेश बड़े संकट में पड़े। परन्तु कर क्या सकते थे ? जापान का बल, जापान का रण-कौशल वे देख चुके थे। इसलिए उसका आदेश उन्हें मानना ही पड़ा। 1895 के जनवरी की 8 तारीख़ इस शपथ के लिए नियत हुई। नरराज के महलों से लेकर पितृ-मन्दिर तक कोरिया के अश्वारोही सड़क पर दोनों ओर खड़े हुए। किस तरह ? अपना और घोड़े का मुँह दीवारों की तरफ़, अपनी पीठ और घोड़े की दुम नरेश की तरफ सड़क की ओर ! कुछ देर में राजप्रासाद से अनेक पताकाधारी निकले और मन्दिर को चले गये। उनके पीछे कोरिया-नरेश का सेवक-समूह, पीली पोशाक और पीली टोपी पहने बाहर आया। अनन्तर नरेश का रेशमी लाल रंगवाला छाता देख पड़ा। उसके बाद चार आदमियों के कन्धे पर रक्खी हुई एक कुरसी में कोरिया-नरेश पधारे। आप, सदा अपनी प्रसिद्ध राजसी कुरसी पर, 16 आदमियों के कन्धों के ऊपर, निकला करते हैं; परन्तु इस अवसर पर आप उस ठाठ से नहीं निकले। आपका चेहरा जर्द था; मुँह से नाउम्मेदी टपक रही थी। उनके पीछे युवराज, फिर मन्दारिन, फिर सेना विभाग के अधिकारी, और अन्त में दूसरे लोग अपने अपने घोडों और खच्चरो पर बाहर निकले। इस प्रकार नरेश ने देव-मन्दिर में जाकर चीन का सम्बन्ध त्याग करने की, जापान की प्रभुता स्वीकार करने की, और जापान की आज्ञा को सिर पर रखकर तदनुकूल कोरिया में सब प्रकार के संशोधन करने की क़सम खाई। इस प्रकार चीन-जापान के युद्ध रूपी नाटक का यह आख़िरी खेल ख़तम हुआ।

श्रीमती बिशप नाम की एक अँगरेज़ विदुषी ने 'कोरिया और उसके पड़ोसी' (Korea and it Neighbours) नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने कोरिया का अच्छा हाल लिखा है। वे कहती है कि कोरिया की महारानी की उम्र इस समय कोई 42 वर्ष की होगी। वे बहुत दुबली पतली हैं, परन्तु देखने में बुरी नही मालूम होतीं। उनके केश सिवार के समान हैं; कुछ काले हैं, कुछ भूरे। उनका रंग पीलापन लिये हुए है, मुँह पर वे मुक्ता-चूर्ण मलती है, जिससे उनके मुख पर एक प्रकार का लावण्य आ जाता है। उनको देखने से मालूम होता है कि वे समझदार हैं। जब वे बात-चीत करती हैं, और वह बात-चीत उनको अच्छी लगती है, तब उनके चहरे पर ऐसा रंग आ जाता है, जिसे सुन्दरता में दाख़िल कर सकते हैं।

कोरिया-नरेश को जापान ने सभ्यता सिखलाना शुरू कर दिया है। दो वर्ष हुए, आपने कोरिया में खनिज विद्या का एक कालेज बनवाने का विचार किया था। इसके प्रबन्धनकर्त्ता कोरियावाले ही होने वाले थे, परन्तु अध्यापक और यंजिनियर फ्रांस से बुलाने का इरादा था। नहीं मालूम यह कालेज बन गया या नहीं।

महारानी विक्टोरिया को एक बार कोरिया-राज ने एक सम्मान-सूचक खिताब, पदक समेत, भेजा। महारानी ने भी कोरिया के राजेश्वर को सम्मान देना चाहा। इसलिए उन्होंने जी० सी० आई० ई० नामक इस देश से सम्बन्ध रखनेवाली और विशेष आदर-सूचक पदवी उनको प्रदान की। इस पदवी-दान के समय 'स्टैन्डर्ड' नामक समाचार-पत्र का प्रतिनिधि कोरिया में उपस्थित था। अँगरेज़ी 'कानसल' पदवी सम्बन्धी पदक लेकर राज-प्रासाद में पहुँचा। उसने पहले राजेश्वर को बाक़ायदा प्रणाम किया। फिर उसने अपने साथियों में से एक एक की पहचान कराई। राजेश्वर ने प्रत्येक की ओर सिर झुकाकर उनके नामों को दुहराया। तदन्तर वार्तालाप आरम्भ हुआ। जहाँ पर यह उत्सव था, वहीं पास के एक कमरे में, कोरिया की महारानी और उनकी सहेलियाँ भी थीं। जो परदा पड़ा था, वह इतना पतला था कि उसके भीतर से उनके वस्त्राभूषण बखूबी देख पड़ते थे। इस उत्सव के लिए जो तैयारियाँ की गई थीं, उन्हें देखकर कोरिया-नरेश ने प्रसन्नता प्रकट की। जब आपको पदवी-दान हुआ और आप तत्सम्बन्धी पदक आदि से सज्जित और सुशोभित किये गये, तब आपकी प्रसन्नता और तुष्टि का वारापार न रहा।

इस समय यही कोरिया-नरेश दो नृपति-सिंहों के पेच में पड़े हुए हैं। यद्यपि उनसे, इन दोनों में से कोई भी शत्रु भाव नहीं रखता, तथापि यह रणाग्नि, जो इस समय सुलग रही है, उन्हीं के देश को ग्रास करने के लिए है। इस सिंह-युग्म की चपेट में उनका भी कुछ अनिष्ट हो जाय तो आश्चर्य्य नहीं; क्योंकि उनकी प्रजा और सेना ने, सुनते हैं, बलवा शुरू कर दिया है और विदेशियों की मार काट के लिए हथियार उठाया है।

[मार्च, 1904 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

तिब्बत

तिब्बत की ऊँचाई समुद्रतल से 14,500 फुट है। उसके उत्तर में क्यूलन और दक्षिण में हिमालय-पर्वत है। पृथ्वी पर जितने देश हैं तिब्बत की बराबर एक भी ऊँचा नहीं। उसे पर्वतमय कहना चाहिए। उसमें पहाड़ियों और पर्वत श्रेणियों की बड़ी प्रचुरता है। बर्फ़ से ढकी हुई हिमालय की चोटियाँ चारों ओर गगन-चुम्बन करती हैं। यह देश इतना बीहड़ है कि इसके रास्ते निहायत ही खराब हैं। इससे प्रवास करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

तिब्बत के लोग बौद्ध धर्म्म के अनुयायी हैं। वे दूसरे देशवालों को अपने यहाँ नहीं आने देते और न कोई उनसे सम्बन्ध रखना चाहते हैं। इसी कारण परकीय देश वालों का तिब्बत-सम्बन्धी बहुत कम ज्ञान है। तिब्बत की राजधानी लासा नगर है। लासा में दो पुरुष सर्व-प्रधान हैं। वे लामा कहलाते हैं। एक लामा राज्य-सम्बन्धी है, दूसरा धर्म्म-सम्बधी। पिछले लामा का नाम दलाय लामा है। इस लामा का दर्शन अन्य देश वालों के लिए बहुत ही दुर्लभ है। तिब्बत में जितने महन्त, पुरोहित या धर्म्माध्यक्ष हैं सब लामा कहलाते हैं।

तिब्बत जाने में अनेक कष्ट, कठिनाइयाँ और बाधायें हैं। एक तो पथरीला और जगली देश, दूसरे चोर और लुटेरों की अधिकता, तीसरे वहाँ न जाने की प्रतिबन्धकता, चौथे जाड़े का प्राचुर्य्य, तथापि आज तक बहुतेरे योरप-निवासी और दो तीन हिन्दुस्तानी लासा तक हो आये हैं और अनेक पुस्तकें तिब्बत-सम्बन्धी लिखी जा चुकी हैं। पहले योरोपियन प्रवासी ने तिब्बत में, 1325 ईसवी में, सफर किया। उसके बाद, और लोग वहाँ गये और वहाँ की अनेक बातों में विज्ञता प्राप्त की। कुछ दिन हुए लैंडर नामक एक साहब तिब्बत पधारे थे। आप पर जो जो आपत्तियाँ आईं उनका वर्णन सुनने से पत्थर भी पिघल जाय। उनकी वहाँ बड़ी ही दुर्दशा हुई; उनका शरीर तक छिन्न-भिन्न कर डाला गया। तथापि वे जीते जागते वापस आये। उन्होंने अपने प्रवास का जो वृत्तान्त लिखा है वह पढ़ने लायक है। ह्यू, नाइट गार्डन और मारखम वगैरह ने भी तिब्बत पर किताबें लिखी हैं; परन्तु लैंडर और कप्तान व्यल्बी की किताबें बहुत मनोरंजक हैं। कप्तान व्यल्बी ने 1816 ईसवी में लद्दाख से चल कर, उत्तरी तिब्बत होते हुए, पेकिन तक सफ़र किया। मई में वे लद्दाख से रवाना हुए और दिसम्बर में हाँगकाँग के रास्ते कलकत्ते वापस आये। छः महीने तिब्बत पार करने में उनको लगे। उनकी यात्रा-सम्बन्धी कठिनाइयों का वर्णन पढ़ते वक्त रोमांच हो आता है और उनके साहस, धैर्य्य तथा कष्ट-सहिष्णुता का विचार करके चित्त आश्चर्य्य-सागर में डूब जाता है। चार महीने तक असबाब अपनी पीठ पर लाद कर उन को पैदल चलना पड़ा। खाने को सिवा जंगली जीवों के मांस के और कुछ उनको नसीब नहीं हुआ। कई महीने उनको मनुष्य-जाति के दर्शन नहीं हुए।

परन्तु धन्य है उनके साहस को ! उन्होंने एक बार पामीर और तिब्बत के कुछ हिस्से में सफ़र किया था। उस समय ग्यारहवीं बंगाल लैंसर्स का शाहज़ादमीर नामक दफ़ेदार उनके साथ था। भाग्यवश व्यल्बी साहब को यह दफ़ेदार मिल गया था। उससे उनको बड़ी मदद मिली।

तिब्बत में चीन का सार्वभौमत्व है; वह चीन का करद राज्य है। हर साल उसे चीन को कर देना पड़ता है। तिब्बत का राज्यसूत्र चीन है। चीनियों को छोड़कर तिब्बत वाले और किसी को अपने देश में नहीं आने देते। तिब्बत वाले शायद यह समझते हैं कि अपने से अधिक सज्ञान लोगों को अपने देश में आने देने से लोग धीरे धीरे तिब्बत का आधिपत्य अपने हाथ में कर लेंगे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के पहले गवर्नर जनरल हेस्टिंग्ज के समय तक तिब्बत का बहुत ही कम हाल इस देश वालो को मालूम था। तिब्बत और हिन्दुस्तान से किसी तरह का सम्बन्ध तब तक न था। परन्तु हेस्टिंग्ज ने रंगपुर के रहने वाले पुरन्दर गिरि नामक संन्यासी को तिब्बत के प्रधान लामा के पास भेजा। उस संन्यासी ने अपना काम सफलता-पूर्वक किया और वहाँ से सकुशल लौट भी आया। परन्तु तिब्बत के सम्बन्ध से बाबू शरच्चन्द्र दास ने, इस समय, बहुत बड़ा नाम पाया है। 1882 में दार्जिलिंग से रवाना होकर वे लासा तक चले गये; लासा में वे कई महीने तक रहे भी। उन्होंने तिब्बत पर जो पुस्तक लिखी है उसका सब कहीं बड़ा आदर है। इस उपलक्ष्य में गवर्नमेंट ने उनको राय बहादुर की पदवी देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। बौद्ध शङ्कराचार्य्य दलाय लामा के विषय में दास बाबू, अपनी किताब में एक जगह लिखते है—

"हम को दलाय लामा के दर्शन हुए। उनकी उम्र, इस समय, आठ वर्ष की है। हमने देखा कि वे एक उच्च और सुसज्जित सिंहासन पर बैठे हैं। उनके दर्शनों के लिए दर्शक और पूजक लोग बड़ी भाव-भक्ति से एक एक करके भीतर जाते थे। वहाँ पर लामा के चरणस्पर्श करने पर लामा के अधिकारी उनको आशीर्वाद देते थे। जब हम लामा के पास से वापस आकर अपनी जगह पर बैठे तब हम को लामा का प्रसाद रूप थोड़ा सा चाय मिला। उसे हमने पी लिया; परन्तु उनके नैवेद्य में से जो भात हम को दिया गया, वह हमने नहीं खाया; उसे हमने अपने पास रख लिया। इसके बाद लामा के प्रधान पुरोहित ने कुछ मन्त्र-पाठ कर के लामा के चरणों पर अपना मस्तक रक्खा। जब यह हो चुका तब उसने सब को आशीर्वचन कह कर सभा बर्खास्त की"।

कवागुची केकय नामक एक जापानी भिक्षु तिब्बत में बहुत दिन तक रहा है। उसने भी अपने प्रवास का वर्णन प्रकाशित किया है। तिब्बत मे जगह जगह पर मठ है। 'ओं मणि पद्मे हूं' तिब्बतियों का प्रधान मन्त्र है ! लम्बे लम्बे कागज़ों पर मन्त्र लिखकर वे कागज़ एक प्रकार के पहियों पर लपेट दिये जाते है। ये प्रार्थना-चक्र लकड़ी या पत्थर के खम्भो पर लगे रहते हैं और हवा के ज़ोर से घूमते हैं। पहियों के साथ कागज का टुकड़ा भी घूमा करता है। इस घूमने को तिब्बत वाले मन्त्र की आवृत्ति मानते हैं। तिब्बत में कई मठ और मन्दिर बहुत बड़े बड़े है। उनमें पाठशालायें भी हैं; पुस्तकालय भी है; और शिक्षक लामा तथा विद्यार्थियों के रहने के स्थान भी हैं।

जिस समय अँगरेजी गवर्नमेंट ने सिक्किम पर अपना प्रभुत्व जमाया, उस समय पहले पहल, तिब्बत और भारतवर्ष के सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ, एक सन्धि-पत्र लिखा गया। उस पर चीन और भारतवर्ष की गवर्नमेंट ने हस्ताक्षर किये। परन्तु इस सन्धिपत्र के नियम निर्विवाद न हुए; बहुत सी झगड़े की बातें रह गई। कुछ दिनों में याटुंग नामक नगर में तिब्बतवालों ने एक मण्डी खोली। याटुग तिब्बत की सीमा के भीतर है। वहाँ पर तिब्बत और हिन्दुस्तान, दोनों देशों के व्यापारियों को व्यापार करने की अनुमति मिली। परन्तु सन्धिपत्र के विवादास्पद नियमों का निबटारा न हुआ। झगड़े की जड़ें बनी रहीं। उन्ही को आधार मान कर जनरल मैकडोनल्ड और कर्नल यंगहसबैंड ने ससैन्य और सशस्त्र तिब्बत में प्रवेश किया। जब पहले तिब्बत मिशन ने अपना अस्तित्व प्रकट किया तब यह बात कही गई कि वह सर्वथा शान्तिमूलक है; वह अशान्ति अथवा विद्रोह का कारण न होगा। परन्तु इस मिशन ने अब विकराल रूप धारण किया है। तूना में तिब्बत वालो की जो हत्या हुई है उसने इसके शान्त स्वरूप को बिलकुल ही बदल कर और का और कर दिया है। ज्ञानसी में, इस समय, यह मिशन रुका पड़ा है। इधर इसे लामा की तरफ़ आगे बढ़ने की आज्ञा मिल चुकी है, उधर तिब्बत वाले इसका अवरोध करते है। मामला टेढ़ा है। जान पडता है कि वह मिशन शीघ्र ही एक भयंकर चढ़ाई का रूप धारण करेगा।

इस मिशन के सम्बन्ध मे इस समय पारलियामेंट में खूब वाद-विवाद हो रहा है। आसाम के भूतपूर्व चीफ़ कमिश्नर काटन साहब इस विवाद में अग्रणी है। वे इस मिशन का भेजा जाना पसन्द नही करते। इस मिशन के भेजे जाने के कई कारण बतलाये जाते है। उनमें से कुछ कारण एक-दूसरे के विरोधी भी हैं। पहला कारण यह बतलाया जाता है कि तिब्बत वालों ने सन्धिपत्र के नियमों की पाबन्दी नहीं की, दूसरा यह कि मिशन के अफ़सरों से मिल कर झगडे की बातो को तै करने के लिए तिब्बतवालों ने अपना कोई अफ़सर नहीं भेजा; तीसरा यह कि तिब्बत वाले भीतर ही भीतर रूस से मिले हैं; चौथा यह कि तिब्बत की सीमा हिन्दुस्तान की सीमा से मिली हुई होने के कारण तिब्बत मे अँगरेजी गवर्नमेंट के स्वत्वों की रक्षा आवश्यक है। परन्तु काटन आदि विलक्षण पुरुषो का मत है कि ये कारण बहुत ही निर्बल हैं; सन्धिपत्र के नियमों का पालन होना और न होना बराबर है, तिब्बत और भारतवर्ष का व्यापार बहुत कम है; इस मिशन का भेजा जाना रूस और चीन दोनों राज्यों को पसन्द नहीं।

तिब्बत के विषय में एक नई बात सुन पड़ी है। वह यह है कि कोई 20 वर्ष हुए घोमंग लोवज़ंग नामक एक आदमी मंगोलिया से लासा को आया। वहां वह दाबंग के मठ मे वेदान्त का अध्यापक नियत हुआ। बहुत दिनों तक उसने अपना काम बड़ी योग्यता से किया। 52 वर्ष की उम्र में वह रूस के दक्षिणी प्रान्तों में चन्दा एकत्र करने के इरादे से गया। उन प्रान्तों में बहुत से बौद्ध रहते हैं। यह बात 1898 की है। इस सम्बन्ध में उसे सेंट पीटर्सबर्ग को भी जाना पड़ा। वहाँ रूसियों ने हेलमेल पैदा करके उसे अपने वश में कर लिया। उसको उसका कर्तव्य अच्छी तरह समझा दिया गया। वह रूस की तरफ़ से बहुत सी बेशक़ीमती चीज़ें दलाय लामा को उपहार में लाया। लामा महोदय उपहार

से बहुत प्रसन्न हुए। घोमंग ने कहा कि यदि आप एक बार सेंटपिटर्सबर्ग पधारें तो तिब्वत और रूस में हार्दिक मैत्री हो जाय; तिब्बत की रक्षा का भार रूस अपने सिर ले ले और सम्भव है, जार महोदय किरिस्तानी मत छोड़ कर बौद्ध हो जायँ; क्योंकि किरिस्तानी मत में उनका बहुत कम विश्वास है! लामा ने इस बात को स्वीकार कर लिया; उसने प्रसाद के तौर पर कुछ चीजें भी ज़ार को भेजीं; परन्तु उसका रूस की राजधानी को जाना दूसरे धर्म्माध्यक्ष को पसन्द नहीं आया। इससे दलाय लामा को वह विचार छोड़ना पड़ा।

घोमंग लोबजग को किसी कारण से फिर रूस जाना पड़ा। फिर भी रूसियों ने उसे काँपे में फाँसा। इस बार वह एक पत्र ज़ार की तरफ़ से लाया जिसमे लामा महोदय को यह सुझाया गया कि वे अपना वकील सेंटपीटर्सबर्ग को भेजें, रूस से बाला बाला पत्र-व्यवहार करें और चीन की अधीनता छोड़ कर स्वतन्त्रता-पूर्वक रूस से सम्बन्ध रक्खें। लामा ने यह बात मंजूर की। सन्निद नामक एक प्रसिद्ध महन्त वकील बनाया गया। घोमग के साथ वह सेंटपीटर्सबर्ग गया। उसने लामा का दस्तखती पत्र जार को दिया। लामा की बहुत सी शर्तें रूस ने मजूर कर ली और एक सन्धिपत्र भी लिखा गया. परन्तु यह बात जब चीन को मालूम हुई तब उसने रूस और तिब्बत की उस कारग्वाई को रद कर दिया और तिब्बत पर अपनी सख्त अप्रसन्नता प्रकट की। अतएव यह बात वही रह गई; आगे नही बढ़ी। चीन की आज्ञा के बिना तिब्बत किसी परकीय राजा से सन्धि नहीं कर सकता।

घोमंग का किस्सा कहाँ तक सच है नही मालूम। परन्तु रूस के बने हुए शस्त्र जो मिशन को युद्धस्थल मे मिले हैं और तिब्बतियो की युद्ध पटुता जो इस समय देख पड़ रही है, उससे सूचित होता है कि रूस से तिब्बत का कुछ न कुछ सम्बन्ध, यदि है नही, तो रहा अवश्य है।

अगस्त, 1904 की 'सरस्वती' मे प्रकाशित।
'दृश्य-दर्शन' पुस्तक में संकलित।]

नेपाल

नेपाल की गिनती उन राज्यो मे है जो स्वाधीन गिने जाते है। पर जैसे हैदराबाद, मैसूर, और काश्मीर इत्यादि राज्यों मे अँगरेजों का रेजीडेंट रहता है वैसे ही नेपाल मे भी रहता है। यह देश कोई 500 मील लम्बा और 120 मील चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल कोई 60,000 वर्ग मील है। हिमालय के दक्षिणी भाग की दो चोटियों के बीच कोई 15 मील लम्बा और उतनी ही चौड़ी समतल जगह है। नेपाल वाले उसी को नेपाल कहते है। पर और देश वाले गोर्खा लोगो के सारे देश को नेपाल कहते है। नेपाल का कुछ ही हिस्सा ऐसा है जहाँ विदेशी जाने पाते है। नेपाली लोग विदेशियो को अपने देश में बेरोकटोक सब कही नही जाने देते। यह सिद्धान्त यूरप वालो को पसन्द नही, क्योंकि इसके कारण झगड़े की जड पादरी साहब का प्रवेश वहाँ नही होता।

नेपाल बिलकुल पहाड़ी देश है। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी अवरेस्ट (29,002 फुट) नेपाल ही की सीमा के भीतर है। उसका नेपाली नाम दूध-गंगा है। नेपाल की हद का उत्तरी हिस्सा ऐसा है जहाँ बहुत करके साल भर बर्फ जमा रहता है। वह कभी नही गलता, थोड़ा बहुत बना ही रहता है। नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में है। वह समुद्र की सतह से कोई 4,000 फुट की ऊँचाई पर है। नेपाल का दक्षिणी हिस्सा हिन्दुस्तान से मिला हुआ है। उसे तराई कहते है। वहाँ की जमीन नीची है। उसमें सघन जंगल हैं और साल, शीशम इत्यादि बहुत पैदा होता है। जहाँ जगल नहो है वहाँ खेती होती है। दक्षिणी हिमालय की नन्दा देवी, धवलगिरि, दयाभंग और काचन-जगा आदि चोटियाँ भी नेपाल ही के अन्तर्गत हैं।

घाघरा, कोसी और गण्डक आदि नदियाँ नेपाल से होकर बहती है। ये नदियाँ बहुत बड़ी है। इनके बीच का सारा पहाड़ी देश नेपाल के राज्य मे शामिल है। इनमे मे एक एक नदी में सात सात आठ आठ नदियाँ और आकर गिरती हैं। उनमें काली, श्वेत गंगा, रावती, नारायणी और दूधकोसी मुख्य है। नेपाल मे पहाडो की भी कमी नहीं। और नदिओं की भी नही। पहाडो की तो बात ही क्या ? सारा नेपाल ही पर्वतमय है। पर नदियाँ भी बीस पच्चीस से कम नहीं।

नेपाल की आबोहवा एक सी नही। जो जगह जितनी ऊँची है उसकी आबोहवा उतनी ही अधिक ठण्डी है। नेपाल के तीन भाग किये जा सकते है। उत्तरी, दक्षिणी और बीच का। मैदान की जमीन से उत्तरी हिस्सा 10,000 से 29,000 फुट तक ऊँचा है और दक्षिणी हिस्सा सिर्फ 4,000 फुट तक। पहाड़ी जमीन, जिसमें थोड़ी बहुत खेती होती है, साल के जंगल और तराई इसी दक्षिणी हिस्से में शामिल हैं। बीच का हिस्सा मैदान से 4,000 फुट से लेकर 10,000 फुट तक ऊँचा है। हर हजार फुट की ऊँचाई पर कोई तीन अंश सरदी अधिक बढ़ती है। पर पश्चिम की तरफ का देश कम सर्द है। वहाँ

पानी भी कम बरसता है; क्योंकि बादल ऊँचे ऊँचे पहाड़ों को पार नहीं कर सकते; इसी तरफ़ रह जाते हैं।

ख़ास नेपाल अर्थात् वह भाग जो पहाड़ों के बीच, दरी के रूप में है, बहुत तर है। इसी भाग में काठमाण्डू है। वहाँ की ज़मीन अत्यन्त उर्वरा है। वहाँ धान खूब होता है। जो ज़मीन कुछ ऊँची है उसमें गेहूँ होता है। पहाड़ों के पास की ज़मीन सबसे अच्छी है। वहाँ धान भी होता है और गेहूँ भी। कहीं कहीं एक साल में दो-दो तीन-तीन फ़सलें होती है।

नेपाल में अक्तूबर से मार्च तक सर्दी रहती है और जनवरी-फ़रवरी में सख्त जाड़ा पड़ता है। अप्रैल से सितम्बर तक की आबोहवा तर रहती है; गरमी अधिक नही पड़ती। मार्च से मई और सितम्बर से दिसम्बर तक का मौसम बहुत अच्छा होता है। जून, जुलाई और अगस्त में वर्षा होती है।

नेपाल में कई जाति के आदमी बसते है। उनमें से भोटिया, मगर, गुरुंग, नेवार, किराती, लेपचा और लिम्वू मुख्य हैं। भूटान की तरफ़ बहुत ऊँची जगहो मे भोटिया लोग रहते हैं। वे तिब्बत की भाषा वोलते हैं। उनके कपड़े-लत्ते, चाल-ढाल, रीति-रिवाज और शकल-सूरत तिब्बत वालों से मिलती है। नेपाल के बीच मे, पश्चिम की तरफ, कम ऊँची पहाड़ियों पर मगर और अधिक ऊँची पहाड़ियों पर गुरुंग जाति के लोग रहते हैं। नेवार लोग खास नेपाल की दरी में, और किराती और लिम्बू नेपाल के पूर्व रहते हैं। लेपचा जाति के लोग सिकम के पास की पहाड़ियो पर है। इन सबकी गिनती मंगोलियन शाखा के आदमियों में हैं, अर्थात् मंगोलिया में रहने वालो की शकल-सूरत जैसी होती है उससे इन लोगों की शकल-सूरत मिलती है। इनके सिवा नेपाल में एक और जाति के आदमी रहते हैं। वे पार्वती या पर्वतिया कहलाते है। तेरहवीं सदी में हिन्दुस्तान से जो लोग भाग कर नेपाल चले गये थे। उनके और पहाड़ी स्त्रियों के समागम से इन लोगों की उत्पत्ति हुई है। मगर, गुरुंग और पर्वतिया जाति वालों के समूह का नाम गोर्खा या गोर्खाली है। बंगाल के भूतपूर्व लफ्टिनेंट गवर्नर, और बम्बई के गवर्नर, सर रिचर्ड टेम्पल का यह मत है। उन्होंने एक किताब लिखी है। उसी में आपने अपना यह मत प्रकाशित किया है। नेपाल में काठमाण्डू से 40 मील पश्चिम की तरफ़ गोर्खा नाम का एक शहर है। उसी के नाम पर गोर्खा लोगों का नाम पड़ा है। नेपाल की दरी मे जो लोग रहते हैं, उनमें नेवार जाति वालों की संख्या सबसे अधिक है। नेपाल में पहले इन्हीं लोगों का प्रभुत्व था। 768 ईसवी के लगभग गोर्खा लोगो ने नेपाल में अपना राज्य स्थापित किया। चपांग, कुसूंदा और अवालिया लोग भी नेपाल के भीतरी जंगलों और तराइयों में रहते हैं। ये लोग वहाँ के आदिम निवासी हैं और हिन्दुस्तान के गोंड, भील सौंताल आदि की तरह असभ्य और जंगली हैं।

पहले नेपालियों में गोत्र या कुल का भेद न था। पर जब से हिन्दुस्तानियों ने नेपाल में क़दम रक्खा और धीरे-धीरे पर्वतिया जाति की उत्पत्ति हुई तब से यह बात भी वहाँ हो गई। पर्वतिया लोगों में थापा, विसनायत, भण्डारी, अधिकारी, कार्की और दानी इत्यादि कुल भेद प्रचलित हैं। इन लोगों के सम्पर्क से मगर लोगों में राना और

थापा आदि भेद हो गये हैं। पर गुरुंग जाति में इस भेद-भाव का अभी तक प्रचार नहीं हुआ।

गोर्खा लोग पर्वतिया भाषा बोलते हैं। वह संस्कृत से निकली है। जब से हिन्दुस्तानियों का प्रवेश नेपाल में हुआ तभी से इस भाषा की नींव वहाँ पड़ी। नेपाल के पुराने प्रभु नेवार लोगों की भाषा और ही है। उसका नाम नेवारी है। और और जाति वालों में से कुछ तो तिब्बत की भाषा बोलते हैं और कुछ सिकम और भूटान की।

गोर्खा लोग हिन्दू धर्म्म के अनुयायी है। नेवार लोगों में से कुछ हिन्दू हैं और कुछ बौद्ध। जो हिन्दू हैं वे शैवमार्गी नेवार कहलाते हैं और जो बौद्ध है वे बौद्ध मार्गी नेवार। पर सच पूछिए तो बौद्धमार्गी नेवारों का ठीक ठीक कोई धर्म्म ही नही। वे हिन्दुओं के देवी-देवताओं को भी पूजते है। और बौद्ध को भी पूजते हैं। लिम्बू, किराती, भोटिया और लेपचा भी बौद्ध है। नेपाल में व्यापार, कारीगरी और कृषि प्रायः नेवार लोगों ही के हाथ में है।

नेपाल में साधारण आदमियों का भोजन चावल और तरकारी है। जो समर्थ हैं वे मास भी खाते है। हिरन और जगली सूअर भी लोग खाते है। नेवार और गुरुंग जाति के आदमी भैंस तक खाते हैं। इस देश की तरह नेपाल मे भी लोग खूब बहुविवाह करते है। जो धनी हैं उनको एक से अधिक स्त्रियाँ रखने का अकसर शौक़ होता है। पर विधवा-विवाह का निषेध है। नेपाल में सती की चाल अभी तक बनी हुई है। जब नेपाल के प्रसिद्ध मन्त्री जंगबहादुर की मृत्यु हुई तब उनकी रानी उनके मृत शरीर के साथ सती हो गई। गोर्खा लोगों मे व्यभिचार बहुत निषिद्ध है। इसके लिए स्त्री और पुरुष दोनों को कठिन दण्ड दिया जाता है। पर नेवार लोगों मे विवाह-बन्धन और व्यभिचार आदि का विचार उतना कड़ा नही। किसी किसी का मत है कि नेवार जाति की स्त्रियाँ कभी विधवा ही नहीं होतीं।

नेपाल की फ़ौज में पर्वतिया, मगर और गुरुंग लोग ही अधिकता से भरती किये जाते हैं। पर इस देश की अँगरेजी गोर्खा फलटनों में और जाति के आदमी भी ले लिये जाते है। वे सभी गोर्खा कहलाते है। गत एप्रिल में जो भूकम्प हुआ था, उसने धर्म्मशाला में इसी गोर्खा जाति की एक अँगरेज़ी पलटन के डेढ़ दो सौ आदमियो का संहार कर डाला था। ये लोग बड़े बहादुर होते हैं। इनकी बहादुरी पर गवर्नमेंट बहुत खुश है। इसी से लार्ड किचनर ने बहुत सा चन्दा इकट्ठा करके मृत गोर्खा लोगों के कुटुम्बियों की सहायता की है। जनरल सेल हिल बहुत दिनों तक गोर्खा पल्टन में रहे है। वे कहते है कि गोर्खा लोग बड़े बहादुर, श्रम-सहिष्णु, आज्ञाकारी, स्वच्छ-हृदय, स्वाधीन-चेता और आत्मावलम्बी होते है। अपने मुल्क में वे विदेशियों को नहीं घुसने देते, उनसे द्वेष करते हैं। वे अपनी स्त्रियों को बहुत अच्छी तरह रखते है। इसी से स्त्रियाँ भी उनकी खूब सेवा-शुश्रूषा करती हैं। पर ये लोग ज़रा कुन्दज़ेहन होते है और कवायद परेड सीखने में अधिक दिन लगाते हैं। जब ये फ़ौज मे भरती होते है तब बहुत मैले रहते हैं। इसलिए इनको सफ़ाई पर सबक़ देना पड़ता है। इनमें जुआ खेलने की बुरी आदत होती

है। पहाड़ी मुल्क में पैदल सिपाहियों के काम में कोई इनकी बराबरी नहीं कर सकता। इनका स्वदेशी हथियार खुकरी है।

नेपाल में गुलामी की चाल अभी तक जारी है।[1] वहाँ प्राय: सब समर्थ आदमियों के यहाँ गुलाम रहते है, गुलाम की कीमत कोई 150 रुपये तक होती है। स्त्रियाँ भी गुलाम का काम करती है। उनकी क़ीमत कुछ अधिक देनी पड़ती है। सुनते हैं, गुलाम स्त्रियों का चाल-चलन अच्छा नहीं होता। गुलामों के मालिक अपने गुलामों के साथ अच्छा बर्ताव करते है।

नेपाल में प्रजा की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध नहीं है। धनवान आदमी अपने लड़कों को प्राय: घर ही पर शिक्षक रखकर पढ़ाते है। नेपाल से लड़के इस देश में भी विद्याध्ययन के लिए अकसर आते हैं। नेपाल मे भाषा-साहित्य का प्राय: अभाव ही है। पर संस्कृत के अनन्त अलभ्य ग्रन्थ वहाँ विद्यमान है। काठमाण्डू में जो राजकीय पुस्तकालय है, उसकी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बहुत प्रशंसा की है। कई विद्वान् अँगरेज और हिन्दुस्तानी महीनों उसकी पुस्तकों की सूची बनाते रहे, परन्तु पूरी नही बना पाये। जो सूची आज तक प्रकाशित हुई है, उसमें हजारों ग्रंथ ऐसे है जो और कही प्राय. अलभ्य है। उनमे से अनेक ऐसे हैं जिनके नाम तक नही सुने गये थे। कितने ही ग्रन्थ युद्धविद्या, पशु-चिकित्सा और गृह-निर्म्माण पर वहाँ है।

नेपाल की मनुष्य-संख्या ठीक ठीक नहीं मालूम। नेपाल वाले कहते है कि उनके देश मे बावन लाख आदमी रहते है। पर विदेशी यात्रियो का अनुमान है कि वहाँ की आबादी इससे कम है।

नेपाल मे चार मशहूर शहर हैं—काठमाण्डू, पाटन, कीर्त्तिपुर और भटगाँव।

काठमाण्डू बागमती और विष्णुमती नदियों के संगम पर बसा है। उसकी आबादी 50,000 के क़रीब है। मकान कई मंजिले है। महाराजाधिराज का राजभवन शहर के बीच में है। वहाँ अच्छी सड़के कम है। शहर में सफ़ाई कम रहती है। गली गली मे मन्दिर है। एक साहब ने लिखा है कि काठमाण्डू में आदमी कम है, मन्दिर अधिक! मन्दिरों मे बनरों, बकरों और भैंसो का बलिदान होता है। वहाँ एक मन्दिर बहुत मशहूर है। उसका नाम तलेजू है। एक बाज़ार भी वहाँ बहुत अच्छा है। वह काठमण्डू-टोल कहलाता है। महाकाल का पुराना मन्दिर और रानी-पोखरी नाम का तालाब भी वहाँ मशहूर है।

पाटन का दूसरा नाम ललित पाटन है। वह काठमाण्डू से दो ही तीन मील दूर है। वह बहुत पुराना शहर है। उसकी आबादी 60,000 के क़रीब है। यह शहर पहले बहुत अच्छी हालत में था। पर जब गोर्खा लोगों ने नेपाल राज्य का सूत्र नेवार लोगों से छीना, तब उन्होंने इस शहर को छिन्न भिन्न कर डाला। इसमें भी अनेक मन्दिर हैं। यहाँ बौद्ध लोगों के चैतन्य और विहार भी बहुत से है। मत्स्येन्द्रनाथ और महाबुध के बहुत पुराने स्थान यहाँ हैं। यहाँ का दरबार नामक प्रासाद बहुत ही अच्छी इमारत है।

1. अब यह बन्द हो गई है।

कीर्त्तिपुर एक छोटा सा क़स्बा है। उसमें सिर्फ पाँच छः हज़ार आदमी रहते हैं। गोर्खा लोगों ने राज्य क्रान्ति के समय इसे बे-तरह विध्वस्त कर डाला था। तब से यह बुरी दशा में है। इसमें भैरव और गणेश के मन्दिर अवलोकनीय है।

भटगाँव काठमाण्डू से 7 मील है। इसकी आबादी कोई पचास हज़ार के करीब है। नेपाल में इस शहर की बस्ती सब से अधिक घनी है। देखने मे भी यह बहुत सुन्दर है और साफ़ भी यह अधिक है। भटगाँव का दरबार नामक प्रासाद पहले बहुत बड़ा था। अब भी वह देखने लायक़ है। उसमे एक विशाल फ़ाटक है। उसे लोग 'सोने का फ़ाटक' कहते है। यह फ़ाटक बहुत प्रसिद्ध है। इसके शिल्पकार्य की फ़रगुसन साहब ने बडी प्रशंसा की है। भवानी, भैरव और गणेश के कई मन्दिर यहाँ हैं।

नेपाल मे गोर्खा भी एक मशहूर शहर है। पर अब उसकी उतरती कला है। जिस समय गोर्खा लोगों का वह प्रधान शहर था उस समय उसकी शोभा कुछ और ही थी। उसमे कोई इमारत देखने लायक़ नही। पर अब भी उसमे कोई दस हज़ार आदमी बसते है।

काठमाण्डू से तीन मील पर पशुपतिनगर नाम का एक क़सबा है। वह बागमती नदी के किनारे बसा हुआ है। वहाँ पशुपतिनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है। मन्दिर बहुत बड़ा है। उसके पास कोई योग्य निवासी नही जाने पाता। पशुपति नगर नेपालियों की काशीपुरी है। मरने के समय लोग वही रहने जाते है।

नेपाल की सालाना आमदनी एक करोड़ रुपया है। पर सर रिचर्ड टेम्पल साहब को इस पर विश्वास नही। आप कहते है कि इतनी आमदनी नही है, यह बढ़ा कर बतलाई गई है।

नेपाल मे 20,000 फ़ौज हमेशा तैयार रहती है। वह कई पलटनों मे बँटी हुई है। पर नेपाल एक ऐसा देश है जहाँ के सभी मनुष्य हथियार उठाना और लड़ना जानते है। उन सब को नियत समय तक युद्ध-विद्या सिखलाई जाती है और ज़रूरत पड़ने पर वे सब अपने देश की रक्षा के लिए लड़ाई पर भेजे जा सकते है। ज़रूरत के समय नेपाल कोई सत्तर अस्सी हज़ार फ़ौज इकट्ठा कर सकता है। फ़ौज को अँगरेज़ी तरह की क़वायद सिखलाई जाती है। सब को एक विशेष प्रकार की वर्दी पहनना पड़ता है। सिपाही सिर पर फेटा बाँधते है। अफ़सरों के फ़ेटों पर कलगी, जवाहिरात और चिड़ियों के सुन्दर सुन्दर पंख लगे रहते है। फौज के बड़े अफसरों की पोशाक और ही तरह की होती है।

नेपाल मे मैगजीन, सिलहख़ाने और दो तीन तरह के तोपखाने भी है। कुछ फ़ौज के पास अँगरेज़ी और कुछ के पास देशी हथियार हैं। पर खुकड़ी हर सैनिक के पास रहती है। गनफील्ड राइफल के नमूने की बन्दूके भी नेपाल मे बनती है। नेपाली फ़ौज कवायद-परेड मे बहुत होशियार है। उसकी बहादुरी की तो बात ही क्या ? गोर्खा सिपाही संसार में प्रसिद्ध हैं। नेपाल मे रिसाला अच्छा नही। इस बात की, वहाँ कमी है। पर हाथी अनेक हैं। दूसरे सभ्य देशों ने नये नये शस्त्र बनाने और युद्ध विद्या में उन्नति करने के इरादे से नये नये आविष्कारों की सृष्टि की है। पर इन बातों में नेपाल

बहुत पीछे है। अतएव योरप के किसी सभ्य देश की सेना के सामने नेपाल की सेना अधिक देर तक नहीं ठहर सकती। सर टेम्पल अपनी किताब के पढ़ने वालों से कहते हैं कि ये बातें याद रखने लायक़ हैं।

नेपाल में एक अँगरेज़ी दूत रहता है। उसे रेज़िडेंट कहते हैं। उसी की मारफ़त नेपाल राज्य और हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट में, आवश्यकतानुसार, लिखा-पढ़ी होती है। अँगरेज़ी बनिज-व्यापार का वही रक्षक है। रेज़िडेंट साहब का वहाँ अच्छा रोब है। उनको ताज़ीम देने के लिये नेपाल के महाराजाधिराज तक अब उठ खड़े होने लगे हैं। गत एप्रिल में एक दरबार हुआ था। उसमें नेपाल-नरेश ने अपने आसन से उतर कर रेज़िडेंट की अभ्यर्थना की थी। नेपाल-नरेश महाराजाधिकार कहते हैं और उनके मन्त्री महाराज। वहाँ मन्त्री ही राज्य के कर्ता, हर्ता और विधाता हैं।

नेपाल का राज्य बहुत पुराना है। वहाँ कलियुग के भी पहले जो राजा हुए हैं उनका पता नेपाली पुस्तकों में लगता है। पहले नेपाल में नेवार-जाति की प्रभुता थी। नेपाल की दरी में इसी जाति के चार छोटे छोटे राजा राज्य करते थे। उनकी राजधानियों काठमाण्डू, पाटन, कीर्त्तिपुर और भटगाँव में थी। भटगाँव को छोड़ कर ये सब शहर एक दूसरे से सिर्फ चार चार, पाँच पाँच मील के फ़ासले पर हैं। सिर्फ भटगाँव काठमाण्डू से 7 मील है। तेरहवीं सदी में मुसलमानों के अत्याचार से तंग आकर उदयपुर के राजघराने के कुछ क्षत्रिय कुमाऊँ की तरफ़ चले गये। उनके साथ और भी कितने ही क्षत्रिय, सेवक और सहचर की भाँति, गये। कोई तीन सौ वर्ष तक उन लोगों की सन्तति वहाँ रहती रही और धीरे धीरे नेपाल की तरफ़ बढ़ती गयी। सोलहवीं सदी में द्रव्यशाह नामक एक पुरुष विशेष प्रतापी हुआ। उसने गोर्खानगर को उसके राजा से छीन लिया और आप वहाँ का राजा हो गया। तभी से गोर्खा-राजों के राज्य का सूत्रपात हुआ। अठारहवीं सदी के उतरार्द्ध में पृथ्वी नारायण सिंह को गोर्खा की गद्दी मिली। कुछ दिन बाद पाटन, काठमाण्डू और भटगाँव के नेवार-राजों में परस्पर विरोध पैदा हुआ। इससे भटगाँव के राजा रंजीतमल ने पृथ्वीनारायण शाह से मदद माँगी। इस मदद का फल यह हुआ कि तीन-चार वर्ष में पृथ्वीनारायण सिंह ने युद्ध करके, कुटिल नीति से काम लेकर और शत्रुओं में परस्पर द्वेष भाव उत्पन्न करा के नेपाल के चारों राज्यों को उद्ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार निष्कण्टक होकर आपने नेपाल का प्रभुत्व अपने ऊपर लिया और गोर्खा छोड़ कर काठमाण्डू को अपनी राजधानी बनाया। तब से नेवार जाति की प्रभुता की समाप्ति हो गई और गोर्खा लोग नेपाल के राजा हुए। इन्हीं गोर्खाओं के वंशज अब तक वहाँ राज कर रहे हैं। 1768 ईसवी में पृथ्वीनारायण सिंह को नेपाल की गद्दी मिली। उनसे लेकर 1847 ईसवी तक इतने राजे नेपाल में हुए—पृथ्वीनारायण शाह, प्रतापसिंह शाह, रणबहादुर शाह, गीर्वाण युद्ध बिक्रम शाह, राजेन्द्र विक्रम शाह और सुरेन्द्र विक्रम शाह।

पृथ्वीनारायण शाह ने धीरे-धीरे किराती और लिम्बू लोगों का भी राज्य छीन लिया और रणबहादुर-शाह ने नेपाली राज्य को कुमाऊँ तक बढ़ाया। 1792 ईसवी में नेपालियों ने तिब्बत पर चढ़ाई की, पर चीन वालों ने उन्हें वहाँ से भगा दिया। इस

चढ़ाई में उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी और अनेक आपदाओं का सामना करना पड़ा। तभी से नेपाल वाले चीन को कर देने लगे। यह कर उन्हें अब तक देना पड़ता है। उस उस समय तिब्बत वालों ने भी अँगरेज़ों से मदद माँगी थी और नेपाल वालों ने भी; पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मदद नही दी। यदि देती तो इस समय नेपाल और तिब्बत की हालत और की और ही हो गई होती। नेपाल की राजगद्दी के कारण अनेक बार मार-काट हुई है। सच पूछिए तो मन्त्री ही वहाँ का राजा है। इसलिए मन्त्री होने के लिए अनेक खून-खराबियाँ हुई हैं और कितने ही लोगों को देश छोड़ कर हिन्दुस्तान में भाग आना पड़ा है।

गीर्वाण युद्ध विक्रम शाह के समय में गोर्खा लोगों ने फिर नेपाल की सीमा को बढाना आरम्भ किया। पश्चिम में वे काँगड़ा तक पहुँच गये और पूर्व में सिक्रम तक। उन्होंने अँगरेजी राज्य पर भी आक्रमण किया। इसका फल यह हुआ कि 1814 ईसवी में नेपाल के साथ अँगरेजों का युद्ध ठन गया। इस युद्ध में पहले अँगरेज़ों को बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। उनकी सेना का भी बहुत नाश हुआ और उनके कई बडे-बड़े अफ़सर भी मर गये। पर पीछे से उनकी कामयाबी हुई और अँगरेजों का जितना देश नेपालियों ने जीता था उसमें से बहुत-सा उन्होंने लौटा दिया। नेपाल के साथ अँगरेज़ों की पहले दो-तीन सन्धियाँ हो चुकी थीं। पर वे नाम मात्र ही के लिये थीं। जब नेपाल के साथ अँगरेजों की लड़ाई हुई तब नेपालियो को अँगरेज़ों का बल विक्रम अच्छी तरह मालूम हो गया। तब, 1816 ईसवी में, चौथी बार सन्धि हुई। इस सन्धि का नाम सिगौली की सन्धि है। तब से अँगरेजी गवर्नमेन्ट की तरफ से रेजिडेण्ट मुस्तकिल तौर पर काठमाण्डू में रहने लगा। उस समय नेपाल-नरेश के मन्त्री जनरल भीमसेन थापा थे। उन्होंने 25 वर्ष तक काम किया। 1837 ईसवी में उन पर यह अपराध लगाया गया कि उन्होंने राजा के एक छोटे बच्चे को विष दिया। इसलिए वे क़ैद किये गये और क़ैद ही मे उन्होने अपना आत्मघात किया। सुनते हैं, इनके मृतक शरीर की बडी दुर्दशा की गई थी।

भीमसेन थापा के बाद कालापांडे को नेपाल नरेश का मन्त्रित्व मिला। उनका राज्य-प्रबन्ध अच्छा न था। 1843 ईसवी में उनको मानबरसिंह नामक एक योद्धा ने मार डाला और आप मन्त्री हो गया। परन्तु दो ही वर्ष में उसका भी काम तमाम कर दिया गया। वह राजा से मिलने गया था। वहीं उस पर किसी ने गोली चलाई। कोई कहता है, खुद राजा ने चलाई, कोई कहता है जंगबहादुर ने।

जंगबहादुर एक बहुत ही होनहार और साहसी युवा थे; उस समय वे फ़ौज में कर्नल पद पर थे। मातबर्रसिंह के मारे जाने पर उन्होंने राज्य कार्य देखना शुरू किया। पर मन्त्रित्व उनको न मिला। वह गगनसिंह नामक एक पुरुष को मिला। परन्तु एक ही वर्ष बाद उनके जीवन की भी समाप्ति हो गई। 14 सितम्बर 1846 की शाम को यह घटना हुई। उन पर नेपाल की महारानी की कृपा थी। इसलिए उनके वधिक का पता लगाने के लिए सब सरदार राजमहल में बुलाये गये। वहाँ जंगबहादुर भी उपस्थित थे। बातों-बातों में झगड़ा हुआ और गोलियाँ चलने लगीं। ज़रा देर में नेपाल के 31

सरदार और कोई सौ आदमी राजमहल के भीतर ही मारे गये। खून की नदी बह निकली। राजा और रानी भयभीत होकर बनारस भाग आये। जंगबहादुर के लिए रास्ता साफ हो गया। इसलिए आप निष्कण्टक होकर मन्त्रित्व के आसन पर आसीन हुए। आपने सुरेन्द्र विक्रम शाह को राजा बनाया।

जंगबहादुर के पूर्वजों ने नेपाल में अच्छे-अच्छे काम किये थे। वे एक मशहूर घराने के थे। उन्होंने राज्य का अच्छा प्रबन्ध किया। उनके कोई सौ लड़के लड़कियाँ थीं। उनका सम्बन्ध राज्य के प्रधान सरदारों और स्वयं महाराजधिराज के यहाँ करके, जंगबहादुर ने सारे राज-चक्र और सरदार-चक्र को अपने हाथ में कर लिया। उन्होंने अपनी एक कन्या का विवाह नेपाल के युवराज से भी कर दिया। 1850 ईसवी में जंगबहादुर इंगलैंड गये। वहाँ उनकी बहुत खातिरदारी हुई। इंगलैंड में उन्होंने अँगरेजी सभ्यता को ध्यान से देखा और अँगरेजों के प्रचण्ड प्रताप का भी अच्छी तरह अनुभव किया। फल यह हुआ कि नेपाल लौटकर उन्होंने अपने देश के कानून में उचित फेरफार किये उन्होंने अंग-भंग करने का दण्ड उठा दिया। सती की प्रथा में भी कुछ रुकावट कर दी गई। सेना में भी सुधार किया गया। साराश यह कि जंगबहादुर ने जिसमें प्रजा और देश का कल्याण समझा उसे करने में संकोच नहीं किया। विलायत से लौटने पर लोगों ने उन पर यह दोष लगाया कि समुद्र पार जाने से वे धर्मच्युत हो गये। इससे वे मन्त्री होने लायक नहीं रहे। इन दोषारोपण करने वालों में जंगबहादुर के दो भाई भी थे—एक सगे, एक चचेरे। इसमें महाराजाधिराज के एक भाई भी शामिल थे। ये लोग नेपाल से हटा दिये गये और इलाहाबाद में आकर रहने लगे। पर 1853 ईसवी में उनको नेपाल लौट जाने की आज्ञा मिल गई। 1857 ईसवी में सिपाही-विद्रोह में जंगबहादुर ने बहुत सी फ़ौज भेज कर अँगरेज-राज की मदद की। इसके उपलक्ष में गवर्नमेंट ने तराई का एक हिस्सा नेपाल को दे दिया और जंगबहादुर को जी० सी० बी० की पदवी से विभूषित किया। 1873 ईसवी में वे जी० सी० वी० आई० बनाये गये। 1877 में जंगबहादुर की मृत्यु हुई। अपने समय तक यही एक ऐसे मन्त्री हुए जिनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई। महाराज जंगबहादुर के ज्येष्ठ पुत्र जनरल पद्मजंग इस समय प्रयाग में रहते हैं।

1857 ईसवी में राजराजेश्वर सातवें एडवर्ड सैर के लिए हिन्दुस्तान आये थे। उस समय आप 'प्रिंस आव् वेल्स' कहलाते थे। आपने नेपाल की तराई में शिकार खेला था। शिकार का सब प्रबन्ध महाराज जंगबहादुर ने खुद किया था। वे प्रिंस से मिलने आये थे उनके आतिथ्य से प्रिंस बहुत प्रसन्न हुए थे।

महाराज जंगबहादुर का शंख लामा नामक एक योगी पर बहुत प्रेम था। इस योगी को वज्रोली मुद्रा सिद्ध थी। वह अपने शिश्न से शंख बजा सकता था और उसी मार्ग से कटोरा भर दूध चढ़ा लेता था।

1885 ईसवी में नेपाल के सरदार मण्डल में फिर विद्रोह हुआ। उसमें उस समय के मन्त्री, और जंगबहादुर के एक बेटे और एक पोते की जान गई। विद्रोह-कर्त्ता

थे वीर शमसेरजंग राना। शिरच्छेद करने में पराक्रम दिखला कर आपने मन्त्री का आसन छीन लिया। तब से आप नेपाल के हर्त्ताकर्त्ता हुए। आपको के० सी० एस०आई० का खिताब भी मिला।

नेपाल के वर्तमान नरेश, महाराजाधिराज, और मन्त्री दोनों बहुत योग्य हैं। गत वर्ष तिबत-मिशन को नेपाल से बहुत मदद मिली थी। इस उपलक्ष्य में अँगरेजी गवर्नमेण्ट ने मन्त्रीजी को जी० सी० एस० आई० की उपाधि से अलंकृत किया है। 26 अप्रिल, 1905 को काठमाण्डू में एक दरबार किया गया। उसमें महाराज चन्द्रशमशेर-जंग राना बहादुर को रेज़िडेंट साहब ने इस पदवी का सूचक पदक पहनाया। यही राना बहादुर आजकल नेपाल के मन्त्री हैं। दरबार में महाराजाधिराज भी पधारे थे। आपने रेज़िडेंट साहब की अभ्यर्थना उठ कर की थी और एक वक्तृता भी दी थी। आपकी वक्तृता को आपके राज-गुरु ने पढ़कर सुनाया था।

नेपाल के वर्तमान नरेश महाराजाधिराज पृथ्वी वीर विक्रम शमशेरजंग बहादुर शाह का जन्म 8 अगस्त, 1874 को हुआ था। 17 मार्च 1881 को आप अपने पितामह की गद्दी पर बैठे थे। आप बहुत रूपवान और गुणवान हैं। आप अँगरेज़ी खूब लिख पढ़ सकते हैं और बोलते भी है। आप महाराज जंगबहादुर के दौहित्र है।

[जुलाई, 1905 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'दृश्य-दर्शन' पुस्तक में संकलित।]

जापान की जीत का कारण

लोगों का ख़याल है कि जापान की उनन्ति का आरम्भ हुए केवल 40 वर्ष हुए। परन्तु जापान के भूतपूर्व मन्त्री कौण्ट ओक्यूमा इस बात को नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि जापान की सभ्यता 1500 वर्ष की पुरानी है। 1500 वर्ष पहले जापान ने चीन, कोरिया और हिन्दुस्तान से सभ्यता सीखी। पर उस सभ्यता को जापान ने अपने अनुकूल बना लिया। अर्थात् जिस रूप में उसने पाया उस रूप में उसे न रखकर अपने देश की अवस्था के अनुसार उसने उसमें फेरफार कर दिया। धर्म्म, साहित्य, नीति और कलाकौशल आदि सब विषयों में जापान ने इस तरह के फेरफार किये।

जब जापान में विदेशियों ने पैर रक्खा तब उसने उन्हें वैसा करने से मना किया। पर इसमें वह असमर्थ हुआ। तब इस असमर्थता का वह कारण ढूंढ़ने लगा ! उसके ध्यान में आया कि विदेशियों को बलपूर्वक निकालना कठिन है। यदि दो एक दफ़े वे निकाल भी दिये जायँगे तो न मानेंगे। वे फिर से आवेंगे। अतएव जिन बातो में ये लोग हमसे बढ़े हुए हैं उन्हें हमें सीखना चाहिए। उनके समान श्रेष्ठ होने ही में जापान का कल्याण है। यह निश्चय करके जापान ने जातिभेद को उठा दिया। सामाजिक दृष्टि से किसान और प्रधान मन्त्री एक हो गये। सब जापानी एक सामाजिक सूत्र मे बँध गये। परस्पर शादी विवाह होने लगे। पहले वे समझते थे कि जो कुछ जापानी है वह सभी श्रेष्ठ है, और जो कुछ विदेशी है वह सभी बुरा है। इस अविचार को उन्होंने दूर कर दिया। उनको इस बात पर दृढ़ विश्वास हो गया कि पुरानी सभ्यता का अब समय नही रहा।

इसका फल यह हुआ कि छोटे छोटे तअल्लुकेदारों ने अपनी अपनी तअल्लुकेदारी को राजा के सिपुर्द करके राजा की शक्ति बढ़ा दी। हर वर्ष हज़ारों विद्यार्थी विदेश में विद्योपार्जन के लिए जाने लगे। 6 वर्ष की उमर होने पर लड़के लड़कियों के मदरसे जाने का क़ानून बन गया। विदेश से जैसे जैसे जापानी युवक विद्योपार्जन करके लौटने लगे तैसे ही तैसे जापान में विदेशी रीति की सभ्यता का प्रचार प्रारम्भ हुआ। जापानी लोग रेल, तार, डाक, कल, कारखाने, स्कूल, कालेज, वाणिज्य आदि सब बातों के पीछे पड़ गये और यथाशक्ति उनमें उन्नति भी करने लगे। जहाज़ चलाना और बनाना भी उन्होंने सीखा। पश्चिमी रीति के अनुसार सेना भी उन्होंने अपनी दुरुस्त कर ली। जब तक सब बातें सिखलाने के लिए योग्य जापानी नही मिले तब तक विदेशियों से काम लिया गया। पर जब विद्वान् जापानियों की संख्या बढ़ गई तब विदेशी दूर कर दिये गये।

जापान ने प्रतिज्ञा कर ली कि विदेशियों मे जो जाति सबसे अच्छी दशा में है उसकी बराबरी किये बिना हम न रहेंगे। इस प्रतिज्ञा को उसने तीस चालीस वर्ष में पूरी कर दिखाया। पर विदेशियों की नक़ल करने में जापान ने अपना जापानीपन नहीं छोड़ा।

जो बातें उसे औरों में अनुकरणीय जान पड़ीं उनका अनुकरण उसने जापानी ढंग से किया। अपनी जातीयता—अपना स्वदेश-प्रेम—उसने नहीं जाने दिया। पश्चिमी सभ्यता को उसने जापानी साँचे में ढाला। जापान की अनुकरणशीलता में यही विशेषता है। इसी के कारण जापान फिर भी जापान बना हुआ है। पृथ्वी के प्रबलतम देश रूस पर जापान की जो यह जीत हुई है उसके ये सभी कारण हैं। पर ये कारण साधारण हैं। इस जीत का प्रधान कारण जापान की विज्ञान-वृद्धि है। यदि जापान में अनेक प्रकार की विज्ञान-शिक्षा की उन्नति न होती तो कदापि जापान आज रूस-विजयी न कहलाता। यह राय बड़े बड़े लब्धप्रतिष्ठ, नीति-निपुण और प्रसिद्ध मनुष्यों की है।

चीन-जापान की लड़ाई हुए दस वर्ष हुए। उस समय यालू नदी के किनारे जापानियों की तोपों की दिल दहलानेवाली आवाज़ ने योरप, अमेरिका और एशिया की प्रबल शक्तियों को सोते से जगा सा दिया। उन्होंने समझा कि सुदूर पूर्व में भी एक प्रबल शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और बड़ बड़े राजकीय मामलों में अब, आगे, उससे भी सलाह मशविरा करने की जरूरत पड़ा करेगी। जापान की इस अश्रुतपूर्व उन्नति का कारण क्या है? कारण यह है कि जापान ने विज्ञान को अपने देश में सबसे अधिक प्रधानता दी है। शान्ति के समय में भी और अशान्ति के समय में भी उसने वैज्ञानिक शिक्षा को अपनी उन्नति का आधार माना है। जितने कलाकौशल हैं, जितने अध्यवसाय हैं, जितने कल कारखाने हैं, जापान में, सब कहीं, विज्ञान, विज्ञान, विज्ञान देख पड़ता है। जापान का प्राय: कोई भी काम, कोई भी शिक्षा-विभाग, कोई भी व्यवसाय, विज्ञान से खाली नही। जापान के समरवीर समुराई बड़े ही बहादुर और रण-कुशल हैं। परन्तु यदि जापान विज्ञान का आश्रय न लेता तो पश्चिमी की प्रबल पराक्रम फ़ौज के सामने समुराइयों की समर-कुशलता कुछ काम न देती। यदि जापान में विज्ञान का प्रवेश न होता तो वह विदेशियों के द्वारा अब तक पददलित हो गया होता, उसका बालसूर्य्यधारी झण्डा गिर गया होता; उसकी जातीयता का सर्वनाश हो गया होता; पराक्रमी समुराइयों के खून की नदियाँ बहकर शान्तसागर में शान्त हो गई होती; और अपने पुराने बेढंगे शास्त्रों को लेकर अर्वाचीन शस्त्रधारी विदेशियों के सामने जापान के देश-भक्त जापानी एक एक करके कट गये होते। परन्तु विज्ञान ने जापान को इस प्रलयंकर विनाश से बचा लिया।

जापान की गवर्नमेण्ट का ध्यान वैज्ञानिक शिक्षा की तरफ़ सबसे अधिक है। यदि रेल, तार, टेलिफ़ोन, जहाज़ और हथियार बनाने के कारख़ाने, खानें, फ़ौजी और यंजिनियरी स्कूल जापान में न होते तो जैसी फ़ौज इस समय जापान के पास है वैसी कदापि न होती। और यदि होती भी तो निर्बल होती। रूस-जापान की लड़ाई ने इस बात को अच्छी तरह साबित कर दिया है कि जातीय उन्नति के लिए जितने बड़े बड़े सार्व-जनिक काम किये जायँ, विज्ञान का बीज उनमें ज़रूर होना चाहिए। यदि जापान रेल न बनाता तो थल की राह से वह फ़ौज और फ़ौजी सामान जल्द न भेज सकता। यदि वह सब तरह के जहाज़ न रखता तो समुद्र पार करके कोरिया और मंचूरिया में वह अपनी फ़ौज न ला सकता। तार और टेलिफ़ोन के बिना यथेष्ट शीघ्रता के साथ ख़बरें न भेजी

जा सकतीं। हथियार और जहाज़ बनाने के यदि कारख़ाने न होते तो वह एक दिन भी रूस का मुक़ाबला न कर सकता। बे-तार की तारबरक़ी और गुब्बारों तक से जापान ने यथेष्ट काम लिया है। युद्धविद्या, यंत्रविद्या, रसायन-शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, गैस, बिजुली, इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाली एक भी बात ऐसी नहीं जिसमें जापान, योरप और अमेरिका से किसी तरह कम हो।

पश्चिमी विद्या, विज्ञान और सभ्यता को जापानी साँचे में ढाल कर ही जापान चुप नहीं रहा। उसने उसके भी आगे कदम बढ़ाया है। जापान अब अपने जहाज आप ही बनाने लगा है। उसके बनाने में उसने नई नई युक्तियों से काम लिया है। अनेक बातें उसने ऐसी की है जो और शक्तियों के जहाजों में नही पाई जातीं। जहाजो से यहाँ मतलब उन जलयानों से है जो आजकल सभ्य शक्तियाँ लड़ाई के लिए बनाती और तैयार रखती हैं। जापान का जहाज़ी बेड़ा देखकर इंगलैण्ड भी उसकी तारीफ़ करता है। जल-शक्ति मे इंगलैण्ड की बराबरी कोई देश नहीं कर सकता। इंगलैण्ड के पास बैटलशिप नामक प्रचण्ड लड़ाकू जहाजों की संख्या 50 के ऊपर है! पर और शक्तियो के पास 16 से अधिक नहीं। अतएव इंगलैण्ड के समान परम पराक्रमी देश जब जापान की जलसेना और जहाज़ी बेड़े की तारीफ़ करता है तब उसमें अवश्य ही कोई वैज्ञानिक विशेषता होगी। जापान ने यद्यपि युद्धविद्या इंगलैण्ड और जरमनी से ही सीखी है; परन्तु उसने उसमें अब इतनी अधिक उन्नति कर ली है कि इंगलैण्ड ने हर साल कई अफ़सर जापान भेजना निश्चित किया है। वे वहाँ जापानी युद्ध-कौशल की शिक्षा प्राप्त करेंगे। गुरु गुड़ ही रहा, चेला खाँड़ हो गया!

एक अँगरेज़ी सामयिक पत्रिका का अँगरेज़ लेखक कहता है कि विज्ञान के बल से जापान ने अपने जहाज़ों में कई एक ऐसी उन्नतियाँ की है जिन्हें देखकर संसार भर के जलयुद्ध-विद्या-विशारद चकित हो जाते हैं। जापान की जल-सेना के अफ़सर अपने अपने काम में इतने होशियार हैं कि अनेक बातों में वे इंगलैण्ड को भी अब सबक़ दे सकते हैं। यह सब विज्ञान-वृद्धि की महिमा है। इस पर भी जापान हर साल हर तरह की विज्ञान शिक्षा के लिए योरप और अमेरिका को अनेक होनहार युवकों को भेजता है। विद्या और विज्ञान में वह किसी देश से पीछे नहीं रहना चाहता। जापान मे थोड़े ही समय में अनेक अद्भुत अद्भुत आविष्कार भी किये है।

जापानियों के बराबर देशभक्त और कोई पृथ्वी की पीठ पर नहीं है। देशभक्ति से प्रेरित होकर विद्या और विज्ञान के बल पर वे असम्भव को सम्भव कर दिखाते है। जापान भी एशिया में है। हिन्दुस्तान भी एशिया में है। अधिकांश जापानी बौद्ध हैं और बौद्ध मत के प्रवर्तक की जन्मभूमि हिन्दुस्तान ही है। प्रायः हिन्दुस्तानियों की तरह जापानी भी ठिगने होते हैं। जापानियों और हिन्दुस्तानियों के रूप, रंग में भी बहुत कुछ साम्य है। हिन्दुस्तानियों के समान जापानी भी निरुपद्रवी, सहनशील, परोपकारी, दयालु, माता-पिता के भक्त और सरल स्वभाव होते हैं। परन्तु दोनों में असमानता भी है। जापानी स्वाधीन हैं, हिन्दुस्तानी पराधीन। जापानी देशभक्त हैं, हिन्दुस्तानी देशभक्त नही। जापान में एकता है, हिन्दुस्तान में एकता का अभाव है। वैज्ञानिक शिक्षा के लिए सात

समुद्र पार कर जाना जापानी लोग अपने और अपने देश के लिए गौरव समझते हैं; पर समुद्र पार कर जाना हिन्दुस्तानियों के लिए पाप है, क्योंकि उनका धर्म्म जाता रहता है। जापान में जाति-भेद का बहुत ही कम विचार है; हिन्दुस्तान में जाति-भेद का सबसे अधिक विचार है। जापान में सब लोग परस्पर शादी विवाह करते हैं, हिन्दुस्तान में अपने वर्ग में भी शादी करने में अनेक झंझट पैदा होते हैं। जापान में छुआछूत नहीं; हिन्दुस्तान में इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचार करने लायक़ हैं। पर विचार करनेवालों ही की यहाँ कमी है। विचार करे कौन ?

[अगस्त, 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

सचिव-युग्म

इस संख्या मे इंगलैण्ड के प्रधान सचिव सर हेनरी कैम्बेल बैनरमैन और उनके सहायक भारत-सचिव राइट आनरेबल जॉन मार्ले के हाफ-टोन चित्र पाठको को भेंट किये जाते है। इस सचिवद्वय का चरित पाठको ने अन्यान्य अखबारो और मासिकपत्रों में पढा ही होगा। इससे परिचय के लिए इनके विषय की हम सिर्फ़ दो ही चार बाते लिखेंगे।

कैम्बेल बैनरमैन

बैनरमैन साहब ग्लासगो के रईस है। 1836 ई० मे वही इनका जन्म हुआ था। इस समय इनकी उम्र 70 वर्ष की है। 1861 मे केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज से इन्होने एम०ए० पास किया। इनके पिता और बड़े भाई पक्के 'कन्सरवेटिव' थे पर आश्चर्य्य यह है कि ये उसी घर में 'लिबरल' पैदा हुए। इनके राजकीय विचार बडे ही उदार है। 1868 में ये पहिले पहिल पारलियामेंट में, स्टर्लिंग शहर की तरफ़ से, सभासद चुने गये। तब से आज तक ये उस शहर की तरफ़ से प्रजा-प्रतिनिधि हैं। बहुत दिनों तक ये बड़े बड़े पदो पर रह चुके हैं। कई वर्ष तक ये युद्ध-विभाग के मंत्री थे। कई वर्ष तक आयरलैंड के प्रधानमन्त्री थे। और अब कोई डेढ़ वर्ष से महाराज सप्तम एडवर्ड के मुख्य मंत्री हैं। अब इन्हें मंत्रियों के मंत्री, अर्थात् अँगरेज़ी राजसभा के सूत्रधार, कहना चाहिए।

ये बोर-युद्ध के बहुत खिलाफ़ थे। यदि बालफ़र साहब की जगह पर उस समय ये प्रधान मंत्री होते तो यह युद्ध कभी न हो पाता। इन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया था कि जिस ढंग से यह युद्ध हो रहा है वह अनुचित है। उसे युद्ध नही कह सकते।

इनका स्वभाव बहुत सरल, सच्चा और उदार है। इनमें कर्त्तव्य-निष्ठा भी बहुत है। आजकल लार्ड्स और कामन्स में जो विरोधभाव हो रहा है उसे नि:सकोच होकर ये दूर करना चाहते हैं। लार्ड्स लोगों की काररवाई इनको पसन्द नही। उनकी शक्ति की मात्रा ये युक्ति से कम करने के फ़िराक़ में हैं। ये नहीं चाहते कि प्रजा के हिताहित का विचार न करके 'हाउस आफ़ लार्ड्स' में बैठनेवाले लार्ड्स मनमानी करें।

कैम्बेल-बैनरमैन साहब अच्छे वक्ता नही। ये अपनी वक्तृता कभी कभी लिखकर ले जाते हैं और सुनाते है। इनको क्रोध कम आता है। ये विनोदशील ऐसे हैं कि इनके प्रतिपक्षी भी इनकी बातें सुन कर हँस देते है। चेम्बरलेन साहब के राजनैतिक विचार कई विषयों में बिलकुल इनके उलटे हैं। तथापि चेम्बरलेन साहब इनका बड़ा आदर करते हैं। इनके ख़िलाफ उन्हें प्रायः हमेशा ही बोलना पड़ता है। पर इससे बैनरमैन-विषयक उनकी आदरबुद्धि कम नहीं हुई।

बैनरमैन बड़े ही स्पष्टवक्ता हैं। जब लिबरल पक्ष का प्रधान मण्डल नियत हुआ और ये मुख्य मंत्री हुए तब चेम्बरलेन साहब ने नये मंत्रियों से यह पूछने का प्रयत्न करना चाहा कि वे प्रतिबद्ध व्यापार के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। इस पर प्रधान मंत्री ने साफ़ कह दिया कि इस विषय को फिर पारलियामेंट में पेश करने की जरूरत नहीं। इस विषय में प्रजा की क्या राय है सो सारे संसार को मालूम हो गई है। रूस की नई पारलियामेंट डूमा जब बन्द कर दी गई तब इन्होंने बड़े आवेश से पारलियामेंट में कहा —"डूमा मर गई; वह चिरंजीव रहे; उसकी जय हो।" रूस ऐसे बलवान् देश के लिए इस तरह की उक्ति मुँह से निकालना बड़े साहस का काम है। बैनरमैन का कहना सच निकला। डूमा फिर जी उठी है। एक दफ़े बालफ़र साहब ने बोरों को पारलियामेंट देने के ख़िलाफ़ बहुत कुछ कहा और लिबरल दल की निन्दा की। बैनरमैन ने इसका यथेष्ट उत्तर देना चाहा। पर बाल्फ़र साहब ने अपनी वक्तृता इतनी लम्बी कर दी कि इनको सिर्फ़ एक मिनट उत्तर देने को मिला। इस एक ही मिनट में इन्होने कहा—"मुझे बोलने के लिए सिर्फ एक मिनट रह गया है। पर इतने ही में मैं यह कहना चाहता हूँ कि जब से मैंने पारलियामें : में कदम रक्खा तब से आज तक ऐसा अयोग्य, ऐसा अनुचित, ऐसा सदोष और ऐसा देशाभिमान-शून्य भाषण मैंने कभी नही सुना" !

बैनरमैन घर के अमीर हैं। इन्हें कोई सात आठ लाख रुपये साल की आमदनी है। परन्तु ये बहुत सीधे सादे स्वभाव के है। ये अच्छे विद्वान् है। विद्या का इन्हें व्यसन है। खूब पुस्तकावलोकन करते हैं। फ्रेंच और जर्मन भाषायें ये अच्छी तरह जानते है। इनके यहाँ प्राचीन भाषाओं की पुस्तकों का अच्छा संग्रह है।

जॉन मार्ले

आज-कल हिन्दुस्तान के कर्त्ता-धर्ता जान मार्ले ही हैं। 'सेक्रेटरी आव स्टेट फ़ार इंडिया' यही हैं। इस देश से सम्बन्ध रखने वाली बातों मे इनकी शक्ति अपार है। इनके पहले ब्राडरिक साहब इस पद पर थे। इतने बड़े लार्ड कर्जन को उन्हीं के कारण लाटपन छोड़ कर विलायत लौट जाना पड़ा। इतने ही से भारत-सचिव की प्रभुता का अन्दाज हो सकता है।

इनका जन्म इंगलैण्ड के ब्लाकबर्न नगर मे, 1838 ईसवी में, हुआ था। कैम्बैल बैनरमैन से ये वर्ष दो वर्ष छोटे हैं। ये आक्सफ़र्ड के बी० ए० हैं। इनकी विद्वत्ता देखकर केम्ब्रिज और ग्लासगो के विश्वविद्यालयों ने इन्हे एल०एल०डी० की पदवी दी है। यह पदवी विरलों ही को मिलती है और बड़ी आद णीय समझी जाती है। इन्होंने कितने ही दैनिक और मासिक पत्रों की सम्पादकता की है। विद्याव्यासंग का इन्हें बड़ा चसका है। लिखने पढ़ने से इन्हें अत्यधिक प्रेम है। पुस्तकें और लेख लिखने का तो इन्हें रोग सा हो गया है। कुछ न कुछ लिखा ही करते हैं। बर्क, क्रामव्यल, रूसो और काबडन के चरित इन्होंने लिखे हैं। उनका बड़ा आदर है। ग्लाडस्टन साहब का तो इतना अच्छा चरित इन्होंने लिखा है कि उसकी बराबरी का एक भी चरित अँगरेजी भाषा में नहीं

है। इस चरित की तीन जिल्दें हैं। इसके लिए एक पुस्तक-प्रकाशक ने डेढ़ लाख रुपये इन्हें दिये हैं!

1883 में पहले पहल इन्होंने 'न्यू कैसल ऑन टाइन' नामक नगर की तरफ़ से पारलियामेंट में प्रवेश किया। तब से बराबर आज तक वहाँ बने हुए हैं। इंगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, परलोकवासी ग्लाडस्टन साहब, के ये चेले हैं। ये भी उदार दल वालों में से हैं। सुनते हैं, इनका सिद्धान्त यह है कि मनोविकारों के वश न होकर जो बात न्याय्य और देशहितकारी मालूम हो वही करनी चाहिए। इस सिद्धान्त का उल्लेख इन्होंने भारत-सचिव होने के पहले, आयरलैंड और भारत के सम्बन्ध में व्याख्यान देते समय, कई दफे दिया भी है। आयरलैंड के यह चीफ़ सेक्रेटरी रह चुके हैं। उस पद पर रह कर उस देश का बहुत कुछ हित इन्होंने किया है। भारत और आयरलैण्ड की कई बातों में थोड़ी बहुत समता है। सम्भव है आयरलैण्ड की तरह भारत की शिकायतें भी दूर करने की ये चेष्टा करें। और कुछ की भी है। 'वन्दे मातरम्' कहने की इन्होंने अनुमति दिलाई है, 'स्वदेशी' मामलों में शामिल होने के कारण जो लड़के बंगाले के स्कूलों से निकाल दिये गये थे उन्हें इन्होंने बिना किसी शर्त के फिर से भरती करा दिया है। फुलर साहब की आक्षेपयोग्य कारस्वाइयों की तीव्र आलोचना भी इन्होंने की थी। उनका इस्तीफ़ा देना भी इन्हीं की दृढ़ न्यायपरता का फल था। सुनते हैं यहाँ के कौंसिलों में हिन्दुस्तानी मेम्बरों की संख्या भी ये बढ़ाना चाहते हैं और विलायत में अपनी कौंसिल में भी एक आध हिन्दुस्तानी रखना चाहते हैं। अलीगढ़-कालेज के मारिसन साहब को रक्खा भी है।

इस देश की प्रजा के नायकों को मार्ले साहब से बहुत कुछ आशा थी, पर कई बातों में उन्हें नाउम्मेदी हो गई है। हिन्दुस्तानियों के माँगे हुए स्वत्व देने में मार्ले साहब को अनेक प्रकार के विचार करने पड़ते होंगे। इंगलैण्ड का लाभ उन्हें पहले देखना पड़ता होगा, भारत का पीछे। फिर जो बातें सैकड़ों साल से होती आई हैं उनको एकदम से बदल देना सहज भी तो नहीं है। व्यवहार और नीति के झूले में इन्हें झूलना पड़ता है। बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनके करने से भारत का तो हित है, पर इंगलैण्ड का अहित। ऐसी बातें करने में इन्हें ज़रूर ही आगा पीछा होता होगा। इसी से इनकी उदार नीतिगर्भित उक्तियाँ इस देश के लिए कम फलवती होती हैं। भारत को इस समय व्यापार-प्रतिबन्ध अपेक्षित है—जिसमें विदेशी माल की आमदनी कम हो जाय। पर हाल में जो कालोनियों का कान्फ़रेन्स लन्दन में हुआ था उसमें इसके ख़िलाफ़ कारस्वाई हुई थी। इसका भी कारण वही इंगलैण्ड का हित-साधन है। लाला लाजपतराय को जो देश से निकाल दिये जाने की सज़ा मिली है इसका भी यही कारण हो सकता है। 6 जून को पारलियामेंट में हिन्दुस्तान के 'बजट' पर बहस करते समय इन्होंने अपना असली रूप दिखा दिया है। आप यहाँ वालों के लाभ के लिए कुछ सुधार के काम ज़रूर करना चाहते हैं; पर ऐसा कोई काम आप न करेंगे जिसके कारण अँगरेज़ी राज्य को धक्का लगे। लाला लाजपत राय और अजीतसिंह का देश-निर्वासन, किसी किसी ज़िले में सभायें करने की मनाई,

सख़्त लिखने वाले अख़बारों पर मुक़द्दमे क़ायम करना आदि अँगरेज़ी राज्य के हितसाधन ही के लिए है।

ख़ैर, जो कुछ हो, मार्ले साहब की गिनती यदि बहुत भले सचिवों में नही तो बुरों में भी नहीं है। इनमें एक और बड़ा भारी गुण यह है कि ये बड़े ही निस्पृह हैं। लोभ इनमें छू तक नहीं गया। प्रसिद्ध करोड़पती ऐंड कारनेगी ने लार्ड आक्टन का पुस्तकालय लाखों रुपये ख़र्च करके मोल लिया और इनकी विद्वत्ता और विद्याभिरुचि पर मोहित होकर इन्हें समर्पण कर दिया। इन्होंने क्या किया कि उस सारे पुस्तकालय को ग्लासगो विश्वविद्यालय को दे डाला ! इनकी उदारता, सत्यनिष्ठा और भलमंसी के कारण इनका नाम पड़ गया है—'प्रामाणिक जॉन'।

[जून, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

शान्ति-सभा के शान्ति प्रेम का एक उदाहरण

रूस-राज के प्रयत्न से 1899 से एक आन्तर्जातिक राजकीय सभा हालैंड के हेग नगर में हुई थी। उसमें और और बातों के सिवा संसार में शान्ति-स्थापन करने के अभिप्राय से नये नये क़ायदे-क़ानून बनाये गये थे। उनके होते भी रूस और जाहान का भीषण युद्ध हो गया। अगस्त 1907 से फिर हेग में ऐसी ही एक सभा हो रही है। सब स्वतंत्र देशों के प्रतिनिधि वहाँ इकट्ठे हैं। युद्ध के समय अन्याय और निर्दयता न होने के लिए इस बार पुराने नियम फिर से नये किये गये हैं और इस बात पर खूब ज़ोर दिया गया है कि पहले तो युद्ध ही न हो और यदि हो तो ज़रा भी निष्ठुरता न की जाय। पर जब युद्ध होता है तब ये सब नियम तिनके से भी अधिक तुच्छ समझे जाते हैं। कोई इनकी कुछ भी परवा नहीं करता। इसका एक उदाहरण 'रिव्यू आफ़ रिव्यूज़' के सम्पादक स्टीड साहब ने अपनी मासिक पुस्तक में दिया है। आप भी इस दफ़े की हेग-सभा में दर्शक के तौर पर हाज़िर हैं।

जिन राज्यों के प्रतिनिधियों ने हेग में बैठकर सभा की, और दस्तावेज़ों पर दस्तख़त करके इस बात की घोषणा की, कि युद्ध में अन्याय न हो, लूट न हो, व्यर्थ प्रजा-पीड़न न किया जाय, किसी के साथ निर्दयता का व्यवहार न किया जाय, उन्ही में से पाँच सात राज्यों की सेना ने जब उस साल चीन पर चढ़ाई की तब उन प्रतिज्ञाओं को उन्होंने बालाय-ताक़ रख दियां। इस विषय में स्टीड साहब से एक ऐसे चीन-वासी से बातचीत करने का मौक़ा हेग में आया जो उस साल लड़ाई के दिनों में पेकिन में हाजिर था। उससे साहब ने पूछा कि कहिए इन युद्ध सम्बन्धी नियमों का परिपालन पेकिन में हुआ था?

"ज़रा भी नहीं। सबने लूट-खसोट की। पर सबने सब चीज़ें नहीं लूटीं। जापानियों ने सिर्फ़ अमीरों को लूटा। पेकिन के राजकीय ख़ज़ाने में छापा मारकर सारी चाँदी लूट ली और टोकियो को भेज दी। बेचारे जर्मन लोग देर से पहुँचे। उनको और कुछ नहीं मिला। मिला सिर्फ़ काठ का सामान—मेज़, कुरसी, बकस आदि"।

"परन्तु, क्या सब देशों की सेना ने लूट मार की?"

अमेरिका वालों ने सबसे अच्छा व्यवहार किया। उन्होने लूट पाट नही की। उनके जनरल ने हुक्म दे दिया था कि जो लूट मचावेगा वह गोली मार दिया जायगा। हिन्दुस्तानी सिपाहियों और रूस के क़ज़्ज़ाक़ लोगों ने सबसे जियादह लूटा। तथापि सबने थोड़ा बहुत माल मारा। कोई कोरा नही रहा"।

"तो युद्ध के नियम नहीं पालन किये गये"?

"नहीं, बिलकुल नहीं। जब सब देशों की फ़ौजों ने पेकिन में प्रवेश किया तब मुझे गलियों में पड़े हुए मुर्दे गाड़ने में मदद देनी पड़ी। हम सबने मिलकर 5000 लाशें

गाड़ीं; उनमें 3500 लाशें स्त्रियों की थीं" !

"स्त्रियाँ लड़ाई में मारी गई थीं, या शहर के बाहर से फेंके गये गोलों से मरी थीं" ?

"नहीं; लड़ाई हो चुकने पर जिन स्त्रियों को 'सोलजर' लोगों ने बेइज़्ज़त किया था ये लाशें उन्हीं की थी। बेइज़्ज़त करने के बाद या तो 'सोलजर' लोगों ने ही इन्हे मार डाला था, या इन्होंने ही आत्महत्या कर ली थी। मेरी समझ में आधे से अधिक स्त्रियों ने मारे लज्जा के ख़ुद ही प्राण दे दिये थे। उन्होंने मुँह दिखाने के बदले मर जाना ही अच्छा समझा"।

"क्या ये स्त्रियाँ ग़रीब और नीच जाति की थी" ?

"इनमें से कितने ही भले घरो की थीं। 'सोलजर' लोगों ने अमीर-ग़रीब और उच्च-नीच का खयाल नही किया। सब पर एक सा अत्याचार किया"।

"सुनिए, हेग की शान्ति-सभा ने जो युद्ध-नियम बनाये है उनमें से एक नियम है—कोई कुटुम्ब बेइज्जत न किया जायगा। किसी का हक़ न मारा जायगा। किसी का माल असबाब न लूटा जायगा। किसी की प्राण-हत्या न की जायगी। किसी आदमी की निज की सम्पत्ति जब्त न की जायगी। इन अत्याचारों के लिए क्या किसी को सजा नहीं दी गई" ?

इसके उत्तर में चीनी सज्जन ने कहा—"जब सभी लोगों ने इस तरह के अत्याचार और अन्याय किये तब सज़ा किसको दी जाती ? जब हम लोगों ने अफ़सरों से शिकायत की तब उन्होंने सबूत माँगा। उन्होने फ़रमाया कि यदि हम इस बात के गवाह पेश करे कि किस 'सोलजर' ने किस स्त्री को बेइज़्ज़त किया तो उसे सज़ा दी जाय। परन्तु ऐसी स्त्रियाँ प्राय: सभी मर चुकी थी; सबूत कैसे दिया जाता ? और यदि जीती भी होती तो एक ही तरह के कपड़े पहने हुए हजारों 'सोलजरो' में से वे अपने अत्याचारी को कैसे पहचान सकती" ?

"अच्छा यह तो 'सोलजर' लोगों की बात हुई। सम्मिलित राज्यो के विषय में आपको क्या कहना है। उन्होंने कुछ अच्छा व्यवहार किया" ?

"नही किया। वे भी प्रजापीड़न, अत्याचार और अन्याय से बाज़ नहीं आई। जिसने जो चीज़ पसन्द की, लूटी। इटली ने ऐतिहासिक सामान लूटा। जर्मनी ने ज्योतिष-विद्या-सम्बन्धी यंत्र लूटे। ये यंत्र अब जर्मनी की हवा खा रहे है"।

"आपने ठीक कहा। जब मैं अँगरेज़ सम्पादकों के साथ जर्मनी गया था तब जर्मन-नरेश ने हम लोगों से भेंट की थी। हम उनका अभिवादन करने गये थे। उस समय हमने ब्रांज़ नामक धातु का एक गोला देखा था। वह चीन से ही वहाँ गया था। जर्मन-नरेश घोड़े पर थे। वह पृथ्वी का गोला उनके घोड़े के एक तरफ़ था और हम लोग दूसरी तरफ़। क्या आप लोग अब उसे लौटा देने के लिए जर्मनी से प्रार्थना नही करेंगे" ?

"नहीं, हम और बनवा लेंगे। उन्हें उसे रखने दीजिए। वह उन्हें उनकी बेशरमी की याद दिलाता रहेगा"।

"अच्छा यह जो नियम किया गया है कि जिस देश पर चढ़ाई की जाय उसके निवासियों को, चढ़ाई करने वालों की सहायता करने के लिए, लाचार नहीं करना चाहिए, उसकी कहाँ तक पाबन्दी हुई थी। क्या आपके देशवासियों से जबरदस्ती काम लिया गया था" ?

"शाही घराने के एक राजकुमार से इटलीवालों ने अस्तबल में काम कराया और इतना सख़्त काम लिया कि वह मर ही गया। सबसे काम लिया गया; कोई नहीं छोड़ा गया"।

"आशा है, ये जो नये नियम बनाये जा रहे हैं उनकी पाबन्दी अब पहले से अधिक होगी"। तथास्तु।

[दिसम्बर, 1907 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

हेग का राष्ट्रीय न्यायालय

भुजबल की अपेक्षा ज्ञानबल का माहात्म्य अधिक है। मनुष्य जैसे जैसे सज्ञान होना है तैसे तैसे ज्ञानबल का महत्त्व अधिकाधिक उसकी समझ में आता जाता है। जैसे जैसे ज्ञान बढ़ता है तैसे ही तैसे बल की महत्ता कम होती जाती है। छोटे छोटे लड़के थोड़ी थोड़ी बात के लिए मारपीट करने पर उतारू हो जाते है; परन्तु समझदार आदमी बड़े बड़े कामों से सम्बन्ध रखने वाले झगड़े भी युक्तिपूर्ण बातो, संभाषणों और तर्कनाओं से शान्ततापूर्वक निपटा लेते है। संसार का इनिहास देखने से मालूम होता है कि असभ्य जगली आदमियो में थोड़ी भी सारासार विचार-बुद्धि आते ही व अपने आपस के झगड़े पंचायत के द्वारा तै करने लगते हैं। यही पंचायतें धीरे धीरे अधिक प्रशस्त होकर मुसिफ, मदरआला, जज, सेशन जज और हाई कोर्ट के न्यायालयों का रूप धारण करती हैं। इन सब कोर्टों में ज्ञानबल ही का प्राधान्य है। यही हाल देशों किंवा बड़े बड़े राज्यो का है। अन्तर सिर्फ़ इतना ही है कि राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने वाले विवादास्पद विषय विशेष महत्त्व के होते हैं। साधारण मनुष्यों के झगड़ों की अपेक्षा राज्यो, देशों, अथवा बादशाहों के झगड़ों का रूप अधिक विशाल होता है। जैसे अनेक व्यावहारिक बातों में लोग आपस में झगड़ा करते हैं वैसे ही राजों के बीच भी आपस में कभी कभी झगड़ा उठ खड़ा होता है। ये झगड़े यदा कदा बड़ा ही विकराल रूप धारण करते हैं। यहाँ तक कि इनके कारण बड़े बड़े युद्ध हो जाते हैं और हजारों मनुष्यों के रक्त की नदियाँ बह निकलती हैं। इन युद्धों की तैयारी के लिए करोड़ों रुपये ख़र्च करने पड़ते हैं। अकेले 1909 ईसवी में, सेना और लड़ाकू जहाजों के लिए इंगलैंड ने 7,00,00,000 पौंड, जर्मनी ने 5,80,00,000 पौड और अमेरिका ने 97,00,000 पौंड ख़र्च किया। एक पौंड 15 रुपये का होता है, यह पाठक जानते ही होंगे। यही रुपया यदि विद्या या विज्ञान की वृद्धि के लिए ख़र्च किया जाता तो कितना लाभ होता! सज्ञान मनुष्य को ऐसे कामों के लिए इतना रुपया फूंक तापना शोभा नही देता। इस प्रकार रुपये का उड़ाया जाना देश की अभिवृद्धि के लिए वहुत ही विघ्नकारक है। यह देखकर योरप के विद्वान्, विचारशील और दयालु लोगों ने यह सोचा कि इस प्रकार के अत्याचार की रीति बन्द करके देश देश में शान्ति-वर्द्धक सभायें स्थापित करनी चाहिए। उनके अधिवेशन कराना चाहिए, उनके सभासदों के द्वारा व्याख्यान दिलवाना चाहिए और राजदण्डधारी पुरुषों का चित्त इस विषय की ओर आकृष्ट करना चाहिए।

इस तरह लन्दन, बर्न, हेग, ब्रुसल्स, बुडापेस्ट, क्रिश्चियानिया, वीना इत्यादि नगरों में इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली बातों पर खूब विचार किया गया। प्रसंगोपात्त गिरजाघरों में भी इसी विषय के उपदेश होने लगे। इस उद्योग का यथारीति आरम्भ जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस, आस्ट्रिया-हंगरी, जापान, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका की स्वतंत्र

रियासतों के राज्याधिकारी पुरुषों ने किया। इन आठों देशों को कुछ दिनों में यह मालूम हुआ कि इस काम को सुव्यवस्थित रीति पर करने के लिए एक अच्छा दफ़्तर चाहिए। इस पर वर्तमान समय के जगत्सेठ आंड्र्यू कारनेगी साहब ने ढाई लाख रुपये दिये। इस धन से हालैंड देश के हेग नामक नगर में एक आलीशान इमारत तैयार की गई। उसका नाम रक्खा गया शान्तिनिवास।

इस समय इस भूमण्डल में जितने राष्ट्र या राज्य हैं उनमें से 35 को इस शान्ति-भवन के न्यायालय की स्थापना पसन्द हुई। उन्होंने इस न्यायालय से अपने पारस्परिक झगड़े निबटाना स्वीकार किया। इन 35 राज्यों की ख़ानाशुमारी 1,28,52,72,000 है। 50 राज्यों ने इस न्यायालय की दी हुई व्यवस्था मानना स्वीकार किया। इन 50 की ख़ानाशुमारी 16,74,36,000 है। अवशिष्ट चार राज्यों ने चुप्पी साधी; न हाँ कहा, न नहीं। इनकी ख़ानाशुमारी 55,62,000 है। इस प्रकार का मतभेद होना स्वाभाविक है। क्योंकि इस न्यायालय की व्यवस्थाओं को मानने के लिए राज्यों को अपने ही वचनों से अपने को बद्ध करना पड़ता है। तथापि इसमें सबके सुभीते की एक बात रक्खी गई है। वह बात यह है कि कोई ऐसा नियम नहीं रक्खा गया कि भिन्न भिन्न राज्यों में आपस में जो सन्धिपत्र या दस्तावेज़ लिखे गये हैं उन सबके सम्बन्ध के विवादों का न्याय इस न्यायालय से कराना नहीं चाहिए। जिन सन्धिपत्रों और इक़रार-नामों से सम्बन्ध रखने वाले विवादों का फ़ैसला भिन्न भिन्न राज्यों ने इस शान्तिनिवास के न्यायधीशों से कराने का निश्चय किया उनकी एक नामावली बना दी गई। इनके सिवा अन्य दस्तावेज़ों के विवादों का निर्णय इस न्यायालय से कराने के लिए कोई राज्य विवश नहीं किया जा सकता। मतलब यह कि जिस बात का निर्णय तुम ख़ुशी से कराना चाहो कराओ, जिसका न कराना चाहो न कराओ। परन्तु, हाँ, पहले से बतला दो कि किस किस विषय में तुम इसके फ़ैसले को मानना चाहते हो, जिसमें पीछे से कोई बखेड़ा न उठ खड़ा हो सके। इस नियम के अनुसार जिन राज्यों ने जितने सन्धिपत्रों के सम्बन्ध के झगड़ों का फ़ैसला इस न्यायालय से कराना मंज़ूर किया है उनकी संख्या इस प्रकार है—

इंगलैंड	12	इटली	9
पोर्चुगल	10	नार्वे	9
स्विट्ज़रलैंड	10	बेलजियम	8
स्पेन	9	डेनमार्क	8
फ्रांस	9	स्विडन	8
अमेरिका की संयुक्त रियासतें	3	जर्मनी	1
हालैंड	4	ब्रेज़ील	1
रूस	4	ग्रीस	1
आस्ट्रिया-हंगरी	3	हंडुरास	1
आरजेंटाइन	2	पेरू	1
मेक्सिको	2	रोमानिया	1

इन सन्धिपत्रों के सम्बन्ध में जो विवाद उपस्थित होते है उनका निर्णय कराने के लिए तत्सम्बन्धी राज्य अपने अपने पक्ष के प्रमाण इस न्यायालय के न्यायाधीशों के सामने पेश करते हैं। परन्तु इसके पहले किसी तटस्थ और बड़े राज्य को विवादास्पद बातों के विषय की पंचायत करने के लिए तीन पंच चुनना पड़ते हैं। अर्थात् वादी-प्रतिवादी राज्य को नहीं; किन्तु किसी ऐसे राज्य को जिसका प्रस्तुत विवाद से कोई सम्बन्ध न हो उसे तीन पंच नियत कराना पड़ते हैं। ये पंच न वादी राज्य के होते हैं, न प्रतिवादी राज्य के। किसी तटस्थ राज्य के होते हैं और ऐसे होते हैं जिनकी न्याय बुद्धि पर सबका पूर्ण विश्वास होता है। इन पंचों के ढूंढ़ने में कठिनता उत्पन्न होती है, क्योकि लोग बहुधा इस पंचायत का काम करना नहीं चाहते। वे समझते हैं कि पंच बनता मानो अपनी न्यायशीलता की परीक्षा देना है। तथापि यह कठिनाई किसी न किसी तरह हल हो ही जाती है। पंच भी मिल जाते हैं और विवादों का निर्णय भी हो जाता है। इस विषय के एक दो उदाहरण देने से बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी।

1902 ईसवी में इस प्रकार की पहली पंचायत हुई। 'कैलीफ़ोर्निया पायस फंड' से सम्बन्ध रखनेवाले एक मामले के विषय में अमेरिका की संयुक्त रियासतों और ब्रेज़ील के मध्य झगड़ा हुआ। यह विवाद इस न्यायालय के सम्मुख आया और उसने सयुक्त रियासतों के पक्ष में निर्णय किया। उसे दोनों पक्षो ने क़बूल किया। युद्ध होना बच गया। दोनों देशों के मध्य उत्पन्न हुआ वैषम्य दूर हो गया।

दूसरा विवाद वेनिज्यूला देश के सम्बन्ध में था। इस देश पर कई राज्यों का क़र्ज था। इन राज्यों में ग्रेट ब्रिटेन, इटली और जर्मनी भी थे। सब राज्य अपना अपना रुपया माँगने लगे। पर उनमें से पूर्वोक्त तीनों देशो ने बडा ही सख़्त तक़ाज़ा शुरू किया। फल यह हुआ कि लड़ाई की नौबत आने के लक्षण देख पड़ने लगे। मामला इस शान्ति-मन्दिर को भेजा गया। फ़ैसला इस बात का माँगा गया कि वेनिज्यूला पर कई देशो का कर्ज़ है। सब तक़ाज़ा कर रहे हैं। पूर्वोक्त तीनों देश भिड़ने पर तैयार है। इस कारण से क्या यह न्याय्य होगा कि औरों का रुपया न देकर पहले इन्ही तीनों का रुपया दे डाला जाय? मालूम नहीं इस मामले का क्या फ़ैसला हुआ। जरूर सब पक्षों के अनुकूल हुआ होगा। अन्यथा इस विषय की कोई विपरीत घटना ज़रूर ही संघटित होती।

न्यूफौंडलैण्ड में मछली का शिकार करने के सम्बन्ध में इंगलैंड और अमेरिका को कुछ हक़ मिले हैं। उनके सम्बन्ध में अभी, कुछ ही समय हुआ, जो विवाद हुआ उसका भी फ़ैसला इसी न्यायालय ने किया है और उसे दोनों देशों ने सिर झुकाकर मान लिया है। इस मामले का फ़ैसला करने के लिए जो पंच नियत किये गये थे उनमें डाक्टर लामास्क सरपंच थे। ये आस्ट्रिया के रहने वाले हैं, और बड़े विद्वान् है। इंगलैंड के पक्ष के एक विद्वान् और बहुश्रुत वकील ने उनके विषय में लिखा है—"इनमें आबाल-वृद्ध सबकी अत्यन्त पूज्य बुद्धि है। ये उत्तम अँगरेजी बोल सकते हैं। इसके सिवा लैटिन, फ्रेंच और स्पैनिश भाषायें भी ये अच्छी तरह जानते हैं। जान पड़ता है कि सब देशों के क़ानून का इन्हें अच्छा ज्ञान है। न्याय करने में यह ज्ञान इन्हें बहुत उपयोगी होता है। प्रतिष्ठा-पात्रता की ये प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। इनका भाषण शान्त भाव से परिपूर्ण रहता है।

प्रकृत विषय को छोड़कर ये कभी एक शब्द नहीं बोलते । ये अत्युत्तम न्यायाधीश हैं । इस कारण, सब इन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ।

इन बातों से इस न्यायालय की महत्ता की थोड़ी बहुत कल्पना करने में पाठको को कुछ सहायता ज़रूर मिलेगी । ये सब बातें यहाँ पर लिखने का असल मतलब यह है कि विनायक दामोदर सावरकर का मुक़द्दमा इसी न्यायालय के न्यायाधीशों के सामने पेश होगा । सावरकर इंगलैंड में पकड़े गये । एक जहाज़ में बिठाकर उन्हें इस देश को भेजने का प्रबन्ध हुआ । पुलिस के अफ़सर निगरानी के लिए साथ चले । जहाज़ मारसेलिस बन्दर में पहुँचा । यह स्थान फ्रांस के अधीन है । यहाँ सावरकर एक छेद के भीतर घुसकर जहाज़ के नीचे समुद्र में कूद पड़े और तैरकर किनारे पहुँच गये । वहाँ से उन्होने भागने की चेष्टा की; परन्तु पुलिस उन्हें पकड़कर फिर जहाज़ में ले आई और हिन्दुस्तान पहुँचा दिया । यह काम फ्रांस और इंगलैण्ड के पारस्परिक सन्धिपत्र के अनुकूल हुआ या प्रतिकूल, विवाद इसी बात का है । दोनो देशों ने इस विवाद का निर्णय हेग के शान्ति-निकेतन से चाहा है । आवश्यक काग़ज़-पत्रो पर दोनों पक्षों के अधिकारियों के दस्तख़त हो गये है । 15 फ़रवरी 1911 से इसकी पेशी है । हिन्दुस्तान से सम्बन्ध रखने वाला यह पहला ही मुक़द्दमा हेग के राष्ट्रीय न्यायालय में सुना जायगा ।

[जनवरी, 1911 की 'सरस्वती' में प्रकाशित । असंकलित ।]

जापान-सागर के विजयी वीर

रूस-जापान की लड़ाई के कई इतिहास अँगरेजी मे इंगलैण्ड और अमेरिका से निकलते है। भाषा-सौन्दर्य्य, विषय-विवेचना और आलोचना के लिए, इनमें से, कासल कम्पनी का इतिहास सबसे अच्छा है। वह लण्डन से निकलता है। पहले वह साप्ताहिक था। अब, कुछ दिनों से, मासिक हो गया है। सूशिमा की सामुद्रिक लड़ाई का वर्णन उसमें शायद नवम्बर तक छपेगा। जो इतिहास जापानी लोग खुद जापान से अँगरेजी में निकालते है, उसकी जुलाई ही की संख्या में इस लड़ाई का सविस्तर वृत्तान्त प्रकाशित हो गया है। उसे पढ़ कर जापानियों की शूरवीरता, निःसीम देशभक्ति, प्रचण्ड साहस और अप्रतिम रणकौशल का चित्र सा हृदय पर खचित हो जाता है। इस इतिहास से बहुत सी नई नई बाते मालूम हुई है। बालटिक बेड़े के, जो कि जापानी बेड़े को जड़ से नाश करने के लिए भी था, सिर्फ़ ब्लाडीवस्ताक पहुँचने के लिए नही, जो रूसी अफ़सर जापान में कैद है, उनसे मालूम हुआ कि अपने बेड़े के सामने वे जापानी बेडे को कुछ समझते ही न थे। इसी से निडर होकर उन्होंने जापान-सागर से निकल जाने का निश्चय किया था। एक रूसी अफ़सर की राय मे रूस की हार का कारण यह हुआ कि ऐडमिरल रोजेंवेस्को ने इस बात का पता लगाने की जरा भी कोशिश नही की कि जापानी बेड़ा कहाँ पर है और उसकी शक्ति कितनी है। रूसियों को अपनी शक्ति पर पहले ही से इतना विश्वास था कि इन बातों को जानने की तकलीफ़ उठाना उन्होंने व्यर्थ समझा कि जिन जहाज़ों के भरोसे रूस ने जापान को पहले ही से परास्त हुआ समझा था, जापानियों ने उनके भीतर सैकड़ों मन कोयले की ख़ाक और कूड़ा और बाहर, समुद्री घास और काई लगी हुई पाई! रूसियों ने अपने जहाज़ो मे बे-हिसाब कोयला भरा था; जहाँ कोयला लादने की जगह थी वहाँ भी और जहाँ न थी वहाँ भी। और कोयला ख़र्च हो जाने पर भी उन्होंने जगह साफ न की थी।

टोगो ने किस कौशल से अपने बेड़े को छिपा रक्खा था, यह बात जापानी इतिहास लेखक अभी नही बताना चाहता। पर जगह जगह पर वह कहता है, "as pre-arranged" (जैसा पहले निश्चय हो चुका था)। इससे प्रमाणित है कि लड़ाई के पहले ही छोटी बड़ी सब बातें निश्चित हो चुकी थी। 27 मई, 1905 को सुबह बेतार को तारबर्क़ी से टोगो को रूसी बेड़े के आगमन की खबर मिली। खबर होते ही टोगो ने अपने सब अफ़सरों को तार दिया। जापानी बेड़ा कई भागों मे बँटा हुआ था। दोपहर होते ही सब भाग अपने अपने स्थान पर पहुँच गये। शत्रु का आगमन सुनकर ख़लासियों से लेकर ऐडमिरलो तक को बेहद खुशी हुई। हर आदमी को यही हौसला हुआ कि वह रूसियों को परास्त करके विजय का सारा यश अकेला ही लूट ले। लड़ाई दिन के दो बजे के क़रीब शुरू हुई और दूसरे दिन दोपहर बाद समाप्त हुई।

जापानियों ने ऐसी वीरता दिखलाई जैसी आज तक की समुद्री लड़ाइयों में कभी नही सुनी गई थी। रूसियों का बेड़ा प्रायः समूल नष्ट हो गया। कई ऐडमिरल पकड़े गये। कई बड़े बडे जहाज पकड़े गये। 27 मई को हवा बहुत तेज थी। समुद्र क्षुब्ध हो रहा था। टारपीडो बोट और डेमट्रायर नामक छोटे जहाज़ समुद्र में ठहर नहीं सकते थे। इसलिये उन्हे उथले पानी में जाना पडा। वे शुरू लड़ाई मे शामिल नहीं हो सके। इस कारण उनके अफ़सरों और आदमियों को अवर्णनीय दुःख हुआ। उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की। ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुनी। शाम को समुद्र कुछ शान्त हुआ। उन लोगों की खुशी की सीमा न रही। वे भीम वेग से खुले समुद्र की तरफ़ दौड़े और मौत को एक तिनके के बराबर भी न समझकर रूसी जहाज़ों पर उन्होंने बड़े ही बल विक्रम से हमला किया। अनेक छोटे बड़े जहाज उन्होंने तोड़ फोड़कर समुद्र के नीचे पहुँचा दिये। उनकी बहादुरी और निर्भयता की रूसियों तक ने सहस्र मुख से तारीफ़ की। एक रूमी अफ़मर ने जापानी टारपीडो बोटो के हमले की भयंकरता को 'अवर्णनीय' कहा। टोगो ने खुद कहा कि ये लोग आपस में एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करके आगे बढ़ते और शत्रुओं पर, जी जान की कुछ परवा न करके, हमला करते थे। एक टारपीडो बोट बहुत ही कमज़ोर थी। पर उसने सबसे बडा काम किया। कई व्यापारी जहाज़ आ रहे थे। इशारे से उसने उनको दूर जाने को कहा। पर उन्होंने इशारे नहीं देखे। तब वह उनके पास तक दौड़ गई और उनको युद्ध की सीमा से दूर रहने के लिए खबरदार किया। वे न जानते थे कि पास ही युद्ध हो रहा है। फिर वह बोट वहाँ से लौट आई और कई एक बहादुरी के काम उसने किये। लड़ाई के अन्त में विजय की बड़ाई टोगो ने नहीं ली; अपने अफ़सरों को भी नही दी। दी किसे ? मिकाडो को ! धन्य उदारता ! धन्य राजभक्ति ! मिकाडो ने उत्तर में अपनी जहाज़ी सेना और जहाज़ी अफ़सरों को यथेष्ट बधाई दी और विजय का कारण उन्हीं की देशभक्ति और वीरता को बतलाया। रूस-जापान में अब परस्पर सन्धि हो गई है। सन्धि में भी महाराज मिकाडो ने अपनी उदारता से संसार को चकित कर दिया है। उन्होंने रूस से लड़ाई का खर्च नहीं लिया। सिर्फ़ आधा सघालीन टापू और क़ैदियों के खिलाने पिलाने का खर्च लेकर ही रूस को उन्होने छोड़ दिया। इस उदारता पर प्रायः सारा संसार आपकी प्रशंसा कर रहा है। पर रूस वाले कही इस उदारता को कमजोरी न समझ लें।

जिन वीर अफ़सरों ने जापान-सागर में रूसी बेड़े का नाश करके जापान की सामुद्रिक शक्ति को निष्कण्टक कर दिया, उनके समूह का चित्र हम इस संख्या में प्रकाशित करते है।

[सितम्बर, 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

लार्ड कर्जन—लार्ड मिण्टो

लार्ड कर्ज़न और लार्ड किचनर में नहीं बनी। लार्ड किचनर ने फ़ौजी सुधार करना चाहा। लार्ड कर्ज़न ने सुधार का विरोध किया। झगड़ा बढ़ा। उसमें जंगीलाट की जीत हुई। चाहिए था कि लार्ड कर्ज़न तभी इस्तेफ़ा देकर अलग हो जाते। पर आपने वैसा नहीं किया। आपने चाहा कि जंगीलाट के सुधार के प्रस्ताव में कुछ संशोधन हो जायँ। संशोधन मंजूर हुए, पर पूरे तौर पर नहीं। खैर, बड़े लाट ने जंगीलाट के प्रस्तावों के अनुसार फ़ौजी महकमे के उद्धार में योग देना क़बूल कर लिया। पर आपने एक ऐसे अफ़सर को अपनी मदद के लिए माँगा जो इस फ़ौजी संशोधन के ख़िलाफ़ था। इस कारण विलायत से उसके लिये मंजूरी न मिली। इस पर लार्ड कर्ज़न ने ख़फ़ा होकर इस्तेफ़ा दे दिया। आपके और स्टेट सेक्रेटरी के दरमियान, इस विषय में, जो लिखा पढ़ी हुई, वह बहुत ही कटु है। उससे बढ़कर विषाक्त वह लिखा पढ़ी है जिसमें लार्ड कर्ज़न और लार्ड किचनर ने परस्पर एक दूसरे की बातों की समालोचना की है। गवर्नमेण्ट के इतने बड़े अधिकारियों के दरमियान ऐसा तीव्र वाद-प्रतिवाद शायद ही और कभी हुआ हो। लोगों की राय है कि लार्ड कर्ज़न का पक्ष ठीक है, किचनर का ठीक नहीं। जिस तरह का फ़ौजी संशोधन विलायती गवर्नमेण्ट ने लार्ड किचनर के कहने से मंजूर किया है, उसमें जंगी लाट का प्रभुत्व और फ़ौजी ख़र्च दोनों बढ़ जायँगे।

हिन्दुस्तानियों की दृष्टि में लार्ड कर्ज़न ने, अपने समय में, जितने बुरे और भले काम किये हैं, उनका हिसाब इस तरह है—

भले

(1) योरोपियनों के हाथ या लात से हिन्दुस्तानियों की मृत्यु, या उन पर होने वाले हमलों को रोकने का प्रबन्ध।

(2) व्यापार, कलकारख़ाना आदि के सम्बन्ध में अलग एक महकमे की स्थापना।

(3) पूसा में कृषिविद्या-विषयक कालेज।

(4) नमक पर सरकारी महसूल का कम कर देना।

(5) पाँच सौ की जगह हज़ार रुपये या अधिक आमदनी पर टैक्स(टिकट)लगना।

(6) जो गोरी फ़ौज बोरों से लड़ने के लिए अफ़रीका भेजी गई थी, उसका ख़र्च इंगलैण्ड को दिलाये जाने के लिए लड़ना।

(7) गोरी फ़ौज की तनख़्वाह बढ़ाकर एक करोड़ से भी अधिक रुपये का ख़र्च हिन्दुस्तान पर लादने के विलायती प्रस्ताव का विरोध करना।

(8) लार्ड किचनर के फ़ौजी प्रभुत्व व इस प्रस्ताव को रोकने की चेष्टा करना।

(9) प्राचीन स्थानों और इमारतों को नष्ट होने से बचाना।

(10) रेल में तीसरे दरजे के मुसाफ़िरों के आराम की तरफ़ ध्यान देना।

बुरे

(1) कलकत्ते के म्युनिसिपल महकमे की स्वदेशी स्वाधीनता का नाश।

(2) गवर्नमेण्ट की लगान-सम्बन्धिनी नीति का अनुमोदन।

(3) यूनिवर्सिटी-सम्बन्धी नया क़ानून लगा कर सिनेट में सरकारी अफ़सरों की प्रधानता।

(4) गवर्नमेण्ट की गुप्त बातों को न जारी करने के विषय का क़ानून।

(5) प्रतियोगी परीक्षाओं को उठा देना।

(6) अफ़सरों की सिफ़ारिश ही पर हिन्दुस्तानियों को प्रबन्ध और न्याय-विभाग में नौकरी देना।

(7) महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र का बुरा अर्थ करना।

(8) गोरे और काले चमड़े को देखकर नौकरी देने का नियम करना।

(9) तिब्बत पर अनावश्यक चढ़ाई करके देश का रुपया व्यर्थ बरबाद करना।

(10) बरार को निज़ाम से हमेशा के लिए ले लेना।

(11) दो एक हिन्दुस्तानी राजाओं के साथ अनुचित बर्ताव करना।

(12) देहली-दरबार में व्यर्थ रुपया फूंकना और अपनी शान को सबसे अधिक बढ़कर दिखलाना।

(13) कलकत्ते में अपनी 'कनवोकेशन' वाली वक्तृता में हिन्दुस्तानियों पर अनुचित इलज़ाम लगाना।

(14) बंगाल के दो टुकड़े करके बंगवासियों के जातीय बल को कम कर देना।

लार्ड कर्जन के इस पिछले काम ने बंगालियों को बहुत ही क्षुब्ध कर दिया है। जब आपके इस्तेफ़े की खबर कलकत्ते में पहुँची, तब बंगालियों ने खुशी के आवेश में रोशनी करने का इरादा किया। परन्तु कुछ समझदार आदमियों ने इस बात को पसन्द न किया। इससे रोशनी रुक गई। लार्ड कर्जन के इस काम ने देश में—विशेष करके बंगाल में—स्वदेशी चीजों ही को काम में लाने का जोश पैदा कर दिया है। यदि यह जोश जग जाय तो बहुत अच्छा हो और इसका सारा पुण्य लार्ड कर्ज़न ही के हिस्से में आवै। सच कहते हैं, कभी कभी बुराई से भी भलाई होती है।

नवम्बर के मध्य में लार्ड कर्ज़न जाते हैं। आपकी जगह लार्ड मिण्टो आते हैं। इनके पूर्वज एक दफा, 1807-1813 ई० तक, यहाँ गवर्नर जनरल रह चुके हैं। उनके पहले लार्ड वेलस्ली यहाँ गवर्नर जनरल थे। उन्होंने अपने कई एक कामों से प्रजा को अप्रसन्न किया था। कई बखेड़े उठ खड़े हुए थे। उनको लार्ड मिण्टो ने आकर शान्त किया था। आपकी गवर्नर जनरली में प्रजा बहुत प्रसन्न रही थी। यह समय भी कुछ वैसा ही है। लार्ड कर्ज़न ने भी बहुत से काम प्रजा की मरजी के खिलाफ़ किये हैं। इस कारण प्रजा आपसे प्रसन्न नहीं है। आशा है अपने पूर्वज लार्ड मिण्टो की तरह नये लार्ड मिण्टो भी इस देश के शासन में उदारता दिखला कर प्रजा के दुःखों को भुला देने की चेष्टा करेंगे। जब लार्ड कर्ज़न ने लार्ड किचनर के जंगी प्रस्ताव का विरोध किया तभी

विलायती मन्त्रिमण्डल ने अनुमान कर लिया था कि शायद लार्ड कर्ज़न इस्तेफ़ा दे दें। इस कारण लार्ड मिण्टो, सुनते हैं, पहले ही से हिन्दुस्तान आने के लिए तैयार कर रक्खे गये थे। आप लार्ड होकर वीर पुरुष हैं। आपको जंगी काम और जंगी महकमे का बहुत कुछ अनुभव है। आपने लड़ाई के मैदान में भी बहादुरी दिखलाई है और 6 वर्ष तक कनाडा की गवर्नर जनरली भी बड़ी योग्यता से की है। आप जंगीलाट लार्ड किचनर के काम काज को अच्छी तरह समझ सकेंगे। इसीलिए हिन्दुस्तान की गवर्नर जनरली पर आपकी योजना हुई है।

लार्ड मिण्टो का खिताब अर्ल है। आप पुराने लार्ड मिण्टो की चौथी पीढ़ी में हैं। आपका पूरा नाम है गिलबर्ट जान इलियट अर्ल आफ़ मिण्टो। इस समय आपकी उमर कुछ कम 60 वर्ष की है। आप ट्रिनिटी कालेज के बी०ए० हैं। आपको लिखने पढ़ने से भी बहुत शौक़ है। आपके छोटे भाई 'एडिनबरा रेव्यू' नामक प्रसिद्ध मासिक पत्र के सम्पादक हैं। उसमें, और कभी कभी और पत्रों में भी, लार्ड मिण्टो भी लेख दिया करते हैं।

लार्ड मिण्टो 1867 ईसवी में 'स्काट गार्ड्स' नामक सेना में भरती हुए। उसमें आप तीन वर्ष तक रहे। फिर आप 'रिजर्व' में चले आये। 1879 ईसवी में आप अफ़ग़ानिस्तान की लड़ाई में शामिल थे। 1881 में आप अफरीक़ा के केप कालोनी में लार्ड राबर्ट्स के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। उस समय वहाँ भी लड़ाई जारी थी। 1882 में आप अपनी तरफ़ से मिश्र की लड़ाई में गये थे और वहाँ घायल हुए थे। जिस समय कनाडा में लार्ड लैंसडौन गवर्नर जनरल थे, उस समय, 1883 से 85 तक, आप उनके युद्धमन्त्री थे। 1898 में लार्ड मिण्टो कनाडा के गवर्नर जनरल हुए। इस पद पर आप गत वर्ष तक रहे। आपके शासन से कनाडा वाले बहुत प्रसन्न रहे। आपने वहाँ कई एक काम प्रजा के हित के किए। चलते समय आपका बड़ा सम्मान हुआ। आपको मछली मारने और शिकार खेलने का बड़ा शौक़ है। लड़कपन में आप दौड़ते भी खूब थे और घुड़दौड़ में भी शामिल होते थे। एक बार दौड़ने में आपके चोट भी आ गई थी। आपका महल बहुत अच्छा और खूब सजा हुआ है। आप ही के वक़्त में युवराज प्रिंस आफ़ वेल्स कनाडा पधारे थे। आपने प्रिंस के आदरातिथ्य का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। आप ही के समय में यहाँ भी युवराज का आगमन होगा। आपकी लेडी साहिबा ने युवराज के आदर-सत्कार के सम्बन्ध में कनाडा में आपकी बड़ी सहायता की थी। लेडी मिण्टो को, सुनते हैं, प्रजा के सुख दुःख का खूब खयाल है। कनाडा में कुछ जगहें ऐसी थीं जहाँ बीमारों के दवा पानी का कोई प्रबन्ध न था। लेडी मिण्टो ने चन्दा करके वहाँ अस्पताल बनवा दिए और बीमारों की सेवा शुश्रूषा का भी प्रबन्ध कर दिया। लेडी साहबा स्केटिंग नाम का अँगरेजी खेल (बर्फ़ से जमी हुई नदियों पर) अच्छा खेलती हैं।

कनाडा की गवर्नरी को छोड़कर लार्ड मिण्टो का सम्बन्ध आज तक जंगी कामों से ही रहा है। लार्ड हार्डिंग के बाद आप ही एक ऐसे गवर्नर जनरल यहाँ आते हैं जो जंगी काम पर रहे हों। लार्ड किचनर भी जंगी; लार्ड मिण्टो भी जंगी। कुशलमस्तु।

[अक्टूबर, 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

सबसे बड़ा हीरा

दक्षिणी अफ़रीका में बोर लोगों की पुरानी राजधानी प्रिटोरिया नगर है। उसके पास प्रीमियर नाम की एक हीरे की खान है। उसमें, कुछ समय हुआ, एक बहुत बड़ा हीरा निकला है। यह हीरा आज कल लन्दन में विराज रहा है। बड़ी ख़बरदारी के साथ ट्रांसवाल से वह लन्दन पहुँचाया गया है। जितने बड़े बड़े हीरे इस समय तक पाये गये है, उनसे यह कई गुना बड़ा है। देखने में वह काँच के एक छोटे ग्लास के बराबर है। जिस समय उसके निकलने की ख़बर दूर दूर तक पहुँची, उस समय उसकी क़ीमत अन्दाज़न एक करोड रुपए के कूती गई। जिन्होंने उसे देखा है, वे इस अन्दाज को ग़लत नही बतलाते। यह विशाल हीरा नाप मे $4 \times 2\frac{1}{2} \times 1\frac{1}{4}$ इंच है। इसका वजन 3032 कैरट है। अर्थात् कोई तीन पाव के क़रीब !

यह हीरा प्राय: निर्दोष है। एक आध निशान इसमें कही कही पर है। पर काट कर सुडौल करते समय वे निकले जायँगे और हीरे के आकार मे विशेष कमी न होगी। यह बिलकुल सफ़ेद और पारदर्शक है। देखने में यह बर्फ का एक बड़ा टुकड़ा सा जान पड़ता है। एक विलायती जौहरी का मत है कि आज तक जितने अच्छे अच्छे हीरे मिले हैं, उन सबसे यह अधिक स्वच्छ और पानीदार है। इसकी बनावट से मालूम होता है कि असली स्थिति में यह हीरा बेहद बड़ा रहा होगा। मुमकिन है, इसका वज़न मनो रहा हो ! इस प्रचण्ड रत्न-राज के नीचे का हिस्सा भर शेष रह गया है; और सब कई टुकड़ों में होकर उड़ गया है। नही मालूम, ये उड़े हुए टुकड़े कहाँ गये, या क्या हुए, अथवा वे कभी किसी को मिलेंगे या नही।

आश्चर्य्य की बात है कि हीरे की उत्पत्ति कोयले से होती है। कोयले के समान काली चीज़ से हीरे के समान दीप्तिमान रत्न निकलता है ! पृथ्वी के पेट में भरी हुई असीम उष्णता के योग से हीरे बनते है। जब वह उष्णता अतुल वेग के साथ पृथ्वी की तहों को तपाती और फाड़ती हुई ऊपर आती है, तब किसी किसी जगह एक विशेष प्रकार की रासायनिक प्रक्रिया शुरू होती है। जिस जगह इस प्रक्रिया की सहायक सब सामग्री रहती है, उस जगह हीरे की उत्पत्ति होती है। दक्षिणी अफ़रीका की खानों से यह साफ ज़ाहिर होता है कि वहाँ पर किसी समय ज्वालामुखी पर्वतों के मुँह से बहुत ही भयंकर स्फोट हुए है। जिन मुँहों से होकर पृथ्वी के पेट से आग निकली है, वे अब तक बने हुए है। उन्हीं के आस-पास, एक प्रकार की पीली जमीन में, गड़े हुए हीरे मिलते है। पर उस जमीन की बनावट से यह मालूम होता है कि जो हीरे वहाँ निकलते हैं, वे वहाँ नही बने। वे उससे भी बहुत दूर नीचे बने थे। वहाँ से ज्वालागर्भ पर्वतो के स्फोट के समय वे ऊपर फेंक दिये गये हैं। विषम ज्वाला और अतिशय दबाव के कारण, वहीं उतनी गहराई मे, कोयले के साथ और और चीज़ों का रासायनिक संयोग होने से वे

उत्पन्न हुए होंगे। प्रीमियर खान के पास जो ज्वाला-वमन हुआ होगा, उसका वेग बहुत ही प्रचण्ड रहा होगा। वेग ही की प्रचण्डता के कारण, जो हीरा निकला है, उसकी शिला के टुकड़े टुकड़े हो गये होंगे।

इस रत्न-शिला का जो टुकड़ा निकला है, वह छोटा नही है। वह बहुत बड़ा है। खान के मालिक उसकी प्राप्ति मे बेहद खुश हैं। यह इस तरह की खुशी है कि इसने उनको अन्देशे मे नही, ख़तरे तक में डाल दिया है। उनको यह विशाल हीरक-रत्न बोझ सा मालूम हो रहा है। कोई मामूली आदमी तो उसे खरीद ही नही सकता। यदि कोई ख़रीदेगा तो राजा या राजराजेश्वर। परन्तु राजेश्वरों को भी इसकी क़ीमत देते खलेगा। इस हीरे की क़ीमत नियत करना केवल एक काल्पनिक बात है; सिर्फ एक ख़याली अन्दाजा है। 1750 से 1870 ईसवी तक हीरे का दाम उसके वजन के वर्ग-मूल के हिसाब से लगाया जाता था। दूसरे देशो में हीरे की तौल कैरट से होती है। एक कैरट मे चार ग्रेन होते हैं और एक माशे में कोई 15 ग्रेन। प्रत्येक हीरे की क़ीमत उसके रूप और द्युति के अनुसार होती है। किसी की थोड़ी होती है, किसी की बहुत। कल्पना कीजिए किसी हीरे की कीमत फ़ी कैरट 100 रुपये के हिसाब से निश्चित हुई, तो दो कैरट की क़ीमत 2 × 2 = 100 = 400 रुपये और तीन कैरट की क़ीमत 3 × 3 × 100 = 900 रुपये हुए। अब यह जो नया हीरा निकला है, इसकी क़ीमत इसी हिसाब से लगाइए। इसका वजन है 3032 कैरट। अतएव 3032 × 3032 × 100 = 91,93,02,400 रुपये क़ीमत हुई। एक अरब के क़रीब। कौन इतनी क़ीमत देगा? जब से अफ़रीका में हीरे निकलने लगे, तब से हीरो की क़ीमत नियत करने का यह तरीका उठ गया। परन्तु जौहरियों का अन्दाज़ा है कि यह विशाल हीरा 75,00,000 से 1,50,00,000 रुपने तक बिक जायगा। इतना रुपया क्या थोड़ा है! बहुधा ऐसा होता है कि बडे बडे हीरो को काट काट कर छोटे छोटे टुकड़े कर डाले जाते हैं। इस तरह उन्हे बेचने में सुभीता होता है। सम्भव है, इस हीरे की भी यही दशा हो। परन्तु इतने अच्छे और इतने बड़े हीरे को छिन्न-भिन्न कर देना बडी क्रूरता का काम होगा। तथापि बडे बडे हीरों को रखना धोखे और ख़तरे में पडना है। इतिहास इस बात की गवाही दे रहा है कि जिनके पास बड़े बडे हीरे रहे है, उन्हे अनेक आपदाओं में फँसना पडा है।

टिफ़ानी नाम की खान से 969 कैरट वज़न का जो हीरा निकला था, वह आज तक सब से बड़ा समझा जाता था। पर इस नये हीरे ने बड़ेपन में उसका भी नम्बर छीन लिया। जिस समय यह हीरा तराश कर ठीक किया जाएगा, उस समय उसकी सूरत और ही तरह की हो जायगी और वज़न भी उसका कम हो जायगा। तिस पर भी यह दुनिया भर के हीरों से कई गुना बड़ा रहेगा। प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा काटने से वज़न में बहुत कम हो गया है। उसका आकार भी छोटा हो गया है। पहले उसका वजन 793 कैरट था। परन्तु जिस आदमी ने उसे काट छाँट कर ठीक किया, वह हीरा-तराशी के काम को अच्छी तरह न जानता था। इसका फल यह हुआ कि कोहेनूर का वजन सिर्फ़ 279 कैरट रह गया। वह एक बार फिर तराशा गया। इस बार कम होकर उसका

वज़न 106 ही कैरट रह गया। इस हीरे का इतिहास पाठकों को मालूम ही होगा। इसलिए पिष्ट-पेषण की क्या ज़रूरत ?

प्रिंस आरलफ़ नाम का हीरा भी एक बहुत प्रसिद्ध हीरा है। वह रूस-राज के पास है। उसका आकार गुलाब जैसा है। उसका वज़न $194\frac{3}{4}$ कैरट है। फ्लाटाइन नामक हीरा पीले रंग का है। वह आस्ट्रिया के राजभवन की शोभा बढ़ा रहा है। उसका वजन 133 कैरट है। स्टार आफ़ साउथ अर्थात् 'दक्षिण का तारा' नाम का हीरा ब्रेजील में एक हबशी को 1853 ईसवी में मिला था। उसका वजन 254 कैरट है। दक्षिणी अमेरिका में जितने हीरे निकले है, यह उनमें सबसे बड़ा है। काटने पर इसका वजन 124 कैरट रह गया है। रूस-राज के पास एक और बहुत बड़ा हीरा है। उसका नाम है ग्रेट (बड़ा) मोग़ल। वज़न उसका 279 कैरट है। साँसी नामक हीरा भी बहुत दिनों तक रूस-राज के पास था। पर 1799 में उसे एक जौहरी ने 2,10,000 रुपये में मोल ले लिया। यह हीरा कई आदमियों के पास रह चुका है। यह साँसी नाम के एक आदमी के पास था। इसीलिए इसका नाम साँसी पड़ा। एक दफ़े उस साँसी ने इसे राजा तीसरे हेनरी के पास भेजा। जो आदमी उसे लेकर चला, उसे रास्ते में चोरों ने मार डाला। पर उसने मरने के पहले ही वह हीरा निगल लिया था; इससे वह चोरों को न मिला। साँसी ने उसे उस आदमी के मेदे को फाड़ कर निकाल लिया।

इस तरह कोई चौदह पन्द्रह हीरे इस समय संसार में बहुत क़ीमती समझे जाते हैं। पर यह नया हीरा द्युति और विशालता में उन सबसे बढ़कर है।

[अक्टूबर, 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

जापान की शिक्षा-प्रणाली

'नेशनल रिव्यू' नामक अँगरेजी के सामयिक पत्र में एक लेख जापान की शिक्षा-प्रणाली पर निकला है। उसमें लिखा है कि जापान के छोटे-छोटे लड़के जो मदरसों में पढ़ते हैं, वे छ बजे सुबह खाना खा चुकते हैं। सात बजे वे मदरसे जाते हैं और बारह बजे तक वहाँ रहते हैं। इन पाँच घण्टों में खेल-कूद के लिए भी उन्हें वक़्त मिलता है। इतवार को सब दिन छुट्टी रहती है; शनिवार को आधे दिन। बीच जाड़ों में 15 दिन की छुट्टी होती है और एक एक हफ्ते की अप्रैल और अगस्त में। एक तजर्बेकार अँगरेज शिक्षक लिखता है कि उसने जापानी लड़कों को आपस में झगड़ा करते कभी नहीं देखा। साल में कम से कम एक दफ़े लड़कों को बाहर सफ़र करने जाना पड़ता है। इस सफ़र में जितनी बातें सिखलाई जा सकती है, सिखलाई जाती है। बेत की सजा नही दी जाती। जापानी स्कूल मास्टर कभी गुस्सा नही करते, गुस्सा करने से वे लोग दूसरों की नज़र में गिर जाते हैं। लड़के अपना सबक़ खूब दिल लगा कर याद करते हैं। सबक़ याद करने से जी चुराना वे जानते ही नहीं। अमीर और ग़रीब सबके लड़के एक ही साथ मदरसे जाते हैं। जापानी लोग काम करने और बोलने में बेहद शिष्टाचार दिखलाते है; वे कभी किसी के साथ असभ्यता का व्यवहार नहीं करते। जापान में वजीफे भी खूब दिये जाते है। कुछ वजीफ़े वहाँ उधार के तौर पर भी दिये जाते हैं। जिन लड़कों को ऐसे वजीफ़े मिलते है, वे जब पढ लिख कर तैयार हो जाते है, तब वे अपने ही समान दूसरे लड़के के फ़ायदे के लिए अपने वजीफे का रुपया लौटा देते है। मदरसो मे कसरत करना भी सिखाया जाता है। लड़के तोते की तरह किताबें नही रटने पाते। प्रारम्भिक मदरसो में हफ्ते मे दो घंटे नीति-शिक्षा दी जाती है। जो मदरसे कुछ बड़े है, उनमें हफ़्ते मे एक घंटा नीति-शिक्षा दी जाती है। नीति की शिक्षा में, ऐतिहासिक और मामूली आदमियो के उदाहरण देकर, नीति के तत्त्व अच्छी तरह समझा दिये जाते है। नीति-शिक्षा मे जो उदाहरण दिये जाते है, उनमे बहादुरों की बहादुरी का जिक्र नही रहता। उनमे उदारता, दया और आत्म-संयमन (अपने आपको काबू मे रखना) आदि गुणो की महिमा रहती है। जापानियों में धार्म्मिक उत्साह कम, पर देश-भक्ति और उदारता अधिक होती है। 1892 ईसवी में जापानी लड़को की एक क्लास मे यह पूछा गया कि उनकी सबसे बड़ी अभिलाषा क्या है? इसके जवाब में उन्होने लिखा—"सबसे अधिक प्यारे अपने राजेश्वर के लिए मर जाने की अनुमति पाना"। जापानी लोग अपने राजा को ईश्वर का अवतार समझते हैं।

जापान में स्त्री-शिक्षा का भी अच्छा प्रचार है। 1900 ईसवी में स्त्रियों की 'जी यूनीवर्सिटी' (विश्वविद्यालय) टोकियो में स्थापित हुई, वह सबमें श्रेष्ठ है। जो लोग पुराने ख़यालात के थे, उन्होंने इस विश्वविद्यालय के स्थापित होने में बहुत कुछ प्रति-

कूलता की। तिस पर भी मतलब से अधिक चन्दा इकट्ठा हो गया। जितनी इमारतें दरकार थीं, सब बन गईं और विश्वविद्यालय स्थापित हो गया। उसके स्थापित होने के पहले ही उसमें दाखिल होने के लिए इतनी अर्ज़ियाँ आईं कि कई सौ अर्ज़ियाँ नामंज़ूर करनी पड़ीं; क्योंकि सबके लिए जगह ही न थी। इस विश्वविद्यालय में इस समय कोई 700 स्त्रियाँ हैं। उनकी शिक्षा के लिए 49 अध्यापक, 9 शिक्षक और व्याख्यान देने वाले हैं। अध्यापकों में सिर्फ दो इंगलैंड के हैं और एक अमेरिका का; बाकी सब जापान के। जिन-जिन विषयों की शिक्षा स्त्रियों को अपेक्षित है, वे सब विषय यहाँ सिखलाये जाते हैं। बच्चों को पालन-पोषण, सफ़ाई, कला-कौशल और गृहस्थी के काम-काज के सिवा शिष्टाचार, गाना-बजाना, तसवीर खींचना और फूलों की मालायें और गुलदस्ते आदि बनाना भी सिखलाया जाता है। अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन, भूगोल, कानून, साहित्य इत्यादि विषयों की भी शिक्षा दी जाती है। जो लड़कियाँ और स्त्रियाँ विश्व-विद्यालय के बोर्डिंग-हाउस में रहती हैं, उनको अपने हाथ से गृहस्थी के काम-काज करने की शिक्षा स्त्री-अध्यापिकायें अपने पास रख कर देती हैं।

[जनवरी, 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

जापान के स्कूलों में जीवन-चरित शिक्षा

जापान के स्कूलों में जो किताबें जारी होती है, उनमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध जापानियो के सचित्र जीवन-चरित्र रहते है। उनको पढा कर चरित-नायकों के उदाहरणो के द्वारा लडको को यह सिखलाया जाता है कि 'अच्छा जापानी' होने के लिए कौन कौन से गुण दरकार होते है। अच्छे जापानी के कुछ लक्षण सुनिए—अच्छा या आदर्श जापानी वह है जो अपने माता-पिता, भाई-बहन और कुटुम्बियों से सम्बन्ध रखनेवाले सब कर्त्तव्यो का मन लगाकर पालन करता है; जो कभी इस बात को नही भूलता कि अपने पूर्वजों को भक्ति-पूर्ण दृष्टि से देखना उसका धर्म्म है; जो मालिक होकर अपने आश्रितों पर कृपा रखता है; जो आश्रित होकर अपने मालिक का हितचिन्तन करता है। आदर्श जापानी अपने ऊपर किये गये एहसान को कभी नहीं भूलता; जो कुछ वह करता है, सचाई के साथ करता है; जिस बात का वह वादा करता है, उसे पूरा करता है; दूसरों के साथ वह हमेशा उदारता का व्यवहार करता है। दया और दाक्षिण्य को अच्छा जापानी कभी नही भूलता, जो बात सच है, उसका वह जी-जान से पक्ष लेता है; जो दीन-दुखिया है, उनको वह दया-दृष्टि से देखता है; सामाजिक नियमो की वह सबसे अधिक इज्ज़त करता है, समाज की अधिकाधिक उन्नति के लिए वह हमेशा यत्नशील रहता है; विदेशियो के साथ भी वह कभी बुरा बर्ताव नही करता। आदर्श जापानी अपनी शारीरिक शक्ति को हमेशा बढ़ाता रहता है, लाभदायक विद्या और कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करने में हमेशा तत्पर रहता है; शौर्य्य सहनशीलता, आत्मनिग्रह, मिताचार विनीत भाव की वह हमेशा वृद्धि करता रहता है। उसे हमेशा इस बात का ध्यान रहता है कि काम-काज में, व्यापार में, प्रतियोगिता, अर्थात् दूसरो के साथ चढ़ा-ऊपरी करने मे, रुपया कमाने में और दूसरो के दिल में अपना विश्वास जमाने में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए। वह अच्छे काम करने की आदत डालता है, वह नेकी करना सीखता है; विद्या पढ़ कर उससे व्यावहारिक लाभ उठाने का वह अभ्यास करता है, और आत्मोन्नति करने की वह नई नई तजवीजें सोचता रहता है। आदर्श जापानी अपने देश का हृदय से आदर करता है और राजभक्ति तथा स्वदेश-प्रीति की वृद्धि करके अच्छे नागरिक होने के फ़र्ज़ को अदा करता है। अच्छा जापानी इसी तरह के व्यवहार से अपनी और अपने कुटुम्ब की उन्नति करता है; और अपने देशवालो ही के लिए नही किन्तु सारे संसार के फ़ायदे के लिए, जो कुछ वह कर सकता है, हमेशा करने के लिए तैयार रहता है।

सदाचार और सुनीति की शिक्षा में जापानी हिन्दुओ से कम नही।

[फरवरी, 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

अँगरेजी प्रजा का पराक्रम

राजा बड़ा प्रजा अल्प, राजा श्रेष्ठ प्रजा कनिष्ठ, राजा बाप प्रजा बालक—इस तरह की कल्पनायें प्राचीन समय से लेकर आज तक कितने ही देशों में प्रचलित है। जो कुछ राजा करे उसे प्रजा को चुपचाप मानना चाहिए। ज़रा भी चीं-चपड़ करना मुनासिब नहीं। पुराने समय से प्रजा का यही धर्म्म माना गया है। परन्तु ज्ञान-मार्ग में मनुष्यों का तजरिबा जैसे जैसे बढ़ता गया वैसे ही वैसे उनकी समझ में यह बात आती गई कि राजा हुआ तो क्या हुआ; वह भी और आदमियों की तरह एक आदमी है। यह स्वाभाविक बात है कि वह औरों के सुख की अपेक्षा अपने सुख का अधिक ख़याल रक्खे। अपने को अधिक आराम पहुँचाने—अपने को अधिक सुखी करने—की झोंक में राजा के हाथ से अन्याय हो सकता है, अनुचित और असन्तोषजनक काम हो सकता है और प्रजा को कष्ट पहुँच सकता है। यह ठीक नहीं। इसका निवारण होना चाहिए। यह कल्पना पहले पहल योरप के देशों में उत्पन्न हुई; फिर वह एशिया में पहुँची। जब वह धीरे-धीरे इंगलैंड पहुँची तब वहाँ के निवासी राजा की सत्ता को नियमित करने की फ़िक्र में लगे। बुद्धिमान मनुष्यों ने प्रयत्न आरम्भ किये। वे प्रयत्न अनन्त हैं। उनके फल भी अनन्त हैं। उनका साद्यन्त वर्णन बहुत ही मनोरंजक और उपदेशपूर्ण है। इस तरह के प्रयत्न करके प्रजा ने राजा से जो कुछ पाया है उसे हम पराक्रम कहते हैं। उसकी योग्यता लड़ाई के मैदान में दिखलाये गये पराक्रम से कम नहीं है। उसमें से दो-एक बातें हम यहाँ पर लिखते हैं।

अँगरेजी प्रजा के पहले पराक्रम का नाम है मैगनाकार्टा। यह एक सनद है। इसे 1215 ईसवी में इंगलैंडवालों ने जॉन नामक अपने राजा से प्राप्त किया था। जॉन बड़ा दुराचारी और अन्यायी था। वह प्रजा को बहुत तंग करने लगा। अमीर, उमरा, सेठ-साहूकार—सबसे वह जबरदस्ती रुपया वसूल करने लगा। एक यहूदी महाजन बड़ा धनाढ्य था। उसने राजा के इच्छानुसार रुपया न दिया। इस कारण राजा ने उसे कैद कर लिया और प्रतिदिन उसका एक-एक दाँत उखड़वाने लगा। 9 दिन तक उसका एक-एक दाँत उखाड़ा गया। जब, वह इस तरह दी गई वेदना से बहुत ही व्याकुल हुआ तब, राजा जितना रुपया माँगता था उतना देकर, किसी तरह उसने अपनी जान बचाई। इस तरह के जो अनेक ज़ुल्म—अनेक भयंकर अन्याय—हो रहे थे वे प्रजा को असह्य हो गये। अन्त में प्रजा बिगड़ खड़ी हुई। उसने टेम्स नदी के किनारे, रनीमीड के मैदान में, राजा को पकड़ा और 15 जून को उससे मैग्नाकार्टा नाम की एक दस्तावेज़ लिखवा ली। यह एक प्रकार का इकरारनामा है। उस समय जो विशेष समझदार और चतुर लोग वहाँ थे उन्हीं का वह लिखा हुआ है। दस्तख़त उस पर राजा ने किये हैं। इस इक़रारनामे में राजा और प्रजा दोनों के हक़ों का यथोचित नियमन किया गया है। इसमें

कुल 63 दफ़ायें हैं। उनमें से 3 सबसे अधिक महत्त्व की हैं। उनका मतलब यह है—

(1) आदमी चाहे अमीर हो चाहे ग़रीब, सबके हक़ एक से समझे जायँ।

(2) क़ानून के अनुसार अपराध साबित हुए बिना किसी आदमी को क़ैद करने का अधिकार राजा को नहीं और न उसे निज के लिए किसी से रुपया-पैसा वसूल करने ही का अधिकार है।

(3) न्याय के कामों में घूस न ली जाया करे; सबका न्याय हुआ करे, कोई उससे वंचित न रक्खा जाय; और न्याय होने में देर न की जाया करे।

इन बातों में न तो कुछ अपूर्वता ही है और न नवीनता ही। तथापि इंगलैंड की प्रजा ने इस विषय का इक़रारनामा जॉन से लिखवा लिया और उसके अनुसार काम करने के लिए उसे लाचार किया। जितने अँगरेज हैं सब इस सनद को पूज्य समझते हैं। उन्हें इसका बड़ा अभिमान है। वे इसे बहुत बड़ी चीज़ समझते हैं। वे समझते हैं, मानो उन्होंने लोक-स्वतन्त्रता के एक बहुत ही मज़बूत क़िले पर कब्ज़ा कर लिया है। इसे वे बहुत होशियारी से रखते हैं। यह इक़रारनामा मिलने के दो सौ वर्ष बाद तक उन्होंने इसे 37 दफ़े फिर से नया किया है!

दूसरे पराक्रम का नाम है हीबियस कार्पस। इस कायदे को अँगरेज लोग मैग्ना-कार्टा से कुछ ही कम महत्त्व का समझते हैं। 1679 ईसवी में, दूसरे चार्ल्स राजा के समय, अविश्रान्त परिश्रम और घोर वाद-विवाद करके, अंगरेज लोगों ने इसे पारलियामेंट से मंजूर करा लिया। पहले यह रीति थी कि यदि कोई आदमी राजा का अपमान या अपराध करता था तो उसके अपराध का न्यायानुसार विचार न करके जब तक राजा चाहता था उसे क़ैद रखता था। इस रीति के प्रचलित रहने से अनेक निरपराधी आदमियों को बहुत मुसीबतें झेलनी पड़ती थीं। प्रजा ने उसे बन्द करने ही में अपना कल्याण समझा। सतत प्रयत्न करके आख़ीर में उसे कामयाबी हुई। पारलियामेंट ने यह क़ानून बना दिया कि अपराध करने के सन्देह में यदि पुलिस किसी आदमी को पकड़े तो इतने घण्टे के भीतर पुलिस को उसे विचार के लिए न्यायाधीश के सामने हाज़िर करना ही चाहिए। और जो आदमी एक दफ़े किसी मुक़द्दमे में निरपराधी साबित हो जाय उस पर फिर उसी आरोप के सम्बन्ध में कोई अभियोग न चलाया जाय।

तीसरा पराक्रम अँगरेज़ी प्रजा का बिल आफ़ राइट्स है। तीसरे विलियम राजा के समय में, 1689 ईसवी में, तत्कालीन अनेक झगड़े-फ़िसाद और गड़बड़ों के मिटाने के लिए प्रजा ने यह क़ायदा पारलियामेंट में मंजूर कराया। इसकी मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं—

(1) राजा या पारलियामेंट में से किसी एक को अकेले यह शक्ति नहीं कि वह किसी क़ानून को रद कर सके, या उसे कुछ समय तक मुलतवी रख सके।

(2) पारलियामेंट से सलाह किये बिना राजा को किसी तरह का कर लगाने का अधिकार नहीं। अगर कोई कर इस तरह लगाया जाय तो वह बेक़ायदा समझा जाय।

(3) शान्ति के समय, बिना पारलियामेंट की मंजूरी, अधिक फ़ौज रखना बेक़ायदे समझा जाय।

(4) प्रजा को अधिकार है कि वह राजा से न्याय की प्रार्थना कर सके।

(5) पारलियामेंट के सभासदों के चुनाव के काम में प्रतिबन्ध न हो; सब तरह की स्वतन्त्रता दी जाय।

(6) पारलियामेंट में बोलने और वाद-विवाद करने के सम्बन्ध में जो स्वतन्त्रता है उसके औचित्य या अनौचित्य का निर्णय पारलियामेंट ही में हो, बाहर नहीं।

(7) प्रजा के दुखनिवारण का विचार करने और कायदे-क़ानून को अधिक मज़बूत बनाने के लिए पारलियामेंट की बैठक बार-बार हुआ करे।

अनेक राजकीय अँगरेजों की राय है कि यह पूर्वोक्त क़ानून पास हो जाने से अनेक प्रकार के सुभीते हो गये हैं, अनेक प्रकार के झगड़े बन्द हो गये हैं और अनेक राजकीय काम पहले की अपेक्षा अब अधिक अच्छी तरह होने लगे हैं। एक ग्रन्थकार कहता है कि ये पराक्रम अँगरेजी राज्यरूपी क़िले की मज़बूत दीवारें हैं। इनके होने से क़िले की रक्षा उत्तम प्रकार से होती है। इन तीनों पराक्रमों के विषय मे राजकार्य्य-धुरन्धर लार्ड चाथम ने एक बार कहा था—"अँगरेज़ी स्वातन्त्र्य का सारा धर्म्मशास्त्र इन्ही में है।"

अपनी स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए यह क़िला अँगरेजों ने अपने देश, इंगलैंड, में बनाया। परन्तु आश्चर्य्य की बात यह है कि जहाँ-जहाँ वे जाते हैं वहाँ-वहाँ वह उनके साथ जाता है। उसे वे स्वयम्भू समझते हैं। वह उनसे कभी दूर नहीं रहता। अब कोई दो सौ वर्ष से अँगरेज लोग इस देश में भी आ गये हैं। और हमारा और उनका रिश्ता राजा-प्रजा का हो गया है। अतएव उनका यह स्वयम्भू क़िला इस देश मे भी किसी हद तक आ पहुँचा है और हम हिन्दुस्तानियो को उसके भीतर रहने का मौका मिला है। हमारी जान और हमारा माल सब उसके भीतर सुरक्षित है। इसमें कोई आश्चर्य्य या विलक्षणता की बात नहीं। पूर्वपुरुषों की उपार्जित सम्पत्ति का उपभोग छोटे-बड़े सभी भाइयों को बराबर प्राप्त होता है। यह बात सर्वथा धर्म्मशास्त्र के अनुकूल है। यह एक प्रकार का आलंकारिक वर्णन हुआ। इसे जाने दीजिए। यह बात साफ़-साफ़ इस तरह कही जा सकती है कि इंगलैंड की प्रजा ने प्रचण्ड परिश्रम करके, जिन बातों को ध्यान में रखकर, अपने लिए क़ानून पास करा लिये है, उन्हीं बातों को ध्यान में रखकर, इस देश के राज्य के सम्बन्ध मे भी, अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने बहुत समझ-बूझकर क़ायदे कानून बनाये है। रेल, तार, छापेख़ाने, फ़ोटोग्राफ़, फ़ोनोग्राफ़, टेलीफ़ोन, बाईसिकल, मोटरकार पुतलीघर इत्यादि चीज़ें यन्त्र और कल-कारख़ाने जैसे अँगरेज लोगों के परिश्रम से विलायत में प्रचलित होकर पीछे से हम लोगों को प्राप्त हुए हैं और उससे हम लोग फ़ायदा उठा रहे हैं, उसी तरह यहाँ की अँगरेज़ी गवर्नमेंट के क़ायदे-क़ानून भी इंगलैंड के लोगों के परिश्रम और प्रयत्न से वहाँ सिद्ध होकर अब वे हमें भी अनायास प्राप्त हुए हैं। हम लोगों में से एक साधारण आदमी को भी, अब, सरकारी सिपाही को यह कहने का अधिकार प्राप्त है कि बिना समन के मैं कचहरी में नहीं हाज़िर हो सकता; और

किसी को पकड़ने के बाद 24 घण्टे के भीतर ही न्यायाधीश के सामने, उस पर किये गये आरोप का विचार करने के लिए, हाज़िर करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। यह अँगरेज़ी क़ायदे-क़ानून ही की महिमा का प्रभाव है। अँगरेज़ी राज्य के पहले ये बातें यहाँ कहीं स्वप्न में भी न थीं। अँगरेज़ लोगों के परिश्रमों का जो फल हुआ है उसका अंश अब हमें सहज ही में मिल रहा है। यह हमारे लिए एक अलभ्य लाभ है। अथवा यह समझना चाहिए कि एक भाई की प्राप्त की हुई सम्पत्ति का उपयोग दूसरे भाई को होना न्याय्य ही है। धर्म्मशास्त्र की आज्ञा ही ऐसी है। या यों कहिए कि दूसरी अर्वाचीन विद्याओं की तरह, राज्य-व्यवहार-विद्या में अँगरेज़ लोग हमें उत्तम गुरु मिले हैं। सद्गुरु की हमेशा यही इच्छा रहती है कि अपना शिष्य अपने ही समान प्रवीण और योग्य हो। अतएव इस सुयोग का हमें अच्छा उपयोग करना चाहिए।

[मार्च, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'पुरावृत्त' पुस्तक में संकलित।]

एक तरुणी का नीलाम

मुश्तरी नाम की एक वेश्या ने, जो कविता भी करती थी, एक बार अपने दिल के विषय में एक पद्य कहा था। जहाँ तक हमें याद है, वह पद्य यह था—

ख़रीदारो लो चल के बाजार देखो।
दिले मुश्तरी अब बिका चाहता है॥

इस वार-वनिता ने तो अपना दिल ही बेचना चाहा था; पर अमेरिका की ख़ूब पढ़ी लिखी एक नौजवान कुमारिका ने अपने सारे शरीर को, मन और प्राण सहित, नीलाम कर देने का इश्तहार दिया है। वह युवती वाशिंगटन की रहने वाली है। शिकागो में वह टाइप-राइटिंग का काम करती है। मरते दम तक सर्वश्रेष्ठ 'बोली' बोलने वाले की दासी होने का विचार उसने किया है। वह अपने को नीलाम करना चाहती है। इसका कारण आप उसी के मुख से सुनिए—

"इस नीलामी नोटिस को पढ़ कर लोगों को आश्चर्य्य होगा। परन्तु आश्चर्य्य करने का कोई कारण नहीं। क्योंकि और तरुणी लडकियाँ भी तो अपने को बेचकर लोगों की गुलामी करती है। हाँ, उनकी गुलामी कुछ कुछ दूसरी तरह की ज़रूर है। पर है वह भी पूरी पूरी गुलामी। गुलामी के सिवा और कुछ नहीं। कोई कोई प्रति सप्ताह तनख़्वाह पाने के परिवर्तन में, अपने को बेच डालती है, कोई कोई पति-प्राप्ति के परिवर्तन में। पति को मालिक बनाकर उसके अधीन रहना क्या गुलामी नही? औरों की नौकरी करना क्या गुलामी नहीं? ये बाते सर्व-साधारण के सामने प्रकाश रूप से नही होतीं। हर एक नौजवान लड़की चुपचाप गुलामी स्वीकार कर लेती है। यह बात मै प्रकाश रूप से करना चाहती हूँ। मै सब लोगों को सूचना देकर अपने को नीलाम करने जाती हूँ। इस तरह नीलाम करने से मुझे आशा है कि मेरी क़ीमत लोग कुछ अधिक लगावेंगे। अतएव खुल्लमखुल्ला नीलाम करने मे हानि ही क्या है?

"मेरा परलोकवासी पिता सरकारी नौकर था। मुझे लिखाने-पढ़ाने और शिक्षा देने में उसने 30,000 रुपये खर्च किये। इतनी लागत से मैं जवान होकर नीलाम होने लायक़ हुई हूँ। पर यद्यपि मै जी-जान होम कर 'टाइप-राइटिंग' का काम करती हूँ, तथापि 30 रुपये हफ़्ते से अधिक मुझे तनख़्वाह नही मिलती। मेरी तैयारी में जो मूल धन लगाया गया है, उस पर यह 5 फ़ी सदी के हिसाब से भी तो नही पड़ता। अब मै यह जानने के लिए उत्कण्ठित हो रही हूँ कि गुलामों के मालिक अमेरिका निवासी धनवान् लोग ज़ियादह से ज़ियादह कितनी क़ीमत देकर गुलाम बनाने के लिए अमेरिका ही की एक तरुण कुमारी को ख़रीद कर सकते हैं। मैं जानना चाहती हूँ कि इस तरह

की गुलाम कुमारिकाओं का बाज़ार-भाव क्या है। जब कोई आदमी किसी चीज़ की ख़रीद करना चाहता है, तब वह उसके गुणों का वर्णन भी सुनना चाहता है। बहुत अच्छा; जब मैं अपना नीलाम करने पर उतारू हूँ, तब अपना वर्णन भी अपने ही मुँह से क्यों न कर दूं। सुनिए—

"मैं तरुण हूँ, समझदार हूँ, पढ़ी-लिखी हूँ, शिष्ट हूँ, व्यवहारज्ञ हूँ, सच बोलती हूँ, विश्वासपात्र हूँ, न्यायनिष्ठ हूँ, काव्यरसज्ञ हूँ, तत्त्वज्ञ हूँ, उदार हूँ—सबसे बड़ा गुण मुझ में यह है कि मैं स्त्रीत्व के सर्वोच्च गुणों से विभूषित हूँ। मेरे भूरे नेत्र बड़े बड़े हैं। मेरे ओठों से सरसता टपकती है। मेरे दाँत अनार के दाने हैं। मैं अपने को सुन्दरी तो नहीं कह सकती, पर मेरी शकल सूरत बहुत ही लुभावनी है। मेरा चरित्र ख़ूब उच्च और दृढ़तापूर्ण है। हाव-भाव भी मुझ में कम नहीं है। दिल मेरा छोटा नहीं, बहुत बड़ा है। कभी कभी मैं बहुत ही विनोदशील हो जाती हूँ! मैं ख़ुशमिज़ाज होकर अपनी प्रतिष्ठा का हमेशा ख़याल रखती हूँ। पढ़ने-लिखने में मैं ख़ूब दिल लगाती हूँ। मैं धार्म्मिक तो हूँ, पर धर्म्मान्ध नहीं। मैं सीना तो नहीं जानती, पर पहनने के कपड़े बहुत अच्छे काट सकती हूँ; और काटना ही मुशकिल काम है। दुकान में रखे हुए भले बुरे मांस की मुझे पहचान नहीं; पर खिलाने पिलाने में मै बड़ी होशियार हूँ। मिहमानो को ख़ुश करना मै बहुत अच्छा जानती हूँ। हिसाब लगाने में मैं कच्ची हूँ, पर अच्छे अच्छे क़िस्से कहना मुझे ख़ूब आता है।"

यह इस अमेरिकन तरुणी के इश्तहार का कुछ अंश है। इसने अपने इश्तहार में यह भी लिख दिया है कि, कौन सर्वश्रेष्ठ बोली बोलने वाला है, इसका फ़ैसला करना मेरे ही हाथ में है। मैं जिसे चाहूँगी, उसी की लगाई हुई क़ीमत क़बूल करके उसके हाथ अपने को बेच दूंगी। सुनते हैं, बहुत लोगों ने इस कुमारी के साथ शादी करने की इच्छा ज़ाहिर की है। ये सब सभ्यता के चोचले है। देखते जाइए, यूरप और अमेरिका के सभ्य समाज में क्या क्या गुल खिलते है!

[जून, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

चीन के विश्वविद्यालयों की परीक्षा-प्रणाली

चीन संसार में सबसे अधिक आबाद देश है। पर वह शिक्षा में बहुत पीछे है। यद्यपि वहाँ शिक्षित लोगों की बड़ी क़दर है, तथापि उनकी जीविका का मैदान बहुत तंग है। यदि उन्हें सरकारी नौकरी न मिली तो वे अध्यापकी या मुहर्रिरी करके जैसे-तैसे अपने दिन बिताते हैं। विशेष कर उन चीनी शिक्षितों की मिट्टी और भी ख़राब होती है, जो किसी कारण से पदवी (Degree) नहीं प्राप्त कर सकते। वे छोटी छोटी देहाती पाठ-शालाओं में, जिनमें पचीस-तीस से अधिक लड़के नही होते, सात आठ रुपये मासिक पर अपना जीवन बड़े कष्ट से बिताते हैं। वे बार-बार परीक्षाओं में शामिल होते हैं और इस आशा पर जमे रहते हैं कि जब हम कृतकार्य्य होंगे, तब हमारा भाग्य अवश्य ही जगेगा। ऊँची ऊँची परीक्षाओं के हजारों उम्मेदवारों में से अधिकांश चालीस-पचास वर्ष की उम्र वाले होते हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनके बाल बिलकुल सफ़ेद हो गये है और जो अपने नाती-पोतों के साथ बैठकर काँपते हुए हाथ से इस आशा से निबन्ध लिखते हैं कि शायद बुढ़ापे ही में धन और यश मिलना बदा हो। पर दुर्भाग्य से हजारों में सिर्फ़ चालीस पचास ही पास होते हैं।

प्रति वर्ष अधिकांश उम्मेदवारों के फेल हो जाने का कारण यह है कि चीनी परीक्षाओं की प्रणाली इतनी दोष-पूर्ण है कि परीक्षोत्तीर्ण होना बड़ा दुस्साध्य कार्य्य है। वह इतनी अद्भुत और जटिल होती है कि विदेशियों के लिए उसका समझना अत्यन्त ही कठिन है। इस तरह की परीक्षा संसार में शायद ही और कही होती हो। सबसे पहली अर्थात् नीचे दर्जे की परीक्षा साल में एक दफ़े होती है। इसे प्रत्येक जिले का शासनकर्त्ता लेता है। उसका काम यह है कि वह सबसे ख़राब उम्मेदवारों को अलग कर दे और बचे हुए उम्मेदवारों को, जिनकी योग्यता काफ़ी समझे, अपने से ऊँचे अधिकारी के पास भेज दे। जो उम्मेदवार इस हाकिम की भी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये, उनकी परीक्षा शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के द्वारा ली जाती है। यही अधिकारी उन्हें 'Hsiu Tsai' की पदवी देता है। यह अफ़सर किसी प्रान्तिक शासन-कर्त्ता के अधीन नही होता। वह सीधे सम्राट् से पत्र-व्यवहार कर सकता है। वही उसको नियुक्त करते हैं। वह तीन वर्ष के लिए नियत किया जाता है। उसका प्रभुत्व किसी गवर्नर से कम नहीं होता।

इस तरह अयोग्य विद्यार्थियों की छँटनी होते होते जो सबसे अच्छे विद्यार्थी बच रहते हैं, वही परीक्षा दे सकते हैं। प्रत्येक परीक्षा में दो निबन्ध और कुछ पद्य लिखाये जाते हैं। निबन्धों में चीनी ग्रन्थों के अवतरणों की भरमार होनी चाहिए। विद्यार्थियों को कोई नई बात सोचने के लिए अपने मस्तिष्क पर जोर नहीं देना पड़ता। हजारों वर्ष की पुरानी बातें, तोते की तरह रटकर, वे छुट्टी पा जाते हैं। जो कुछ उनमें लिखा हुआ है, उसी को सहस्रशः विद्यार्थी प्रति वर्ष आँख बन्द करके लिखते चले जाते हैं। चीन की

प्राचीन प्रथा है कि एक नियत संख्या से अधिक परीक्षार्थी किसी परीक्षा में पास नहीं किये जाते, चाहे उम्मेदवारों की तादाद कितनी ही अधिक क्यों न हो। योग्यता जाँचने का साधन भी बड़ा विचित्र है। वह यह है कि उम्मेदवार नियत संख्या के अन्य उम्मेदवारों से अधिक योग्य हों। कभी कभी इस प्रथा से घोर अन्याय हो जाता है। शान्टुग, चेक्यिांग, केन्टन आदि प्रान्तों में हजारों विद्यार्थी परीक्षा में शरीक होते हैं। यदि पास किये जाने वालों की संख्या केवल तीस हुई तो सिर्फ इतने ही पास किये जायँगे। शेष अपना-सा मुँह लेकर अपने घर लौट जायँगे। इसके विरुद्ध शान्सी, शेन्सी, कान्सू आदि प्रान्तों में बहुत ही थोड़े अर्थात् तीस चालीस परीक्षार्थी होते हैं। उनमें से प्राय: सभी पास कर दिये जाते हैं। फल यह होता है कि एक जगह अत्यन्त अयोग्य उम्मेदवार पास हो जाता है और दूसरी जगह उससे कहीं अधिक योग्य परीक्षार्थी फेल हो जाता है। सुनते हैं, किसी किसी जिले में शासनकर्त्ता गली-गली घूम कर नियत संख्या के उम्मेदवारों को इकट्ठा करता है। 'Hsiu Tsai' पदवी-धारी लोग लाल झब्बेदार टोपी पहनते हैं, जिसमें सुनहला बटन लगा रहता है। यह बटन प्रकट करता है कि यह कोई सरकारी कर्म्मचारी है।

दूसरी परीक्षा जिसे 'Chuken' कहते हैं, तीन वर्ष में एक दफ़े, केवल प्रान्तिक राजधानियों में, होती है। इस परीक्षा के लिए चीन की राजधानी पेकिन से विशेष परीक्षक आते हैं। जिस स्थान पर परीक्षा होती है, वह देखने योग्य होता है। प्रत्येक उम्मेदवार एक छोटी सी झोंपड़ी में ठहराया जाता है। वहाँ वह एक तख़्ते पर उकड़ूँ बैठकर अपने निबन्ध लिखता है। उसके सामने एक विचित्र प्रकार की छोटी-सी मेज़ भी रहती है। ये झोंपड़ियाँ एक लम्बी क़तार में बनी होती हैं और संख्या में आठ हज़ार के लगभग होती हैं। वे इतनी गन्दी रहती हैं कि उनमें एक दिन भी ठहरना मुशकिल है। पर बेचारे पदवी-लोभियों को उसी नरक-तुल्य स्थान में पूरे तीन दिन रहना और वहीं अपने निबन्ध लिखना पड़ता है। फिर एक दिन की छुट्टी मिलती है। इसके बाद तीन दिन और इस काल-कोठरी में उन्हें बिताने पड़ते हैं। उस मैदान में स्थान स्थान पर बुर्ज भी होते हैं। परीक्षक लोग उन्हीं बुर्जों में बैठ कर दिन-रात, चौबीसों घण्टे, उनकी निगरानी करते हैं। परीक्षा की इस अद्भुत प्रणाली के कारण उम्मेदवारों को बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। पर साथ ही साथ उन्हें धोखेबाजी करने का अवसर भी हाथ आता है। कितने ही परीक्षा देने वाले किताबों के ढेर के ढेर टोकरियों में रक्खे हुए बैठे नक़ल किया करते हैं। जहाँ आठ-आठ हज़ार आदमी एक साथ परीक्षा देते हो, वहाँ अपने बदले किसी योग्यतर बाहरी आदमी से परीक्षा दिलवा देना और खुद पदवी के अधिकारी बनना कौन-सी बड़ी बात है? ऐसी चालबाज़ियाँ अकसर हुआ करती हैं। उम्मेदवारों के इस टिड्डी-दल में से सिर्फ सत्तर आदमी पास किये जाते हैं। परीक्षा की सख़्ती की हद हो गई!

तीसरी और सबसे ऊँची परीक्षा 'Gim Shih' की है। यह केवल चीन की राजधानी पेकिन में होती है।'Chuken' पदवी-धारी सब प्रान्तों से इसमें शरीक होते हैं। इसका ढंग ठीक वैसा ही होता है जैसा कि दूसरी परीक्षा का। इसमें भी बहुत थोड़े

आदमी पास होते हैं। उत्तीर्ण छात्रों के दो विभाग किये जाते हैं। दूसरी श्रेणी वाले यदि सरकारी नौकरी करना चाहें, तो जिले के शासनकर्त्ता (Magistrate) बनाये जाते हैं। यदि वे दुर्भाग्य से किसी दूरवर्त्ती या उजाड़ प्रान्त में नियत किये गये तो रिश्वत के बल से अच्छे प्रान्त की बदली करा सकते हैं। प्रथम श्रेणी के मनुष्य Hanlin' पदवी के लिए परीक्षा देते है। इस पदवी के लिए लिपि-सौन्दर्य्य और अत्युत्कृष्ट लेख-प्रणाली की बड़ी आवश्यकता है। इस परीक्षा में जो प्रथम होता है, उसको 'Chuang Yuan' की अत्यन्त सम्मानास्पद उपाधि मिलती है। वह अपने प्रान्त में एक महान् पुरुष समझा जाने लगता है। अधिकांश 'Hanlin' पदवी-धारी लोग चीनी गवर्नमेंट के शाही दफ़्तरों में काम करने लगते हैं। फिर वे या तो शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी या 'Chuken' परीक्षा के परीक्षक बनाये जाते हैं। इसके बाद उन्हें कोई ऊँचे दर्जे की सरकारी जगह मिल जाती है।

इस तरह चीन मे हज़ारों वर्षों से परीक्षायें होती चली आ रही हैं। राज-कर्म्म-चारियों के चुनाव की प्रणाली भी पूर्ववत् ही बनी है। जब तक विदेशियो के क़दम-शरीफ़ चीन में नही पहुँचे थे, तब तक सब काम सन्तोषजनक रीति से होता रहा। पर जब से राज्य-लोलुप पश्चिमी जातियों ने चीन को दबाना शुरु किया है, तब से कुछ दूरदर्शी चीनी विद्वानों की आंखे खुल गई है। वे समझने लगे है कि जमाने के साथ-साथ चले बिना इस संसार में अपना नाम बनाये रखना बहुत मुशकिल है। शिक्षा और परीक्षा की लगी हुई पद्धति को छोड़ कर जब तक हम लोग पश्चिमी रीति-नीति से लौकिक शिक्षा का प्रचार न करेंगे, तब तक उन्नति करना तो दूर रहा, उलटे विदेशियों की ठोकरें खाते-खाते एक दिन चीनी जाति विधर्म्मियों के पराधीनता-पाश में अवश्य बँध जायगी। यद्यपि चीन के इन दूरदर्शी सुपुत्रों की चेष्टा अभी तक पूर्ण रूप से सफल नही हुई, तथापि उसके शुभ परिणाम के चिह्न प्रकट होने लगे है। आशा है कि वह एक न एक दिन अवश्य सफल होगी।

[सितम्बर, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

अमेरिका के गाँव

जिस तरह भारतवर्ष अत्यन्त दरिद्र है, उसी तरह अमेरिका अत्यन्त धनवान् है। यह बात दोनों देशों के गाँवों की तुलना करने से अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। हमारे देश के गाँव दरिद्रता और मूर्खता के केन्द्र-स्थान हैं। अकेला गँवार शब्द ही इस बात का साक्षी है। गाँवों के घर निरी मिट्टी के झोंपड़े होते हैं। रहने का घर, चौपाइयों का घर, कूड़ा-घर आदि सब एक ही जगह होते हैं। एक ही तालाब में गाँव भर के लोग नहाते, कपड़े धोते, पशुओं को पानी पिलाते कभी कभी स्वयं उसका पानी पीते हैं। इसके सिवा वे लोग आधे नंगे, आधे भूखे रह कर अपना जीवन बिताते हैं। उनके लिये 'काला अक्षर भैंस बराबर' है। दीन-दुनिया की उन्हें कुछ खबर नहीं। सभ्य संसार की ऐशो-आराम की चीज़ें उन्हें स्वप्न में भी नसीब नहीं। मतलब यह कि यदि गाँवों के झोंपड़ों के आदि-वासियों को दरिद्रता और अविद्या का मूर्तिमान अवतार कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं।

परन्तु अमेरिका की दशा यहाँ से ठीक उलटी है। वहाँ के गाँव हमारे देश के अधिकांश शहरों से अधिक अच्छी हालत में हैं। कुछ दिन हुए, सन्त निहालसिंह का लिखा हुआ एक लेख इस विषय पर 'माडर्न रिव्यू' में निकला था। उसमें उन्होंने उदाहरण-स्वरूप अमेरिका के एक गाँव का वर्णन किया है। सिंह जी के उस लेख से हमारे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। इसलिए उसकी मुख्य-मुख्य बातें हम यहाँ पर लिखते हैं। इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि अमेरिका कितना उन्नत, सभ्य और सम्पत्ति-शाली देश है।

निहालसिंह महाशय ने जिस गाँव का वृत्तान्त लिखा है, उसका नाम केम्ब्रिज है। वह अमेरिका की इलीनाई (Illinois) रियासत में है। जहाँ पर यह गाँव बसा हुआ है, साठ वर्ष पहले वहाँ जंगली जानवर रहते थे; मनुष्य का मीलों तक पता न था। परन्तु इस समय वहाँ जंगली जानवरों का नामोनिशान तक नहीं। एक सुन्दर छोटा-सा गाँव बस गया है। उसका रकबा कोई एक वर्गमील होगा और सब मिला कर कोई चौदह सौ मनुष्य उसमें रहते हैं।

परन्तु इतना छोटा गाँव होने पर भी केम्ब्रिज उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया है। उसके प्रायः सभी घर पक्के, दो-मंज़िले हैं। और करीने से बने हुए हैं। रेलवे स्टेशन, तार-घर, डाकखाना, स्कूल, अस्पताल आदि उसमें सब कुछ है। गाँव भर में रात को बिजली की रोशनी होती है। जगह-जगह टेलीफ़ोन लगे हुए हैं। प्रत्येक चौराहे और मकान में गहरे कुएँ और पम्प बने हुए हैं। उनका निर्मल और रासायनिक क्रिया से साफ़ किया हुआ जल अत्यन्त स्वादिष्ट और स्वास्थ्यकर है। गाँव भर में ऐसी कोई सड़क नहीं जिस पर पत्थर न जड़े हों। सड़कों की तो बात ही क्या है, गलियों तक में ईंटें लगी हुई

और उन पर सीमेंट बिछा हुआ है, जिससे वे बारहों मास पक्की गच सी बनी रहती हैं। बरसात तक में कीचड़ के दर्शन नहीं होते।

यह हम लिख चुके हैं कि केम्ब्रिज में रेलवे स्टेशन, तारघर, डाकख़ाना, स्कूल और अस्पताल आदि सब कुछ है। इनके सिवा वहाँ आग बुझाने वाली टोली और एक कचहरी भी है। बिजली की रेल चलने का भी प्रबन्ध हो रहा है। डाकख़ाना दिन में चार दफ़े डाक बाँटता है। गाँव वाले साल भर में कोई पन्द्रह हज़ार रुपये के डाक-टिकट ख़रीदते हैं। डाकख़ाने में एक पोस्ट मास्टर, एक सहकारी पोस्टमास्टर, एक क्लर्क और पाँच चिट्ठी-रसाँ हैं। जो किसान गाँव से कई मील दूर खलिहानों में रहते हैं, उन्हें चिट्ठी लेने या देने के लिए गाँव में नहीं आना पड़ता। चिट्ठी-रसाँ लोग ख़ुद जाकर डाक दे आते हैं; और ले भी आते हैं। इससे किसानों को बड़ा सुभीता रहता है; उनके काम में विघ्न नही पड़ता।

केम्ब्रिज मे एक सार्वजनिक पुस्तकालय भी है। उसमें कई हज़ार किताबें हैं। इससे सर्व-साधारण को बड़ा लाभ होता है। जिसका जी चाहता है, इन ग्रंथो से मुफ़्त फ़ायदा उठाता है। इसके सिवा गाँव में एक गायनशाला, तमाशाघर और नाट्यशाला भी है। उनमें क्रम से नित्य गाना-बजाना, चलती-फिरती तसवीरों के तमाशे और थियेटर हुआ करते है। वहाँ ईसाई धर्म्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के पांच गिरजे भी हैं। उनमें हर इतवार को अच्छी धूम रहती है। गाँव वालों की एक बैंड कम्पनी भी है। उसकी मुखिया एक स्त्री है।

केम्ब्रिज गाँव मे छः वकील और सात डाक्टर है। उनमे से दो स्त्री डाक्टर है। दो दन्त-चिकित्सक और एक पशु-चिकित्सक है। तीन बैंक हैं। चार भोजनशालाओं और पाठनशालो के सिवा एक नानबाई की, एक कल से पकड़े धोने की, तीन हजामत बनाने की, दो शौक़ के सामान की, तीन मामूली असबाब की, एक जूतों की, तीन बज़ाज़ी की, दो काग़ज की, चार बरतनों की, तीन पंसारियो की, दो दरज़ियों की और छः पोशाक बनाने वालों की दूकाने है। सिलाई का एक स्कूल भी है। उसमे नौजवान स्त्रियां कपड़े सीना सीखती है। पूरी दो बाज़ारे गोश्तवालों की है। उनमे से एक-एक बाज़ार में कई-कई दूकाने है। इनके सिवा गाँव में तीन लोहार, तीन बढ़ई, तीन ठेकेदार, दो पैमाइश करने वाले और दस चित्रकार है। घोड़ो की दो, और मोटर गाड़ियों की एक दूकान है। वहाँ घोड़े और गाड़ियाँ किराये पर भी मिलती हैं। दो यन्त्र-शालायें भी है, जहाँ से किसान लोग अपने लिए औज़ार खरीदते है। पाठकों को यह सुनकर शायद आश्चर्य्य होगा कि इतने छोटे गाँव से तीन साप्ताहिक समाचारपत्र भी निकलते है। उनमें से हर एक के पास कई प्रेस हैं। उनमे बढ़िया से बढ़िया और बारीक से बारीक काम छप सकता है। फ़ोटोग्राफ़र की भी एक दूकान है। ये सब दूकाने ख़ूब चलती है और सवेरे से लेकर आधी रात तक इनमें भीड़ लगी रहती है। इन शोभा-सम्पन्न दूकानों के सिवा प्रत्येक सड़क और गली के दोनों तरफ़ लगे हुए मनोहर फूल इस गाँव की सुन्दरता को और भी बढ़ाते है। सुनते है कि एक सार्वजनिक पार्क भी बन रहा है।

केम्ब्रिज के निवासी बड़े उन्नतिशील हैं। वे अपनी वर्तमान अवस्था से कभी

सन्तुष्ट नहीं रहते । दिन-रात उन्नति की धुन में लगे रहते हैं । वे अपने घरों को वर्तमान सभ्य संसार की प्रत्येक आवश्यक और आराम देने वाली चीज़ से पूर्ण रखते हैं। सन्त निहालसिह, जो केम्ब्रिज में कई महीने रहे हैं, कहते हैं—"केम्ब्रिज के निवासी की एक मामूली पशुशाला हिन्दुस्तान की किसी सार्वजनिक इमारत (Public Building) से भी अधिक अच्छी हालत में है ।" केम्ब्रिज की पशु-शालाओं में (अर्थात् जहाँ घोड़े और गायें बँधती है) बिजली की रोशनी होती है । गायें ग्लोव चढ़े हुए क़ीमती लैम्पों की रोशनी में दुही जाती हैं ।

केम्ब्रिज के स्कूल की इमारत बड़ी ही भव्य और विशाल है । यह एक सौ सत्ताईस फुट लम्बी और छिहत्तर फुट चौड़ी है । इमारत खूब ऊँची कुरसी पर बनाई गई है और तिमंजिला है । उसमें हवा आने-जाने, गरमी पहुँचाने और सफाई रखने का बड़ा अच्छा प्रबन्ध है । ये सब काम नवाविष्कृत यन्त्रों के द्वारा होते है । उसमें एक ऐसा भी यन्त्र लगा हुआ है जिससे रोगोत्पादक कीड़े वहाँ पैदा ही नहीं हो सकते ।

प्रत्येक मंजिल में कई कमरे हैं । प्रत्येक कमरा एक-एक काम के लिए है । कोई पढ़ाई के लिए है; कोई व्यावहारिक शिक्षा के लिए; किसी में शिक्षक रहते है; किसी में विद्यार्थी; कोई शिक्षकों के बैठने के लिए है; कोई विद्यार्थियों के खेलने और व्यायाम करने के लिए; किसी में दफ़्तर है; किसी में पुस्तकालय; कोई कमरा सभा करने के लिए है; कोई कविता पढ़ने के लिए । इसी तरह किसी में असबाब रहता है; किसी में यन्त्र और इंजिन । मतलब यह कि सब चीजों के लिए स्थान स्थित है ।

स्कूल से सम्बन्ध रखने वाला वैज्ञानिक परीक्षागार नवीन यन्त्रों से पूर्ण है। वैज्ञानिक शिक्षागृह में न मालूम कितने जीवित पक्षी है । हर एक कमरे में टेलीफ़ोन लगा हुआ है । पढ़ाई के कमरों को छोड़कर बाक़ी सारी इमारत में कोई एक सौ साठ जगह बिजली की रोशनी होती है । टाइम टेबुल का काम घड़ियों से लिया जाता है। ज्यों ही एक विषय पढ़ाने का समय समाप्त होता है, त्यों ही घड़ी घण्टी बजा देती है । इमारत के प्रत्येक कमरे में आवश्यकीय और सजावट का कितना सामान है, यदि इसका संक्षिप्त वर्णन भी किया जाय तो भी लेख बहुत बढ़ जायगा, इसलिए इस विषय में केवल इतना ही कहना काफ़ी है कि हिन्दुस्तान के बड़े से बड़े कालेज को जो सामान नसीब नही, वह सब अमेरिका के छोटे से गाँव केम्ब्रिज के स्कूल में विद्यमान है ।

स्कूल में सब मिलाकर एक सौ सत्रह लड़के और एक सौ अड़तीस लड़कियाँ है । उन्हे पढ़ाने के लिए स्कूल में बारह शिक्षक नियत है । उनके सिवा दो शिक्षक और भी है; एक गाना सिखाने और दूसरा ड्राइग सिखाने के लिए । चौदह सौ की बस्ती के गाँव मे इतने लड़के लड़कियाँ इसलिए पढ़ती है कि वहाँ जबरदस्ती शिक्षा का नियम है । अर्थात् रियासत भर में सात से सोलह वर्ष की उम्र तक का प्रत्येक लड़का और लड़की स्कूल जाने के लिए बाध्य है । जो माता पिता अपने बच्चों को पढ़ने नही भेजते, उन्हे गवर्नमेंट दण्ड देती है ।

स्कूल से कुछ दूर पर 'क्रानिकल' नामक समाचारपत्र का दफ़्तर है। केम्ब्रिज से निकलने वाले अखबारों में यह मुख्य है । यह साप्ताहिक पत्र है और कोई पचास वर्ष से

निकलता है। इसके पास तीन प्रेस हैं; जो स्टीम-इंजिन के द्वारा चलते हैं। इस पत्र के प्रत्येक अंक में आठ पृष्ठ रहते हैं। इनमें से चार छपे-छपाये एक सभा से सादे काग़ज के मूल्य पर खरीद लिये जाते हैं। इनमें देश-विदेश की ख़बरों के सिवा राजनैतिक गपशप भी रहती है। व्यापारी, किसान, अहीर और दरज़ियों के काम के लेख और समाचार भी इनमें रहते हैं। उपन्यास, आख्यायिका और यात्रा-वृत्तान्त भी प्रत्येक अंक में रहता है। इस पत्र की बिक्री खूब होती है।

अमेरिका के गाँवों के मकान बड़े ही साफ और करीने से सजे हुए होते हैं। इस बात को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए सन्त निहालसिंह ने केम्ब्रिज के उस मकान का वृत्तान्त लिखा है जिसमें वे कुछ दिन रहे थे। उनके कथन का सारा मर्म्म यह है।

यह घर दो-मंज़िला बना हुआ है। पहली मंज़िल के बीच का कमरा सुन्दर चित्रों से सजा हुआ है। उसके एक कोने में पियानो रक्खा है और दूसरे में लिखने का डेस्क। फ़र्श पालिश की हुई लड़की का है, जिस पर बेल-बूटेदार गालीचा बिछा हुआ है। नियत स्थान पर झूले और कुरसियाँ रक्खी हुई हैं। उससे मिला हुआ मुलाक़ात का कमरा है। उसमें दो तीन आराम-कुरसियाँ हैं, एक मेज और एक आलमारी भी है। मेज़ पर कुछ मासिक पुस्तकें और ग्रन्थ रक्खे हुए है और आलमारी सुन्दर जिल्द बँधी हुई किताबों से पूर्ण है। उसके आगे भोजनशाला, पाकशाला और धोबी-घर है। पाकशाला में तीन चूल्हे हैं। इमसे तीन चीज़ें एक ही साथ पक सकती हैं। ये तीनों गैस के द्वारा जलते है। इस कमरे में कई मेजें और आलमारियाँ है, जिनमें खाने की चीज़ें, बरतन और अन्य सामान रक्खे जाते हैं। धोबी-घर में धोने की एक मैशीन है। वह जल-शक्ति के द्वारा चलती है। उसमे बड़ी आसानी से कपड़े धोये जा सकते है और इतने साफ़ होते हैं, मानो किसी धोबी के धोये हुए है। इसलिए केम्ब्रिज-निवासी अपने कपड़े अपने ही घर में धो लेते है। इस धोबी-घर में मैशीन के सिवा और भी कितने ही यन्त्र हैं, जिनसे कपड़े धोने से सम्बन्ध रखने वाले अन्य काम लिये जाते है। इस घर की एक आलमारी में कुछ रासायनिक पदार्थ रक्खे रहते हैं। ये कपड़ों के दाग़ आदि छुड़ाने के काम में आते हैं। दूसरे खण्ड में शयनकक्ष, स्नानागार और सिलाई-घर है। ये कमरे भी खूब सुसज्जित और नाना प्रकार की आवश्यक चीजों से पूर्ण हैं।

[अगस्त, 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। सकलन' पुस्तक मे संकलित।]

विलायत में उपाधियों का क्रय-विक्रय

वर्तमान काल वाणिज्य-काल है। तरह तरह के वणिज-व्यापार से लोग रुपया कमाते हैं। संसार में ऐसी वस्तुओं की संख्या बहुत ही थोड़ी है जो रुपये से प्राप्त नहीं की जा सकतीं। जो चीज़ें रुपये से अप्राप्य समझी जाती है, उनमें से भी बहुत सी रुपये द्वारा, किसी न किसी तरह, प्राप्त हो जाती हैं। किसे विश्वास हो सकता है कि उपाधि जैसी श्रेष्ठ और सम्मान-सूचक वस्तु भी रुपये द्वारा घर बैठे प्राप्त की जा सकती है। सभ्य राष्ट्र अपनी प्रजा में से ऐसे ही जनों को उपाधियाँ प्रदान करते हैं जिन्होंने यथार्थ में देश या राष्ट्र की अच्छी सेवा की हो, अथवा विद्वत्ता और औदार्य्य आदि के उच्च आदर्श दिखाये हो। परन्तु ऐसी बहुमान-व्यंजक, उपाधियो का अब क्रय-विक्रय भी होने लगा है! सभ्य-शिरोमणि इंगलैड देश ही में आजकल उपाधियों का बाजार लगा है। 'पियर्सन्स मैगेज़ीन 'नामक एक मासिक पत्र में इस पर एक लेख निकला है।

कोई पचास वर्ष से इंगलैंड में उपाधियों का क्रय-विक्रय होने लगा है। इसी से इंगलैड में उपाधिधारियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। क्रय-विक्रय का काम बड़ी ही गुप्त रीति से होता है। किसी को कानोकान खबर नही होने पाती।

इंगलैंड में लिबरल और कानसर्वेटिव नाम के दो बड़े राजनैतिक दल हैं। इन्हीं दोनो दलों के हाथ में घूम फिर कर इंगलैड का शासन-सूत्र प्रायः रहता है। ये दोनो दल अपना अपना बल बढ़ाने का सदा यत्न किया करते हैं। इस काम के लिए इन्हे धन की आवश्यकता पड़ती है। इनके अनुयायी चन्दा करके धन बटोरते है और अपने अपने पक्ष के खर्च के लिए संचित करते रहते है। इन दोनों पक्षों के ऐसे आय-व्यय का हिसाब गुप्त रक्खा जाता है। वह कभी प्रकाशित नही किया जाता और न कोई उसे कभी देख सकता है। परन्तु इसमें सन्देह नही कि दोनों दलो का कोश खूब भरा-पूरा रहता है।

संसार की शायद ही कोई जाति पूरी उदार कही जा सकती हो। मनुष्य ऐसे ही ईश्वर की सन्तति है। पर उसमे नीच और उच्च के भेद की प्रथा सब जगह, और सब जातियो मे किसी न किसी रूप मे, अवश्य है। सबको बराबर समझने की डीग हाँकने वाली जातियाँ भी संकीर्णता की दलदल मे फँसी हुई है। अमेरिका स्वतन्त्र है। और वहाँ वाले उदार-हृदय कहलाते है। परन्तु जब काले-गोरे का प्रश्न उठता है, तब वहाँ के गोरों की उदारता प्रायः हवा खाने चली जाती है। परन्तु हां, इसमें सन्देह नही कि कही का समाज घोर अन्धकार मे ठोकरें खा रहा है और कही का आगे बढ़ा हुआ है। अँगरेज़ी समाज में भी कम त्रुटियाँ नही है। वहाँ भी कुलीनता का थोड़ा बहुत राग अवश्य अलापा जाता है। भारत के कुलीन ब्रह्मा जी के द्वारा गढ़े जाते है। परन्तु कुलीन अँगरेज संसार ही में निर्मित किये जाते हैं। निम्न श्रेणी में उत्पन्न हुए ग्रेट ब्रिटेनवासी थोड़ा ही ऐश्वर्य्य पाने पर मध्यम श्रेणियो में और उच्च श्रेणी वाले उच्चतम श्रेणी में कूद जाने की

अभिलाषा रखते हैं। उनके लिए और अनेक उपाय तो हैं ही, परन्तु एक उपाय यह भी है कि दो में से किसी एक राजनैतिक दल का पक्ष ग्रहण करके और उसके गुप्त कोश में गुप्तदान देकर कोई न कोई उपाधि प्राप्त कर लें। दान सीधे किसी के हाथ में नही दिया जाता—कितने ही हाथों से होकर वह ठिकाने पहुँचता है। दान देने और लेने वाले का कभी प्रत्यक्ष दर्शन नही होता। सारा काम एक मध्यस्थ कर देता है। जितना बड़ा दान होता है, उतना ही फल भी उससे प्राप्त होता है। पन्द्रह हज़ार पौंड देने से नाइट तीस हज़ार देने से बेरोनेट और एक लाख देने से लार्ड की पदवी प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति मध्यस्थ का काम करता है, उसे दलाली मिलती है। दान की रक़म कई क़िस्तों में अदा की जा सकती है; परन्तु दान-दाता को यह बात किसी तरह मालूम नही होने पाती कि दान की रक़म किस तरह खर्च की जाती है। उपाधि पाने के पूर्व ही रक़म का बड़ा भाग दे देना पड़ता है; क्योंकि एक दो दफ़े ऐसा भी हुआ है कि लोगों ने उपाधियाँ पाकर रक़म देने मे इनकार कर दिया। उपाधि-लोलुप लोग ऐसा भी करते है कि जब उन्हें एक दल उपाधि दिलाने में देर, या किसी कारण से टाल-टूल करता है, तब वे दूसरे दल का आश्रय ग्रहण करते हैं।

गत दस वर्षों में 96 नये लार्ड बनाये गये। इनमें से 49 को उनकी जाति और देश-सेवा के लिए यह पदवी मिली; परन्तु सुनते हैं कि शेष ने रुपये देकर ही इस गौरव-सूचक पदवी को ख़रीदा। किसी समय सर राबर्ट पील इंगलैंड के महामन्त्री थे। उनके शासन-काल के पाँच वर्षों में केवल पाँच आदमियों को लार्ड की पदवी मिली। परन्तु, इस समय, लार्ड की उपाधि का वितरण फ़ी महीने एक के हिसाब से हो रहा है। उसमें भी इन नये लार्डों में ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जिन्होंने रुपये ही के बल से पदवी पाई है। जेम्स डगलस नाम के एक महाशय ने 'पियर्सन्स मैगेज़ीन' में ऐसी ही बातें लिखी हैं।

उपाधि देते हैं सम्राट्, परन्तु दिलाते हैं महामन्त्री और मन्त्रि-मण्डल। इसमें सन्देह नही कि उपाधियो के क्रय-विक्रय की बात महामन्त्री को मालूम रहती है। लार्ड रोजबरी इंगलैंड के महा-मन्त्री थे। वे इस गुप्त क्रय-विक्रय से बडे दुःखी रहते थे। यदि वे प्रयत्न करते तो कदाचित् इस प्रथा को बन्द भी करा देते, परन्तु यथार्थ में महा-मन्त्री लोग इस प्रथा के रोकने मे असमर्थ से है। इस कुप्रथा का मिटाना स्वयं अपने ही पैरों पर कुठार चलाना है; क्योंकि जब उपाधियो के लालच से अपनी थैलियों का मुँह खोल देने वाले धनवान लोग राजनैतिक दलों को दान देना बन्द कर देंगे, तब, आर्थिक दशा ठीक न होने के कारण, इन दलों का बल बहुत कम हो जायगा और सदा एक दूसरे के जल्दी-जल्दी पतन का भय लगा रहेगा। हाँ, प्रत्येक दल अपने अपने अनुयायियों से भी चंदा बटोर कर धन एकत्र कर सकता है; परन्तु यह काम घोर चढ़ा-ऊपरी और परिश्रम का है, और इस तरह बहुत ही थोड़ा रुपया मिल सकता है। जब तक आराम से बैठे-बैठे रुपयों की ढेरी मिलती जाय, तब तक परिश्रम करके भी थोड़ा ही रुपया पाना किसे पसन्द हो सकता है? उपाधि के विषय में प्रजा चूँ तक नही कर सकती। किसी को उपाधि मिलने पर वह नाराज़ या खुश चाहे जितना हो ले, पर उसे यह बात जानने का कोई

अधिकार नहीं कि अमुक व्यक्ति को किसलिए अमुक उपाधि मिली। सम्राट् भी नियम-बद्ध हैं। वे भी उपाधि-दान के मामले में दखल नहीं दे सकते। वहाँ कानून ही ऐसा है।

उपाधियों के क्रय-विक्रय के कारण अन्याय भी बहुत होता है। प्राय ऐसा हुआ है कि उपयुक्त पात्रों को उपयुक्त उपाधि नही दी गई। इस कारण उन बेचारों को बहुत कुछ मनस्ताप हुआ।

विलायत में अब इस प्रथा के विरुद्ध लोगों ने ज़ोर से आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया है। लोगों ने दोनों राजनैतिक दलों से अपने अपने कोश का हिसाब प्रकाशित करने के लिए अनुरोध किया है। हिसाब प्रकाशित करने से भण्डा फूट जायगा। इस कारण दोनों दल अभी तक इस सम्बन्ध में आनाकानी करते जाते है। लोगों ने एक दूसरी भी युक्ति निकाली है। वे उन व्यक्तियों से, जो कामन्स सभा के सदस्य होने के लिए उनसे वोट माँगते है, इस बात का वचन लेने लगे है कि वे सदस्य होकर पारलियामेंट मे दोनों दलों के गुप्त कोशों की जाँच के विषय में घोर आन्दोलन करेंगे। इन बातों से प्रकट होता है कि उपाधियों के क्रय-विक्रय का बाज़ार थोड़े दिनों में ठण्डा पड़ जायगा। तथास्तु।

[जुलाई, 1912 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

युद्ध-सम्बन्धी अन्तर्जातीय नियम

सभ्य राष्ट्रों ने मिल कर कुछ ऐसे निमय बनाये हैं, जिनका पालन उन्हें युद्ध के समय करना पड़ता है। ट्रिपली के सम्बन्ध में टर्की और इटली का युद्ध शान्त हुआ ही था कि टर्की और बालकन-प्रदेश के मान्टिनिगरो, सरविया, बलगेरिया और ग्रीस में युद्ध छिड़ गया। अतएव ऐसे अवसर पर उन नियमों का प्रकाशन असामयिक न होगा। वे नियम संक्षेप में, नीचे दिये जाते हैं—

जब कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को किसी तरह की हानि पहुँचाता है या उसका अपमान करता है तब उससे कहा जाता है कि हानि का बदला दो और अपमान के लिए माफी माँगो। यदि सहज ही में यह काम हो जाता है तो युद्ध की तैयारी नहीं होती। हानि और अपमान करने वाले के शासन के लिए युद्ध अन्तिम साधन है। अन्य उपायों से जब तक काम चल सकता है तब तक युद्ध नहीं ठाना जाता। राज़ीनामा कर लेना, किसी अन्य राष्ट्र का बीच में पड़कर मेल करा देना, अथवा पंचायत द्वारा झगड़े का निपटारा हो जाना आदि बातों ही की, युद्ध के पहले, शरण लेनी पड़ती है। यदि इनमे कार्य्य सिद्ध न हुआ तो वह राष्ट्र जिसका अपमान आदि होता है, बाहुबल का प्रयोग करता है। इस समय तक भी यथार्थ में युद्ध नही छिड़ता; शत्रु को केवल तंग किया जाता है। जहाज़ों द्वारा उसके बन्दरगाह और समुद्र-तट घेर लिये जाते हैं; तथा उसके जहाजों और माल असबाब पर अधिकार कर लिया जाता है। जब कोई समुद्र-तट या बन्दरगाह घिरा होता है तब किसी अन्य राष्ट्र का भी कोई जहाज़ घेरे के बीच से नहीं निकल सकता। घेरे के बीच से बाहर निकलते अथवा भीतर जाते हुए पकड़े जाने पर वह जब्त कर लिया जा सकता है। यदि युद्ध न हुआ, मेल हो गया, तो जितने जहाज अथवा जो माल हाथ लगता है वह सब जिनका होता है उनको लौटा दिया जाता है। शत्रु के समुद्र में फिरने वाले उसके अथवा उसकी प्रजा के जहाज़ भी पकड़ लिये जाते हैं। इस काम को Reprisal (अर्थात् बदला) कहते हैं। यह 'बदला' दो प्रकार से लिया जाता है। राष्ट्र अपने शत्रु और उसकी प्रजा के जहाजों और आदमियों को पकड़ने के लिए अपने कर्म्मचारियों को और गैर-सरकारी लोगों को भी ऐसा ही करने के लिए अधिकार देता है। परन्तु इस प्रकार के बदले की प्रथा अच्छी नही समझी जाती। युद्ध के पूर्व तो उसका अवलम्बन बहुत ही कम किया जाता है।

इतना होने के बाद या तो मेल हो जाता है या युद्ध छिड़ जाता है। यदि युद्ध हुआ तो ऐसी अवस्था में शत्रु को युद्ध की सूचना देने की कोई आवश्यकता नहीं। 1894 ईसवी में चीन-जापान में युद्ध हुआ था। छेड़छाड़ 25 जुलाई से आरम्भ थी। इसी तारीख़ को चीन का एक जहाज़ डुबो दिया गया था और दूसरा जापान ने छीन लिया था। परन्तु युद्ध-घोषणा, जिसकी फिर कोई आवश्यकता न थी, जापान ने पहली अगस्त

और चीन ने दूसरी अगस्त को की थी। ऐसी ही बात गत रूस-जापान युद्ध में भी हुई थी। 6 फरवरी 1894 को रूस और जापान का राजनैतिक सम्बन्ध टूट चुका था। तदनन्तर रूसियों की तरफ से कुछ छेड़छाड़ भी हुई। परन्तु जापान ने युद्ध की घोषणा 11 फ़रवरी 1904 को की।

जो सैनिक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर लड़ने के लिए तैयार रहते है वही युद्ध में शरीक योद्धा समझे जाते हैं। युद्ध के नियमों के अनुसार शत्रु-दल के योद्धा मारे जाने और शरीर-दण्ड पाने के पात्र समझे जाते है। शरण में आने पर वे युद्ध के क़ैदी समझे जाते है। और वैसा ही व्यवहार भी उनके साथ किया जाता है। 1874 में ब्रसेल्स की सभा में तै पाया था कि वही लोग योद्धा समझे जायँ जो किसी ज़िम्मेदार अफसर के नेतृत्व में हो, युद्ध के नियमों को जानते हो और किसी विशेष चिह्न से पहचाने जा सकते हो।

कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर अन्य सब अवस्थाओं में शरण चाहने वाले शत्रुदल के योद्धाओं को शरण अवश्य दी जाती है। परन्तु शरण मिल जाने ही से शत्रु के योद्धा दण्ड से नही बच सकते। यदि शत्रु ने स्वयं ही युद्ध के नियम तोड़े हैं अथवा अपने विपक्षियों को शरण न देने की सम्मति प्रकट की है तो उसके योद्धाओं को भी दण्ड मिलता है। शत्रु यदि कोई ऐसा कठोर या नृशंस काम करता है जिसका बदला देना आवश्यक समझा जाता है तो इस कारण भी शरण में आये हुए उसके योद्धा दण्ड के पात्र समझे जा सकते है। गत चीन-जापान युद्ध में जापान ने शरण चाहने वाले शत्रु दल के प्रत्येक सैनिक को शरण दी थी। परन्तु एक दुर्घटना अवश्य हुई थी। वह यह थी कि पोर्ट आर्थर पर जापानियों का अधिकार हो जाने के बाद चार दिन तक नर हत्या हुई थी तथापि जापानियों के कथनानुसार उनके योद्धाओं ने यह नृशंसता नही की थी, किन्तु उनकी सेना के कुलियो ने शराब के नशे में की थी।

रोगी और घायल सैनिकों की—चाहे वे किसी दल के हों—उचित शुश्रूषा की जाती है। जब तक वे अस्पतालो अथवा अस्पताली जहाजो मे रहते है तब तक वे किसी दल के नही समझे जाते। जितने डाक्टर घायलो की सेवा के लिए नियत रहते हैं वे भी किसी पक्ष के नही समझे जाते। दोनों पक्ष उनकी रक्षा के लिए एक से बाध्य है। अस्पतालो पर भी आक्रमण नहीं किया जाता। गत रूस-जापान युद्ध में जापानियो का व्यवहार अपने रूसी क़ैदियों के प्रति साधारणतः, और उनमें से जो रोगी अथवा घायल थे उनके प्रति मुख्यतः, बहुत ही अच्छा था। यूरप और अमेरिका वालों तक ने जी खोल कर जापान के इस सद्व्यवहार की प्रशंसा की। जापानियों के इस सद्व्यवहार की एक घटना का यहाँ उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। कीनलीनयेंग के युद्ध में एक रूसी सैनिक की आँखें घायल हो गई। वह अपने एक साथी की सहायता से सेना के बाहर निकल आया। इतने ही में अचानक दो जापानी सैनिक घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने वाले सेवक-समुदाय की झण्डी लिए हुए उस जगह पर पहुँचे। एक जापानी ने पिस्तौल द्वारा संकेत करके घायल रूसी के साथी से चले जाने को कहा। जब वह चला गया तब दोनों ने मिलकर घायल रूसी सैनिक की आँखें धोई, उन पर पट्टी चढ़ाई और तत्पश्चात्

उसे उसके साथियों के पास पहुँचा दिया। जापानी सैनिक अपने रूसी क़ैदियों के आराम का बहुत ही ख़याल रखते थे। बहुधा वे लोग रूसी क़ैदियों को अपनी सिगरेट और शराब देकर प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे।

युद्ध के क़ैदी, युद्ध जारी रहते हुए, धन लेकर भी छोड़ दिये जा सकते हैं। दोनों पक्ष वाले अपने अपने क़ैदियों को बदल भी लेते हैं। वर्तमान युद्ध में शरीक न होने की शर्त पर क़ैदी छोड़ दिये जाते है। यदि कोई क़ैदी भागे तो वह भागने की अवस्था में मार डाला तक जा सकता है; परन्तु फिर पकड़े जाने पर उसे केवल इतना ही दण्ड दिया जा सकता है कि उस पर विशेष चौकसी रक्खी जाय। यदि वह अन्य क़ैदियों के भागने के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो तो फिर वह प्राण-दण्ड ही का पात्र समझा जाता है। क़ैदियों को यथा-सम्भव अच्छा भोजन, वस्त्र और स्थान दिया जाता है; किसी किसी अवस्था में उनके जेब-ख़र्च का भी प्रबन्ध किया जाता है।

युद्ध में पकड़े तो सभी जा सकते हैं, परन्तु समाचार-पत्रों के संवाद-दाताओं के लिए यह नियम ढीला कर दिया जाता है। वे लोग केवल उस समय तक रोके जा सकते हैं जब तक उनके न रोकने से किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना हो। गत रूस-जापान युद्ध में एक ऐसी ही घटना हो गई थी। अमेरिका के किसी समाचार-पत्र के संवाद-दाता के जहाज़ को रूसियों ने पकड़ लिया। कुछ काल तक उक्त संवाद-दाता को रूसियों की हिदायत में रहना पड़ा। अन्त में वह छोड़ दिया गया।

युद्ध में किसी को धोखे से मारना मना है, परन्तु एक दल के सैनिकों का दूसरे दल वालों पर छिप कर छापा मारना मना नहीं। शत्रु के खाने पीने की चीज़ों में विष मिला देना, विष से बुझे शस्त्रों का प्रयोग करना और तोपों में नाल, शीशे और विविध धातुओं के टुकड़े तथा इसी प्रकार की अन्य चीज़ें भरना आदि बातें भी नियम विरुद्ध समझी जाती हैं। ज्वालाग्राही पदार्थों से भरे हुए गोले बड़े ही भयंकर होते हैं। जहाँ एक भी ऐसा गोला गिरता है, वहाँ सफ़ाया ही हो जाता है। गोले जितने छोटे होंगे, उतने ही अधिक एक बार में चलाये जा सकेंगे और जितने ही अधिक गोले होंगे जहाँ तहाँ गिर कर, उतना ही अधिक भयंकर संहार वे करेंगे। इसीलिए आध सेर से कम वज़न के ज्वालाग्राही पदार्थ युक्त छोटे गोले युद्ध में नहीं चलाये जाते। 1874 में ब्रसेल्स में, एक सैनिक सभा हुई थी। उसमें तै पाया था कि योद्धाओं को यह अधिकार नहीं है कि वे जिस तरह चाहें अपने शत्रुओं को मार डालें। इसलिए भविष्यत् में युद्ध के समय, अब ऐसे गोले न व्यवहार में लाये जायँ जिनका काम फूटकर हवा को विषैला बनाना ही हो। सभा की इस बात को सब राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया।

समुद्र में बारूद की सुरंगें लगाकर शत्रु के जहाज़ नष्ट कर दिये जाते है। समुद्र में तट से तीन मील तक इस प्रकार की सुरंगें लगाने का हर राष्ट्र को अधिकार है। परन्तु ये सुरंगें होती बड़ी भयंकर हैं। यदि किसी प्रकार ढीली पड़ जायँ तो बहती बहती कहीं की कहीं पहुँच जायँ और केवल सैनिक जहाज़ों ही को नहीं, किन्तु इससे टकरा जाने वाले व्यापारी जहाज़ों तक को नष्ट कर दें। इन सुरंगों की निरंकुशता पर

सैनिक समुदाय भयभीत हो रहा है। हेग के महा-न्यायालय में इस विषय पर शीघ्र ही विचार होने वाला है।

जो सैनिक शान्ति सूचक झण्डियाँ लेकर या शत्रु के सैनिकों की वर्दी पहनकर शत्रुओं को धोखा देते है वे यथार्थ में रण-नीति के विरुद्ध कार्य्य करते हैं। नियम है कि जिस सैनिक के हाथ में शान्ति की झण्डी हो उस पर न तो वार किया जाय, न उसे और प्रकार का कष्ट पहुँचाया जाय, और न वह क़ैद ही किया जाय। गत रूस-जापान युद्ध में रूसियों ने एक बार इस नियम का उल्लंघन किया था। नानशन में युद्ध हो रहा था। रूसियों ने शान्ति के सफेद झण्डे ऊपर उठाये। जापानियों ने समझा कि वे शरण चाहते हैं। युद्ध बन्द कर दिया गया। जापानी उन्हें क़ैद करने के लिए आगे बढ़े। पास पहुँचते ही रूसियों ने उन पर बन्दूक की बाढ़ें छोडी। सैंकड़ों जापानी मुफ़्त मे मारे गये। परन्तु अन्त में मैदान जापानियों ही के हाथ रहा।

अरक्षित और चहारदीवारी से न घिरे हुए नगर पर गोला-बारी नही की जाती। यदि ऐसे नगर का किसी सैनिक अड्डे से विशेष सम्बन्ध हो, अथवा उसमें रसद रुकी पड़ी हो, तो फिर उस पर भी गोला-बारी की जा सकती है। जिस स्थान पर गोला-बारी की जाने को होती है वहाँ के निवासियों को सूचना द्वारा वहाँ से चले जाने की आज्ञा दे दी जाती है। परन्तु इस प्रकार की सूचना देना अथवा न देना आक्रमणकारी पक्ष की इच्छा ही पर छोड़ दिया गया है। अपने अधीन रहने वाली असभ्य जातियों से लड़ाई में सहायता लेना अनुचित नही, परन्तु इन जातियों की सेना का आधुनिक ढंग पर शिक्षित होना आवश्यक है।

शत्रु पक्ष की टोह जासूस ले सकते है; परन्तु पकड़े जाने पर उन्हें फाँसी मिलती है। पहले तो गुब्बारे द्वारा उड़ने वाले लोगों तक को, युद्ध के समय पकड़ लिये जाने पर जासूसों ही की तरह दण्ड मिलता था; परन्तु अब वह बात जाती रही है।

शत्रु-पक्ष के जहाजो पर, चाहे वे सामरिक हों चाहे व्यापारिक, उन्ही स्थानों पर आक्रमण किया जा सकता है जो शत्रु अथवा आक्रमणकारी पक्ष के अधीन हो। किसी तटस्थ राजा के अधीन समुद्र में, अथवा बन्दर पर खड़े हुए, शत्रु-पक्ष के जहाज़ पर आक्रमण करने का अधिकार किसी को नही। जो जहाज वैज्ञानिक खोज के लिए निकले हों, जिनमे बदले हुए युद्ध के क़ैदी जा रहे हो, अथवा जिनमें रोगी और घायल तथा उनकी चिकित्सा का सामान हो—चाहे वे किसी पक्ष के हों—पकड़े नही जाते। शत्रु की प्रजा के उन जहाजों को छोड़कर जो युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व ही से दूसरे पक्ष के समुद्र अथवा बन्दर में पड़े हों अन्य सब जहाज युद्ध-काल में पकड़े और ज़ब्त कर लिये जाते हैं। समुद्र-तट के निकट रहने पर तो नहीं, परन्तु समुद्र-तट से दूर गहरे समुद्र में पहुँच जाने पर मछलियों का शिकार खेलने वाली शत्रु पक्ष की नावें भी पकड़ ली जाती हैं। युद्ध आरम्भ होने पर यदि कोई जहाज़ शत्रु-पक्ष के बन्दर पर माल लाद रहा हो, अथवा शत्रु-पत्र के किसी बन्दर से चल कर अथवा किसी तटस्थ राष्ट्र के बन्दर की ओर जा रहा हो, तो वह एक नियमित समय तक नहीं पकड़ा जाता। बहुधा शत्रु-पक्ष के उन जहाजों को जिनमें दूसरे पक्ष के किसी बन्दर का कुछ माल हो, उक्त बन्दर में

आने और एक नियत काल के भीतर वहाँ से सकुशल लौट जाने की आज्ञा मिल जाती है।

युद्ध आरम्भ हो जाने पर अन्य राष्ट्रों के जहाज़ों तक की बहुधा तलाशी ली जाती है। यह तलाशी इसलिए ली जाती है जिसमें जहाज़ की यथार्थ राष्ट्रीयता का पता लग जाय और यह मालूम हो जाय कि उसमें किस प्रकार का माल है। और वह कहाँ जाता है। इस प्रकार की तलाशियाँ केवल युद्ध-काल ही में ली जाती है, शान्ति के समय में नहीं। तटस्थ राष्ट्रों के सैनिक जहाज़ कभी नहीं देखे जाते, हाँ उनके व्यापारी जहाज़ों की तलाशी बहुधा ली जाती है। तलाशी लेने के लिए जहाज़ पहले रोके जाते हैं। फिर उनका माल देखा जाता है कि वह ऐसा तो नहीं जिसका ले जाना युद्ध-काल में वर्जित है। सामुद्रिक डाकुओं के जहाज़, अथवा ऐसे जहाज़ जिन पर डाकुओं के होने का सन्देह हो, किसी भी समय पकड़े जा सकते हैं। व्यापारी जहाज़ राष्ट्रीय सेवा के लिए सैनिक जहाज़ का रूप धारण कर लिया करते हैं। परन्तु जो व्यापारी जहाज़ घर से तो व्यापारी बनकर निकलता है और रास्ते में सैनिक बन जाता है उसकी हैसियत सामुद्रिक डाकुओं के जहाज़ ही की तरह समझी जाती है।

युद्ध आरम्भ होते ही एक प्रश्न बड़े ही महत्त्व का उत्पन्न हो जाता है। वह यह कि कौन राष्ट्र तटस्थता की नीति का अवलम्बन करेगा और कौन दो पक्षों में से किसी एक की सहायता करेगा। तटस्थ राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह दोनों पक्षों में से किसी को भी किसी प्रकार की सहायता न दे। लड़ने वाले पक्षों का कर्तव्य है कि तटस्थ राष्ट्रों के अधिकारों की कभी अवहेलना न करें। तटस्थ राष्ट्र किसी पक्ष को शस्त्रों से सहायता नहीं दे सकता, चाहे उसने युद्ध के पूर्व इस प्रकार की सहायता देने को किसी पक्ष को वचन ही क्यों न दिया हो। वह किसी पक्ष को ऋण भी नहीं दे सकता। वह किसी पक्ष की सेना को भी अपनी भूमि पर से नहीं निकलने दे सकता। वह जहाज़ या किसी प्रकार के शस्त्र नहीं बेच सकता। नियम है कि वह अपनी भूमि और अपने समुद्र पर दोनों पक्ष वालों को लड़ने न दे। यदि किसी पक्ष की सेना उसकी भूमि पर से निकलना चाहे तो उसे तितर-बितर कर दे; उसके शस्त्र छीन ले और उसकी सीमा में क़ैद किये गए किसी पक्ष के सैनिक क़ैदियों को छुड़ा दे। लड़ने वाले दलों का भी कर्तव्य है कि तटस्थ राष्ट्र के राज्य में किसी प्रकार का उत्पात न करें, न वहाँ सिपाही भरती करें और न वहाँ से किसी प्रकार की रसद ही लें। उनके जहाज़ों को, यदि उनमें कोई सन्देह-जनक माल न हो, वे न छेड़ें। यदि किसी प्रकार से उनके हाथों से तटस्थ राज्य को कोई क्षति पहुँचे तो उसकी पूर्ति करने और उसके लिए क्षमा माँगने को वे तैयार रहें।

उन्हीं जहाज़ों की तलाशी ली जाती है और वही जहाज़ पकड़े जाते हैं जिन पर 'वर्जित' सामान था। वर्जित सामान से युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं ही का मतलब है। घोड़े, गन्धक, शोरा, जहाज़ बनाने का सामान—जैसे शहतीरें, इंजिन, मस्तूल, बादबान, इंजिन की कलें, रस्सियाँ, ताँबा, राल और सन आदि चीज़ें वर्जित समझी जाती हैं। जहाज़ पर रुपया, पहनने के कपड़े और कच्ची धातुओं का होना भी वर्जित मान लिया गया है।

कोयला भी वर्जित वस्तु है, परन्तु उसका वर्जित होना इस बात के फ़ैसले पर अवलम्बित है कि उसका व्यवहार किस काम में होगा। यदि उसका व्यवहार किसी औद्योगिक काम के लिए नहीं, किन्तु किसी युद्ध-कार्य्य में होने वाला हो; तो उसकी गणना भी, रणनीति के अनुसार, वर्जित वस्तुओं में होगी। गत रूस-जापान युद्ध में रूस और जापान दोनो ने कोयले की गणना वर्जित ही वस्तुओं में की थी। उसी युद्ध में रूस ने कच्ची कपास को भी 'वर्जित' बतलाया था। जब राष्ट्रों में इस विषय पर बड़ी हलचल मची तब रूस ने अपनी दूसरी घोषणा में यह कहा कि कच्ची कपास ज्वालाग्राही पदार्थों के बनाने में काम आती है। इसीलिये वह 'वर्जित' समझी जाती है। परन्तु सूत आदि शुद्ध कपास की चीज़े जिनसे कपड़ा बुना जाता है 'वर्जित' नहीं।

शत्रु-राज्य में फैले हुए तार तोड़े और उसके खम्भे नष्ट-भ्रष्ट किये जा सकते हैं, परन्तु जिस तार द्वारा शत्रु का और किसी तटस्थ राज्य से सम्बन्ध हो उसका वही भाग तोड़ा जा सकता है जो शत्रु की भूमि पर हो। दो तटस्थ राज्यों के बीच में लगे हुए सामुद्रिक तार पर लड़ने वाले दल हस्तक्षेप नही कर सकते, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि लड़ने वाला वह राष्ट्र जो ऐसे तार के विशेष निकट हो उस पर इतना अधिकार प्राप्त कर लेता है कि जब चाहे तब उससे भी भेजी जाने वाली ख़बरों की जाँच-पड़ताल कर सके। शत्रु के काग़ज़-पत्रों की गणना वर्जित वस्तुओं में है। जहाँ ऐसे काग़ज़-पत्र मिलते है, तुरन्त जब्त कर लिये जाते हैं।

[नवम्बर, 1912 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' में संकलित।]

तुर्कों का उत्थान और पतन

लगभग छः सौ वर्ष बीते कि तुर्क नाम की एक छोटी सी जाति उद्दण्ड मंगोल लोगों के भय से अपने घर, मध्य एशिया, से भागकर आरमीनिया प्रदेश में पहुँची। वहाँ के सेलजूक-वंशीय बादशाहों ने उसे अपनी शरण में लिया। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में, मंगोल लोगों ने सेलजूक-साम्राज्य पर चढ़ाई कर दी। उसकी समाधि पर एक छोड़ दस छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। भगोड़ी तुर्क जाति के तत्कालीन अधिपति का नाम था उसमान। वह भी इस विप्लव से लाभ उठाने में पीछे न रहा। उसने भी कुछ भूमि दबा ली और राजा बन बैठा। अपने साहस और बुद्धि-वैभव से उसने अन्य राजों को भी शीघ्र ही अपने अधीन कर लिया। तुर्कों का वही पहला स्वतन्त्र राजा हुआ। तुर्कों में उसी के नाम पर पहले-पहल सिक्के चले और मसजिदों मे खुतबा पड़ा गया। उसी के नाम पर तुर्क लोगों का नाम 'उसमानी' और उनके भावी साम्राज्य का नाम 'उसमानी साम्राज्य पड़ा'। योरप की भाषाओं में, इसी 'उसमानी' शब्द का अपभ्रंश आटोमन हो गया।

1359 में, मुराद (प्रथम) तुर्कों का राजा हुआ। उसने अपना हाथ योरप की ओर बढ़ाया। योरप के दक्षिण-पूर्व में बालकन नाम का एक प्रायद्वीप है। उस समय उस पर कान्सटैन्टीनोपिल के ईसाई सम्राट् का शासन था। मुराद ने बालकन के एक बड़े भाग को बलवत् अपने अधीन कर लिया। योरप की ईसाई शक्तियाँ मुसलमानों के इस दबदबे से बहुत घबराई। कई ईसाई राजों ने मिलकर मुराद पर आक्रमण कर दिया। 1389 में घोर युद्ध हुआ और मुराद मारा गया। परन्तु विजयी मुसलमान ही रहे। इस विजय से सर्बिया देश उनके हाथ लगा।

धीरे-धीरे तुर्कों ने ईसाई राजों से बलगेरिया भी छीन लिया। पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य काल में वे हंगरी राज्य की सीमा तक पहुँच गये। योरप में वे पहुँच तो दूर तक गये थे, ईसाई जातियों में उनकी धाक भी खूब बैठ गई थी, लोग उनके मुक़ाबले मे आने से भी भय खाने लगे थे, परन्तु अभी तक वे बायजण्टाइन साम्राज्य की राजधानी, कान्सटैन्टीनोपिल नगरी को, जो उनके विजित देशों के एक कोने ही में पड़ती थी, न जीत सके थे। तुर्कों की यह परम अभिलाषा थी कि वे ईसाइयों के इस पुनीत नगर पर अपनी सत्ता जमावें। इसलिए उन्होंने उसे कई बार घेरा भी, परन्तु वे सफल-मनोरथ न हुए। 1451 में मुहम्मद द्वितीय तुर्कों का राजा हुआ। वह वीर और साहसी था। साथ ही उसका हृदय उच्चाकांक्षाओं से भी पूर्ण था। उसने अन्त मे, वह काम भी कर दिखाया जिसके लिए तब तक तुर्क लालायित थे। 1453 में, उसने कान्सटैन्टीनोपिल घेर लिया। घमासान युद्ध हुआ। अन्त में तुर्कों की तोपों के सामने दुर्ग की दीवारें खड़ी न रह सकीं। ईसाइयों का सारा परिश्रम और आत्मोत्सर्ग निष्फल हुआ। उनका सम्राट् भी युद्ध करते

करते धराशायी हुआ। ईसाई संसार से परम पवित्र स्थान सेण्ट सोफ़िया नाम के गिरजाघर पर ईसाई धर्म्म का सूचक 'क्रास' न रह सका। उस पर इसलामी चन्द्रमा चमकने लगा। विजयी मुहम्मद ने सगर्व नगर में प्रवेश करके उस नई मसजिद में नमाज पढ़ी। कान्सटैन्टीनोपिल तुर्कों की राजधानी बना। तुर्की राजा सुलतान हुए और उनका राज्य हुआ तुर्की साम्राज्य। आज इसी साम्राज्य को हम तुर्की या उसमानी साम्राज्य के नाम से पुकारते हैं।

इस विजय के कारण मुहम्मद योरप के इतिहास मे विजयी मुहम्मद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद वह चुपचाप न बैठा रहा। उसने योरप में अपना राज्य और भी बढाया। क्राइमिया और बोसनिया को जीता। ग्रीकों के द्वीप-समूह के कितने ही द्वीपों को उसने अपने अधिकार में कर लिया। उसका विचार इटली और स्पेन पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित करने का था; परन्तु, 1481 मे, उसकी मृत्यु हो गई।

1512 में, सलीम प्रथम सुलतान हुआ। वह भी बड़ा प्रतापी बादशाह था। उसने तुर्की साम्राज्य को और भी प्रशस्त किया। वह फ़ारिस की बहुत सी भूमि दबा बैठा। सीरिया और मिस्र को भी उसने जीता। उसका पुत्र सुलेमान भी पिता के सदृश ही हुआ। उसने योरप के कुछ कुछ द्वीपों, तथा अफ़रीका के अलजियर्स और ट्रिपोली को ले लिया। हंगरी के राजा तक उसे कर देने लगे। इस सुलतान के समय में तुर्क लोग उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गये। उसकी सेना प्रथम श्रेणी की समझी जाती थी। उनका जहाज़ी बेड़ा भी इतना बड़ा था कि समुद्री युद्ध में उस समय कोई भी उसकी बराबरी न कर सकता था। उनकी पहुँच भी दूर दूर तक थी। हंगरी और आस्ट्रिया तो उनका घर-द्वार था। जर्मनी के मैदानो तक वे धावे मारते थे।

सुलेमान के बाद उसका पुत्र सलीम द्वितीय सुलतान हुआ। वह अपने योग्य पिता का अयोग्य पुत्र निकला। उसी के समय से तुर्की साम्राज्य के पतन का आरम्भ हुआ। इसके बाद जो सुलतान हुए, उनमें से अधिकांश अयोग्य ही नहीं, किन्तु दुराचारी, दुर्व्यसनी, डरपोक और निर्बल थे। साम्राज्य में सुशासन न रहा। अत्याचार, लूट-मार और दुराचार की वृद्धि होने लगी। जो जिसके मन में आता था, सो करता था। सेना को वश में रखना मुशकिल था। कितने ही सुलतान तुर्की सेना के हाथों मारे गये। बग़ावतें शुरू हो गई। सुलतानों का नाको दम आ गया। ईसाइयों पर अत्याचार होने लगे। टर्की की इस दुरवस्था के कारण उसके पड़ोसी राज्य, आस्ट्रिया और रूस, दिन पर दिन बलवान् होते जाते थे। अन्त मे टर्की को निर्बल समझकर, 1739 में, रूस और आस्ट्रिया ने ईसाइयों की रक्षा के बहाने उससे युद्ध ठान दिया। यद्यपि टर्की का पतन हो रहा था, तथापि, अभी तक, वह इतना निर्बल न हो गया था कि उसे जो चाहता, हरा देता। आस्ट्रिया को हारना पड़ा। उसने और उसके मित्र रूस ने टर्की को कुछ ले-देकर अपना पीछा छुड़ाया। इस घटना से टर्की को सबक सीखना था। पर वह आँखें मूँदे अपनी पुरानी मस्त चाल से चलता रहा और कई बार ठोकरें खाने पर भी न चेता। इसका फल जो होना था, वही हुआ।

'सेण्ट सोफ़िया' नाम के गिरजाघर को तुर्कों ने मसजिद बना डाला, यह ऊपर

कहा जा चुका है। उसका तुर्की नाम है 'जमासोफ़िया'; तथापि सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी ईसाई संसार ने उससे ममता नहीं छोड़ी। क्रास के स्थान पर चन्द्र-चिह्न देखकर, कान्सटैन्टीनोपिल के ईसाई यात्री के हृदय में जब तब शूल उठता है। पश्चिमी योरप की ईसाई जातियों का विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा, जब सेण्ट सोफ़िया में इसलामी अज़ाँ के बदले पादड़ियों के घण्टों का नाद सुनाई पड़ेगा। ये जातियाँ चुप भी नही बैठी। समय समय इन्होंने सेण्ट सोफ़िया पर अधिकार प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न भी किया। अठारहवीं शताब्दी के तृतीय और चतुर्थ चरण में रूस का शासन-सूत्र रानी कैथराइन के हाथ में था। वह बड़ी ही चालाक और कट्टर ख़याल की रानी थी। वह तुर्कों को योरप से मार भगाना और कान्सटेन्टीनोपिल में ईसाई राज्य स्थापित करना चाहती थी। 1768 से 1796 ईसवी तक उसने टर्की को बहुत तंग किया। वह टर्की से लड़ी भी। यदि आस्ट्रिया बीच बीच में उसकी गति का बाधक न बनता तो वह योरप से तुर्कों को निकाले बिना न छोड़ती। तो भी उसने तुर्कों के राज्य का बहुत सा भाग छीन लिया और सन्धि करते समय उनसे एक ऐसी शर्त करा ली जिसके कारण टर्की को पीछे बहुत सी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। उस शर्त के अनुसार रूस को तुर्कों की राजधानी में एक गिरजाघर बनाने का स्वत्व प्राप्त हुआ। सन्धि-पत्र में एक शर्त यह भी थी कि उस गिरजाघर से सम्बन्ध रखने वाले ईसाइयों के विषय में यदि कभी रूस को कुछ कहना पड़े, तो तुर्कों को उस पर अवश्य विचार करना चाहिए। इस शर्त से रूस ने अपना अच्छा मतलब गाँठा। वह टर्की की ईसाई प्रजा का संरक्षक बन बैठा।

इधर टर्की की दशा खराब ही होती गई। राज्य में उत्पात बढ़ता गया। वहाबी नाम का एक मुसलमानी पन्थ भी इसी समय निकल पड़ा। उसकी धार्मिक कट्टरता ने टर्की की ईसाई प्रजा के हृदय में अशान्ति की अग्नि और भी भड़का दी। उधर बालकन की ईसाई जातियाँ कुछ तो उकसाई जाने से और कुछ अपनी पड़ोसी अन्य जातियों को स्वतन्त्रता का सुख अनुभव करते देख टर्की की गुलामी का तौक़ उतार फेंकने के लिए बेचैन होने लगी।

इस बीच में नेपोलियन ने मिस्र में फ्रान्स का झण्डा गाड़ दिया। परन्तु वह अधिक दिनों तक न रह सका। इंगलैंड नेपोलियन का परम शत्रु था। उसी की कृपा से बेचारा टर्की अपनी इस छीनी गई सम्पत्ति को फिर पा गया। ग्रीक लोग भी उधर स्वतन्त्र होने की फ़िक्र में थे। वे भी टर्की से लड़े-भिड़े। परन्तु अन्त में मुक़ाबिले में न ठहर सके। इधर रूस की सहायता से सर्बिया वाले उठ खड़े हुए। वे बर्षों टर्की से लड़ते-भिड़ते रहे। अन्त में, 1817 में; उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब ग्रीक लोग चुप न बैठ सके। वे फिर बिगड़े, पर बेतरह हारे। योरप के राज्यों ने बीच-बचाव कर देना चाहा; परन्तु टर्की ने उनकी एक न सुनी। इस पर, 1827 में, इंगलैंड, रूस और फ्रांस ने अपनी संयुक्त नाविक सेना लेकर टर्की पर चढ़ाई कर दी। फल यह हुआ कि टर्की हारा। ग्रीस स्वतन्त्र हो गया। रूस ने भी कुछ भूमि अपने राज्य में मिला ली। टर्की को इन झगड़ों से छुट्टी मिली तो मिस्र का मुहम्मद पाशा, सीरिया छीनने की नीयत से, उस

पर आक्रमण कर बैठा। बड़ी मुशकिलों से, इंगलैंड की कृपा से, उसे मुहम्मद के चंगुल से छुटकारा मिला।

1853 मे रूम फिर टर्की से भिड़ पड़ा। इस युद्ध का कारण यह था कि अब रूम अपने को टर्की की सारी ईसाई प्रजा का संरक्षक कहने लगा था। टर्की को यह बात अच्छी न लगी। उसने इसका विरोध किया। बस, फिर क्या था; युद्ध छिड़ गया। इस बार इगलैंड और फ्रांस ने टर्की की सहायता की। अन्त में रूस को नीचा देखना पड़ा। उसे कुछ दबना भी पड़ा। युद्ध के बाद टर्की ने घोषणा की कि अब से धर्म्म, भाषा और जाति के लिहाज़ से किसी के साथ कुछ रिआयत न की जायगी। योरप के राष्ट्रों ने भी वचन दिया कि उनमें से कोई भी, अब, टर्की के घरेलू झगड़ों में हस्तक्षेप न करेगा। यह युद्ध, इतिहास में, क्राइमियन युद्ध के नाम से विख्यात है।

टर्की ने करने को तो घोषणा कर दी, परन्तु उत्पात होते ही रहे और ईसाई यह शिकायत करते ही रहे कि हमें कष्ट मिल रहा है। पर उन्हें सचमुच ही कष्ट मिलना था या नहीं, यह भगवान ही जाने। अन्त में, 1877 में, सर्विया और मान्टीनिग्रो ने टर्की के विरुद्ध शस्त्र उठाया। रूस ने उनका साथ दिया। पर किसी ने टर्की का पक्ष न लिया। अन्त में टर्की को हार कर सन्धि करनी पड़ी। सर्विया; रूमानिया और मान्टीनिग्रो पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये। बलगेरिया नाम का एक बड़ा भारी ईसाई राज्य अलग बन गया। वह टर्की के अधीन रक्खा गया। बोसनिया और हर्ज़ीगोबिना नाम के दो तुर्की प्रान्त आस्ट्रिया की देख-रेख में रहे; पर नाम मात्र के लिए। राज-सत्ता उन पर टर्की ही की मानी गई। ग्रीस ने अपनी सीमा बढ़ा ली। टर्की ने मैसीडोनिया प्रान्त का सुधार करने का वचन दिया। टर्की साम्राज्य का योरपियन शरीर बिलकुल ही कट-छँट गया। इस कतरनी का, जिसने इतनी काट-छाँट की, नाम है 'बर्लिन की सन्धि'।

टर्की के भाग्य में इतनी ही दुर्गति न बदी थी। उसे अपने शरीर को और भी कटवाना पड़ा। 1908 में, टर्की में एक नवीन भाव का संचार हुआ। युवा तुर्कों ने स्वेच्छाचारी सुल्तान अब्दुल हमीद को सिंहासन से उतार कर कैद कर लिया। उन्होंने एक पारलियामेंट बना ली। प्रजा की व्यवस्था के अनुसार काम करने की शपथ खाने वाले शाही ख़ानदान के एक आदमी को सुलतान का पद दिया। परन्तु उस क्रान्ति के समय टर्की को निर्बल देख कर आस्ट्रिया ने बोसनिया और हर्ज़ीगोबिना को हड़प लिया। उधर बलगेरिया भी स्वतन्त्र बन बैठा। अभी उस दिन इटली ने भी टर्की से ट्रिपोली छीन लिया। अब मिस्र में उसकी अंगुल भर ज़मीन न रह गई। योरप मे मैसीडोनिया और अलबानिया आदि दो एक सूबे जो टर्की के अधीन रह गये थे, वे भी अब गये ही समझिए। ईसाइयों की नजरों में वे बेतरह खटक रहे थे। उन्ही की प्राप्ति के लिए इस समय बालकन प्रायद्वीप में युद्धाग्नि प्रज्वलित है। ग्रीस, सर्बिया, बलगेरिया और मान्टीनिग्रो मिल गये हैं। सबने एक साथ टर्की पर चढ़ाई की है। भीतर ही भीतर योरप की और शक्तियाँ भी, अपना अपना आन्तरिक मतलब साधने के लिए, उन्हें पुचाड़ा दे रही हैं। ये लोग मन ही मन तुर्कों से कहते हैं—"निकल जाव यूरप से। यूरप ईसाइयों के लिए है, मुसलमानों के लिए नहीं। ईसाइयों पर एशियावालों को सत्ता चलाने का मजाज़ नहीं"।

सारी बातों की बात यह है, और कुछ नहीं।

इस युद्ध का जो कारण बताया जाता है, वह यह है। टर्की के अधीन मैसीडोनिया नाम का जो प्रान्त योरप में है, उसके अधिकाश निवासी ईसाई हैं। बर्लिन की सन्धि के अनुसार यह तय हो गया था कि मैसीडोनिया को स्वराज्य दे दिया जाय। आन्तरिक मामलो में वह जो चाहे सो करे; केवल बाहरी बातों के विषय में वह टर्की के अधीन रहे। अब कहा यह जाता है कि टर्की ने मैसीडोनिया को स्वराज्य नही दिया। उसके ईसाई धर्म्मानुयायियों को क्रूर तुर्कों के अत्याचार से बचाने और मैसीडोनिया में, बर्लिन की सन्धि के अनुसार, स्वराज्य स्थापन करने ही के लिए हम लड़ते है। सो मुसलमान-तुर्क अत्याचारी, और योरप के ईसाई शान्ति के अवतार ! इसी से योरप के चारो शान्ति-सागरो ने, सुनते है, युद्ध छिड़ने के पहले ही योरप के अन्तर्गत तुर्कों के राज्य को, आपस में, कागज़ पर, बाँट लिया था। और अब तो यह सचमुच ही बँटा हुआ सा है; क्योंकि तुर्क बराबर हारते ही चले जाते है। बलगेरिया की फ़ौज कान्सटैन्टीनोपिल के पास पहुँच गई है। सो अब तुर्कों का पैर वहाँ से उठ गया समझिए। महाशक्तियो का पारस्परिक संघर्षण बचाने के लिए कान्सटैन्टीनोपिल और डारडनल्स मुहाने पर तुर्कों का कब्ज़ा रह जाय, तो चाहे भले ही रह जाय। पर वह भी औरो के लाभ के लिए, तुर्कों के नही।

एक समय था जब तुर्कों के नाम से योरप के बड़े बड़े साम्राज्य भयभीत रहते थे। मिस्र की उर्वरा भूमि और एशिया मायनर के धनवान् देशो से लेकर ट्रिपली, अरब और अलजियर्स की मरुभूमि तक के अधिपति उनके चरणो पर सौगाते रखने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। आज उन्ही तुर्कों का, जिनका ससार में इतना ऊँचा स्थान था और जिनका शताब्दियो तक बोलबाला रहा बड़ा ही बुरा हाल है। वे ठोकर पर ठोकर खाते है। लोग उन्हे धक्के पर धक्के लगाते है। उनके अस्तित्व तक को मिटा देने का प्रयत्न हो रहा है।

सैकड़ो वर्षों से टर्की का सम्बन्ध योरप की महाशक्तियों से है। इन शक्तियो की काया-पलट हो गई। पर टर्की चुपचाप इस परिवर्तन को देखता रहा। अपने पड़ोसियो को उन्नत होते देख कर भी उसने सबक़ न सीखा। यदि वह अब भी न सीखेगा तो एशिया में भी उसकी खैर नहीं। जिसकी भुजा मे बल है, वही सुख से ससार मे रह सकता है। उसी से सब कोई डरता है ! उसी के हक़ नही मारे जाते। उसी का सब कहीं आदर होता है। निर्बल का कहीं भी गुज़ारा नही।

[दिसम्बर, 1912 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

कावागुची की तिब्बत-यात्रा

[1]

तिब्बत का भौगोलिक अनुसन्धान करने और वहाँ के लोगों की यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए लोगों ने समय समय पर अनेक चेष्टायें की है। किन्तु ऐसे साहसी पुरुषों की संख्या बहुत ही थोड़ी है जो इस विषय में विशेष रूप से कृतकार्य्य हुए हैं। सबसे पहले, 1328 ईसवी में, ओडोरिक नाम के एक ईसाई पादरी ने तिब्बत जाकर वहाँ अपना मत फैलाने का यत्न किया। किन्तु, अन्त में, उसे हताश होकर वहाँ से लौटना पड़ा। क्योंकि उस देश में बौद्ध मत के सामने ईसाई धर्म्म का प्रचार होना सर्वथा असम्भव था।

1661 ईसवी में फ्रान्स के दो निवासी तिब्बत में भ्रमण करने निकले। परन्तु वे लोग लासा तक पहुँचे या नहीं, इस विषय मे सन्देह ही है। फिर भी बहुत से लेखकों का विश्वास है कि वे दोनो पेकिन से लासा तक गये। वहाँ से नेपाल हो कर भारत को लौट आये। लासा तिब्बत की राजधानी है। अतएव तिब्बत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्म्मिक अवस्था का पूरा पूरा ज्ञान वहाँ जाने ही से प्राप्त हो सकता है।

1774 ईसवी में भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल, वारेन हेस्टिंग्स, ने तिब्बत के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा से एक अँगरेज़ अफ़सर को वहाँ भेजा। किन्तु वह लासा तक न जा सका। तब हेस्टिंग्स ने, 1781 मे, कप्तान टर्नर नामक एक और साहब को तिब्बत भेजा। यह महाशय तिब्बत में दो बरस तक रहे। एक और अँगरेज को भारत से लासा तक जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका नाम था टाम्स मैनिंग। यह बात 1811 ईसवी की है।

इस बीच में रूस, आस्ट्रिया, इंगलैंड, और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे जापान, अमेरिका आदि कई देशों का ध्यान तिब्बत की ओर आकृष्ट हुआ। संसार का कौतूहल इस देश के विषय मे दिन दिन बढ़ता ही गया।

1881 में बाबू शरच्चन्द्र दास नामक एक बंगाली महाशय को भी तिब्बत में जाने की इच्छा हुई। उन्होने बड़ी बुद्धिमानी से तिब्बत-सरकार से एक 'पास' प्राप्त कर लिया और उसी साल अपनी यात्रा भी प्रारम्भ कर दी।

पहली यात्रा में दास महाशय को लासा तक पहुँचने का सुभीता न हुआ। वे तिब्बत के एक नगर में दो महीने तक रह कर वापस चले आये। जब भारत-सरकार को इनकी यात्रा का हाल मालूम हुआ तब उसने इनसे दूसरी यात्रा करने का अनुरोध किया। शरत् बाबू ने इस बार भी तिब्बत सरकार को धोखा देकर उससे एक 'पास' प्राप्त कर लिया। इस यात्रा में आप लासा तक पहुँच गये। वहाँ आप बीस रोज़ तक

बड़ी ख़बरदारी के साथ रहे; यहाँ तक, कि आप शायद ही कभी दिन को बाहर निकले हों। इसके बाद आप तिब्बत के अन्यान्य भागों का भी अनुसन्धान करके, क़रीब एक बरस बाद, दार्जिलिंग लौट आये। आपने सिक्किम देश के लामा के वेश में तिब्बत में प्रवेश किया था।

आपके लौट आने पर तिब्बत-सरकार को आपकी यात्रा का असली मतलब मालूम हो गया। सारे देश में इस बात की जाँच होने लगी कि कौन कौन से मनुष्यों ने तिब्बत में आपकी सहायता की थी और आपको अपने मकान पर आश्रय दिया था। जिसके ऊपर सरकार का सन्देह हुआ वह क़ैद कर लिया गया और उसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर ली गई। जिनका दोष भारी समझा गया उन्हें फाँसी की सज़ा दी गई। इसका एक उदाहरण लीजिए।

तिब्बत में सेंगचेन दोरजेचन नाम के एक वृद्ध लामा थे। ये अपनी विद्वत्ता के लिए देश भर में विख्यात थे। लोग इन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। शरच्चन्द्र ने कुछ काल तक आप ही से बौद्ध मत की शिक्षा ग्रहण की थी। लामा के मित्र उनसे कहा करते थे—"महाशय! आप इस शरच्चन्द्र का साथ छोड़ दें। नहीं तो आपको भारी विपद् में फँसना पड़ेगा"। किन्तु आपका उत्तर सुन कर सभी चुप हो जाते थे। आप कहते थे—"शरच्चन्द्र इस देश में चाहे धर्म्म-पुस्तकों की चोरी करने आया हो, चाहे वह किसी राज्य का जासूस हो, इससे मुझे कोई मतलब नहीं। बौद्ध मत का प्रचार करना मेरा कर्तव्य है; और अपना कर्तव्य-पालन करने में मुझे मौत की भी परवा नहीं"।

किन्तु जब तिब्बत-सरकार को मालूम हुआ कि पूर्वोक्त लामा महाशय ने भी शरच्चन्द्र की सहायता की थी तब उसने आज्ञा दी कि जल में डुबो कर उनके प्राण ले लिये जायँ!

कावागुची[1] नामक जापानी तिब्बत-यात्री ने, जिसके विषय में मुझे आगे बहुत कुछ लिखना है, इस हृदयविदारक दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—

"सरकार की कठोर आज्ञा सुन कर सेंगचेन महाशय को कुछ भी रंज न हुआ। नदी के किनारे एक चट्टान पर बैठ कर आप अपने प्रसिद्ध धर्म्म-ग्रन्थ का पाठ करने लगे। कुछ देर बाद, जो लोग उन्हें जल में डुबोने के लिए वहाँ प्रस्तुत थे उनकी ओर देख कर आपने कहा—'इस पवित्र धर्म्म-ग्रन्थ का पाठ समाप्त कर लेने पर मैं तुमको अपनी तीन उँगलियों से इशारा करूँगा। इशारे के साथ ही तुम मुझे एक रस्सी से बाँध कर नदी में फेंक देना। मुझे मृत्यु से कुछ भी भय नहीं।'

"यथासमय आपने उन लोगों को इशारा किया; किन्तु व्यर्थ! एक भी मनुष्य उनकी ओर न बढ़ा। तब आपने कहा—'मेरा अन्तिम काल आ पहुँचा है। देर करने की ज़रूरत नहीं। सरकारी आज्ञा के अनुसार मुझे तुम शीघ्र ही जल में फेंक दो। मेरी

1. कावागुची के बाद स्वीडन (Sweden) देश के वासी डाक्टर स्वेन हेडिन (Sven Hedin) ने भी काश्मीर से, 1906 ईसवी में, तिब्बत-प्रवेश किया था।

मौत पर अफ़सोस करना व्यर्थ है। मेरी हार्दिक कामना यही है कि इस देश में बौद्धमत की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।' "

सेंगचेन के मर जाने पर उनके सारे अंग, तिब्बत देश की प्राचीन प्रथा के अनुसार, शरीर से काट काट कर जल में फेंक दिये गये। इस पर कावागुची ने लिखा है—

"जब मैंने इस महापुरुष की मृत्यु-कथा पहले पहल दार्जिलिंग में सुनी तब मेरे शरीर पर रोमांच हो आया—मेरा कलेजा कांप उठा। क्योंकि मैं भी तो उसी तिब्बत को जा रहा था। कौन कह सकता था कि मेरी भी यही दशा न होगी ?"

इन घटनाओं से तिब्बत-सरकार और भी सजग हो गई। इस बात की सख़्त ताकीद कर दी गई कि कोई भी विदेशी राज्य के भीतर न आने पावे। देश का द्वार बन्द रखने में ही तिब्बत-सरकार ने अपना भला समझा। कावागुची ने लिखा है कि उन्हें अपनी यात्रा में ऐसा कोई भी गाँव या नगर न मिला जहाँ के लोग शरच्चन्द्र के तिब्बत में आने की बात न जानते थे। बच्चों तक को उनका नाम मालूम था।

कावागुची की यात्रा का वर्णन बहुत ही मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है। उनकी यात्रा-विषयक पुस्तक 'तिब्बत में तीन वर्ष' के नाम से छप कर प्रकाशित हुई है। आपका पूरा नाम है, यकाई कावागुची। आप जापानी हैं। बहुत दिन तक आपने काशी में संस्कृत भाषा का अध्ययन किया है। आपने अपने तिब्बत जाने का कारण इस प्रकार बताया है—

"मैं टोकिओ नगर के एक प्रसिद्ध बौद्ध मठ का मुख्य पुजारी था। किन्तु 1891 ईसवी में मैंने यह पद त्याग दिया और एक दूसरे स्थान में जाकर चीनी भाषा में छपे हुए अपने धर्म्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने लगा। मेरी इच्छा हुई कि मैं इन पुस्तकों का अनुवाद जापानी भाषा में करूँ। किन्तु ऐसा करने के पहले मैंने संस्कृत तथा तिब्बती भाषा में लिखे गये मूलग्रन्थों से उनका मिलान करना नितान्त आवश्यक समझा। ये मूलग्रन्थ नेपाल तथा तिब्बत ही में प्राप्त हो सकते थे। पर तिब्बत जाना कठिन काम था। फिर भी मैं तिब्बत में भ्रमण करने के लिए, 1897 में, रवाना हुआ और तीन बरस तक वहाँ रह कर, 1903 में, सकुशल अपने देश को लौट आया"।

1897 की 25 जून को कावागुची जापान से रवाना हुए। 25 जुलाई को आप कलकत्ते पहुँचे। वहाँ की महाबोधी सोसायटी से आपको शरच्चन्द्र की यात्रा का हाल मालूम हुआ। कावागुची ने दार्जिलिंग जाकर शरत् बाबू से भेंट की; उन्हें अपना अभिप्राय कह सुनाया। शरत् बाबू इन्हें देख कर बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उन्होंने इन्हें तिब्बत-यात्रा करने की राय न दी। उन्होंने बहुत समझाया कि तिब्बती भाषा का अध्ययन करके आप अपने देश को चले जाइए। किन्तु कावागुची को उनका विचार पसन्द न आया। आपने दार्जिलिंग में एक बरस तक रहकर वहाँ के बौद्ध लामाओं से तिब्बती भाषा पढ़ी। उसमें आप व्युत्पन्न हो गये। तब उन्होंने सोचा कि तिब्बत किस मार्ग से जाना चाहिए। कावागुची ने जान लिया था कि दार्जिलिंग से तिब्बत जाने का एक भी मार्ग उनके लिए ख़तरे से ख़ाली नहीं। अन्त में आपने नेपाल-मार्ग से जाना ही

युक्तिसंगत समझा। पर इसमें भी एक कठिनता थी। दार्जिलिंग में बहुत से तिब्बती जान गये थे कि कावागुची उनके देश में जाने की इच्छा से ही उनकी भाषा का अध्ययन कर रहे हैं। अतएव सम्भव था कि कोई तिब्बती धन पाने की इच्छा से तिब्बत-सरकार को इस बात की ख़बर दे देता। इसी से कावागुची ने सर्वत्र प्रकट कर दिया कि वे अब सीधे अपने देश को लौट जायँगे; कुछ कारणों से उन्होंने तिब्बत जाने का विचार छोड़ दिया है। लोगों को उनकी इस बात पर विश्वास आ गया। कावागुची भी वहाँ से विदा होकर कलकत्ते चले आये।

कावागुची ने शरच्चन्द्र से असली बात कह दी थी। उनके वियोग से शरच्चन्द्र को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की कि कावागुची की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। कावागुची कलकत्ते में कुछ दिनों तक रह कर नेपाल के लिए रवाना हो गये। मगौली में आपकी भेंट बुद्धवज्र नाम के एक लामा से हुई। बुद्धवज्र से आपने अपने को चीन देश का वासी बताया। वे इन्हे अपने मकान पर ले गये और इनका बहुत आदर-सत्कार किया।

बुद्धवज्र नेपाल के एक प्रसिद्ध बौद्ध मठ के लामा थे। इस मठ में प्रत्येक वर्ष हज़ारों लोग, जाड़े के दिनों में, तिब्बत से तीर्थ-यात्रा करने आया करते हैं। इन यात्रियों में ग़रीब भिक्षुकों की संख्या ही अधिक रहती है। इन्हे देख कर कावागुची ने सोचा कि तिब्बत से आते समय ये लोग सरकारी फाटकों या घाटियों पर कोई 'पास' दिखाते हैं या नही। यदि दिखाते हैं तो अर्थहीन होने पर भी इन्हे लालची अफ़सरों से 'पास' कैसे मिल जाते हैं। क्योंकि घाटियो के राज-कर्म्मचारियो की आँखो में धूल झोंक कर निकल आना असम्भव है। कावागुची ने इन भिक्षुकों को अपनाना शुरू किया। वे इन लोगों की कभी कभी आर्थिक सहायता भी करने लगे। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिन बाद इन भिक्षुकों ने उनको एक ऐसी राह बताई जो यात्रियों को नियमित फाटकों या घाटियों पर लाये बिना ही तिब्बत के भीतर पहुँचा सकती है। यह राह काठमाडू से उत्तर-पश्चिम की ओर जाकर, लो-नामक नेपाली प्रान्त को पार करती हुई, मानसरोवर झील तक जाती है।

इस पर कावागुची को बड़ी ख़ुशी हुई। यात्रा का सारा सामान ठीक करके एक दिन कावागुची ने अपने मित्र बुद्धवज्र से कहा—"महाशय! मैं यहाँ से लासा और लासा से अपने देश चीन जाने का विचार करता हूँ। मुझे यहाँ से उत्तर-पूर्व की ओर जाने वाले मार्ग से लासा जाना चाहिए। किन्तु तिब्बत जाकर मानसरोवर झील और कैलाश पर्वत का दर्शन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। अस्तु, मैं उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग से ही जाऊँगा।"

बुद्ध वज्र यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तीन अन्य यात्रियो को भी इनके साथ कर दिया। इन्हें कुछ दूर के लिए एक पथ-प्रदर्शक भी मिल गया। 1899 के मार्च महीने में सबके सब काठमांडू से बिदा हुए। कुछ दिनों बाद ये लोग पोखरा नामक नगर में पहुँचे। वहाँ से तुकुजे नगर को गये। कावागुची ने वहाँ पर अपने साथियों को छोड़ दिया। क्योंकि उनमें से किसी का भी स्वभाव इन्हें पसन्द न था।

इसी स्थान में कावागुची की भेंट एक और लामा से हुई। वह इनका मित्र हो गया और इन्हें सारंग-प्रदेश में, जहाँ उसका घर था, बड़ी खुशी से ले गया।

कावागुची सारंग-प्रदेश में कोई एक वरस तक रह गये। वहाँ से आगे बढ़ना असम्भव समझ कर उन्हें तुकुजे नगर के निकटवर्त्ती मल्बा ग्राम तक पीछे लौटना पड़ा। सारंग में कावागुची को बौद्ध धर्म्म-सम्बन्धी कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हो चुके थे। उन सबको साथ लेकर वे 1900 की बारहवीं जून को मल्बा से चल पड़े। वहाँ से आपको कालीगंगा नामक नदी के किनारे किनारे चलना पड़ा। तीसरी जुलाई को आप धवलगिरि के उत्तरी भाग में पहुँचे। यहीं नेपाल-राज्य की सीमा का अन्त हो गया और तिब्बत देश की सीमा का प्रारम्भ हुआ।

चौथी जुलाई को कावागुची को तिब्बत के भीतर, एक निर्जन मैदान में, अकेले जाना पड़ा। भूख और प्यास से वे बेचैन हो गये। उनका सारा शरीर थकावट से चूर चूर हो गया। फिर भी उन्होंने अपनी तकलीफ़ों की कुछ भी परवा न की। वे उन्हें भूल से गये। उन्होंने स्वयं लिखा है—"मेरे हर्ष और मेरी आशा का आज कोई पारावार न था। मैंने अपनी गठरी अपनी पीठ से उतार कर एक चट्टान पर रख दी। मुझे भूख बड़े कड़ाके की लग रही थी। मैंने मक्खन, बर्फ़ और भुने हुए आटे का कुछ संमिश्रण तैयार किया। उसी को नमक तथा मिर्च के साथ बड़े आनन्द से मैं खाने लगा। उस समय मैंने सोचा कि स्वर्गलोक के देवताओं को भी ऐसे स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति असम्भव होगी।" अस्तु।

अगस्त को कावागुची मानसरोवर के पास पहुँचे। वहाँ आपको बहुत से नेपाली ब्राह्मण मिले। ये लोग मानसरोवर में स्नान करने आये थे। मानसरोवर की परिधि कोई 200 मील है। वह समुद्र-तल से क़रीब 15,500 फुट ऊँचा है। वह एक अष्टकोणाकृति झील है। देखने में कमलपुष्प के समान जान पड़ती है। कावागुची की शिकायत है कि आज तक पाश्चात्य लोगों ने इसके जितने नक़शे तैयार किये हैं उनमें से एक भी ठीक नहीं।

मानसरोवर से कावागुची कैलाश पर्वत की ओर चले। वह इस झील से उत्तर-पश्चिम की ओर है।

"कैलाश पर्वत के उत्तरी भाग को तिब्बत की भाषा में कुबेर पुरी कहते हैं। प्राचीन काल में हिन्दू लोग इस स्थान से पूरी तरह परिचित थे। कालिदास ने भी 'मेघदूत' में इसका अच्छा वर्णन किया है। इसके आस पास बौद्ध मठों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से एक मठ में मैंने देखा कि सैंकड़ों धर्म्म-ग्रन्थ, बुद्ध अमिताभ की मूर्ति के सामने, रक्खे हुए हैं। किन्तु उनका उपयोग करना तो दूर रहा, पुजारी लोग उनकी कभी कभी बड़ी ही दुर्दशा करते हैं।

"कैलाश पर्वत के पास एक 'सुवर्ण-उपत्यका' है। इसका प्राकृतिक सौन्दर्य देखते ही बनता है। इसके चारों ओर विशाल पर्वत हैं। यहाँ के जल-प्रपातों की शोभा देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। ज़मीन पर बैठ कर उन्हीं की ओर मैं एकटक देखता रह गया। चैतन्य-लाभ करने पर फिर आगे बढ़ा"।

22 नवम्बर को कावागुची ब्रह्मपुत्र को पार करके तिब्बत की तीसरी राजधानी लहार्चे नगर में पहुँचे। तिब्बत की दूसरी राजधानी शिगात्ज़े नगर भी यहाँ से कुछ ही दिनों का रास्ता रह गया था। रास्ते में कावागुची ने तिब्बत के प्रसिद्ध शाक्य मठ का दर्शन किया। इस मठ का वर्णन करते हुए आपने लिखा है—"यहाँ के पुस्तकालय में बौद्ध धर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले कितने ही प्राचीन ग्रन्थ आज तक विद्यमान हैं। इनमें से बहुत से ग्रन्थ तो नीले काग़ज़ पर सुनहले अक्षरों में लिखे हुए हैं, और बहुत से संस्कृत भाषा में ताल-पत्रों पर"।

5 दिसम्बर को कावागुची शिगात्ज़े नगर में पहुँचे। यहाँ 'सुमेरुगिरि' नाम का एक बड़ा मन्दिर है। उसके मुख्य लामा की देश भर में बड़ी इज़्ज़त है। कभी कभी दलाई लामा के मर जाने पर आप ही को कुछ काल तक उनका पद-ग्रहण करना पड़ता है।

15 दिसम्बर को कावागुची इस स्थान से भी बिदा हुए। बड़ी लम्बी यात्रा के बाद वे 1901 की 21 मार्च को लासा पहुँचे।

कावागुची को अपनी यात्रा मे बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विकट पहाड़ी रास्ते से जाते समय कहीं आप नीचे गिरने से बच गये। कहीं जल के प्रबल वेग में बह जाने से दैव ने आपकी रक्षा की। कहीं निर्जन वन में आपको निर्दयी लुटेरों के दल का सामना करना पड़ा। कहीं बर्फ़िस्तानी मैदान में आपको सारी रात बितानी पड़ी। किन्तु दृढ़ निश्चय के सामने सभी बाधायें आप ही आप दूर हो गई; और, जिस उद्देश से कावागुची ने यह परिश्रम उठाया था वह अन्त में सफल हुआ।

लासा पहुँचने पर कावागुची वहाँ के सेरा-मठ में रहने लगे। यह मठ तिब्बत का सबसे प्रसिद्ध विद्यालय है। इसमें रहने वाले पुजारियों की संख्या क़रीब सात हज़ार है। इस देश में पुजारी दो प्रकार के हैं—विद्यार्थी और सैनिक। यहाँ की पूरी पढ़ाई 20 बरस में समाप्त होती है। जो विद्यार्थी नये आते हैं उनकी परीक्षा पहले न्याय-शास्त्र में ली जाती है। पूछा जाता है—क्यों, बुद्ध मनुष्य थे अथवा देवता? यदि देवता थे तो मृत्यु को क्यों प्राप्त हुए? यदि विद्यार्थी चतुर होता है तो उत्तर देता है—बुद्ध स्वयं अमर थे, किन्तु वे अपने मनुष्य-शरीर से ही मृत्यु को प्राप्त हुए। यही नहीं, उसे यह भी कहना पड़ता है कि उनके तीन शरीर थे—धर्म्मकाय, सम्भोगकाय और निर्म्माणकाय।

कावागुची ने अपने देश में आयुर्वेद का कुछ अध्ययन किया था। वे सेरा-मठ में रोगियों का इलाज भी करते थे। इससे लोगों में आपकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। खुद दलाई लामा ने उन्हें अपने प्रासाद में बुलाकर उनसे भेंट की। दूर दूर से लोग उन्हें निमन्त्रण देकर अपने मकान पर बुलाने लगे। किसी किसी ने तो आपको ख़ास बुद्ध देव का अवतार मान लिया। बहुत से सरकारी अफ़सरों से भी आपकी मित्रता हो गई। कुछ दिन बाद सेरा-मठ को छोड़ कर आप दलाई लामा के एक मन्त्री के मकान पर रहने लगे। वहाँ तिब्बत के अर्थ-सचिव से भी आपकी जान-पहचान हो गई। इस प्रकार उन्हें उस देश के राजनैतिक विषयों को भी समझने का अच्छा मौक़ा मिल गया।

तिब्बत से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों का वर्णन कावागुची ने अपनी

पुस्तक में अच्छी तरह किया है। आप लासा में 15 महीने तक रहे। इसी से आप वहाँ के लोगों के जातीय जीवन से भली भाँति परिचित हो सके।

लासा में कई व्यापारी ऐसे थे जिन्होंने कावागुची को दार्जिलिंग में देखा था। वे जानते थे कि ये जापानी हैं; पर मित्र होने के कारण वे इस बात को कहीं प्रकट न करते थे। बाक्सर-विद्रोह के समय से जापान की कीर्ति तिब्बत में भी फैलने लगी थी। जापान एक बलाढ्य राज्य है; युद्ध में चीन को भी उससे हार माननी पड़ी—इस बात की चर्चा कहीं कहीं बराबर सुनने में आती थी। कावागुची 1901 के मार्च महीने में लासा आये थे। पर एक बरस से अधिक बीत जाने पर भी उनके चीनी होने में किसी को कुछ भी सन्देह न हुआ।

किन्तु ऐसी गुप्त बात कब तक छिप सकती थी। कावागुची के किसी मित्र ने ही—इनका अपकार करने की इच्छा से—अन्त मे दलाई लामा के ज्येष्ठ भ्राता से कह दिया कि ये चीनी नही, जापानी हैं। कावागुची ने यह बात सुनी तो उन्हें बडा दुःख हुआ। वे जान गये कि उनको और उनके मित्रों को अब किसी भारी विपद् में फँसना पड़ेगा। उन्होंने मन्त्री महाशय से यथार्थ बात कह दी। सारे परिवार मे शोक छा गया। लोगो को बडी चिन्ता हुई। दयार्द्र मन्त्री और उनकी स्त्री ने कावागुची को यही राय दी कि—"आप इस नगर को शीघ्र ही छोड़ दें। शिगात्ज़े नगर के लामा के आने के उपलक्ष्य में, इस समय, खुशी मनाई जा रही है। लोगों का ध्यान अभी कुछ दिनों तक आपके भागने की ओर आकृष्ट न होगा। हम लोगों की कोई चिन्ता आप मत कीजिए।"

बड़े दुःख और भय के साथ कावागुची, 1902 ईसवी की 29 मई को, लासा से विदा हुए। रास्ते मे आपको पाँच सरकारी फाटक या घाटियाँ पार करनी पड़ीं। किन्तु आप कहीं रोके-टोके न गये। सरकारी अफ़सरों के लिए इतना ही जानना बस था कि यही महाशय सेरा-मठ के प्रसिद्ध वैद्य हैं। किसी खास मतलब से कलकत्ते जा रहे है। वहाँ से फिर शीघ्र ही लौट आवेंगे।

कावागुची सकुशल दार्जिलिंग पहुँच गये। वहाँ वे बड़े आनन्द से रहने लगे। किन्तु उन्हें रात-दिन इस बात की चिन्ता लगी रहती थी कि उनके भागने के बाद तिब्बत सरकार ने उनके मित्रो की क्या दशा की होगी। अक्टूबर महीने में उन्हें मालूम हुआ कि उनके मित्रों की लासा मे बड़ी दुर्दशा हो रही है। वे जेल में भूखों मर रहे हैं। उनकी प्रार्थना सुनने वाला कोई भी नहीं। मन्त्री महाशय, अर्थ-सचिव, सेरा-मठ के अध्यापक और आपसे इलाज कराने वाले गरीबों पर भी आफ़त आई है। कावागुची को यह सब सुन कर बड़ा दुःख हुआ। किन्तु उन्होंने ऐसे समय में अपना धैर्य्य न छोड़ा। आप काठमांडू जाकर नेपाल के महाराज से बड़ी नम्रता से मिले। उनसे आपने अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया। दलाई लामा के नाम से आपने एक पत्र लिखा। उसको नेपाल-नरेश के ही एक अफ़सर से उनके पास भिजवा दिया। इसके दो बरस बाद कावागुची को यह सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपका पत्र पाने पर तिब्बत-सरकार ने सब लोगों को कारागार से मुक्त कर दिया।

कावागुची को दार्जिलिंग से लासा तक कोई 2500 मील पैदल चलना पड़ा था।

आजकल आप दार्जिलिंग ही में हैं और कुछ तिब्बती-ग्रन्थों का सम्पादन कर रहे हैं—

जिसके शिक्षा-पथ पर चल नर पाते पद निर्वाण
उसी शाक्यमुनि ने मेरा भी किया दुखों से त्राण ।
मैंने उसकी आशा से था किया आत्म-विश्वास ।
और उसी की दया-दृष्टि से पूर्ण हुआ अभिलाष ।।

[2]

कावागुची ने अपनी यात्रा-विषयक पुस्तक में तिब्बत की सामाजिक अवस्था का बहुत ही सच्चा चित्र खीचा है । आप उस देश में किसी गुप्त राजनैतिक विचार से नही गये थे । प्राचीन बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन करना और यथासम्भव उनमें से कुछ अपने साथ ले आना ही आपका उद्देश था । इसी से आपने वहाँ का भौगोलिक वर्णन बड़े विस्तार से नहीं किया । फिर भी प्रसंग-वश जो कुछ लिखा है, वह सभी उपयोगी है ।

कावागुची ने अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध कुछ काल पहले से है । वह आज का हाल नहीं । तिब्बत की दशा भी दिन पर दिन बदलती जा रही है । जो तिब्बती दार्जिलिंग या सिक्किम के आस-पास के स्थानों में आते या रहते है उन पर भारत सरकार विशेष कृपा-दृष्टि रखती है । सरकारी स्कूलों मे तिब्बती लड़कों को मुफ़्त मे अँगरेज़ी की शिक्षा दी जाती है । होनहार लड़के सरकारी ख़र्च से अच्छे अच्छे विद्यालयो में भेज दिये जाते हैं ।[1] इधर चीन के राष्ट्र-विप्लव का भी बहुत कुछ असर तिब्बत पर पड़ा है । पर इसमे सन्देह नही कि जिन बातों का उल्लेख नीचे किया जाता है वे आज भी ज्यों की त्यों हैं; क्योंकि उस देश के जातीय जीवन में अभी तक कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ । हाँ, लोगों की आँखें धीरे धीरे खुल रही है; वे आगे क़दम बढ़ाने ज़रूर लग गये है । देश के उत्थान के लिए अभी बरसों की ज़रूरत है । तथापि काम में हाथ लग चुका है ।

धर्म्म

आजकल प्राय: सारे तिब्बत में बौद्ध धर्म्म का प्रचार है । जापान की तरह इस देश के लोग भी 'महायान' पन्थ के अनुगामी है । इनके दो सम्प्रदाय हैं—प्राचीन और नवीन । प्राचीन सम्प्रदाय के लोगों की समझ में मांस खाने और मद्य पीने में कोई दोष नहीं । सांसारिक विषयों में लिप्त रहना ही निर्वाण-प्राप्ति का द्वार है । आनन्दमय जीवन व्यतीत करने से ही मनुष्य बुद्धदेव का प्रीति-पात्र बन सकता है । अधिकांश तिब्बती इसी सम्प्रदाय के हैं ।

ग्यारहवी सदी में पाल्दन अतीश नाम के किसी बौद्ध भिक्षुक ने नवीन सम्प्रदाय

---

1. पाठकों को स्मरण होगा, गत वर्ष कुछ तिब्बती लड़कों को भारत सरकार ने पढ़ने के लिए विलायत भेजा था । —लेखक

की स्थापना की। वह भारत का रहने वाला था। उसने इस बात पर जोर दिया कि धर्म्माचरण के लिए संन्यास-ग्रहण बहुत ज़रूरी है। उस समय बहुत से लोगों को प्राचीन सम्प्रदाय से घृणा होने लगी थी; क्योंकि उसकी शिक्षाओं का समाज पर बुरा असर पहुंच रहा था। पहले तो उन्हें नवीन सम्प्रदाय में आने का साहस न हुआ; किन्तु काल-क्रम से उन्होंने इसे अपनाना शुरू किया।

आश्चर्य्य की बात है कि तिब्बत में कहीं कहीं मुसलमान भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ चीन से और कुछ काश्मीर से जाकर यहाँ बस गये है। कावागुची ने लिखा है—

"लासा और शिगात्ज़े नगरों में इनकी संख्या क़रीब 300 के है। ये लोग अपने धार्म्मिक विश्वासों में बड़े कट्टर हैं। लासा में इनकी दो मसजिदें है—एक चीनी मुसलमानों के लिए, दूसरी काश्मीरी मुसलमानों के लिए। इनके आचरण और विश्वास पर बौद्ध धर्म्म का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। तिब्बत में इस धर्म्म का अस्तित्व देख कर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ।"

ईसाई पादरी भी तिब्बत में अपना धर्म्म फैलाने का बराबर प्रयत्न करते रहते हैं। गरीब तिब्बती लोगों को धन का लोभ दिया जाता है—सैकड़ों तरह के सब्ज बाग़ दिखाये जाते हैं। बाइबिल के कितने ही अनुवाद तिब्बती भाषा में छप चुके हैं। पुस्तकों में बौद्ध धर्म्म की निन्दायें की जा चुकी हैं। किन्तु, तो भी, तिब्बती लोगों को ईसाई धर्म्म में विशेष श्रद्धा नहीं। दार्जिलिंग में बहुत से तिब्बती ऐसे है जो घर मे तो बुद्धदेव की मूर्ति पूजते है, पर प्रत्येक रविवार को, रुपये के लोभ से, गिरजाघरों में जाकर ईसा का गुण-गान करते है।

बौद्ध धर्म्म फैलने के पहले तिब्बत में बोन धर्म्म का प्रचार था। यह अब नाममात्र को रह गया है। इसमें और बौद्ध धर्म्म में अब कोई विशेष भेद भी नही।

तिब्बत में बौद्ध धर्म्म की अवस्था बहुत ख़राब है। वह अनेक दोषों से आच्छादित सा हो गया है। नाम के लिए तो सभी बौद्ध है; पर महात्मा बुद्ध के उपदेशों का किसी को ख़याल भी नहीं। कावागुची ने कहीं कही लोगों को इस प्रकार प्रार्थना करते हुए देखा था—

"हे दशो दिशाओं में रहने वाले बुद्ध और बोधिसत्त्व। मैंने भूत काल में जो दुराचरण किये है उनके लिए आप से क्षमा चाहता हूँ। नर-हत्या, स्त्री-हरण, वैर-विरोध आदि एक भी पाप मुझसे नहीं बचा। मेरे दोषों पर ध्यान मत दीजिए। यही नहीं, मुझे तो यहाँ तक आशा है कि अगर मुझसे भविष्यत् में भी ऐसे ही दोष हो जायँगे तो आप मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। मुझे अपने भूत तथा भविष्यत् कर्म्मों के लिए अफ़सोस है। अतएव मैं प्रायश्चित्त करता हूँ!"

जन-शिक्षा

तिब्बत में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार नहीं। बौद्ध-मठों को छोड़ कर ऐसे कोई स्थान नहीं जहाँ लोगों को अच्छी शिक्षा दी जाती हो। सरकार की ओर से जो विद्यालय खुले हुए हैं उनमें सर्व-साधारण को पढ़ने का अधिकार ही नहीं। ख़ास-ख़ास जाति के लोग

ही उनमें शिक्षा पा सकते हैं। पढ़ना, लिखना और गिनना—इन्हीं तीन विषयों की शिक्षा लोगों को दी जाती है। पढ़ने से मतलब व्याकरण, अलंकार और धर्म्म-शास्त्र के अध्ययन से है। लोग अलंकार-शास्त्र के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान देते है। दलाई लामा को जो पत्र लिखे जाते हैं उनकी भाषा बड़ी ही क्लिष्ट होती है। विद्वानों को अपने पत्रों में शब्दच्छटा दिखाने का बड़ा शौक़ है। लेखक जितनी ही कठिन भाषा लिख सके उतनी ही उसकी क़दर होती है। लिखना सीखने के लिए तो लोगों को और भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है। बच्चों को गिनना, पत्थर या लकड़ी के टुकडों की सहायता से, सिखाया जाता है।

कावागुची ने एक जगह लिखा है—"यहाँ के विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी है। 15 बरस के बालक को साल भर में 300 से लेकर 500 पृष्ठ तक मुखस्थ करने पड़ते हैं। इसमें भी आफ़त यह है कि उन्हें कभी ग्रन्थों से भेंट नहीं होती। गुरु की मौखिक शिक्षा ही पर उन्हें अवलम्बन करना पड़ता है।"

तिब्बत के कई एक विद्यालयों में बहुत से लोग मंगोल देश के भी पाये जाते हैं। ये बड़े परिश्रमी होते हैं। पढ़ने लिखने में तिब्बती लोग इनकी बराबरी नहीं कर सकते। क्योंकि वे बडे आलसी होते हैं। उनके शान्त, मिलनसार और तेज़ होने में कोई सन्देह नहीं; पर वे परिश्रम करना बहुत कम पसन्द करते हैं। इन दोनों के सिवा एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी भी इस देश में पाये जाते है। ये खाम प्रान्त के निवासी है। पढने लिखने मे ये सबसे पीछे हैं; पर शारीरिक परिश्रम में इनका नम्बर सबसे बढ़ा चढ़ा है। इनका स्वभाव बहुत सच्छा होता है। चापलूसी करना ये जानते ही नही।

बीस बरस में विद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने पर विद्यार्थी को 'आचार्य्य' की उपाधि मिलती है। उस दिन वह समझता है कि उसके जीवन का उद्देश सफल हो गया। ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से तिब्बत में शायद ही कोई विद्यार्थी पढ़ता लिखता हो। समाज में प्रतिष्ठा पाना और ख़ूब धन कमाना ही लोग वहाँ विद्याध्ययन का असली मतलब समझते है। आचार्य्य की उपाधि पाने पर विद्यार्थी को अपने शिक्षकों को एक भोज देना पड़ता है। यदि विद्यार्थी ग़रीब हुआ तो उसे उस समय सूद पर रुपया कर्ज़ देने वाले भी मिल जाते हैं। क्योंकि आचार्य्य हो जाने के कारण लोगों को कर्ज़ अदा करने में कोई विशेष कठिनता नही होती।

तिब्बती औरतें और बच्चे

तिब्बत में मर्दों और औरतों की पोशाक़ में कोई विशेष अन्तर नहीं। हाँ, औरतों की पोशाक़ कुछ सुन्दर और भड़कीली अवश्य होती है। वे गले में क़ीमती पत्थरों से जड़ा हुआ एक हार पहनती हैं। उनके दोनों हाथों में दो कंकण होते हैं। उनमें से एक शंख और दूसरा चाँदी का होता है। कानों में रुनहले बाले पहनने का भी रवाज है। लासा में रहने वाली प्रायः सभी स्त्रियाँ ऊनी अँगरखे काम में लाती है। चाँदी की

अँगूठियों का व्यवहार तो एक सामान्य बात है। औरतों के जूते भी देखने में बड़े अच्छे जान पड़ते हैं।

सब प्रकार से सजधज कर औरतें कभी कभी अपने मुँह लाल रंग से रंग लेनी है। उनका विश्वास है कि इससे उनकी शोभा दुगुनी हो जाती है। तिब्बती औरतें बहुत खूबसूरत नहीं होतीं। देखने में वे जापानी औरतों के समान होती हैं।

तिब्बती औरतों का स्वभाव अच्छा नहीं होता। उन्हें क्रोध बहुत जल्द आ जाता है। उनमें गम्भीरता लेशमात्र को भी नहीं होती। शराब पीना उनकी बहुत बुरी आदत है। सफाई की ओर वे कुछ भी ध्यान नहीं देतीं। मुँह हाथ छोड़कर और अंगों को वे नहीं धोती।

काम काज में तिब्बती औरतें बड़ी चतुर होती हैं। मध्यम श्रेणी की औरतें रोजगार करना अपना पहला कर्तव्य समझती हैं। वे खेती करती हैं और पशु पालती हैं। दूध से मक्खन निकालना उनका दैनिक काम है। पर, बड़े घरों की औरतें सुख-चैन में अपना समय बिताती हैं। कपड़ा आदि सीना वहाँ पुरुष का काम समझा जाता है।

तिब्बत में औरतें मर्दों से भी बढ़कर स्वाधीन हैं। उनकी आज्ञायें पुरुषों के लिए शिरोधार्य हैं। दोष होने पर मनुष्य को अपनी पत्नी से माफी माँगनी पड़ती है। सौ में एक ही स्त्री पतिव्रता होती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि तिब्बत में बहु-पुरुष-विवाह की प्रथा जारी है। ये विवाह तीन प्रकार के होते हैं—

(1) कई भाई मिलकर एक साथ एक ही औरत से विवाह कर लेते हैं।

(2) दो या अधिक आदमी मिलकर एक ही स्त्री को अपनी पत्नी बना लेते हैं।

(3) किसी मनुष्य की पत्नी अपने पति की सलाह से किसी दूसरे आदमी के साथ शादी कर लेती है।

नतीजा यह है कि तिब्बत में स्त्री किसी की भी परवा नहीं करती। वैमनस्य होने पर वह एक को छोड़कर दूसरा पति चुन लेती है। पति भी जब चाहे पत्नी को अपने घर से निकाल सकता है। तिब्बत में बहुत कम विधवायें नजर आती हैं। पति के मर जाने पर स्त्री बिना कुछ शोक प्रकट किये पुनर्विवाह कर लेती है।

जन्म के दिन बच्चे के शरीर पर मक्खन का लेप किया जाता है। जन्म के प्रायः तीन दिन बाद बच्चे का नामकरण-संस्कार होता है। उस दिन ज्योतिषी बुलवाया जाता है। वही शुभ मुहूर्त में बच्चे का नाम रखता है। जन्मदिन के अनुसार ही बच्चे का नाम रक्खा जाता है। अर्थात् यदि बच्चा रविवार को पैदा हुआ हुआ तो उसका नाम रक्खा जाता है 'न्यीमा' (सूर्य्य) परन्तु ऐसा नाम रखने से पीछे बहुत गड़बड़ होने की सम्भावना रहती है। इसलिए प्रत्येक बच्चे का एक उपनाम भी अवश्य रक्खा जाता है।

पुजारी बनने पर लोग एक अन्य नाम ग्रहण करते हैं।

जिस दिन बच्चे का नामकरण होता है उस दिन घर में बड़ा उत्सव होता है। सम्बन्धियों को भोज दिया जाता है। बच्चे के माँ-बाप को दूर-दूर से सौगातें आती हैं। लोग उनके घर पर खुशी मनाने के लिए एकत्र होते हैं।

आठवें वर्ष में लड़का पढ़ना लिखना शुरू करता है। उस दिन भी घर पर बड़ी

तैयारियाँ होती हैं। बहुत से लोग निमन्त्रित किये जाते हैं। यदि बौद्ध-मठ दूर हुआ तो बालक अपने आत्मीय जनों से बिदा माँगकर गुरु के यहाँ चला जाता है। वहाँ अपनी पढ़ाई समाप्त करके बहुत दिनों के बाद घर लौटता है।

जितने संस्कार लडकों के होते हैं उतने लड़कियों के नहीं होते।

आचार-व्यवहार

तिब्बती लोग बहुत मैले कुचैले होते हैं। वे अपने शरीर धोते ही नही। बहुत लोग तो आमरण एक बार भी अपना बदन साफ़ नही करते। गाँवों में बहुधा लोगो को इस बात का अभिमान होता है कि उन्होंने कभी जल से स्नान नहीं किया। पुजारियों और लामाओं में इतनी विशेषता होती है कि वे अपने मुँह और हाथ, समय समय पर, साफ़ किया करते हैं। तिब्बत के लोगों का ख़याल है कि स्नान करने से मनुष्य का सारा सुख उसके शरीर से धुलकर निकल जाता है। विवाह के समय स्त्री की जाति-पाँति और धन-दौलत के सिवा यह भी देखा जाता है कि उसके शरीर पर कितना मैल जमा हुआ है! यदि उसके हाथ-पैर कुछ साफ़-सुथरे होते है तो वह भाग्यहीन समझी जाती है। कहा जाता है कि उसका सब सुख उसके बदन के मैल के साथ जाता रहा।

छोटे दर्जे के लोग कभी अपने कपड़े नही बदलते। उनके साथ बैठकर खाने से विदेशियों को घृणा होती है। और लोगो की अपेक्षा पुजारी और लामा लोग ही कुछ सफाई के नियमों का पालन करते हैं।

तिथि, लग्न इत्यादि देखने के लिए तिब्बत मे लोग पंचांग काम मे लाते है। यह पंचांग भारतीय या चीनी ढंग का नही, किन्तु तुर्किस्तानी ढग का होता है। विदेशियों को यह पंचांग देखकर बहुत आश्चर्य्य हो सकता है। क्योंकि इसमें कभी तो एक ही दिन सप्ताह में दो बार लिखा जाता है, और कभी नवमी तिथि के बाद दशमी नहीं, किन्तु एकादशी का उल्लेख रहता है। जो दिन शुभ माना जाता है वह एक ही हफ़्ते में दो दफ़े लिखा जाता है। जो अशुभ समझा जाता है उसका पंचांग में नाम तक नही दिया जाता।

पंचांग बनाने का काम हर साल चार सरकारी अफ़सरों को सिपुर्द किया जाता है। किसी विषय पर मतभेद होने पर निर्णय का काम पण्डित से लिया जाता है। जो पण्डितजी कह देते है वही मानना पड़ता है।

इस प्रकार के पण्डित तिब्बत में गाँव गाँव पाये जाते हैं। यही वहाँ के भविष्यद्-वक्ता हैं। बिना इनकी राय लिये कोई भी काम नही किया जाता। दलाई लामा के दरबार में भी इनका बड़ा सम्मान है। यदि कोई मन्त्री गुरुतर अपराध करता है तो ऐसे ही किसी पण्डित से उसका प्रायश्चित्त पूछा जाता है। पूछा जाता है कि उसको क्या सजा मिलनी चाहिए। यदि मन्त्री ने पहले ही से उस पण्डित का हाथ गरम कर दिया तो वह उत्तर देता है—इसको दण्ड मत दो। ऐसा करने से देश के ऊपर आफ़त आने का डर है।

तिब्बत में गरमी के दिनों में ओले बहुत गिरते हैं। इससे चने की फ़सल को बड़ा नुक़सान पहुँचता है। ओलों से फ़सल की रक्षा करने के लिए प्रत्येक गाँव में एक पुजारी

होता है। जाड़े के दिनों में वह ढेर की ढेर मिट्टी की गोलियाँ बनाता है। उन सबको वह मन्त्रों से पवित्र करके किसी पहाड़ी या ऊँची ज़मीन पर, एक मन्दिर में, रखता जाता है। ग्रीष्मकाल आते ही पुजारी उस मन्दिर में जाकर रहने लगता है और दिन-रात पूजा-अनुष्ठान किया करता है। जब आकाश मेघों से आच्छन्न हो जाता है और वर्षा होने की सम्भावना होती है तब पुजारी उस मन्दिर के बाहर निकल आता है और बादलों को भगाने की इच्छा से क्रोध-पूर्वक उस पहाड़ से लड़ने का भाव दिखाता है। यदि बादल इस पर भी छिन्न-भिन्न नहीं होते और ओले गिरने लगते हैं, तो पुजारी क्रोध से पागल हो जाता है। वह चारों ओर नाचता है और चिल्लाता है। यदि ओलों का गिरना तब भी बन्द न हुआ तो उसकी क्रोधाग्नि और भी प्रदीप्त हो उठती है। तब वह उन्ही मिट्टी की गोलियों को लेकर बड़े ज़ोर से आकाश की ओर फेंकता है और अपने कपड़ों के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। यदि ओलों का गिरना बन्द हो गया तो उसे बड़ी ख़ुशी होती है। लोग उसे बधाई देने आते हैं और अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यदि ओले बराबर गिरते रहे तो पुजारी को जुरमाना भी देना पड़ता है। जिस साल ओले नहीं गिरते, या उनके गिरने से फ़सल की बहुत हानि नहीं होती, उस साल सब लोग उस पुजारी को, राजाज्ञा के अनुसार, 'टैक्स' भी देते हैं।

['वज्रपाणि' नाम से जनवरी एवं मार्च 1914 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

जर्मनी का व्यवसाय

एडीसन साहब का नाम सभ्य संसार में कौन नही नही जानता ? वे अपने समय के अद्वितीय आविष्कारक समझे जाते हैं। संयुक्त राज्य, अमेरिका, की स्वतन्त्र भूमि उनकी जन्म-दात्री है। वे अपना अधिकांश समय अपनी रासायनिक शाला मे व्यतीत करते हैं, और सदा कोई न कोई नई बात निकालकर अपनी मातृ-भूमि को संसार के अन्य देशों से विशेष गौरवान्वित करने की चेष्टा किया करते हैं। कुछ समय हुआ वे विदेश-यात्रा के लिए निकले थे। इस यात्रा मे उन्होंने योरप के सारे देशों को अच्छी तरह देखा। जब यात्रा करके आप अपने देश को लौटे तब आपके देशवासियों ने योरप के व्यवसाय के विषय में आपका मत जानना चाहा। इस पर उन्होंने जर्मनी के व्यवसाय और व्यवसायियों की बडी तारीफ़ की। उनके कथन का साराश नीचे दिया जाता है—

व्यवसाय के विषय मे जर्मनी योरप मे अन्य सब देशों से विशेष उन्नतिशील है। उसके व्यवसाय की दिन पर दिन वृद्धि हो रही है। जर्मनी-निवासी बुद्धिमान् और श्रमी है। व्यापार और उद्योग-धन्धे का काम वे मिल जुलकर करते हैं। व्यवसाय-विषय मे वे आपस में कलह नहीं पसन्द करते। प्रत्येक जर्मनी-निवासी का यही उद्देश है कि सारे संसार के वाणिज्य का अधिकाश उसी के देश वालो के हाथ मे आ जाय। उनका यह उद्देश कुछ न कुछ सिद्ध भी हो जाता है। संसार मे सर्वत्र जर्मनी की बनी चीज़े पहुँच गई है। जर्मनी की गवर्नमेंट अपने व्यवसायियों को इस काम मे यथाशक्ति सहायता देने को सदा तैयार रहती है।

जर्मनी मे आविष्कार-कर्त्ताओं के लिए बहुत सुभीते है। कितने ही ऐसे बैंक खुले हुए है जो आविष्कारकों को थोड़े सूद पर रुपया उधार देते है और उन्हे और भी अनेक प्रकार की सहायता देते है। जब कोई आविष्कारक किसी नई वस्तु का आविष्कार करता है तब वह उसे किसी कारखाने वाले के पास ले जाता है। कारखाने वाला उस वस्तु को उसके गुण-दोष जाँचने के लिए कुछ ऐसे इंजीनियरो के पास भेज देता है जो बैंको की ओर से इसी काम के लिए नियत रहते है। इंजीनियर लोग अपने बैंक को अपनी राय लिख भेजते हैं। यदि उनकी राय मे उक्त वस्तु लाभदायक स्थिर हुई तो बैंक उस वस्तु को बनाने के लिए कारखाने को उसकी हैसियत देखकर रुपया उधार दे देता है। संसार में और कहीं भी ऐसी सुव्यवस्था नही है। अन्य देशो मे तो कारीगरो को अनेक कठिनताओं का सामना करना पड़ता है; क्योंकि कोई भी कारखाना कोई आविष्कृत वस्तु बनाने का काम अपने हाथ में लेने का उस समय तक साहस नही करता जब तक उसके पास यथेष्ट धन नही होता और उसे इस बात का विश्वास नही हो जाता कि उस वस्तु के व्यापार से कुछ लाभ होने की सम्भावना है।

जर्मनी के किसी भी बाज़ार में जाइए—और किसी चीज़ के दाम पूछिए। जो

दाम एक छोटी से छोटी दुकान वाले बतलावेंगे वही बड़ी से बड़ी दुकान वाले भी लेंगे। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु के व्यवसायियों की अलग अलग सभायें हैं। ये सभायें उस वस्तु का एक भाव निश्चित कर देती हैं। इन सभाओ के ऊपर गवर्नमेंट का कोई अधिकार नहीं है। वे अपना काम बड़ी स्वतन्त्रता से अपने व्यवसायियो के हानि-लाभ का पूरा पूरा ख़याल करके करती है। वे यथा-शक्ति इस बात का प्रयत्न करती रहती हैं कि जर्मन व्यवसायियों में आपस की चढा ऊपरी की आग न भड़के। उनके इस ऐक्य से छोटे से छोटे जर्मन व्यवसायी तक को हानि नहीं पहुँचने पाती। छोटे और बड़े—सब प्रकार के जर्मन व्यवसायी—एक साथ मिलकर अपने व्यवसाय की उन्नति के के लिए इन मभाओं द्वारा प्रयत्न करते है।

जर्मनी वालो ने एक और बड़ी भारी चाल चली है। वे मशीनों (कलों) का बहुत कम आविष्कार करते है। वे अमेरिका वालों के दिमाग़ की बदौलत बनी हुई मशीनों से काम लेते है। परन्तु वे इन मशीनों को अमेरिका से नहीं मँगाते। जहाँ अमेरिका में कोई नई मशीन निकली तहाँ जर्मनी वालों ने तुरन्त उसकी नक़ल कर ली। जर्मनी में मजदूरी सस्ती है। इसलिए वे अमेरिका की मशीनों को अपने यहाँ अमेरिका मे बहुत सस्ता बना लेते है। जर्मनी वाले नई नई मशीनें बनाने की फ़िराक़ में समय नहीं खर्च करते। वे जानते हैं कि अमेरिका वाले तो बनावेहीगे; उनमें मशीने बनाने की योग्यता भी हमसे कही अधिक है। फिर हम क्यों व्यर्थ कष्ट उठावें और समय नष्ट करे। जब अमेरिका में कोई नई मशीन तैयार होगी तब हम तुरन्त उसकी नक़ल कर लेंगे। परन्तु इस बात से कोई यह न समझ ले कि जर्मनी वाले आविष्कार करना जानते ही ही नही। नही। यह बात नही है। यथार्थ मे जर्मनी वालो ने विज्ञान में बड़ी उन्नति की है। उन्होंने कितने ही ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार किये है जिनसे अमेरिका वाले अच्छा लाभ उठा रहे हैं।

जर्मनी वाले व्यापार के मैदान मे बड़े लंबे क़दम आगे बढ़ा रहे हैं। जर्मन युवक, झुण्ड के झुण्ड, अपने देश का व्यापार फैलाने के लिए विदेश जाते है। अन्य देशो को माल ले जाने वाले तिजारती जर्मन जहाजो की संख्या भी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अन्य देशों में जर्मनी वालों के बैंक धड़ाधड़ खुल रहे हैं। जर्मनी मे जितना माल तैयार होता है उसका अधिकांश अन्य देशो ही मे ख़र्च होता है।

आज कल इंगलैंड अन्य सब देशो से वाणिज्य व्यवसाय मे बढ़ा चढ़ा है। इंगलैंड का राज्य बहुत विस्तृत है; उसकी नौ शक्ति भी-अधिक है, और उसके पास धन की भी कमी नही। जिस तरह इस समय जर्मनी व्यापार-व्यवसाय में उन्नति कर रहा है यदि उसी तरह वह करता गया तो कुछ ही दिनों में इंगलैंड उससे पीछे रह जायगा। लेखक कहते है कि इंगलैंड का व्यापार गिरता जा रहा है; परन्तु यह बात ठीक नही। हाँ, जर्मनी के मुक़ाबले में कुछ बातें इंगलैंड में ऐसी अवश्य हैं जो यदि दूर न की जायँगी तो इंगलैंड के व्यवसाय को जरूर धक्का लगेगा। जर्मनी वाले बड़े उद्योगी हैं। वहाँ मजदूरी भी सस्ती है। वे रात को भी देर तक काम करते हैं। परन्तु इंगलैंड वालों में ये बातें

नहीं हैं। वे परिश्रमी तो हैं; परन्तु न उनके यहाँ मजदूरी ही सस्ती है और न वे प्रति दिन अधिक समय तक काम ही करते हैं।

जर्मनी के जहाज़ों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जाती है। लोगों को भय है कि इस कारण किसी दिन, संसार की दो बड़ी नाविक शक्तियों—जर्मनी और इंगलैंड में घोर युद्ध होगा। जर्मनी के जहाज़ों की संख्या की वृद्धि उसके व्यापार की वृद्धि के कारण हुई है। सच तो यह है कि संसार का कोई भी देश वाणिज्य में उस समय तक अच्छी उन्नति नहीं कर सकता जब तक उसके पास काफ़ी जहाज न हों। आज-कल जर्मनी के पास बहुत जहाज़ हैं। उनकी सहायता से वह सारे संसार में अपनी चीज़ें पहुँचा रहा है। प्रत्येक देश के प्रत्येक बाज़ार पर उसकी तीव्र दृष्टि है।

छः महीने से अधिक हुआ जब यह लेख लिखा गया था। अब देखते हैं कि जिस युद्ध का भय था वह छिड़ गया है।

[नवम्बर, 1914 की 'सरस्वती' मे प्रकाशित। असंकलित।]

स्वेज नहर

योरप और एशिया का सम्बन्ध जिन कारणों से घनिष्ठ हो गया है, उनमें से स्वेज़ नहर मुख्य है। पहले जो जहाज़ योरप से एशिया आते थे, उनको यहाँ तक पहुँचने में कई महीने लगते थे। पर जब से यह नहर बन गई, तब से लन्दन से बम्बई आने में सिर्फ़ दो सप्ताह लगते हैं। इस तरह महीनों का रास्ता हफ़्तों में तै होने से योरप को एशिया पर व्यापारिक और राजनैतिक प्रभुत्व जमाने में जो सुविधा हुई है, वह अकथनीय है। यह नहर लाल सागर (Red Sea) और भूमध्य सागर (Mediterranean Sea) के बीच है। इसकी लम्बाई स्वेज़ से सईद बन्दर तक कोई सौ मील है। 1869 ईसवी में इसको एक फरासीसी इंजीनियर ने बनाया था। जब यह बनी थी, तब इसकी चौड़ाई पानी की सतह पर डेढ़ सौ से लेकर तीन सौ फुट तक की थी और पेंदे में कोई बहत्तर फुट; तथा गहराई छब्बीस फुट थी।

सन् 1869 में जितने बड़े जहाज़ बनते थे, उनकी अपेक्षा बड़े जहाज़ आज-कल बनते है। इसलिए जहाज़ों का आकार बढ़ने के साथ साथ नहर को और भी चौड़ा और गहरा बनाने की आवश्यकता हुई। नहर की चौड़ाई और गहराई जितनी शुरू में रक्खी गई थी, उतने से बृहदाकार जहाजों को आने जाने मे कठिनता पड़ने लगी। इसलिए नहर के अधिकारी उसे बढ़ाने की तजवीज़ बहुत दिनों से कर रहे थे। अन्त में निश्चय हुआ कि नहर का आकार दूना कर दिया जाय और काम इस तरह किया जाय जिसमें जहाज़ों के आने जाने में कोई असुविधा न हो। इसके लिए 1901 ईसवी में डेढ़ करोड़ रुपये की मंजूरी हुई। कोई दस बारह वर्ष मे यह काम ख़तम हुआ।

31 दिसम्बर 1906 तक इस नहर के बनाने में कुल 36,74,90,520 रुपये ख़र्च हुए थे। पर जहाँ इसके बनाने का ख़र्च इतना बढ़ा है, वहाँ इससे आमदनी भी ख़ूब बढ़ी है और हर साल बढ़ती जाती है। 1876 में इससे 1,87,04,814 रुपये की आमदनी हुई थी। वही बढकर 1906 में 6,71,93,472 रुपये हो गई। अर्थात् तीस वर्षों में चौगुनी के लगभग हो गई। जिस कम्पनी के अधिकार में यह नगर है, उसके हिस्सेदार इससे ख़ूब लाभ उठाते है। पहले की अपेक्षा उनका लाभ पाँच छः गुना अधिक हो गया है। इस अधिक आमदनी का कारण यह है कि इस नहर के रास्ते बहुत जहाज़ निकलते है। अकेले 1906 ईसवी में 3975 जहाज़ इससे होकर निकले थे।

अरब का रेगिस्तान संसार में प्रसिद्ध है। यह नहर उससे बहुत दूर नही है। इसलिए नहर के अधिकारियो को सदा डर लगा रहता है कि ऐसा न हो कि रेगिस्तान की बालू उड़कर नहर को तोप दे। इसलिए नहर के पेंदे की खुदाई और सफ़ाई का काम बारहो महीने जारी रहता है। 1904 से 06 तक, तीन वर्षों में, कितनी मिट्टी खोदकर बाहर फेंक दी गई, यह आगे लिखे हुए अंकों से स्पष्ट हो जायगा—

1904	13,53,497	घन गज़
1905	17,60,864	घन गज़
1906	19.19,515	घन गज़

सन् 1904 में नहर की कम से कम गहराई अट्ठाईस फुट थी। इससे वे जहाज़ जो पानी के नीचे अधिक से अधिक छब्बीस फुट तक रहते थे, आसानी से आ सकते थे। इसी साल बारह नाके नये बनाये गये, जिनसे आमने-सामने आने जाने वाले जहाज एक दूसरे को अच्छी तरह पार कर सकें। इसी तरह के इक्कीस नाके और बनाने की तजवीज़ है। इनमें से हर एक नाका 2460 फुट लम्बा होगा।

1904 में जब नहर की चौडाई पचास फुट बढाई गई थी, तो इसलिए कि उसके पेंदे की चौड़ाई 147 फुट की जा सके, तब 18,89,275 घन गज ज़मीन, और 18,63,646 घन गज पेंदा खोदा गया था।

जब कभी जहाज डूब या धँस जाते हैं, तब नहर के अधिकारियों को बड़ी मुश्किल पडती है; क्योंकि रास्ता रुक जाता है और इधर-उधर के जहाज़ आ जा नही सकते। जर्मनी ने अभी हाल मे जहाज डुबो कर इस नहर से अँगरेजों के जहाजों का आवागमन बन्द करने की चेष्टा की थी, पर वह निष्फल हो गई। पहले की इस नहर मे अब दुर्घटनायें कम होती है। इसका कारण यह है कि नहर की चौड़ाई और गहराई बढ़ गई है और जहाजों के आने जाने का प्रबन्ध भी पहले से अच्छा हो गया है। 1805 ईसवी में एक ऐसी ही दुर्घटना हुई थी जिससे कम्पनी को बड़ी हानि उठानी पडी थी। चेथम नामक जहाज, एक दूसरे जहाज से लड़ जाने से, नहर के बीचो-बीच डूब गया। इससे कई दिन तक जहाज़ों का आना जाना बन्द रहा। सब मिलाकर 109 जहाज चार दिन तक रुके रहे। इनमें से 53 उत्तर की तरफ़ के थे और 56 दक्षिण की तरफ के। बड़ी मुशकिल से बड़ी-बड़ी पर्वताकार कलों के द्वारा जहाज जब हटाया गया, तब कही निकलने का रास्ता हुआ।

नहर को चौड़ी और गहरी करने का काम 1904 से कई वर्ष तक बराबर जारी रहा। हर साल लाखों गज मिट्टी खोद खोद कर बाहर फेंकी गई। पहली जनवरी 1909 तक नहर की गहराई साढ़े चौंतीस फुट हो गई थी। अब वे जहाज भी, जो पानी के नीचे 28 फुट तक रहते हैं, इस नहर मे आ जा सकते है। इस गहराई को कम न होने देने के लिए खुदाई का काम बराबर जारी रहेगा। इसके लिए नई तरह के खोदने वाले यन्त्र काम में लाये जायँगे।

जब से ईजिप्ट की राजधानी केरो से सईद बन्दर तक रेल बन गई है, तब से सईद बन्दर पर काम बहुत बढ़ गया है। क्योंकि ईजिप्ट का सब माल वहीं उतरता-चढ़ता है। इसलिए कई नये बन्दरगाह बनाने की जरूरत पड़ी है। इनमें से एक तो शीघ्र ही तैयार होने वाला है। बाक़ी इसके बाद बनाये जायँगे। इसके लिए ईजिप्ट की गवर्नमेंट ने 358 एकड़ ज़मीन नहर के अधिकारियों को दी है। दूसरी ओर अर्थात् एशिया की तरफ़ भी, कई बन्दरगाह, कोठियाँ और गोदाम बनने वाले हैं; क्योंकि योरप और एशिया की आमद-रफ़्त दिन पर दिन बढ़ती जाती है।

नहर की उन्नति का काम धड़ाधड़ जारी है। 1896 से अब तक 2,16,00,000 रुपये नहर को चौड़ा और गहरा करने में लगे हैं। नहर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बीस से अधिक स्टेशन बन गये हैं। टेढ़ी मेढ़ी और ऊँची नीची जगह बराबर कर दी गई है। तीन-तीन मील की दूरी पर जहाजों के एक दूसरे को पार करने के लिए नाके बनाये गये है। इस बीच में नहर के नौकरों की दशा भी बहुत सुधर गई है। वहाँ मच्छड़ और बुख़ार की इतनी अधिकता थी कि लोग उनके मारे बारहों मास तंग रहते थे। पर अब उनका कहीं नामोनिशान नही। पहले की अपेक्षा अब वहाँ सफ़ाई भी ख़ूब रहती है। एक बड़ा भारी अस्पताल और कई औषधालय भी खोले गये हैं। वहाँ लोगों की चिकित्सा मुफ़्त की जाती है।

नहर के अधिकारियों की आमदनी जैसे जैसे बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे महसूल भी कम होता जाता है। शुरू में जब नहर खुली थी, तब भरे हुए माल के जहाजों का महसूल छः रुपये फ़ी टन (सवा सत्ताईस मन) था। सन् 1880 में तीन आने टन कम हो गया; अर्थात् पाँच रुपये तेरह आने टन रह गया। कुछ दिनों बाद महसूल और भी घटा कर साढ़े चार रुपये टन कर दिया गया, जो इस समय तक बना हुआ है। मुसाफ़िरी जहाजों का महसूल छः रुपये टन जैसा पहले था, वैसा ही अब भी है। कम्पनी का रिज़र्व फण्ड (अलग रख दिया गया धन) इस समय 2,50,00,000 रुपये है। इसके सिवा एक विशेष फण्ड और भी है, जिससे नहर की मरम्मत और उन्नति के लिए यन्त्र आदि ख़रीदे जाते है। इस फण्ड में इस समय 1,80,00,000 रुपये है।

ब्रिटिश गवर्नमेंट के लिए यह नहर बड़े ही काम की चीज़ है। इसी से इसकी रक्षा प्राण-पण से की जा रही है।

[जनवरी, 1915 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। संकलन' पुस्तक में संकलित।]

निष्क्रिय प्रतिरोध का परिणाम

राजा चाहे अपनी प्रजा को सुखी रक्खे, चाहे दुःखी। जिस प्रकार सन्तान की रक्षा का भार माता-पिता पर रहता है, उसी प्रकार प्रजा की रक्षा का भार राजा पर। दक्षिणी अफ़रीका में भारत की जो प्रजा बस गई है, वह वहाँ के शासकों के सर्वथा अधीन है। खेद की बात है, उनके सत्वों की बहुत कम रक्षा उन लोगों ने अब तक की है। गत आठ वर्षों से उन्हें अनेक प्रकार की तकलीफ़ें मिल रही थीं। अब कहीं, इतने समय बाद उन्हे दाद मिली है। इसका मुख्य श्रेय श्रीयुत गांधी को है। वहाँ वाले चाहते थे कि भारतवासी वहाँ न रहें। रहें भी तो उनके बराबर नागरिकता का अधिकार वे प्राप्त न कर सकें; केवल कुली बन कर रहें।

पहले-पहल जब अँगरेज़ लोग अफ़रीका में आवाद हुए, जब वहाँ बहुत-सी ज़मीन बंजर पड़ी थी। वहाँ के प्राचीन निवासी, काफ़िर और अन्य जाति के हबशी, खेती करना न जानते थे। अतएव बसने वाले अँगरेज़ों ने सोचा कि यदि यहाँ मिहनती और कम मज़दूरी पर काम करने वाले मज़दूर कहीं से आ सकें तो बड़ा लाभ हो।

अँगरेज़ो का अधिकार पहले-पहल केप कालनी पर हुआ, फिर नटाल पर।

ट्रान्सवाल और आरेंज-फ्री-स्टेट में यूरप के कई देशों के बहुत से लोग बस गसे थे। उनमें डच और फ्रेंच मुख्य थे। उन लोगों को भी मज़दूरों की ज़रूरत थी। केप कालनी में अँगरेज़ों का एक गवर्नर रहता था। सर जार्ज ग्रे जिस समय वहाँ के गवर्नर थे, उस समय केप कालोनी में रहने वाले अँगरेज़ों की प्रार्थना पर सर जार्ज ने इंगलैंड को लिखा कि भारत से कुछ मज़दूर वहाँ भेज दिये जायँ तो अच्छा हो। इंगलैंड ने भारत को यही बात लिखी। इस पर भारत के बड़े लाट ने हिन्दुस्तानी मज़दूरों के सुभीते के लिए बहुत सी शर्तें की। उनको केप कालोनी वालो ने मंजूर कर लिया। इन्ही शर्तों के अनुसार अफ़रीका जाकर भारत के मज़दूर मज़दूरी करने लगे। पहले तीन, फिर पाँच वर्ष में उनकी शर्तें पूरी हो जाती थी। तब वे स्वतन्त्र हो जाते थे। स्वतन्त्र होकर वे वहाँ बस जाते और वाणिज्य-व्यवसाय आदि करने लगते थे। उनको बसने के लिए वहाँ की सरकार उन्हे ज़मीन भी मुफ़्त ही दिया करती थी। और भी अनेक सुभीते उन्हें थे। असल मे वहाँ की सरकार का अभिप्राय यह था कि इन मज़दूरो के वहाँ बस जाने से अफरीक़ा आबाद भी हो जायगा और वहाँ के व्यवसायियों के लिए परिश्रमी और सीधे-सादे मज़दूर भी मिलने लगेंगे। इसी से सैकड़ों लोग केप कालोनी मे बस गये। नटाल, ट्रान्सवाल और आरेंज-फ्री-स्टेट में भी वे पहुँचे और धीरे धीरे बस गये। मज़दूरी छोड़ने पर वे लोग स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं भी व्यापार और खेती करने लगे।

1860 ईस्वी में भारत से पहले-पहल मज़दूर भेजे गये थे। इन मज़दूरों ने

अफ़रीका में बहुत सन्तोषजनक काम किया। अफ़रीका वाले इनके परिश्रम और इनकी कार्य-दक्षता पर बड़े प्रसन्न हुए। पर कारणवश यह शर्तबन्दी, 1866 ईसवी में, तोड़ दी गई। शर्तबन्दी टूटते ही अफ़रीका में फिर मज़दूरों की कमी हो गई। अतएव 1877 ईसवी से फिर हिन्दुस्तानी मज़दूर अफ़रीका जाने लगे। तब से दस-पन्द्रह वर्षों तक अफ़रीका में रहने वाले हिन्दुस्तानियों को सब तरह से आराम रहा।

कुछ समय बाद ट्रान्सवाल वालों को भारतीयों का वहाँ रहना खटकने लगा। अपनी मिहनत और अपनी किफ़ायतदारी से भारतवासी खेती और व्यापार आदि से बहुत रुपया पैदा करने लगे थे। इससे ट्रांसवाल वालों ने अपनी हानि समझी। अतएव उन्होंने 1885 ईसवी में एक क़ानून बनाकर हिन्दुस्तानियों का विरोध आरम्भ किया। क़ानून यह बना कि कोई भी भारतवासी यदि वहाँ व्यापार के लिए रहना चाहे तो उसे एक नियत फ़ीस देकर अपना नाम रजिस्टरी कराना पड़ेगा। साथ ही सफ़ाई के लिहाज़ से हिन्दुस्तानियों ही को नहीं, सारे एशियावासियों को शहर के बाहर एक नियत स्थान पर रहना पड़ेगा।

धीरे-धीरे नेटाल में भी यही हवा चली। वहाँ भी 1894 में, हिन्दुस्तानियो का हित-विरोध आरम्भ हो गया। पहले केवल हिन्दुस्तानी मज़दूर ही अफ़रीका जाते थे। जब यहाँ से व्यापारी और व्यवसायी लोग भी वहाँ जाने लगे, तब वहाँ के रहने वालों को यह बात असह्य-सी हो गई। उन्होंने काले और गोरे में भेद रखना चाहा। इस विषय का एक क़ानून वे बनाने लगे। वह यदि बन जाता तो हिन्दुस्तानियों का नेटाल जाना एक दम ही बन्द हो जाता। पर प्रसिद्ध राजनैतिक मिस्टर चेम्बरलेन के उद्योग से वह क़ानून न बन सका। उसके बदले एक ऐसा क़ानून बना, जिसमें शिक्षा-विषयक एक शर्त रक्खी गई। शर्त यह थी कि जिस भारतवासी की शिक्षा की इयत्ता अमुक हो, वही वहाँ जा सके। नेटाल में यह क़ानून 1897 ईसवी में 'पास' हुआ। बस, तभी से नेटाल में हिन्दुस्तानियो के दुःखो का आरम्भ हुआ—तभी से हिन्दुस्तानियों के सत्वों पर आघात आरम्भ हुआ। उधर ट्रान्सवाल में तो उनकी पहले ही से दुर्गति हो रही थी।

ट्रान्सवाल में बोअरों के साथ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट की लड़ाई छिड़ी, तब यह आशा हुई कि सरकार के विजयी होने पर हिन्दुस्तानियों का दुःख दूर हो जायेगा। पर यह आशा व्यर्थ हो गई। तब से उनके दुःख-कष्ट और भी बढ़ गये।

बोअरों के राज्य में नाम रजिस्टर कराने और 45 रुपये वार्षिक कर देने का कोई क़ानून न था। पर, उनका राज्य जाने पर यह क़ानून जारी हुआ कि जो नाम दर्ज कराने के लिए 45 रुपये न दे, उसे 150 से 1500 रुपये तक जुर्माना और 14 दिन से 6 महीने तक की सजा भुगतनी पड़े। पहले लैसन्स लेकर ट्रान्सवाल भर में एशियावासी व्यापार कर सकते थे। अब वही लोग ऐसा कर सकते थे जिनके पास लड़ाई के पहले के लैसन्स थे। नये व्यापारियों के शहर के बाहर एक ख़ास जगह पर ही व्यापार करने या दूकान खोलने के लिए लैसन्स मिलने लगे। हिन्दुस्तानियों को शहर के बाहर एक नियत जगह पर रहने का हुक्म था ही, अब यह भी हुक्म हुआ कि वे कोई जायदाद न ख़रीदें और बिना आज्ञा के एक स्थान से दूसरे स्थान को न जायें। उनके नाम-धाम की ख़बर

रखने के लिए हर शहर में पुलिस एक रजिस्टर रखने लगी।

इसके बाद हिन्दुस्तानियों पर एक और विपत्ति आई। लार्ड मिलनर ने आज्ञा दी कि हिन्दुस्तानियों को फिर से अपना नाम रजिस्टर कराना आवश्यक होगा। पर उन्होंने विश्वास दिलाया कि एक बार हो जाने पर फिर कभी रजिस्टरी न होगी। जिसको रजिस्टरी का प्रमाणपत्र मिल जायगा, वह चाहे जहाँ ट्रान्सवाल भर मे व्यापार कर सकेगा।

1885 ईसवी वाला पहला क़ानून भारतवासियों को सता ही रहा था; इस दूसरे क़ानून ने भी उनकी शान्ति में बड़ी बाधा पहुँचाई। उन्होंने इसी कारण वहाँ की सबसे बड़ी अदालत में इस आज्ञा के विरुद्ध मुक़द्दमा दायर कर दिया। जजों ने मुक़द्दमे का फ़ैसला यह किया कि हिन्दुस्तानी चाहे जहाँ व्यापार कर सकते हैं। उन्हें शहर के बाहर किसी नियत स्थान में न रहने के कारण क़ानूनन कोई सज़ा नहीं दी जा सकती।

यह फ़ैसला हिन्दुस्तानियों के विरोधियों को बहुत ही बुरा लगा। उन्होंने इस फ़ैसले को रद्द कराने की खूब चेष्टा की। पर, उपनिवेशों के सेक्रेटरी, लार्ड लिटलटन; के जोर देने पर उनका वह प्रयत्न उस समय व्यर्थ गया।

इसके बाद ट्रान्सवाल वालो ने यह शोर मचाया कि झुण्ड के झुण्ड हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल में घुसे चले आते हैं। धीरे-धीरे उनका यह स्वर और भी ऊँचा हो चला। इतने ही मे जोन्सबर्ग नामक नगर के हिन्दुस्तानियों के निवास-स्थान में प्लेग फूट पड़ा। इस कारण वहाँ के हिन्दुस्तानी सारे ट्रान्सवाल में फैल गये। ट्रान्सवाल वालो को यह अच्छा मौका मिला। इस पर उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि नये भारतवासियों को वहाँ न घुसने देना चाहिए। जो हैं, उन्हें शहर के बाहर रखना चाहिए और वहीं उन्हें बनिज-व्यापार की अनुमति होनी चाहिए।

हिन्दुस्तानियो ने यह देख कर, एक कमीशन के द्वारा अपने दुःखों की जाँच की प्रार्थना सरकार से की। पर वह न सुनी गई।

अन्त मे 1906 ईसवी में एक क़ानून बना। उसके अनुसार हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुषों और बच्चों तक को फिर से नाम रजिस्टर कराने की आज्ञा हुई।

हिन्दुस्तानियों ने इस विपत्ति से बचने की पूरी चेष्टा की। उनकी प्रार्थना पर केवल स्त्रियाँ उक्त कानून के पंजे से मुक्त हो सकी; और कुछ न हुआ।

तब जोन्सबर्ग में हिन्दुस्तानियों ने एक बड़ी भारी सभा की। उसमें सभी ने मिल कर यह प्रतिज्ञा की कि जब तक ऐसे दुःखदायी क़ानून रद्द न किये जायँ, तब तक उन्हें कोई न माने। बस, इसी समय से हिन्दुस्तानियों के निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का आरम्भ हुआ। उनके कई प्रतिनिधि इंगलैंड भी पहुँचे। वहाँ उस क़ानून पर विचार करने के लिए एक कमिटी बनी। कमिटी के उद्योग से इस क़ानून का जारी होना थोड़े दिनो तक के लिए मुलतवी रहा। इस बीच में हिन्दुस्तानियों के मुखिया लोगो ने गवर्नमेंट से यह कहा कि हम खुशी से अपने नाम रजिस्टर करा देंगे, आप इस क़ानून को जारी न कीजिए; पर कुछ फल न हुआ। क़ानून का मसविदा ट्रान्सवाल की पार्लियामेंट में पेश हुआ और पास भी हो गया। 1907 ईसवी में जब से यह क़ानून

जारी हुआ, तभी से हिन्दुस्तानियों ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रारम्भ किया। इस कारण सैकड़ों को नहीं हज़ारों को जेल जाना पड़ा। पर वे लोग अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हुए।

इस पर क़ानून का बनाया जाना व्यर्थ हुआ देख सरकार ने यह निश्चय किया कि यदि हिन्दुस्तानी इच्छानुसार अपने नामों की रजिस्टरी करा लें तो यह क़ानून जारी न किया जायगा। पर हिन्दुस्तानियों ने निष्क्रिय प्रतिरोध बन्द न किया। सरकार और भी चिढ़ गई। उसने एमिग्रेशन एक्ट नाम का एक और क़ानून जारी कर दिया। इसके कारण शिक्षित भारतवासियों का ट्रामवाल में घुसना असम्भव सा हो गया।

तब वे लोग इच्छानुसार रजिस्टरी करा लेने पर राजी हो गये। सुनते है, उनसे गवर्नमेंट ने कहा कि रजिस्टरी करा लो; कानून मंसूख़ हो जायगा। पर रजिस्टरी हो चकने पर भी कानून ज्यों का त्यों रहा। इस पर हिन्दुस्तानियों ने और भी दृढ़ता के साथ निष्क्रिय प्रतिरोध करना आरम्भ किया।

नेटाल के हिन्दुस्तानी भी ट्रान्सवाल वाले अपने भाइयों से आकर मिल गये। फिर एक भारी सभा हुई। सभा में क़ानून न मानने की प्रतिज्ञा हुई। उधर सरकार ने भी हिन्दुस्तानी नेताओं को देश से निकाल देने का विचार पक्का किया। फल यह हुआ कि सैकड़ों हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल से हिन्दुस्तान को भेज दिये गये। कानून न माननेवाले सैकड़ों आदमी जेलों में ठूँस दिये गये। स्थिति बड़ी भयकर हो गई। हिन्दुस्तानी अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ़ हो गये। स्त्रियाँ तक जेल जाना अपना कर्त्तव्य समझने लगीं। अपने पतियों और भाइयों को वे निष्क्रिय प्रतिरोध जारी रखने के लिए उत्साह दिलाने लगी।

1909 ईसवी में हिन्दुस्तानियों ने अपना एक प्रतिनिधि-दल हिन्दुस्तान को और दूसरा इंगलैंड को भेजना चाहा। वे दोनों दल रवाना होने ही वाले थे कि सरकार ने उन्हें पकड़ लिया और दल के सभी सभ्यों को जेल भेज दिया। पर हिन्दुस्तानियों ने, कुछ समय बाद, अपना एक प्रतिनिधि-दल इंगलैंड भेज दिया। उसने वहाँ पहुँच कर खूब आन्दोलन किया।

हिन्दुस्तान को अकेले मिस्टर पोलक ही भेजे गये। उन्होंने यहाँ श्रीयुत गोखले की भारत-सेवक-समिति (Servants of India Society) की सहायता से प्रजा-मत को खूब जाग्रत किया। सहायता भी उन्हें खूब मिली। रतन जे० ताता नामक प्रसिद्ध पारसी सज्जन ने अपने भाइयों को धन द्वारा अच्छी सहायता दी।

हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट के ज़ोर देने पर, विलायत की बड़ी सरकार ने बीच में पड़कर देश-निकाले की सज़ा पाये हुए हिन्दुस्तानियों को फिर ट्रान्सवाल लौट जाने की आज्ञा दिलाई। इस बीच में बेचारे हिन्दुस्तानियों को अनन्त यातनायें भोगनी पड़ी।

इसके बाद केप कालोनी, नेटाल, ट्रान्सवाल और आरेंज-फ्री-स्टेट ये चारों प्रदेश एक में जोड़ दिये गये और सबके ऊपर एक गवर्नर जनरल नियत हुआ। सबका नाम हुआ—सम्मिलित राज्य। तब, 1910 ईसवी में, ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सम्मिलित राज्य की सरकार को लिखा कि 1907 ईसवी वाला क़ानून रद्द कर देना चाहिए। पर वह

रद्द न हुआ। उसमें कुछ परिवर्तन मात्र कर दिया गया।

वास्तव में जाति-भेद दूर कर देना गोरों को पसन्द न था। इसी से वे कभी कुछ बहाना कर देते, कभी कुछ। कभी कोई पख लगाई जाती कभी कोई। इस कारण हिन्दुस्तानियों की विपत्ति का पारावार न रहा। उनका विवाह नाजायज़ समझा जाता। उनकी सन्तति उनकी जायदाद की हक़दार तक न समझी जाती।

अन्त मे आजिज़ आकर हिन्दुस्तानियों ने 1913 के सितम्बर महीने से अपनी घोर निष्क्रिय प्रतिरोध की लड़ाई नये सिरे से जारी की। हिन्दुस्तान ने भी धन द्वारा उनकी पूरी सहायता की। यह देखकर हिन्दुस्तान की और विलायत की भी गवर्नमेंट ने ज़ोर लगाया। तब हिन्दुस्तानियों के दुःखों की जाँच करने के लिए वहाँ सरकारी अफ़सरों की एक कमिटी बैठी। भारत-गवर्नमेंट के भेजे हुए सर बेंजामिन राबर्टसन भी उसमें शामिल हुए। उन्होंने हिन्दुस्तानियों की शिकायतों की अच्छी तरह जाँच की। उनकी रिपोर्ट हिन्दुस्तानियों के पक्ष में हुई और उनकी अधिकांश शिकायतें दूर कर दी गई।

इस सम्बन्ध में श्रीयुत गांधी का परिश्रम और अध्यवसाय सर्वथा प्रशंसनीय है। आपने ही अफ़रीका के हिन्दुस्तानियों में जीवन का संचार किया है। आप जूनागढ़ के निवासी हैं। बैरिस्टर हैं। तो भी आप जेल जाने, नाना प्रकार की यातनायें भोगने और तिरस्कार पाने पर भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुए। आपकी धर्म-पत्नी, आपके सुयोग्य पुत्र—सभी आपके व्रत के व्रती हुए। आपके सहायकों ने भी आपका पूरा साथ दिया। उनमें से मिस्टर पोलक और मिस्टर कालनबाक आदि विदेशी सज्जनों तथा 2500 से ऊपर हिन्दुस्तानियों ने कड़ी जेल की सज़ा भी भुगनी।

हमें दक्षिणी अफ़रीका के हिन्दुस्तानियों के मुख-पत्र इंडियन ओपिनियन का एक विशेष अंक (Golden Number) मिला है। यह पत्र श्रीयुत गांधी ही का निकाला हुआ है। फ़ीनिक्स नामक स्थान से अँगरेज़ी और गुजराती में निकलता है। उसके इस अंक में पूर्वोक्त निष्क्रिय प्रतिरोध की बड़ी ही हृदय-द्रावक कहानी है। मिस्टर गांधी और अन्यान्य नामी नामी आदमियों की सम्मतियाँ भी हैं। जेल में जाने तथा अन्य प्रकार की सहायता देनेवाले नरनारियों के छोटे-मोटे 138 चित्रों से यह अंक विभूषित है। यह मिस्टर गांधी के निष्क्रिय प्रतिरोध की यादगार में निकाला गया है। दिव्य है। पढ़ने और संग्रह में रखने की चीज़ है।

पाठकों को यह मालूम ही होगा कि श्रीयुत गांधी अब भारतवर्ष लौट आये हैं।

[अप्रैल, 1915 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

बलगारिया

यूरप के दक्षिणी भाग में बालकन नाम का एक प्रायद्वीप है। यह प्रदेश कई छोटे छोटे राज्यों में विभक्त है। उनके नाम है—ग्रीस, सर्विया, बलगारिया, बासनिया, हर्ज़ेगोविना, रोमानिया और अलबानिया। टर्की का जो भाग योरप में है वह भी इसी के अन्तर्गत है। पहले ये सब टर्की के आधीन थे। किन्तु धीरे धीरे ये स्वतन्त्र हो गये हैं। बासनिया और हर्ज़ेगोविना को आस्ट्रिया ने छीन लिया है। अलबानिया में अराजकता है। अन्य राज्य सुधरी हुई राजतन्त्र-प्रणाली से शासित होते हैं। इन राज्यों में ईसाई, मुसलमान और यहूदी सभी धर्म्मों के अनुयायियों का निवास है।

बलगारिया को टर्की से स्वतन्त्र हुए, अभी बहुत समय नहीं हुआ। तथापि इतने ही समय में उसने बहुत उन्नति कर ली है। बलगारिया का राज्य टर्की के उत्तर है। उसका क्षेत्रफल कोई 38 हज़ार वर्गमील और आबादी कोई 50 लाख है।

बलगारिया ने व्यापार-व्यवसाय, कृषि, शिल्प, उद्योग-धन्धा, शिक्षा आदि की खूब उन्नति की है। राज्य बारह विभागों में विभक्त है। हर विभाग के शासन के लिए एक एक अफ़सर नियत है। वह मन्त्रिमण्डल की सम्मति से नियुक्त किया जाता है। समग्र देश-शासन के लिए वहाँ एक सभा है। प्रजा के चुने हुए मुखिये उसके मेम्बर होते हैं। वही क़ानून बनाते हैं। वही राज्य-संचालन की प्रधान व्यवस्था करते हैं। उन्हीं के बनाये हुए नियम और क़ानून जारी होते हैं। राजकीय प्रबन्ध के लिए आठ मन्त्रियों की एक कौंसिल है। प्रजा के प्रतिनिधियो की सूचना और सम्मति के अनुसार यही कौंसिल राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा काम करती है।

बलगारिया के अधिकांश निवासी कृषिजीवी हैं। प्रायः सारा कृषि-कार्य्य कृषक के कुटुम्बियो ही को करना पड़ता है। किन्तु वे लोग शिक्षा का महत्त्व ससझते हैं। इस कारण बड़ी ख़ुशी से वे अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं। सारडोवो और रोस्वासक नगरों में एक एक कृषि-विद्यालय है। इन विद्यालयों में कृषि-सम्बन्धी हर प्रकार की उपयोगिनी शिक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त फिलिपोपोलिस नगर में कृषि-विषयक एक बड़ा स्कूल भी है। बलगारिया में पादड़ी लोग और देहाती स्कूलों के अध्यापक भी कृषि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाध्य किये जाते हैं। फल यह हुआ है कि देश में कृषि बहुत अच्छी दशा में है।

बलगारिया की राजधानी सोफ़िया मे एक बड़ा विश्वविद्यालय है। उसमें ऊँचे दर्जे की शिक्षा दी जाती है। 1700 युवक और 300 युवतियाँ उसमें शिक्षा ग्रहण करती हैं उसमें लगभग 60 अध्यापक शिक्षादान का कार्य्य करते हैं। देश के समग्र शिक्षालयों की संख्या 5,450 है। उनमें कोई 13,500 अध्यापक काम करते हैं। सब विद्यार्थियों की संख्या 5,30,000 है। उनमें से 2,15,000 लड़कियाँ हैं।

सोफ़िया और फ़िलिपोपोलिस में दो बड़े बड़े पुस्तकालय हैं। उनमें सब प्रकार की उत्तमोत्तम पुस्तकों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त देश में कोई एक हज़ार के ऊपर वाचनालय हैं। बड़े बड़े नगरों के मुख्य मुख्य स्थानों में व्याख्यान-भवन भी हैं। उनमें अच्छे अच्छे व्याख्यान-दाताओं के व्याख्यान हुआ करते हैं। सर्व साधारण इन्हें बड़ी श्रद्धा से सुनते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारतवर्ष की तरह बलगारिया भी कृषि-प्रधान देश है। वहाँ के अधिकांश निवासी खेती ही का काम करते है। प्रत्येक मनुष्य अपने खेत का कब्जेदार समझा जाता है। वह अपनी खेती की पैदावार का दसवाँ हिस्सा कर के तौर पर राज्य को देता है। कर न अदा कर सकने की हालत में वह जमीन से बे-दखल किया जा सकता है। कृषकों के सभीते के लिए बलगारिया में कृषि-सम्बन्धी एक बैंक है। देश भर में उसकी शाखायें खुली हुई है। उनके द्वारा किसानों को कृषि के लिए आसानी से रुपया मिल जाता है। बलगारिया में गेहूँ, धान, मक्का, जौ, बाजरा, ज्वार अधिक पैदा होता है। तम्बाकू, चुकन्दर और गुलाब की भी खेती वहाँ होती है। इन सब चीजों का चालान विदेश को होता है। गुलाब के फूलों से वहाँ इत्र बनता है। कोई 40 मन फूलों से आध सेर इत्र तैयार होता है। इत्र बड़ा बढ़िया होता है। वह पेरिस और लन्दन जाता है, जहाँ उससे अनेक प्रकार के इत्र और तेल आदि बनते है।

बलगारिया के मनुष्यों की रहन-सहन बहुत सीधी-सादी है। वे अपने घरों ही के बुने हुए मोटे कपड़े पहनते है। वे शौकीन नहीं। फ़िज़ूल चीजों के लिए वे अपना धन लुटाना उचित नही समझते। अमीर आदमी तक छोटे छोटे घरों में रहते है। घरों का फ़र्श मिट्टी ही का होता है। उन्हें चटक मटक बिलकुल पसन्द नहीं। बलगारिया के निवासी अपनी इस स्थिति से यथेष्ट सन्तुष्ट रहते है। यही कारण है जो वे सर्वदा प्रसन्न और हृष्ट-पुष्ट देख पड़ते है। मितव्यय करने के कारण वे हर साल कुछ न कुछ रुपया बचा लेते हैं।

बलगारिया वाले भले-बुरे काम का अच्छा ज्ञान रखते है। आप किसी से कोई अनुचित काम करने के लिए कहें तो वह फ़ौरन जवाब देगा कि वैसा करने के लिए उसकी आत्मा गवाही नहीं देती; वैसा करना उसके लिए लज्जाजनक है। वह अपना समय व्यर्थ वाद-विवाद और भले-बुरे की व्याख्या में न बितायेगा।

बलगारिया में अनेक जातियों और धर्म्मों के मनुष्यों का निवास है। वे सभी अपने अपने विश्वास के अनुसार धर्म्माचरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं। कभी किसी के धर्म्माचरण में किसी प्रकार का आघात नहीं होता। बलगारिया के अधिकांश निवासी आरथोडाक्स चर्च नामक ईसाई सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इस सम्प्रदाय के प्रधान पादरी सर्वसाधारण प्रजा के द्वारा चुने जाते है।

बलगारिया में लड़कों और लड़कियों के विवाह का समय नियत है। विवाह के समय लड़के की उम्र 19 और लड़की की 17 साल से कम न होनी चाहिए। विवाह का सारा कार्य्य वहाँ के पुरोहितों और धर्म्म-याजकों द्वारा सम्पन्न होता है। धर्म-

याजक और पुरोहित ही पति-पत्नी के त्याग के मुक़द्दमों का विचार करते हैं। बलगारिया के स्त्री-पुरुष कपटप्रेम करना बहुत कम जानते हैं। पत्नी के अधिकारों पर पति आघात नहीं करता; पत्नी और पति ही की हर प्रकार सहायता करती है। इसी से पति-पत्नी में तलाक़ देने की नौबत बहुत कम आती है।

साधारण जीवन व्यतीत करने पर भी बलगारिया के निवासियों की तन्दुरुस्ती अन्य देशों के निवासियों की तन्दुरुस्ती से अच्छी है। उनका शरीर खूब दृढ़ और श्रमसहिष्णु होता है। रोग उन्हें कम सताता है।

बलगारिया की राजधानी सोफ़िया बहुत सुन्दर और मनोरम नगर है। बलगारिया के स्वतन्त्र होने के पहले वह बड़ी बुरी दशा में था। उसकी आबादी उस समय केवल 20 हज़ार थी। उसकी गलियाँ तंग और गन्दी थीं। चौड़ी सड़कें बहुत कम थी। किन्तु अब इस नगर की काया ही पलट गई है। अब तो इसकी आबादी कोई 1,25,000 है। चौड़ी-चौड़ी सड़कें और साफ सुथरी गलियाँ इसकी शोभा को बढ़ा रही है। इसके अनेक दर्शनीय और विशाल भवनों की निराली छटा दर्शक के मन को मोह लेती है। राजकीय भवन, बड़ा पोस्ट-आफ़िस, जातीय नाटक-भवन, युद्ध का दफ़्तर, नेशनल बैंक, विलियम ग्लेडस्टन हाई स्कूल, ग्रैंड होटल, जातीय कृषि-बैंक आदि अनेक विशाल इमारतें यहाँ अब शोभायमान हैं। नगर में रेल, तार, टेलीफ़ोन, मोटरकार, ट्रामवे, जल-कल और बिजली की रोशनी आदि का बहुत उत्तम प्रबन्ध है।

बलगारिया बहुत छोटा राज्य है। उसकी आबादी और उसका क्षेत्रफल बहुत कम है। फिर भी उसकी सेना-संख्या कोई चार पाँच लाख है।

[जनवरी, 1916 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'दृश्य-दर्शन' में संकलित।]

चीन में बौद्ध धर्म्म

बौद्ध धर्म्म का आविर्भाव भारतवर्ष में तो हुआ, पर उसके प्रचारकों के उद्योग से वह शीघ्र ही देश-देशान्तरों में फैल गया। बौद्ध धर्म्म भारतवर्ष से ही चीन में गया। वहाँ उसका प्रसार कैसे हुआ, यही, संक्षेप में, नीचे लिखा जाता है।

चीनी ग्रन्थो में लिखा है कि चीन के सम्राट् मिंग टी ने एक विचित्र स्वप्न देखा। उसने देखा कि एक विशाल स्वर्णमूर्ति उसके राज-मन्दिर में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन, पूछने पर, लोगों ने उससे कहा कि आपको स्वप्न में गौतम बुद्ध का दर्शन हुआ है। तब सम्राट् ने दूत भेज कर बुद्ध की मूर्ति और धर्म्म-ग्रन्थ मँगवाये। उसके दूतों के साथ मातंग नामक एक भारतीय विद्वान् भी गया। उसने सूत्र के 42 प्रकरणों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। उसकी मृत्यु चीन में ही हुई। उस समय बौद्ध धर्म्म के पाँच ही ग्रन्थ थे। उनमें से दशभूमिसूत्र और ललितविस्तर का अनुवाद राजा की आज्ञा से, सन् 76 में, किया गया। तब से चीन में बौद्ध धर्म्म का प्रचार बढ़ने लगा।

सन् 150 में एन-शी को नामक एक चीनी ने भी कुछ बौद्ध धर्म्म-ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में किया। सन् 170 में चित्सिन ने निर्वाणसूत्र का अनुवाद किया। सन् 250 में चिमेन्ग को आचार-पद्धति-विषयक एक ग्रन्थ मिला। उसको उसी ने चीनी भाषा में लिख डाला। धर्म्म-रक्ष नामक एक बौद्ध श्रमण, सन् 260 मे, चीन पहुँचा। लायंग नगर में वह 265 से 308 ईसवी तक ठहरा रहा। 165 बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद उसने चीन की भाषा में किया। ललितविस्तर का संशोधन भी उसी से कराया गया। निर्वाण-सूत्र के चीनी अनुवाद को देख कर उसी ने उसे शुद्ध किया। सन् 300 में चि-कुंग-मिंग नामक किसी अन्य देशीय विद्वान् ने विमल-सूत्र का अनुवाद किया। 'सद्धर्म्मपुण्डरीक' नाम के ग्रन्थ का चीनी अनुवाद भी उसी की कृति है।

सन् 335 में चीन देश के निवासियों को बौद्ध भिक्षु होने की आज्ञा मिल गई। यह काम बौद्धसिंह नामक किसी भारतीय विद्वान् के आदेश से हुआ था। तब तक वहाँ केवल भारतीय बौद्ध ही मन्दिर बनवाते थे। पर शीघ्र ही चीन वालों ने भी मन्दिर बनवाना आरम्भ किया। 350 ईसवी में लायंग में ही पेगोडा नामक 42 मन्दिर निर्म्मित हुए। उनमें से कई तो नौ नौ मंज़िलों के थे। सम्राट् यको-हिंग (397-415 ईसवी) ने भारतीय विद्वान् कुमारजीव को बुला कर अपने यहाँ आदरपूर्वक रक्खा। धीरे धीरे 800 बौद्ध विद्वान् एकत्र हुए। सम्राट् स्वयं उपस्थित थे। धर्म्म-ग्रन्थों की रचनाओं पर विचार हुआ। राजकुमार यओ-वंग और यओ-सेंग ने उनके नक़ल करने का भार उठाया। इसी समय फ़ाहियान नामक चीनी यात्री भारतवर्ष मे भ्रमण करने के लिए आया। वह सन् 415 में चीन को लौटा। तब तक वहाँ संग और वे-वंश का आधिपत्य हो गया था। उनके राजत्वकाल में बौद्ध धर्म्म पर आघात होने लगे। पर उससे कुछ अधिक क्षति नहीं

हुई। बौद्ध धर्म्म का प्रचार बढ़ता ही गया। सन् 467 में वे-वंश के एक राजकुमार के आदेश से भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति निर्म्मित हुई। वह 50 फ़ुट ऊँची थी। इसके बाद पाँच ही वर्ष में वह राजकुमार बौद्ध-भिक्षु हो गया।

ईसा की छठी शताब्दी के प्रारम्भ में चीन में तीन हज़ार से अधिक भारतीय बौद्ध थे। बौद्ध धर्म्म के उपासना-गृहों की संख्या भी 13 हज़ार हो गई थी। लिआंग का राज्य फिर बौद्ध धर्म्म के लिए अनुकूल हो गया। एक राजा ने बौद्ध धर्म्म में दीक्षित होकर स्वयं कुछ काल तक धर्म्मोपदेश किया। उसका शासन-काल 502 से 550 ईसवी तक था। 26 वर्ष राज्य करने के बाद वह बौद्ध-भिक्षु हो गया। बोधिधर्म्म—जिसकी चीन में बड़ी ख्याति है—सन् 526 में कैन्टन नगर पहुँचा। 518 ईसवी में संगयून नामक एक विद्वान् भारतवर्ष आया। वह तीन वर्ष के बाद लौटा। वह यहाँ से 175 ग्रन्थ ले गया। तंग-वंश का राजत्व काल 620-904 ईसवी तक था। उसके प्रथम नरेश के समय में तो बौद्ध धर्म्म के प्रचार में बाधा पड़ी। पर शीघ्र ही वह दूर हो गई। दूसरे नरेश के समय में ही हुएन-संग नामक प्रसिद्ध यात्री ने भारत-यात्रा की।

आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कनफ़्यूशियस के चलाये हुए धर्म्म के अनुयायियों के प्रयत्न से 12,000 बौद्ध भिक्षु, बौद्ध धर्म्म छोड़ कर, सांसारिक कर्म्मों में लिप्त हो गये। सन् 760 ईसवी में सुसंग नामक राजा के राज्य प्राप्त करने पर बौद्ध धर्म्म का फिर प्रचार बढ़ा। सुसंग के बाद टे संग राज्यासन पर अधिष्ठित हुआ। वह तो बौद्ध धर्म्म का दृढ़ भक्त निकला। सम्राट् हीनसंग ने 819 ईसवी में बुद्धदेव की एक अस्थि को खूब समारोह के साथ प्रतिष्ठित किया। पर 845 ईसवी में बौद्ध धर्म्म पर फिर आघात हुए। वुत्संग नरेश की आज्ञा से 4,600 बौद्ध-मठ नष्ट कर दिए गये और 40,000 छोटे छोटे मठ मिट्टी में मिला दिये गये। उनके लिए जो ज़मीन दी गई थी वह भी ज़ब्त कर ली गई। पर वुत्संग के बाद फिर बौद्ध धर्म्म का काम शान्तिपूर्वक चलता रहा।

सम्राट् ईत्सिंग बौद्ध धर्म्म का अनुयायी हुआ। वह अपने प्रासाद में बौद्ध भिक्षुओं को बुलाकर धर्म्मोपदेश सुना करता था। उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया और संस्कृत में ही मन्त्रोच्चारण किया करता था।

1035 ईसवी में जिन-संग ने 50 विद्यार्थियों को संस्कृत का ज्ञानोपार्जन करने के लिए नियुक्त किया। मंगोल-सम्राट् कुबलीख़ाँ भी बौद्ध धर्म्म का पक्षपाती था।

चीनी यात्री बराबर भारतवर्ष आया करते थे। सन् 965 ईसवी में एक बौद्ध विद्वान् ताड़पत्र के 50 ग्रन्थ भारतवर्ष से ले गया। उसके दूसरे ही साल 157 चीनी यात्री आये। तो यू नामक एक चीनी, फ़ाहियान का विवरण पढ़ कर, इतना उत्साहित हुआ कि वह स्वयं भारत-यात्रा के लिए निकल पड़ा।

मिंग-वंश का प्रभुत्व होने पर पहले तो बौद्ध धर्म्म का काम शान्तिपूर्वक होता रहा; पर 1450 ईसवी में यह कानून बनाया गया कि किसी भी बौद्ध-मठ के पास 6,000 वर्ग फ़ुट से अधिक ज़मीन न रहे। 1530 ईसवी में एक बार फिर बौद्ध धर्म्म पर अत्याचार हुए। पर विशेष हानि नहीं हुई। इसके बाद ईसाई धर्म्म-प्रचारक चीन

पहुँचे। उनके उद्योग से भी वहाँ विशेष परिवर्तन न हुआ। मंचूवंश के सम्राट् सभी मतों पर समान दृष्टि रखते थे। 1644 ईसवी में शुन ची नामक नरेश को उससे घृणा हो गई। उसने चारों ओर यह प्रचारित किया कि बौद्ध अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए लोगों से कपट करते हैं। उनके इस कपट-जाल से सब को बचना चाहिए। आज कल भी चीन में, बौद्ध धर्म्म के विषय में, कितने ही लोगों का ख़याल ऐसा ही है। पर अधिकांश मनुष्य अभी तक उसी धर्म्म के अनुयायी हैं।

[जून, 1920 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

पेरिस

योरप में फ्रांस देश की राजधानी का नाम पेरिस है। वह बहुत बड़ा नगर है। सुन्दरता में तो वह दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। वह अद्वितीय है। सीन नामक नदी उसके बीचोबीच बहती है। पर नगर की बस्ती नदी के एक तरफ़ अधिक, दूसरी तरफ़ कम है। बीच में नदी आ जाने से नगर की शोभा और भी अधिक हो गई है। इसके सिवा वह दो पहाड़ियो के बीच मे बसा हुआ है। उत्तर ओर की पहाडी 328 फुट और दक्षिण ओर की 262 फुट ऊँची है। इन पहाड़ियों ने भी नगर की शोभा-वृद्धि मे सहायता पहुँचाई है।

1800 ईसवी मे पेरिस की आबादी 5 लाख के लगभग थी। सौ वर्ष बाद, 1901 में बढ कर वह 27 लाख हो गई। पिछली मनुष्य-गणना 1911 मे हुई थी। तब उसकी मनुष्य-संख्या 28 लाख के लगभग थी।

सीन नदी पर 32 पुल है। सबसे पुराना पुल 1578 ईसवी मे बना था। उसका नाम है—पांट-नफ अर्थात् नया पुल। 'नया' नाम पाने पर भी वह सबसे अधिक पुराना है। जो पुल सचमुच ही सबसे पीछे का—अर्थात् नया—है वह पांट अलेग्जांड्रे, तीसरा कहलाता है। उसे बने अभी 20 ही वर्ष हुए होंगे। इस पुल में केवल एक कमानी है। वह लोहे की है। वह 350 फ़ुट लम्बा और 132 फ़ुट चौड़ा है।

पेरिस में सैकड़ों उत्तमोत्तम इमारते हैं। इन इमारतो की सुन्दरता, कारीगरी और आस पास का दृश्य देखने ही लायक़ है। विस्तृत वर्णन से भी उनकी रमणीयता का यथार्थ चित्र आँखों के सामने नही लाया जा सकता। पेरिस में अनेक विद्वान, अनेक कला-कुशल और अनेक विज्ञान-वेत्ता रहते है। पश्चिमी देशों में जितने बड़े बड़े नगर है, फ़ैशन और रँगीलेपन में कोई नगर पेरिस को नही पाता। वही से नये नये रीति-रवाज, नये नये वस्त्राच्छादन और नये नये भोजन-पान की विधियां और देशों तथा नगरों में फैलती हैं। इन सब बातो में औरो के लिए पेरिस गुरुकल्प हो रहा है। दूर दूर से लोग वहाँ सैर करने आते हैं।

फ्रांस में प्रजातन्त्र राज्य है। प्रेसिडेंट, जिसे राजा कहना चाहिए, पेरिस के डि ल' इलीसी नामक महल में रहता है। प्रजा के प्रतिनिधियो की मन्त्रणा-सभा की बैठक डू-लक्समबर्ग महल मे होती है। कार्य्य-कर्त्ता प्रतिनिधि—अर्थात् डिपटी लोग—बार्बन नाम के महल में काम करते है; वही उनका दफ़्तर है। ल' ली डि ला सिटी नाम के महल्ले में न्यायालय, गिरजाघर, घण्टाघर, जेल आदि इमारते है।

सीन नदी के उत्तरी तट पर पेरिस का वह भाग है जहाँ कल-कारख़ाने और बड़े बड़े व्यवसायियों की दुकानें हैं। बनिज-ब्यौपार और उद्योग-धन्धे विशेष करके वहीं होते है। वहाँ पर एक जगह है—पैलेस डि ला बैस्टिली। उसे पेरिस का व्यापारिक केन्द्र कहना

चाहिए। वहाँ की इमारतें आकाश से बातें करती हैं और करोड़ों रुपये का व्यापार और ख़रीद फ़रोख़्त का काम रोज़ होता है। एक नहीं अनेक बड़े बड़े बाज़ार इस महल्ले में हैं। बोर्सी अर्थात् सराफ़ा-बाज़ार भी वहीं है। एक प्रसिद्ध थियेटर (नाटकघर) भी वहीं है। इनके सिवा एक इमारत और भी है, जो संसार में अपनी प्रतिमा नहीं रखती। वह है वहाँ का पुस्तकागार—फ्रांस की जातीय लाइब्रेरी। लोगों का ख़याल है कि ऐसा बहुमूल्य पुस्तकालय भूतल में दूसरा नहीं। कहीं न मिलनेवाली—सबसे पुरानी और सबसे नई—पुस्तकों का संग्रह वहाँ है। उनकी संख्या 25 लाख के लगभग होगी।

सीन नदी के तट पर लोवरे नाम का एक मनोमोहक भवन है। उसमें अनन्त चित्र, मूर्तियाँ तथा भिन्न भिन्न प्रकार की कारीगरी के नमूने संगृहीत हैं। जो वस्तु कहीं और देखने को नहीं मिल सकती वह पेरिस के इस संग्रहालय में मिलती है। उसे देखने के लिए दूर दूर देशों और विलायतों से विद्वान् और गुणिजन आया करते हैं।

जिस महल्ले में पेरिस के बड़े बड़े बाजार हैं उसी के आस पास नाचने-गाने और खेल-तमाशे के साधन भी हैं। कितने ही नाचघर, नाटकघर और आपरा-हौस ऐसे हैं जहाँ रोज़ ही दर्शकों की अपार भीड़ रहती है—रोज़ ही एक न एक खेल-तमाशा हुआ करता है। एक इमारत का नाम है—ग्रैंड आपरा। 14 वर्ष लगातार काम जारी रहने पर 1875 ईसवी में वह बन चुकी थी। उसमें 2000 आदमियों के बैठने की जगह है। कितनी लागत से यह तैयार हुई है, आप जानते हैं? एक करोड़ रुपये से भी अधिक!

किस किस चीज़ का उल्लेख किया जाय। पेरिस की प्राचीन बस्ती में भी सैकड़ों चीज़ें देखने लायक़ हैं। उद्यानों, भव्य भवनों, गिरजाघरों, और नैपोलियन बोनापार्ट के समय की इमारतों का वर्णन इस से छोटे से लेख में करना असम्भव है। 1878 ईसवी में जो बहुत बड़ी प्रदर्शनी पेरिस में हुई थी उसके लिए एक ख़ास इमारत बनवाई गई थी। उसका नाम है—ली ट्रोकाडेरो। यह प्रासाद बहुत ही दर्शनीय है और सीन नदी के तट पर ही अवस्थित है।

पेरिस में एक बहुत बड़ी जन्तुशाला भी है।

सीन नदी का जो तट कुछ नीचा है उस पर उत्तर से दक्षिण की ओर सेंट मिचल नाम की बस्ती है। इसी तरह जो भाग पूर्व से पश्चिम की तरफ़ है वह सेंट जर्मन कहाता है। इन्हीं बस्तियों में छात्र-निवास और अधिकतर स्कूल और कालेज हैं। पेरिस का विश्वविद्यालय भी वहीं है। बहुत पुरानी वस्तुओं का एक संग्रहालय अर्थात् अजायब-घर तथा नामी नामी अर्वाचीन चित्रकारों के चित्रों के नमूने भी वहीं एक चित्रशाला में हैं। कुछ दूर पर होटल डेस इनवैलिड्स नाम का एक प्रसिद्ध भवन है। उसे फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने बनवाया था। उसी में एक सुवर्ण-खचित मण्डप के नीचे पहले नपोलियन की क़ब्र है।

ऊपर जिस प्रदर्शनी भवन (ट्रोकाडेरो) का उल्लेख हो चुका है उसी के सामने, सीन नदी के दूसरे तट पर, एफल टावर है। पेरिस में यह एक प्रधान दर्शनीय वस्तु है। संसार का यह एक नामी मीनार है। इसकी ऊँचाई कुछ कम एक हज़ार फ़ुट है।

पेरिस के चारों ओर रेल दौड़ती है। वह पृथ्वी के ऊपर दौड़ लगाती है। एक रेल

पृथ्वी के पेट में भी है। वह भीतर ही भीतर आवागमन करती है और बिजली की शक्ति से चलती है। कई कम्पनियों की रेलें पेरिस से छूटती हैं। उनके पाँच प्रधान स्टेशन हैं।

फ्रांस का सबसे बड़ा नगर पेरिस ही है। वहाँ सैकड़ों लखपती और करोड़पती रहते हैं। व्यापार-व्यवसाय और उद्योग-धन्धे खूब उन्नत हैं। सोने और चाँदी का काम बड़े विस्तृत रूप में होता है। वहाँ के जैसे जौहरी और किसी देश में नहीं। हीरे और पन्ने आदि नक़ली रत्न, जो हिन्दुस्तान के बाज़ारों में देख पड़ते हैं, वहीं के कीमियागरों और जौहरियों के आविष्कार है। विलास की सामग्री तैयार करने में कोई देश—कोई नगर—पेरिस की बराबरी नही कर सकता। सोने-चाँदी के ज़ेवर ही नहीं, चित्र-विचित्र पोशाक और लकड़ी का सामान भी वहाँ बहुत ही बढ़िया तैयार होता है।

इन सब चीज़ों के कारख़ानों में 5 लाख से कम आदमी—कारीगर, मज़दूर आदि—नही काम करते। युद्ध के कारण इसके बाज़ारो और नाटक-घरों आदि की शोभा हाल में कुछ कम हो गई थी। पर अब फिर वे अपने पूर्व-रूप को प्राप्त हो गये हैं, या हो रहे हैं।

पेरिस 20 भागों में विभक्त है। हर भाग मेअर नामक एक एक अफ़सर के अधीन है। प्रत्येक मेअर की सहायता के लिए 3 से लेकर 5 तक सहकारी अफ़सर या सहायक हैं।

1910 ईसवी में नदी की बाढ़ से पेरिस का बहुत सा अंश पानी के भीतर चला गया था। कोई 2 लाख आदमियों को इस बाढ़ से कष्ट उठाना पड़ा। लगभग 3 करोड़ रुपये की हानि हुई।

पेरिस बहुत पुराना शहर है। रोम-नरेश सीज़र के समय में उसका नाम था लूटेशिया। चौथी शताब्दी में रोम का बादशाह जूलियन वहाँ रहता था। उसका पेरिस नाम पड़े कोई पन्द्रह सौ वर्ष हुए। याद रहे, वह इससे भी बहुत पुराना है। अपने जन्म से अब तक उस पर अनेक जातियों का आधिपत्य रहा—अनेक आक्रमण उस पर हुए। कितनी ही दफ़े वह उद्ध्वस्त हुआ और कितनी ही दफ़े उसने पुनरुज्जीवन प्राप्त किया। नवी शताब्दी में तो शत्रुदल उसे 13 महीने तक घेरे पड़ा रहा। पर उसकी दाल न गली। इन आक्रमणों के कारण हज़ारों आदमियों को प्राण देने पड़े—भूख से भी और अस्त्राघात से भी। पिछला धावा 1870 ईसवी मे जर्मनीवालो ने किया। वे लोग 4 महीने तक उसे घेरे रहे। तब कहीं, निर्दिष्ट शर्तों पर पेरिस ने आत्मसमर्पण किया। बीस हज़ार जर्मन सैनिक, मार्च 1871 में, पेरिस के भीतर घुसे और कुछ दिनो तक उसे अपने क़ब्ज़े में रक्खा। फ्रांस पर मनमाना दण्ड करने और उससे मनमाने प्रान्त छीनने पर जर्मनी ने पेरिस का पिण्ड छोड़ा। उसका बदला, अब कहीं, 50 वर्ष बाद, जर्मनी से फ्रांस ले पाया है।

[नवम्बर, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।]

जापान और भारत में शिक्षा का तारतम्य

'इण्डियन सोशल रिफ़ार्मर' नामक पत्र में एक लेख शिक्षा-प्रचार-विषयक प्रकाशित हुआ है। उसमें यह दिखाया गया है कि जापान और भारत में शिक्षा की क्या दशा है। इन दोनों देशों मे शिक्षा-प्रचार का तारतम्य देखकर इस बात पर अफ़सोस—बहुत अफ़सोस होता है कि जापान के मुक़ाबले में भारतवर्ष अत्यन्त ही पिछड़ा हुआ है। जिस जापान में नई सभ्यता की जागृति हुए अभी 80 वर्ष भी नही हुए, वही जापान इस विषय में हजारों वर्ष के सभ्य और शिक्षित भारतवर्ष से बाजी मार ले जाय, यह इस देश का परम दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। इसका दोष हम नही जानते, किस पर मढ़ें—अपने दुर्दैव पर या उस शासन पर जिसका कर्तव्य इस देश में शिक्षा-प्रचार करना है और जो कोई डेढ सौ वर्ष से यहाँ अपना पराक्रम प्रकट कर रहा है।

भारत का जो अंश अँगरेजी गवर्नमेंट के अधीन है उसकी जनसख्या 24 करोड़ 70 लाख है और जापान की सिर्फ 6 करोड़ 2 लाख। अर्थात् जापान की अपेक्षा भारत की आबादी चौगुनी से भी अधिक है। यदि स्कूल जाने योग्य उम्र के बच्चो की सख्या फ़ी सदी 42 मान ली जाय तो भारत में ऐसे बच्चो की संख्या 3 करोड़ 7 लाख और जापान में 90 लाख होती है।

अब आप यह देखिये कि इन दोनों देशो में मदरसे, मकतब, स्कूल और कालेज कितने हैं। इनमे आप विश्वविद्यालयों को भी शामिल समझिये। इन सब प्रकार के शिक्षालयों की संख्या भारत में तो 2,28,229 है, और जापान में केवल 44,355। इसका यह अर्थ हुआ कि जापान की अपेक्षा भारत में शिक्षा के साधन पाँच गुने अधिक हैं। इन बातो को ध्यान मे रखकर आप यह देखिये कि इन शिक्षालयो में, दोनों देशों में; कितने छात्र शिक्षा पाते है। भारत में इनकी संख्या केवल 98 लाख, पर जापान मे 1 करोड 10 लाख है। देखा आपने! भारत की आबादी जापान से चौगुनी और शिक्षालय वहाँ की अपेक्षा पँचगुने है। पर यहाँ के मुक़ाबले में जापान में कोई दस लाख बच्चे अधिक शिक्षा पा रहे हैं। जिन बच्चों की उम्र स्कूल जाने योग्य है उनमें से जो बच्चे यहा सब तरह के स्कूलो में शिक्षा पा रहे हैं उनका औसत आबादी के लेहाज से फ़ी सदी 4 से भी कम है। परन्तु जापान में वही 19 फ़ी सदी है। इससे यह सूचित हुआ कि भारत में जहाँ 15 बच्चो को स्कूल जाना चाहिये था वहाँ केवल 4 जाते हैं और बाकी के 11 या तो मवेशी चराते या गिल्ली-डंडा खेला करते है। इस दशा में यहाँ मूर्खता और निरक्षरता का साम्राज्य न छाया रहे तो कहाँ रहे। शिक्षा ही सारे सुखों और सारे सुधारों की जड़ है। पर राजा का न सही भगवान का उसी ओर दुर्लक्ष्य है। हाय रे दुर्दैव!

भारत में अर्थकरी शिक्षा की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। यहाँ की शिक्षा की बदौलत क्लर्क, मुहर्रिर, लेखक, स्कूल मास्टर ही अधिकतर पैदा होते हैं और

सारी उम्र कलम घिसते-घिसते बिता देते हैं। उच्च शिक्षा पाये हुए युवक बहुत हुआ तो, वकील बनकर अदालतों की शोभा बढ़ाते और दीन-दुखियों का धन स्वाहा कराने में सहायक होते हैं। फिर भी सबको काम नहीं मिलता। 30 रुपये की जगह खाली होने का यदि कोई विज्ञापन निकलता है तो हज़ारों युवक टिड्डी-दल की तरह विज्ञापनदाता के ऊपर टूट पड़ते हैं। जापान में यह दुर्गति नहीं। वहाँ अर्थकरी शिक्षा देने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। जापान के प्रारम्भिक मदरसों में जितने विद्यार्थी शिक्षा पाते है उनसे कुछ ही कम अर्थकरी शिक्षा देने वाले शिक्षालयों में पाते हैं। ये शिक्षालय अनेक प्रकार के हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की ऐसी शिक्षा दी जाती है जिसकी कृपा से लड़के और लड़कियाँ स्कूल छोड़ते ही चार पैसे पैदा करने लगती हैं। ध्यान इस बात का रक्खा जाता है कि स्कूल से निकलने पर कोई लड़का या लडकी बेकार न रहे; वह कुछ-न-कुछ काम कर सके, वह किसी पर भारभूत होकर देश की दरिद्रता न बढ़ावे। जिन स्कूलो मे इस तरह की अर्थकरी शिक्षा दी जाती है उनमें साथ ही, साधारण शिक्षा—अर्थात् लिखने, पढने, हिसाब, भूगोल, इतिहास आदि की भी शिक्षा—दी जाती है। जापान में इस तरह के स्कूलों का बहुत आधिक्य है। वहाँ के निवासी इन स्कूलों से लाभ भी बहुत उठाते हैं। वे इनका महत्त्व समझते है। अतएव मध्यवित्त के प्राय: सभी लोग अपने बच्चों को इन स्कूलो मे पढ़ने भेजते है। नतीजा यह हुआ है कि पिछले दस ही वर्षों में इन स्कूलों की संख्या दूनी हो गयी है। परन्तु भारत का यह हाल है कि प्रारम्भिक मदरसों के बाद केवल वे स्कूल हैं जिन्हें मिडिल स्कूल कहते है। उनमें भी प्राय: उसी तरह की शिक्षा दी जाती है, जिस तरह की प्रारम्भिक मदरसों में दी जाती है। जो बच्चे प्रारम्भिक मदरसों की शिक्षा समाप्त कर चुकते हैं उनमें से फी सदी 10 से अधिक बच्चे इन मिडिल मदरसों में नही जाते। फल यह होता है कि उनमे से 90 फी सदी घर ही बैठे रहते हैं और देश तथा अपने कुटुम्ब की अर्थहीनता की वृद्धि करते है। यदि भारत में भी इस तरह के स्कूल खुल जाते तो जो बच्चे प्रारम्भिक मदरसे छोड़कर घर बैठे रहते है उनमे से बहुतेरे इन स्कूलो मे भरती होकर चार पैसे पैदा करने योग्य अवश्य हो जाते।

अब ज़रा शिक्षा-सम्बन्धी ख़र्च का हिसाब भी देख लीजिये। अपने देश अभागे भारत की, गवर्नमेंट सब प्रकार की शिक्षा के लिए साल में कुछ ही कम 10 करोड रुपया ख़र्च करती है अर्थात् आबादी के लेहाज़ से फी आदमी कोई 6 आने ख़र्च करके सरकार भारतवासियो को शिक्षा देती है। अच्छा तो इन्ही भारतवासियो से करके रूप में सरकार को साल मे क्या मिलता है। जनावे आली, उसे उनसे 2 अरब 22 करोड़ रुपये से कम नहीं मिलता। अर्थात् हम लोगो से इतना रुपया वसूल करके उसमे से फ़ी सदी पाँच ही रुपया वह मुश्किल से हमारी शिक्षा के लिये ख़र्च करती है। बाकी रुपया यह फ़ौज, रेल, जहाज और नौकर-चाकरों की तनख़्वाह में उड़ा देती है। जापान में यह बात नहीं। वहाँ की गवर्नमेंट को रियाया से कर के रूप में जितना रुपया मिलता है उसका फ़ी सदी 15 वह शिक्षा प्रचार के काम में ख़र्च कर देती है। उसका यह ख़र्च भारत के ख़र्च से तिगुना है। इसीलिए हमारे देश की गवर्नमेंट पर कोई-कोई यह

लांछन लगाते हैं कि वह हमें शिक्षित बनाने में जान-बूझकर आना-कानी या शिथिलता कर रही है। यह ठीक हो या न हो, पर इसमें सन्देह नही कि जापान के मुक़ाबले में यहाँ शिक्षा के लिए बहुत कम ख़र्च किया जाता है। उसकी प्रचार-वृद्धि की यथेष्ट चेष्टा नहीं की जाती। भारत में जहाँ शिक्षा का ख़र्च फ़ी आदमी आठ आने भी नहीं, वहाँ जापान में आठ रुपया है।

एक बात और भी है। वह यह कि भारत में छात्रों की फ़ीस दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है। पर जापान में वह दिन-पर-दिन कम होती जाती है।

शिक्षा ही से मनुष्य-जन्म सार्थक होता है। उसी से मनुष्य अपनी सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। उसी की दुरवस्था देख किस समझदार भारतवासी को परमावधि का परिताप न होगा।

[जनवरी, 1927 में प्रकाशित। 'लेखांजलि' में संकलित।]

लीग आफ नेशन्स का खर्च और भारत

सन् 1857 के ग़दर की याद कीजिये। उसमें बड़ी-बड़ी नृशंसताएँ हुई थी। कितने ही क़त्ले-आम भी शायद हुए थे। पर उन सबका सविस्तर और सच्चा वर्णन कहीं नहीं मिलता। लोगों का कहना है कि ग़दर के इतिहास से पूर्ण जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उनमें कुछ नृशंस बातें बढ़ाकर लिखी गयी हैं और कुछ पर धूल डाली गयी है। कलकत्ते के ब्लैकहोल और कानपुर के क़त्ल की कथा तो ख़ूब विस्तार के साथ और शायद बढ़ा-कर भी लिखी गयी है। पर गोरों ने कालों पर जो अत्याचार किये हैं उन पर कम प्रकाश डाला गया है और कुछ घटनाओं पर तो बिलकुल डाला ही नहीं गया। अब कोई साठ-सत्तर वर्ष बाद एडवर्ड टामसन (Edward Thompson) नाम के एक अँगरेज़ को उन पुरानी बातों की याद आयी है। उन्होंने अँगरेज़ी में एक पुस्तक लिखकर संयुक्त राज्य (अमेरिका) के न्यूयार्क नगर से प्रकाशित की है। उसका नाम है—The Other Side of the Medal. इस पुस्तक में उन्होंने गोरों के उन क्रूर कर्म्मों का वर्णन किया है जो सिपाही-विद्रोह की इतिहास-पुस्तकों में किसी कारण से छूट गये हैं या छोड़ दिये गये हैं। यह बात हमें 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित उस पुस्तक की एक समालोचना से ज्ञात हुई। इस समालोचना ही को पढ़कर भारतवासी पाठको के रोंगटे खड़े हो सकते है, मूल पुस्तक पढ़ने पर उनके हृदयों की क्या दशा हो सकती है, यह तो पढ़ने ही से ज्ञात हो सकेगा।

नये जीते हुए देशों के निवासियों पर विजेता जाति, कभी-कभी भीषण अत्याचार कर बैठती है, यह तो इतिहास-प्रसिद्ध ही है। मिस्र, सीरिया, कांगो, रीफ प्रान्त, बालकन प्रदेश, कोरिया आदि के निवासियों के साथ कैसे-कैसे सलूक किये गये है, यह बात इतिहास-प्रेमियों और समाचार-पत्रों के पाठको से छिपी नहीं : योरप के कितने ही देश पशु-बल में बहुत समय से प्रबल हो रहे हैं। इसी से उन्होंने अनेक अन्य निर्बल देशों को जीतकर उन पर अपना प्रभुत्व जमाया है। इस प्रभुत्व-जमौव्वल के कारण उन्हें बहुधा वहाँ के अधिवासियों पर ज़ोरो-ज़ुल्म भी करना पड़ा है और अब भी करना पड़ता है। चीन में इस समय क्या हो रहा है और बाक्सर-विद्रोह के समय क्या हुआ था, ये सब घटनाएँ उसी पशुबल और आतंक-जमौव्वल के उदाहरण हैं। भारत भी इसका शिकार हो चुका है और किसी हद तक अब भी इसका शिकार हो रहा है।

परन्तु इस पशुबल से बली योरप के कुछ देश, बहुत समय से परस्पर भी लड़ने-भिड़ने की ताक में चले आ रहे है। कारण वही प्रभुत्व-लिप्सा है। मेरा ही प्रभुत्व सबसे बढ़ा चढ़ा रहे; मैं ही अधिकाधिक निर्बलों को पदानत करता चला जाऊँ; तू दूर रह; तू मेरे काम में विघ्न न डाल—बात यह। योरप में कुछ समय पूर्व जो महायुद्ध हुआ था उसका कारण भी यही लिप्सा थी। जर्मनी अपना बल बढ़ा रहा था। औरों को यह बात पसन्द न थी। बस, सब प्रतिस्पर्धी अपना-अपना गुट बनाकर लड़ पड़े। जिनका

पक्ष प्रबल था उन्होंने छल-बल से किसी तरह जर्मनी को हरा दिया। पर उनकी इस जीत ही ने उनके कान खड़े कर दिये। उन्होंने कहा, इस युद्ध से तो धन-जन की इतनी हानि हुई है; और भी कोई ऐसा ही युद्ध छिड़ गया तो हमलोगों का सर्वनाश ही हो जायगा—हमारे देश एकदम उद्ध्वस्त हो जायँगे। यह सोचकर उन्होंने 'लीग आफ़ नेशन्स' नाम की एक संस्था बना डाली। उसे एक प्रकार की शान्ति-स्थापक सभा या पंचायत कहना चाहिये। उसका सदर मुक़ाम स्विट्ज़रलैंड के एक शहर में क़रार दिया गया। वहाँ बड़े-बड़े दफ़्तर खुल गये। सैकड़ों कर्म्मचारी रक्खे गये। बड़ी सभा के मातहत अनेक छोटी-छोटी कमिटियाँ भी बना डाली गयीं। इस सभा के अधिवेशन समय-समय पर हुआ करते है। अन्तर्जातीय राजकीय विषयों पर विचार होता है, नियम निर्धारित होते है और पारस्परिक झगड़े आपस ही में निपटाने की चेष्टा की जाती है।

अब तक जर्मनी इस सभा का सभासद् न था। अब वह भी हो गया है। जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, इटली और जापान ये पाँच बलाढ्य राज्य है। इनके प्रतिनिधियों को इस सभा में स्थायी सभासदत्व प्राप्त है। अमेरिका के भी कितने ही छोटे-छोटे राज्यों के प्रतिनिधियों को इसमें जगह मिली है। चीन, फारिस, तुर्की आदि के भी प्रतिनिधि इसमें शामिल हैं। पर बोलबाला बड़े राज्यों ही के प्रतिनिधियों का है। अवशिष्ट राज्यो को अस्थायी ही सभासदत्व प्राप्त है। सो भी कुछ-कुछ समय बाद। प्रतिनिधित्व के नियम इस ख़ूबसूरती से बनाये गये है जिसमें काम पड़ने पर छोटे-छोटों की दाल न गले, बड़े अर्थात् बलाढ्य राज्य ही मनमानी कर सकें। सो शान्ति-स्थापना की चेष्टा करने वालों ने यहाँ भी अपनी स्वार्थपरता का पूरा ख़याल रक्खा है। अतएव कहना चाहिये कि यह शान्ति-सभा केवल योरप के कुछ देशो के हाथ का खिलौना है। उन्हीं ने अपने मतलब की सिद्धि के लिये इसकी सृष्टि की है। इसी से अमेरिका के संयुक्त राज्य इसमें शामिल नही हुए। इसमें आधिक्य और ज़ोर जापान और योरप ही के कुछ देशो का है। इसकी कुछ कारग्वाइयों से नाराज़ होकर योरप के भी एक देश अर्थात् स्पेन ने इसका साथ अभी हाल ही में छोड़ दिया है। इसके नियमों में एक नियम यह भी है कि यदि कोई देश किसी देश-विशेष पर अकारण ही, अथवा किसी क्षुद्र कारण से आक्रमण करे तो शान्ति-सभा उसकी रक्षा करेगी। पर रीफो के सरदार अब्दुल करीम पर अभी उस दिन फ्रास और स्पेन के तथा सीरिया पर फ्रांस के जो आक्रमण हुए उनसे इस लीग ने उन देशो की रक्षा तो दूर, उन आक्रमणों के विषय मे विशेष चर्चा तक अपने अधिवेशनों मे न की। इधर विदेशी राज्यों के विशेषाधिकारों के कारण चीन मे जो उत्पात हो रहे है उन पर भी इस सभा ने कोई टीका-टिप्पणी तक न की। कुछ देशो को ऐसे आदेश मिले हैं कि अमुक-अमुक देश पर तुम तब तक प्रभुत्व जमाये रहो जब तक वे देश अपना राज्य आप करने के योग्य न हो जायँ। ऐसे प्राप्ताधिकार देश (Mandatory Powers) कहाते हैं। अपने अधिकार में लाये गये देशों या जातियों पर ये लोग कभी-कभी बड़ी-बड़ी सख़्तियाँ करते हैं। उस दिन इन लोगों ने अपने-अपने अधीन देशों के सम्बन्ध में अपनी-अपनी रिपोर्टें सभा में पेश कीं। उन पर सभा ने कुछ यों ही-सा एतराज़ किया और कुछ प्रश्न भी पूछे। इस पर इन अधिकारी देशों ने बड़ी नाराज़गी ज़ाहिर की। बात यह कि

हम जैसा चाहेंगे शासन करेंगे। पूछने वाले तुम कौन ?

ऐसी ही इस सभा में भारत को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त है। पर इन प्रतिनिधियों को भारतवासी नहीं चुनते। चुनती है ब्रिटिश गवर्नमेंट। इस दिल्लगी पर अनेक समझदार भारतवासियों ने अपनी प्रतिकूलता प्रकट की है। उनका कहना है कि इस सभा के ख़र्च का एक अंश जब भारत देता है तब अपना प्रतिनिधि वह आप ही क्यों न चुने। सरकार का और भारतवासियों का हित एक नही। इस दशा में ख़र्च तो भारत से लेना और प्रतिनिधि अपने मन का चुनना, प्रतिनिधित्व की अवहेलना के सिवा और कुछ नहीं। इस दफ़े इस सभा के अधिवेशन में प्रतिनिधित्व करने के लिये गवर्नमेंट ने कपूरथला के महाराजा साहब को भी भेजा था। उन्होंने कुछ ऐसी बातें कही जिन्हें भारतवासियों के कितने ही नेताओं ने बिलकुल ही पसन्द नही किया। उधर विलायत में महाराजा बर्दवान ने भी भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से कुछ ऐसी बाते कह डाली, जो उचित नही समझी गयी।

फिर पर भी यहाँ इस देश में कुछ लोग नक्क़ारा बजाते फिरते हैं कि इस सभा से बड़े-बड़े लाभ है। इसने भारत का प्रतिनिधि लेकर भारत का गौरव बढ़ा दिया है। सभा में भारतीय प्रतिनिधि को अन्य स्वतन्त्र देशों के प्रतिनिधियों के साथ बैठने का अधिकार प्राप्त हो गया है—वग़ैरह-वग़ैरह। परन्तु पास बैठने ही से भारत उन अन्य देशों की बराबरी का नही हो जाता। उनकी और भारत की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर है। अफ़ीम की पैदावार और रफ़्तनी तथा कल-कारख़ाने में काम करने वाले मजदूरों के काम आदि के सम्बन्ध में नियम बना देने ही से भारत के हित-चिन्तन की इतिश्री नही हो जाती। जिन बड़ी-बड़ी त्रुटियों के कारण भारतवासियों की दुर्गति हो रही है उनकी तरफ़ तो इस सभा अर्थात् लीग का ध्यान ही नही। और यदि वह ध्यान भी देना चाहे तो नहीं दे सकती। कुछ बानक ही ऐसा बना दिया गया है। ऊपर लिखी गयी बात को न भूलिये कि यह लोग योरप के कुछ ही बलाढ्य देशो के हाथ का खिलौना हैं। उन्होंने कुछ बन्धन ही ऐसा बांध दिया है कि काम-काज के वक़्त कसरत राय उन्ही की रहे।

अच्छा, जिस लीग से भारत का इतना हित होता है और इतने कम हित होने की सम्भावना आगे भी है उसके लिये इस निर्धन देश को ख़र्च कितना करना पड़ता है। इस लीग के सालाना ख़र्च का तख़मीना हर साल तैयार किया जाता है। दिसम्बर 1926 के 'माडर्न रिव्यू' में 1916 के 12 महीनों के ख़र्च का जो टोटल दिया गया है वह 9,17,225 पौंड है। याद रखिये, इस मासिक पत्र के सम्पादक लीग के पिछले अधिवेशन में खुद ही हाजिर हुए थे। अतएव उन्होंने यह टोटल लीग के काग़ज़-पत्र देखकर ही दिया है, अपनी कोरी कल्पना से नहीं दिया। ये इतने पौंड यदि 15 रुपया फ़ी पौंड के हिसाब से बताये जायँ तो 1,37,59,375 अर्थात 1 करोड़ 37ll लाख रुपये से भी अधिक हुए। यह इतना ख़र्च 937 अंशों में बाँटा जाता है। लीग में शामिल देशों की आबादी, आमदनी और रक़बे आदि को ध्यान में रखकर हर देश के लिये अंश नियत किये जाते हैं। चुनांचे इंगलैंड अर्थात् ग्रेट ब्रिटेन के 105 अंश नियत हुए हैं और बेचारे

भुक्खड़ भारत के 56 अंश। आपको यह बता देना चाहिये कि पहले भारत के इससे भी अधिक अंश थे। यह भी तो अभी कुछ ही समय से बहुत कुछ रोने-पीटने से हुई है। ऊपर जो 1 करोड़ 384 लाख का टोटल दिया गया है उसे यदि 937 अंशों में बाँटें तो हर अंश के हिस्से में कोई 14,686॥ रुपया आता है। उसे यदि भारत के 56 अंशों से गुणा करें तो भारत के सालाना देने का टोटल 8,22,332 रुपया होता है। यह कोई सवा आठ लाख रुपया प्रायः यों ही चला जाता है। इसके बदले में यदि कुछ मिलता है तो केवल थोड़े से नियमोपनियमों का बण्डल। जिस भारत के अधिकांश लोगों को एक वक्त भी पेट भर भोजन मयस्सर नहीं होता, जहाँ निरक्षरता का अखण्ड साम्राज्य है, जहाँ दस दस, बीस बीस कोस तक शफ़ाख़ानों का नाम तक नहीं, वहाँ का इतना रुपया इस लीग के ढकोसले के लिये उड़ा दिया जाय, इस पर किस साक्षर और सज्ञान भारतवासी को दुःख न होगा।

इस लीग या शान्ति-सभा में सारी दुनिया के कोई 60 देश शामिल हैं। उनमें से छोटे ही छोटे अधिक हैं; बड़े बड़े धुक्कड़ तो थोड़े ही हैं। अच्छा, अब देखिये, इन धुक्कड़ों में से कौन कितने अंश ख़र्च देता है—

नाम देश		अंश
ग्रेट ब्रिटेन	...	105
फ्रांस	...	79
इटली	...	60
जापान	...	60
भारत	...	56
चीन	...	46
कनाडा	...	35
पोलैंड	...	32
आस्ट्रेलिया	...	27
ब्रेज़ील	...	29
आयरलैंड	...	16
नेदरलैंड्स	...	23
गेमानिया	...	22
सर्बिया	...	20
ज़ेकोस्लोवेकिया	...	29

रूस और अमेरिका के संयुक्त राज्य इसमें शामिल नहीं। जर्मनी अभी शामिल हुआ है। इससे उसका हिसाब नहीं दिया गया। अब आप देखिये कि पहले के चार धुक्कड़ों के साथ बेचारा भारत भी बाँध दिया गया है। इतने बड़े चीन को भी उससे कम ही ख़र्च देना पड़ता है, पर भारत को इटली और जापान के सदृश बलवान् राष्ट्रों के प्रायः बराबर—कुछ यों ही कम—रुपया फूंकना पड़ता है। जर्मनी को भी अब शायद

भारत से अधिक ख़र्च न देना पड़ेगा। सो जो देश सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है और जिनकी बलवत्ता का आतंक सारे संसार में छाया हुआ है उनके बराबर बैठने का झूठा गौरव प्राप्त करके भारत के कंगाल कृषकों का आठ लाख से भी अधिक रुपया स्विट्ज़रलैंड के एक नगर को भेज दिया जाता है।

स्विट्ज़रलैंड में लीग की बड़ी-बड़ी इमारतें हैं। उनमें लीग के कितने ही दफ़्तर हैं। इन दफ़्तरों में बहुत से अफ़सर और सैकड़ों कर्म्मचारी काम करते हैं। यह सवा करोड़ से भी अधिक रुपया प्राय: उन्हीं की जेबों में जाता है। पर इन दफ़्तरों में यह अन्यान्य देशों के निवासी सैकड़ों कर्म्मचारी काम करते हैं। वहाँ गौरव की गुरुता से झुकी हुई पीठ वाले भारत के सिर्फ़ 3 मनुष्य काम करते हैं। कुछ बड़े-बड़े देशों के निवासी कर्म्मचारियों की संख्या नीचे दी जाती है—

देश		**कर्म्मचारियों की संख्या**
ग्रेट ब्रिटेन	...	221
फ्रांस	...	180
इटली	...	34
स्पेन	...	10
पोलैंड	...	12
बेलजियम	...	18
आयरलैंड	...	13
नेदरलैंड्स	...	15
स्विट्ज़रलैंड	...	210
जर्मनी	...	10

स्विट्ज़रलैंड के 210 कर्म्मचारी देखकर कहीं यह न समझ जाइयेगा कि ये लोग बड़ी-बड़ी तनख़्वाहें पाते होंगे, नहीं इनमें से अधिकांश दफ़्तरी, चपरासी, जमादार, पोर्टर वग़ैरह ही हैं। कारण यह कि दफ़्तर इन्हीं के देश में है। वहाँ चपरासी और कुली का काम करने के लिये ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस से अँगरेज़ और फरासीसी जाने वाले नहीं। इसी से वहीं वालों को ये सब पद दे डाले गये हैं। जो जर्मनी लीग के ख़र्च के लिये एक फूटी कौड़ी भी नहीं देता रहा है उसने भी लीग के दफ़्तरों में अपने 10 कर्म्मचारी ठूँस दिये हैं। पर जो भारत 8 लाख से भी अधिक हर साल देता है उसके सिर्फ़ तीन ही कर्म्मचारी वहाँ प्रवेश कर पाये हैं। यह न समझियेगा कि फ्रेंच भाषा न जानने के कारण अधिक भारतवासी नहीं लिये गये। ढूँढ़ने से कोड़ियों भारतवासी ऐसे मिल सकते हैं जो अँगरेज़ी और फ्रेंच दोनों भाषायें बख़ूबी जानते होंगे।

**['श्रीयुत ज्ञ—' नाम से फरवरी, 1927 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'लेखांजलि' पुस्तक में संकलित।]**

अमेरिका में कृषि-कार्य्य

संसार परिवर्तनशील है। यहाँ कोई भी चीज़ सदा एक ही सी दशा में नहीं रहती। समयानुसार सबमें परिवर्तन होता है। जिस देश या जिस समाज के लोग समय की स्वाभाविक गति पर ध्यान नहीं देते, उस समाज का अधःपतन अवश्य ही होता है।

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की भूमि में जितनी उर्वराशक्ति है उतनी शक्ति बहुत ही कम देशों की भूमि में होगी। कृषि-कार्य्य के योग्य जितनी भूमि यहाँ है उतनी शायद ही और किसी देश में हो। फिर भी हमारे देश के किसानों को भर-पेट भोजन नहीं मिलता। दूसरे देशों के किसान सर्वथा सुखी और भारत के प्रायः सर्वथा ही दुखी हैं। अच्छा, इस अन्तर का कारण क्या? यह तो कह ही नहीं सकते कि यहाँ के किसान परिश्रमी नहीं, क्योंकि उन्हें बारह-बारह घण्टे काम करते हम प्रत्यक्ष देखते है।

भारतवर्ष में कृषकों की दुरवस्था और निर्धनता के कई कारण हैं। एक तो यहाँ किसानों में शिक्षा का अभाव है। दूसरे यहाँ की गवर्नमेंट ने देश के कुछ अंश को छोड़कर अन्यत्र सब कहीं भूमि को अपने अधिकार में कर रक्खा है। वही उसकी मालिक बनी बैठी है। अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुजारी के सम्बन्ध में जो क़ानून बनाये हैं वे बहुत ही कड़े है। फिर जहाँ कहीं तअल्लुकेदारियाँ है वहाँ किसानों के सुभीते का कम, तअल्लुकेदारों के सुभीते का अधिक ख़याल रक्खा गया है। यही सब कारण हैं जो किसानों को पनपने नहीं देते।

जितने सुशिक्षित और सभ्य देश है वे वैज्ञानिक ढंग से कृषि करते हैं। फल यह हुआ है कि वे मालामाल हो रहे हैं। पर भारत में शिक्षा के अभाव अथवा कमी तथा निर्धनता के कारण इस प्रकार की नवाविष्कृत खेती हो ही नहीं सकती। हाँ, जो लोग पढ़े-लिखे और साधन-सम्पन्न हैं, वे यदि चाहें तो पश्चिमी देशों की खेती करके बहुत लाभ उठा सकते हैं। परन्तु खेद है, उनका भी झुकाव इस तरफ़ नहीं। इसे ईश्वरी कोप ही कहना चाहिये। जब तक देश की यह दशा रहेगी—जब तक शिक्षित जन-समुदाय कृषि-कार्य्य की ओर ध्यान न देगा—और जब तक अभिनव आविष्कारों से काम न लिया जायगा तब तक कृषिकारों की दरिद्रता दूर न होगी। देश को समृद्धिशाली करने के लिये वैज्ञानिक प्रणाली से कृषि करने की बड़ी ही आवश्यकता है।

इस समय भारत की जैसी अवस्था है, कोई 300 वर्ष पहले संयुक्त देश (अमेरिका) की भी ठीक वैसी ही, किम्बहुना उससे भी बुरी दशा थी। वर्जिनिया इस समय उस देश का एक प्रधान और विशेष समृद्ध प्रान्त गिना जाता है। परन्तु 1607 ईसवी में कप्तान जान स्मिथ नाम के एक आदमी ने वहाँ के कृषकों को नितांत हीनावस्था में देखा था। उस समय वहाँ एक मामूली हल से ज़मीन जोती जाती थी। ज़मीन खोदने

के लिये फावड़े के बजाय एक प्रकार की लकड़ी से काम लिया जाता था। ज्वार ओखली और मूसल से उसी तरह कूटी जाती थी जिस तरह हमारे यहाँ अब तक कूटी जाती है। कुल्हाड़ी से काटकर पेड़ गिराना लोगों को मालूम ही न था। वे उसके नीचे आग जलाकर उसे गिराते थे। खेती का सारा काम हाथ से होता था।

अमेरिका नौआबाद देश है। भिन्न-भिन्न देशों की फ़ालतू आबादी वहाँ जा बसी है। योरप के निवासी वहाँ जैसे जैसे जाते और बढ़ते गये वैसे ही वैसे उन्हें खेती में उन्नति करने की सूझनी गयी। अपने जन्म-देश में जिस तरह खेती होती थी उसी तरह उन्होंने वहाँ भी कृषि-कार्य्य करने का निश्चय किया। अमेरिका में भूमि की कमी तो थी ही नही। एक-एक कृषक को सौ-सौ दो-दो सौ बीघे भूमि आसानी से मिल जाती थी। इतनी भूमि में पुराने ढंग से हाथों ही की बदौलत खेती करना सम्भव भी न था। अतएव उन्हें कलें—मैशीनें ईजाद करने की सूझी।

पहले-पहल वहाँ वालों ने पनचक्की का आविष्कार किया। उससे एक दिन मे सैकड़ों मन आटा पिसने लगा। देखकर लोग हैरत में आ गये। दूर दूर से लोग आटा पिसाने आने लगे। चक्की के मालिक को खूब मुनाफा होने लगा। कुछ ही दिनों में वह अमीर हो गया। उसे इस तरह कामयाब हुआ देख और लोगों ने भी उसका अनुकरण किया। धीरे-धीरे एंजिनो से और कुछ समय बाद, बिजली से ये चक्कियाँ चलने लगी।

इसके बाद योरप से जाकर अमेरिका में बस जाने वालो ने हवा से काम लेने की युक्ति निकाली। उन्होंने पानी खींचने और ऊपर चढाने के लिये एक ऐसी कल निकाली जो हवा से चलती थी। इस कल से खेत सींचने में बहुत सुभीता हुआ। इस तरह की कलें अमेरिका में कही-कहीं अब भी देखने को मिलती हैं। अब तो वहाँ ऐसे-ऐसे पम्प ईजाद हो गये है जिनसे काम लेने के लिये एंजिन लगे हुए हैं और जिनसे सैकड़ों बीघे जमीन में बोई हुई फ़सलें बात की बात में सींच दी जाती हैं। इन्हीं एंजिनों की सहायता से चलायी गयी अन्य कलें भी अनेक काम करती हैं। उनसे कुट्टी काटी जाती है, लकड़ी चीरी जाती है, अनाज कूटा जाता है और आटा भी पीसा जाता है। बस, अकेले एक एंजिन से ये सब काम हो जाते हैं। यह तरक्क़ी वर्तमान काल की है।

1800 ईसवी के लगभग कुछ लोग घोड़ों और कुत्तों से भी काम लेने लगे। गन्ने का रस निकालने तथा और भी कुछ काम करने के लिये उन्होंने ऐसी कलें निकालीं जो घोड़ों और कुत्तों से चलायी जाती थीं। अमेरिका के दक्षिणी भाग में रहने वाले हबशी अब तक कहीं-कहीं ऐसी कलों से काम लेते देखे जाते हैं।

1807 ईसवी में संयुक्त देश (अमेरिका) के निवासियों ने भाफ की शक्ति का ज्ञान प्राप्त किया और उससे काम लेने की ठानी। राबर्ट फुल्टन नाम के एक आदमी ने एक ऐसी नाव ईजाद की जो भाफ की सहायता से चलने लगी। उसने एंजिन लगाया और न्यूयार्क नगर से अलबनी तक उसी पर उसने हडसन नदी पार की। उसके इस कार्य्य ने अमेरिका वालों की आँखें खोल-सी दीं। बस फिर क्या था, भाफ की शक्ति मालूम हो जाने पर लोग भाफ से चलने वाले एंजिनों के पीछे पड़ गये। जगह-जगह एंजिन लग गये और नये-नये कल कारखाने चलने लगे। खेती के कामों के लिये भी

यही एंजिन लगाये जाने लगे। खेत काटना, भूसा उड़ाना, कटी हुई फ़सलों को माँड़ना ये सभी काम एंजिनों की सहायता से होने लगे। वहाँ वालों ने पहले पानी से काम लिया, फिर हवा से, फिर घोड़ों और कुत्तो से और तदनन्तर भाफ से। अब तो वे लोग बिजली देवी को भी अपने वश में किये हुए हैं और छोटे-बड़े हज़ारों काम उसी की सहायता से करते हैं।

अमेरिका के कुछ बड़े-बड़े किसानों की ज़मीन के पास पानी के प्रवाही झरने हैं। ये कृषिकार अब इस फिक्र में हैं कि उन झरनों की जल-धार से बिजली की शक्ति उत्पन्न करके उसकी सहायता से कलें चलावें और उनसे खेती ही के नहीं, अपने घरेलू काम भी निकालें। उनके इस उद्योग में किसी-किसी को सफलता भी हुई है। वे लोग अब झरनों की बिजली से कृषि के उपयोगी यन्त्रों का संचालन करने भी लगे हैं। यह काम बड़े फ़ायदे का है। इसमें एक ही दफ़े कील-काँटों और मैशीनों में जो ख़र्च होता है वह होता है, पीछे से इस काम में बहुत ही कम ख़र्च करने की जरूरत रह जाती है।

यह सब होने पर भी 1837 ईसवी तक अमेरिका में खेती के औज़ारों वगैरह में विशेष उन्नति न हुई थी। भारत में इस समय जैसे हल काम आते हैं; कुछ-कुछ उसी तरह के वहाँ भी काम आते थे। उनसे ठीक काम न होता देख इलिनाइस के जान डियर नामक एक लुहार ने लोहे का एक हल ईजाद किया। उस समय वहाँ के हल वजनी होते थे। उनसे वहाँ की कड़ी जमीन अच्छी तरह जुतती भी न थी—उनके फाल ज़मीन में गहरे न धँसते थे। डियर के लोहे के हल ने इन दोषों को दूर कर दिया। पहले तो लोगो ने उसकी इस ईजाद की दिल्लगी उड़ाई, पर जब उसके हल से पहले की अपेक्षा बहुत अधिक और बहुत अच्छा काम होने लगा, तब वे लोग आश्चर्य्यचकित होकर उसकी प्रशंसा करने लगे। कई साल तक इन हलो की बहुत ही कम बिक्री हुई। परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी उपयोगिता लोगों के ध्यान में आती गयी, त्यों-त्यो उनका प्रचार बढ़ता गया। 1837 से 1839 ईसवी तक जान डियर के बनाये बहुत ही कम हल बिके। उसके बाद उनकी बिक्री बढ़ी और कोई 18 वर्ष के भीतर ही डियर के कारख़ाने में हर साल दस हज़ार तक हल बनकर बिकने लगे। अब तो डियर का कारख़ाना बहुत ही बड़े पैमाने मे काम कर रहा है। वह इलिनाइस रियासत के मोलिन नामक स्थान में है। उसमें एक हल तैयार होने में सिर्फ 30 सेकंड लगते हैं। हर फ़सल में यह कारख़ाना कम से कम दस लाख फाल तैयार करता है। उसमें कोई डेढ़ हजार आदमी काम करते हैं। हर साल इस कारख़ाने में 10 लाख मन लोहा, 5 लाख मन कोयला, 11 लाख मन तेल और वार्निश, 25 लाख फुट लकड़ी और 12 लाख गैलन जलाने का तेल ख़र्च होता है।

जान डियर की ईजाद के बाद अमेरिका के एंजिनियर और काश्तकार खेती के यन्त्र-निर्माण की ओर और भी अधिक दत्तचित्त हुए। तरह-तरह की कलें ईजाद होने लगी। उनकी बदौलत खेती की पैदावार बराबर बढ़ती ही चली गयी। वहाँ लाखों बीघे जमीन गैर आबाद पड़ी हुई थी। परन्तु जानवरों की मदद से चलने वाले हलों की बदौलत उनका आबाद होना असम्भव-सा था। अतएव बहुत-कुछ माथा-पच्ची करने के

बाद एंजिनियरों ने भाफ़ से चलाने वाले बड़े-बड़े हल-समूहों का आविष्कार किया। यह एक प्रकार की कल है। आवश्यकता होने पर इसमें एक ही साथ चौदह-चौदह हल जोड़ दिये जाते हैं। वे सब साथ ही कड़ी से भी कड़ी ज़मीन को गहरी जोतते चले जाते हैं। जितना गहरा जोतना दरकार हो उतना ही गहरा जोतने का प्रबन्ध इन हलो मे है। फ़ालों को ज़रा नीचा-ऊँचा कर देने ही से यह काम आसानी से हो जाता है। इन हलों में ऐसे पुर्ज़े लगे हुए हैं कि हल चाहे जितनी तेजी से चल रहे हों फ़ाल ऊँचे-नीचे किये जा सकने हैं। सामने पत्थर वग़ैरह के टुकड़े आ जाने पर ये हल उन पर टक्कर न खाकर साफ आगे निकल जाते हैं। इस एक हल से एक दिन में 36 एकड़ तक जमीन जोती जा सकती है। इन हलों में ऊपर बैठने की जगह रहती है। जैसे रेल का एंजिन चलाने वाला उस पर आराम से बैठा रहता है उसी तरह इन हलों को चलाने वाला भी उन्ही पर बैठा रहता है। उसे उनके पीछे-पीछे दौड़ना नहीं पड़ता।

खेत जोत जाने के बाद उसको हमवार करने और ढेले तोड़ने के लिये, अब वहाँ सरविन या पहटा फेरने का भी बढ़िया प्रबन्ध हो गया है। पहले वहाँ लकड़ी के काँटेदार पहटे होते थे। उनमे ठीक-ठीक काम न होता था। अब वहाँ वालो ने लोहे का पहटा बना लिया है। उसमें दाँत या दाँतवे होते है। उसे घोड़े चलाते हैं। यदि एक तरफ से घोडा जोता जाता है तो वे दाँतवे सीधे खड़े हो जाते हैं। यदि दूसरी तरफ से जोता जाता है तो वे तिरछे हो जाते है। मतलब यह कि जैसी ज़मीन बनाने की ज़रूरत होती है वैसी ही उससे बना ली जाती है। अमेरिका में एक और तरह का भी पहटा काम में लाया जाता है। उसमें दाँतवों के बदले चक्र लगे रहते हैं। वे बहुत तेज़ होते हैं और बराबर घूमा करते हैं। उससे खेत की मिट्टी खूब महीन और हमवार हो जाती है। उसे फेरने वाला उसी पर सवार रहता है।

इसी तरह की और भी अनेक कलें अमेरिका में ईजाद हुई हैं और रोज़मर्रा काम आती हैं। उनसे बहुत अधिक काम होता है और खर्च तथा मिहनत मे बहुत बचत भी होती है। उन सबके उल्लेख के लिये इस लघु लेख में स्थान कहाँ?

फ़सल तैयार होने पर वह कलों ही से काटी और कलो ही से बाँधी जाती है। 1931 ईसवी तक वहाँ भी हँसुवे ही से फ़सल काटी और हाथों ही की मदद से बाँधी जाती थी। सौ-सौ दो-दो सौ बीघे में बोये गये गेहूँ की फ़सल हँसुवे से काटने में कितना समय लग सकता है, यह बताने की जरूरत नहीं। इस दिक्कत को दूर करने के लिये भी कई तरह की कलें ईजाद हो गयी हैं। पहले उनमें कुछ त्रुटियाँ थीं। अब वे नही रह गयीं। अब तो सैकड़ों बीघे गेहूँ की फ़सल बहुत जल्द कलों से कट जाती है। 1851 ईसवी में कटी हुई फ़सल को तारों से बाँध डालने की मैशीन भी बन गयी, वही अब बाँधने का काम करती है। उससे बाँधे गये गट्ठे खलिहान में खोलकर सुखाये जाते हैं। सूख जाने पर वे माँड़ने वाली मैशीन के सिपुर्द कर दिये जाते हैं। एक आदमी लाँक को कल में डालता जाता है। कल उसकी बालों को अलग और डंठलों को अलग कर देती है। बालों का दाना निकल कर ढेर हो जाता है। तब वह एक पंखेदार मैशीन से साफ़ कर लिया जाता है। इस प्रकार स्वच्छ अनाज अलग हो जाता है और भूसा अलग।

डंठलों को तोड़कर भूसा बनाने की मैशीनें अलग ही हैं। वे सैकड़ों-हज़ारों मन भूसा बहुत आसानी से तैयार कर देती हैं।

संयुक्त देश (अमेरिका) में आलू बहुत पैदा होता है। उसे बोने के लिये भी छोटी-बड़ी कई तरह की मैशीनें काम में लायी जाती है। यहाँ तक कि घास काटने की भी मैशीनें वहाँ काम करती हैं। घास की वहाँ बहुत अधिकता है। अकेले उसकी बिक्री से वहाँ वालों को करोड़ों रुपये की आमदनी होती है। उसके गट्ठे बाँधकर बाहर भेजे जाते है।

भारत के शिक्षित जनों को देखना चाहिये कि कृषि का व्यवसाय कितना लाभदायक है। अनेक कारणों से जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है, यहाँ अमेरिका की जैसी खेती नहीं हो सकती। तथापि जो लोग साधन-सम्पन्न हैं और जिनके पास ज़मीन है उन्हें दूसरों की गुलामी न करके, नये ढंग से खेती करना चाहिये। जब तक पढ़े लिखे भारतवासी इस ओर ध्यान न देंगे या कृषक-मण्डली में कृषि-विषयक शिक्षा का प्रचार न होगा तब तक देश का दारिद्र्य भी दूर न होगा। कृषि और उद्योग-धन्धो ही की बदौलत देश समृद्ध होते हैं, इस बात को न भूलना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि क़ीमती कल ख़रीद करने के लिये रुपया दरकार होता है। वह यहाँ के निर्धन कृषको के पास नहीं। पर साधन और सामर्थ्यवान् जनों के पास तो है। वही क्यो न इस काम को अपने ऊपर लेकर दूसरों के लिये आदर्श बनें? अमेरिका में भी सभी कृषक सब तरह की मैशीनें नहीं रखते। वे सहयोग से काम लेते हैं। किराये पर भी वे मैशीनें लाते है—उसी तरह जैसे यहाँ गन्ना पेरने की मैशीनें छोटे-छोटे कृषक भी किराये पर लाते है। अपने देश मे पंजाब के परलोकवासी सर गंगाराम के काम को देखिये, उन्नत कृषि की बदौलत ही उन्होंने लाखो रुपया पैदा किया और लाखों ख़ैरात कर गये।

['श्रीयुत ग्रामीण' नाम से दिसम्बर, 1927 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'लेखांजलि' में संकलित।]

भाग : चार

कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव ।।

—भर्तृहरि[1]

चार-पाँच सौ वर्ष पहले योरप में ज्योतिष-विद्या के अच्छे विद्वान् एक भी न थे। इस कारण, उस समय की प्रचलित कल्पनाओं के झूठे अथवा सच्चे होने का निर्णय ही कोई न कर सकता था। जो कुछ जिसने सुन रक्खा था, अथवा जो कुछ टालमी और अरिस्टाटल इत्यादि पुराने विद्वान् लिख गये थे, उसे ही सब लोग सत्य समझते थे। लोगों को पहले यह मत था कि पृथ्वी अचल है और ग्रह-उपग्रह सब उसके चारों ओर घूमते हैं। यह कल्पना ठीक न थी।

योरप में सबसे पहले जिसने ज्योतिष-विद्या का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया उसका नाम कोपर्निकस था। प्रशिया देश में, विश्चुला नदी के किनारे, थार्न नामक नगर में, 1472 ईसवी के जनवरी महीने की 19वी तारीख़ को, उसका जन्म हुआ। उसके माता-पिता धनवान् न थे; परन्तु निरे निर्धन भी न थे। उसने क्राको की पाठशाला में वैद्यक, गणित और ज्योतिष का अभ्यास अच्छी तरह किया। जब वह 23 वर्ष का हुआ तब पाठशाला छोड़कर इटली मे आया और रोम नगर में गणित का अध्यापक हो गया। रोम में बहुत वर्षों तक रहकर और विद्या के बल से अपनी कीर्ति को दूर-दूर तक फैलाकर, वह अपनी जन्म-भूमि को लौट गया। वहाँ अपने मामा की सहायता से उसे, गिरजाघर से सम्बन्ध रखने वाली एक नौकरी मिली। कोपर्निकस ने ज्योतिष-विद्या का विचार यहीं मन लगाकर किया। पहले के ज्योतिषियों के सिद्धान्त उसने भ्रम से भरे हुए पाये। इसलिए बड़े ध्यान से ग्रहों की परीक्षा करके उसने यह सिद्धान्त निकाला कि सूर्य बीच में है और पृथ्वी इत्यादि दूसरे ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते है। यही सिद्धान्त ठीक है। कोपर्निकस ने जो पुस्तक इस विषय की लिखी वह 13 वर्षों तक बिना छपी पड़ी रही। उसके मरने के कुछ ही घण्टे पहले उसे उस पुस्तक की छपी हुई एक प्रति देखने को मिली। उसे उसने हाथ से छूकर ही सन्तोष माना और दूसरों के लाभ के लिए उसे

1. **धैर्यवान् पुरुषों की अवहेलना करने पर भी वे अपनी धीरता को नहीं छोड़ते। अग्नि को चाहे कोई जितना नीचा करे, उसकी शिखा सदैव ऊपर ही की ओर जाती है; नीचे की ओर नहीं।**

छोड़कर परलोक की राह ली। रोम में एक धर्म्माधिकारी रहता है। उसे पोप कहते हैं। धर्म्म की बातों में वह सबका गुरु माना जाता है। उस समय पोप को यहाँ तक अधिकार था कि धर्म्म-ग्रन्थों के प्रतिकूल जो मनुष्य एक शब्द भी कहता था उसे कड़ा दण्ड मिलता था। धार्म्मिक लोगों की समझ में पृथ्वी अचल थी; परन्तु कोपर्निकस की पुस्तक में यह बात झूठ सिद्ध की गई थी। इसलिए उसे अपनी पुस्तक के छपाने में बहुत दिन तक संकोच रहा। परन्तु मित्रों के कहने से अपना हृदय कड़ा करके उसने उसे छपा ही दिया। छपने के अनन्तर यदि वह कुछ दिन जीता रहता तो शायद उसे वही दुःख भोगने पड़ते जो गैलीलियो को भोगने पड़े। 70 वर्ष की अवस्था में कोपर्निकस की मृत्यु हुई।

कोपर्निकस के अनन्तर योरप में दूसरा प्रसिद्ध ज्योतिषी गैलीलियो हुआ। उसका जन्म, इटली के पिसा नामक नगर में, 1564 ईसवी में, हुआ। गैलीलियो के बाप की इच्छा थी कि वह वैद्यक पढ़े; परन्तु उसको वह विषय अच्छा नहीं लगा। उसे गणित और पदार्थ-विज्ञान अधिक प्रिय थे। इसलिए उसने यही दो विषय पढ़ना आरम्भ किया। इन विषयों में वह बहुत ही प्रवीण हो गया। उसकी विद्या और बुद्धि से प्रसन्न होकर पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे उस पाठशाला में गणित का अध्यापक नियत किया। कुछ दिनों में गणित और पदार्थ-विज्ञान में गैलीलियो इतना निपुण हो गया कि अरिस्टाटल और टालमी इत्यादि प्राचीन विद्वानों की भूलें वह दिखलाने लगा और अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा उनकी भूलों को सिद्ध करके बतलाने लगा। पुराने विद्वानों के पक्षपातियों को यह बात बहुत बुरी लगी। वे गैलीलियो के शत्रु हो गये और उसे तंग करने लगे। इसलिए गैलीलियो पिसा की पाठशाला को छोड़कर हादुआ को चला गया और 18 वर्ष तक वहाँ की पाठशाला में उसने गणित के अध्यापक का काम किया। इस बीच उसकी विद्या और बुद्धि की यहाँ तक प्रशंसा हुई कि पिसा की पाठशाला के अधिकारियों ने उसे फिर बुला लिया और उसका मासिक वेतन बढ़ाकर उसे वहाँ गणित के अध्यापक के पद पर नियुक्त किया।

गैलीलियो ने अपनी विद्या के बल से सबसे पहले दूरबीन बनाने की युक्ति निकाली। पहले उसने जो दूरबीन बनाई उससे जो पदार्थ देखे जाते थे वे तिगुने बड़े दिखलाई देते थे; परन्तु धीरे-धीरे उसने उसको यहाँ तक सुधारा कि उसके द्वारा देखने से पदार्थ तीस गुने बड़े अथवा तीस गुने निकट दिखलाई पड़ने लगे। इस दूरबीन के द्वारा उसने सूर्य्य, चन्द्रमा और शनैश्चर इत्यादि ग्रहों को देखकर उनके आकार, उनकी चालें और उनकी बनावट के विषय में ज्ञान प्राप्त किया और यह कहकर कोपर्निकस के मत को पुष्ट किया कि पृथ्वी सूर्य्य के चारों ओर घूमती है। पहले पहल जब उसने यह बात प्रकाशित की कि पृथ्वी के समान चन्द्रमा पर भी पर्वत, गड्ढे और ऊँचे-नीचे स्थान हैं तब पुराने विचार के लोग उस पर जल उठे। वे लोग उसको खुल्लमखुल्ला गालियाँ देने लगे और उसका यहाँ तक द्वेष करने लगे कि रोम के प्रधान धर्म्माधिकारी पोप तक से उन्होंने उसकी शिकायत की।

1615 ईसवी में बाइबिल के प्रतिकूल मत प्रचलित करने के इलज़ाम पर पोप ने गैलीलियो पर अभियोग चलाया। उस समय धर्म्म के ग्रन्थों के प्रतिकूल यदि कोई कुछ

भी कहता था तो उसे कड़ा दण्ड मिलता था। इसी बात को ब्रूनो नामक एक विद्वान् जीता ही जला दिया गया था और अण्टोनियो डिडामिनम 6 वर्ष तक कारागार में रह-कर वहीं मर गया था। इन्हीं कारणों से डरकर शायद गैलीलियो ने न्यायाधीश के आज्ञानुसार यह स्वीकार करके अपनी रक्षा की कि पृथ्वी के फिरने के विषय में मेरा मत ठीक नहीं। उससे इस प्रकार स्वीकार कराकर न्यायाधीश ने उसे छोड़ दिया और वह अत्यन्त दु:खित होकर अपने घर लौट आया।

गैलीलियो ने यद्यपि न्यायाधीश के सामने यह कह दिया कि मेरा मत ठीक नहीं; बाइबिल में जो कुछ लिखा है वही ठीक है; तथापि वह ग्रहों के विषय में ज्ञान प्राप्त करता ही रहा। 1623 ईसवी में, रोम में, दूसरा पोप धर्म्माधिकारी हुआ। वह गैलीलियो का मित्र था; इसलिए उसे फिर धीरज आया और उसने एक ऐसी पुस्तक लिखी जिससे यह सिद्ध होता था कि प्राचीन मत की स्थापना करने वाले मूर्ख थे। इस पुस्तक के निकलते ही लोगों ने फिर गैलीलियो की शिकायत पोप से की। इस पोप ने भी जब देखा कि प्राय: देश का देश ही गैलीलियो का विरोधी है तब उसने उसे फिर रोम में बुलाया। इस समय गैलीलियो 70 वर्ष का बुड्ढा हो गया था। पोप ने पहली बार का जैसा अभियोग फिर उस पर चलाया। कई महीने गैलीलियो रोम मे रहा और उसे वहाँ बहुत कष्ट मिला। अन्त में, अत्यन्त दु:खित होकर और बचने का कोई दूसरा उपाय न देखकर, न्यायाधीश की आज्ञा के अनुसार, उसने अपने मुख से इस प्रकार कहा—"यह झूठ है कि पृथ्वी चलती है। मुझसे अपराध हुआ है जो मैने वैसा कहा। मैं क्षमा माँगता हूँ। आज से जो आप कहेंगे उसी पर मैं विश्वास करूँगा। यदि फिर मुझसे ऐसी भूल हो तो आप जो दण्ड चाहें मुझे दें। मैं उसे चुपचाप सहन करूँगा। विवश होकर, यह सब कह चुकने पर गैलीलियो को इतना क्रोध आया और मन ही मन वह इतना जल-भुन गया कि पृथ्वी को लात मारकर उसने धीरे से कहा—"यह अब भी चल रही है।"

कुछ दिनों में गैलीलियो अन्धा हो गया और 78 वर्ष की अवस्था में, 1642 ईसवी की 8वीं जनवरी को, वह परलोक-वासी हुआ। गैलीलियो, अपने समय में, महाविद्वान् और महाज्योतिषी हो गया। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। यदि गैलीलियो न उत्पन्न होता और दूरबीन बनाकर ग्रहों का सच्चा-सच्चा ज्ञान प्राप्त करता तो ज्योतिष-विद्या आज इस दशा को कभी न पहुँचती।

जिस वर्ष गैलीलियो की मृत्यु हुई उसी वर्ष, अर्थात् 1642 ईसवी के दिसम्बर महीने की 25 तारीख को, इंगलैंड मे, न्यूटन का जन्म हुआ। न्यूटन का बाप न्यूटन के लड़कपन ही में मर गया था। इसलिए उसकी माँ ने उसके लिखने-पढ़ने का प्रबन्ध किया। 12 वर्ष की अवस्था में वह ग्रन्थम की पाठशाला मे भरती हुआ। 6 वर्ष तक उसने वहाँ विद्याध्ययन किया। उसके अनन्तर वह केम्ब्रिज से ट्रिनिटी कालेज में पढ़ने लगा। न्यूटन ने 22 वर्ष की अवस्था में बी० ए० की और 25 वर्ष की अवस्था में एम० ए० की परीक्षा पास की। गणित और यन्त्र बनाने की विद्या से उसे बड़ा प्रेम था। पाठशाला में छुट्टी होने पर जब और लड़के खेल-कूद में लग जाते थे तब वह छोटे-छोटे

यन्त्र बनाया करता था। उसने एक छोटी सी पवन-चक्की बनाई थी जो वायु के वेग से आप ही आप चलती थी। उसे देखकर वह मन ही मन बहुत प्रसन्न होता था। उसने लकड़ी की एक घड़ी भी बनाई थी। वह समय बतलाने का पूरा-पूरा काम दे सकती थी। जब वह केम्ब्रिज के विद्यालय में था तभी उसने यह बात सिद्ध करके दिखला दी थी कि प्रकाश की प्रत्येक किरण में सात प्रकार के रंग रहते है। 1672 ईसवी में न्यूटन को ट्रिनिटी कालेज में गणित के अध्यापक का पद मिला। कुछ काल तक वह पार्लियामेण्ट का सभासद भी रहा। उसकी मान-मर्यादा प्रतिदिन बढ़ती ही गई। यद्यपि उसका यश देश-देशान्तर में फैल गया था तथापि धन-सम्बन्धी उसकी दशा अच्छी नहीं थी। इसलिए 1996 ईसवी में सरकार ने उसे टकसाल का अधिकारी बनाया। कुछ दिनों में वहाँ उसका वेतन 1500 रुपये मासिक हो गया। इस पद पर वह अन्त तक बना रहा और अपना काम बड़ी योग्यता से उसने किया। 1705 ईसवी में उसे 'सर' की पदवी मिली। तब से वह सर आइजक न्यूटन कहलाया जाने लगा।

गैलीलियो की बनाई हुई दूरबीन में कई दोष थे। इसलिए न्यूटन ने एक नई दूरबीन बनाकर गैलीलियो की दूरबीन से देखने में जो बाधायें आती थी उनको दूर कर दिया। हमारे यहाँ के प्राचीन ज्योतिषी तो यह जानते थे कि पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है, अर्थात् जड़ पदार्थों को वह अपनी ओर खींच लेती है; परन्तु, न्यूटन के समय तक, योरप में इस बात को कोई न जानता था। एक बार न्यूटन ने अपने बाग़ मे एक सेब को पेड से गिरकर पृथ्वी की ओर आते देखा। उसी समय से वह उसके गिरने का कारण सोचने लगा और अन्त में गुरुत्वाकर्षण के नियम का पता उसने लगाया। इस नियम के जानने से बडा लाभ हुआ; क्योंकि इसी के अनुसार सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा और-और ग्रह अपनी-अपनी कक्षाओं पर घूमते हैं।

1726 ईसवी में, 84 वर्ष का होकर, न्यूटन परलोकवासी हुआ। उसने अपनी सारी अवस्था गणित-विद्या की किताबें लिखने और विज्ञान-सम्बन्धी नई-नई बातें जानने में बिताई।

न्यूटन बहुत सवेरे उठता था और अपना सारा काम समय पर करता था। उसको क्रोध छू तक नहीं गया था। वर्षों के परिश्रम से लिखे गये उसके काग़ज, एक बार उसके डायमंड नामक कुत्ते ने, मेज़ पर मोमबत्ती गिराकर, जला दिये। परन्तु उसने इतनी हानि होने पर भी क्रोध नहीं किया; केवल इतना ही कहा कि "डायमंड ! तू नहीं जानता, तूने मेरी कितनी हानि की है।" न्यूटन यदि इंगलैंड में न उत्पन्न होता तो शायद गैलीलियो की ऐसी विपत्ति उसे भी भोगनी पड़ती। वह बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी, गणित-शास्त्र का ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी हो गया। जहाँ उसका शरीर गड़ा है वहाँ पत्थर के ऊपर एक लेख खुदा हुआ है। उसका सारांश यह है—"यहाँ सर आइजक न्यूटन का शरीर रक्खा है। इस विद्वान् ने अपनी विद्या के बल से ग्रहों की चाल और उसके आकार का पता लगाया; ज्वार-भाटा होने का कारण खोज निकाला; और प्रकाश की किरणों में रंगों के उत्पन्न होने का कारण जाना।" इतना विद्वान् होने पर भी,

मरने के समय, उसने कहा कि "मैंने कुछ नहीं किया। मैं समुद्र के किनारे एक लड़के के समान खेलता सा रहा। समुद्र में अनेक प्रकार के रत्न भरे रहे; परन्तु दो-एक कंकड़-पत्थर अथवा सीपियों को छोड़कर और कुछ मेरे हाथ न आया।" अर्थात् ज्ञानरूपी समुद्र में से केवल दो-एक बूंद मुझे मिले; अधिक नहीं। सत्य है; विद्या की शोभा नम्रता दिखाने ही में है।

[अप्रैल, 1903 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'विदेशी विद्वान' पुस्तक में संकलित।]

कुमारी एफ० पी० कॉब

इनका पूरा नाम फ्रान्सिस पावर कॉब है। ये आजन्म कुमारी हैं। इन्होंने अपना विवाह नहीं किया। इनकी उम्र इस समय 80 वर्ष की है। विद्या, दया, सुशीलता और समाज-संशोधन में, इनके समान, इस समय, शायद ही कोई दूसरी स्त्री हो। बड़े-बड़े विद्वान्, विज्ञानी, अधिकारी और राजा-महाराजा तक इनका आदर करते हैं।

कुमारी कॉब का जन्म आयरलैंड में, डब्लिन के पास, न्यूब्रिज नामक शहर में, 1829 ईसवी में, हुआ। पहले ये अपने ही शहर की पाठशाला में पढ़ती रहीं। फिर इनके पिता ने इनको लन्दन भेज दिया। वहाँ ये 1833 ईसवी में आईं और एक प्रसिद्ध पाठशाला में विद्याभ्यास करने लगीं। इनके पिता धनी थे। वे इनको लन्दन में कोई पाँच हज़ार रुपये साल पढ़ने के लिए देते थे। वहाँ अच्छी तरह पढ़-लिखकर कुमारी कॉब अपने घर लौट गईं। घर पर इन्होंने इतिहास, ग्रीक भाषा और प्राचीन काव्यों को बहुत मन लगाकर पढ़ा। इससे इनको बड़ा लाभ हुआ। अनेक विषयों का ज्ञान इनको हो गया और इनकी मानसिक शक्तियाँ भी बहुत बढ़ गईं।

कुमारी कॉब पहले-पहल धार्म्मिक विषयों की ओर अधिक मन लगाती थीं। कुछ दिनों में उनको यह संशय हुआ कि ईश्वर है अथवा नहीं। परन्तु पीछे से उनका यह संशय जाता रहा। वे एकेश्वर-वादिनी हो गईं और अब तक वैसी ही हैं।

जब इनके पिता का देहान्त हुआ तब इनकी उम्र तीस वर्ष के ऊपर थी। पिता की सम्पत्ति से कोई दो हजार रुपये साल की प्राप्ति इनको थी। उसी पर अपना जीवन निर्वाह करके ये परोपकार में प्रवृत्त हुईं। पहले-पहल इन्होंने विलायत के उन स्कूलों की सहायता की जिनको 'रैगेड' स्कूल कहते हैं। उनमें ग़रीब आदमियों ही के लड़के पढ़ते हैं। कॉब ने इन स्कूलों में अनेक सुधार करके इनमें पढ़नेवाले लड़कों को बहुत लाभ पहुँचाया। इसके अनन्तर उन्होंने वहाँ के अनाथालयों की ओर दृष्टि दी। जो लोग काम करने में असमर्थ थे वे भी अनाथालयों में रक्खे जाते थे और जो काम कर सकते थे वे भी रक्खे जाते थे। जो लोग काम कर सकते थे उनसे काम भी लिया जाता था। वहाँ के अनाथ स्त्री-पुरुष और लँगड़े-लूले मनुष्यों की बड़ी दुर्दशा होती थी। उस दुर्दशा को कुमारी कॉब ने दिन रात परिश्रम करके बहुत कुछ कम कर दिया। इस काम के लिए उन्होंने व्याख्यान देकर, पुस्तकें लिखकर, अख़बारों में लेख लिख कर और चन्दा करके रुपया इकट्ठा किया। उस रुपये से उन्होंने इन अनाथालयों की दशा बहुत कुछ सुधारी।

ये काम करके कुमारी कॉब ने स्त्रियों की उन्नति के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। पारलियामेंट में सभासद होनेवालों को जिस प्रकार पुरुष अपना मत देते हैं उसी प्रकार स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार प्राप्त करने के लिए इन्होंने बहुत परिश्रम किया है।

यद्यपि इस काम में अभी तक इनको सफलता नहीं[1] हुई, तथापि ये निराश नहीं हुईं। इनका उद्योग, इस विषय में, बराबर जारी है।

विलायत में जो लोग अपनी स्त्रियों को निर्दयता से मारते-पीटते थे और उन्हें नाना प्रकार के दुःख देते थे उनसे विवाह-सम्बन्ध तोड़ने का अधिकार स्त्रियों को पहले न था। इससे उन स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती थी। परन्तु कुमारी कॉब के उद्योग से पारलियामेंट ने अब यह नियम कर दिया है कि ऐसी स्त्रियाँ अपने पतियों से अलग हो सकती है। अतएव हर साल सैकड़ों सुशील स्त्रियाँ अपने मद्यप, दुर्व्यसनी और दुष्ट पतियों के हाथ से छूट कर नीति-मार्ग का अवलम्बन करते हुए अपना समय बिताती हैं।

कुमारी कॉब का मत है कि गृहस्थाश्रम में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की योग्यता अधिक है। घर को घर बनाना—अर्थात् उसे प्रेम, विश्राम और आनन्द का मन्दिर बनाना—स्त्रियो ही का काम है। पुरुष बड़ी बड़ी लड़ाइयो में वीरता दिखा सकते हैं, बड़े बड़े व्याख्यान दे सकते हैं; बड़े बड़े नगर और क़िले बना सकते है; परन्तु वे घर को सुख और समाधान का स्थान नही बना सकते। यह काम स्त्रियो ही का है। इन्होंने इस बात का भी पहले-पहल उद्योग किया कि विश्वविद्यालय में स्त्रियों को भी सब प्रकार की उच्च शिक्षा दी जाय; और, परीक्षाओं में पास होने पर, पुरुषों के से प्रशंसापत्र आदि भी उन्हें दिये जायँ।

कॉब ने पशुओं को भी अपनी दया का अधिकारी बनाया है। जीवधारियों को सताना वे पाप समझती है। विज्ञान-सम्बन्धिनी जाँच करने के लिए भी पशुओं का मारा जाना उनको असह्य है। पशु-हिंसा के प्रतिकूल उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। वे चाहती हैं कि पशुओ का जीतेजी छिन्न-भिन्न किया जाना एकदम बन्द हो जाय। इस एक ही विषय पर उन्होंने निबन्ध और पुस्तकें लिखी है। उन सब की गिनती 200 के लगभग है।

बड़े बड़े विद्वानों और अधिकारियो से इनका परिचय है। जान स्टुअर्ट मिल, कार्लाइल, टेनिसन और डार्विन इत्यादि प्रख्यात पुरुष इनसे विशेष परिचित थे। लिखने और व्याख्यान देने में ये बडी पटु है। इन्होंने अपनी लेखनी के बल से कोई एक लाख रुपया पैदा किया है। इनकी दया, उदारता और देशसेवा पर मुग्ध होकर लिवरपूल की एक धनवती स्त्री ने, मरने के पहले, अपनी सारी सम्पत्ति इनको दे दी। अपनी निज की पैदा की हुई तथा इस उदार स्त्रीरत्न की सम्पत्ति से इन्होंने स्त्रियो की उन्नति के सम्बन्ध में ऐसे ऐसे काम किये है जिनका विचार करके लोग सहस्रमुख से उनकी प्रशंसा करते है।

कुमारी कॉब ने छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें लिखी है। विलायत में गवर्नमेंट का जो सबसे बड़ा पुस्तकालय है उसके लम्बे-चौड़े सूचीपत्र का एक पन्ना का पन्ना इनकी पुस्तकों की नामावली से भरा हुआ है।

योरप और अमेरिका के प्रायः सभी प्रसिद्ध पुरुष इनको जानते है। उन सब से

1. अब स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया है। 1919

इनका पत्र-व्यवहार रहता है। अकेले लार्ड शैफ्ट्सबरी के कोई तीन सौ पत्र इनके पास, दस वर्षों में, आये हैं।

4 दिसम्बर 1902 को कुमारी कॉव की बरस-गाँठ थी। 80 वर्ष की होकर उस दिन उन्होंने 81वें वर्ष में प्रवेश किया था। इस अवसर पर योरप और अमेरिका के लोकमान्य पुरुषों ने मिलकर उनको एक अभिनन्दन-पत्र दिया। इस अभिनन्दन-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में से अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेंट—सभापति—क्लीवलैंड के समान बड़े बड़े प्रख्यात पुरुष हैं। इस पत्र में कुमारी कॉब के गुणों का वर्णन करके उनकी स्तुति की गई है और सर्व-साधारण के लिए उन्होंने जो जो उपकार किये हैं उनके कारण कृतज्ञता भी प्रकट की गई है।

कुमारी कॉब स्त्रियों में देवी के समान है। यद्यपि वे इस समय बहुत वृद्ध हैं, तथापि लोक-कल्याण के लिए वे अब तक प्रयत्न करती जाती हैं। इस अवस्था में भी वे अपना समय वृथा नही खोतीं।

[जुलाई, 1903 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'वनिता-विलास' पुस्तक में संकलित।]

ऐनी कैथराइन लायड

कई महीने हुए इस पुण्यात्मा नारी की मृत्यु, काशी में, हो गई । काशी में जो हिन्दू-कालेज है उसका एक बोर्डिंग-हाउस अर्थात् छात्रालय भी है । उस छात्रालय से इनका बहुत ही घना सम्बन्ध था । लड़कों से वे इतना प्रेम रखती थी और उनके अध्ययन, उन्नति और आराम का उनको इतना ख़याल था कि बोर्डिंग-हाउस के विद्यार्थी उनको माता के समान समझते थे । इसलिए वे उनको 'बोर्डिंग-हाउस की माता' कहने लगे थे ।

श्रीमती ऐनी ब्यसन्ट ने इस पवित्रकीर्ति विदुषी का एक छोटा-सा सचित्र जीवनचरित हिन्दू-कालेज मैगेज़ीन में प्रकाशित किया है । उसी का आशय हम आपको सुनाते हैं ।

विवाह के पहले श्रीमती लायड का नाम ऐनी कैथराइन जोन्स था । इनके पिता इंगलैंड के विंच्यस्टर नगर के स्कूल के हेड-मास्टर थे । उन्होंने इनको बहुत अच्छी शिक्षा दी । वे वनस्पतिशास्त्र के प्रख्यात ज्ञाता थे । उन्होंने इस विषय की अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं । इन पुस्तकों में जो चित्र हैं वे उनकी कन्या ऐसी कैथराइन ही ने बनाये है । बहुत ही छोटी उम्र में इन्होंने चित्र बनाना सीखा था । इनके चित्रों से अनेक पुस्तकें अलङ्कृत हुई हैं । इस विद्या से इनको बड़ा ही अनुराग था । इसी विद्या ने पीछे से इनको इनके जीवन-निर्वाह में बहुत कुछ सहायता दी ।

यथासमय इनका विवाह लायड नामक एक पादरी के साथ हुआ । विवाह के अनन्तर अपने पति के यहाँ बहुत वर्षों तक इन्होंने अनेक उपयोगी काम किये । 1889 ईसवी में मैडम ब्लेवेट्स्की से इनकी भेंट हुई । तब से ये थियासफ़िस्ट हो गईं । कुछ दिनों में मैडम महाशया ने, लन्दन नगर में, मज़दूर लड़कियों का एक क्लब (समाज) स्थापित किया । ये उसकी अधिष्ठात्री नियत हुई । जो लड़कियाँ दियासलाई और रबर आदि के कारख़ानो में काम करती थी उन्हीं के लिए यह क्लब था । शारीरिक और मानसिक व्यथाओं से पीड़ित होकर भी श्रीमती ऐनी लायड ने इन लड़कियों की दशा, इस क्लब द्वारा, बहुत कुछ सुधारी । जिनकी कोई परवा न करता था, ऐसी इन निर्धन लड़कियों को इन्होंने अनेक प्रकार से आराम पहुँचाया । ये उनके साथ काम करती थीं; उनको पुस्तकें पढ़कर सुनाती थीं; उनको गाना सुनाती थीं; उनको तरह तरह के व्यायाम सिखलाती थीं; और अनेक प्रकार के हितोपदेश से उनकी आत्मोन्नति करती थीं । इस प्रकार कुछ ही दिनों में ये उन लड़कियों की दृष्टि में देवी के तुल्य हो गईं ।

1894 ईसवी में ऐनी कैथराइन लड़कियों के एक प्रसिद्ध स्कूल की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए लंका गईं । परन्तु वहाँ का जल-वायु उनके लिए हितकारी न सिद्ध हुआ । इससे कई महीने बाद वे योरप को लौट गईं । परन्तु लंका से वे मदरास आईं और वहाँ से काशी होकर तब वे लन्दन को लौटीं ।

कुछ काल के अनन्तर श्रीमती लायड इटली की राजधानी रोम नगर को गईं। वहाँ थियासफ़िक सोसाइटी के पुस्तकालय की वे अध्यक्ष हुईं। उनके उद्योग से थोड़े ही दिनों में अनेक इटली-निवासी थियासफ़ी मत को मानने लगे। वहाँ उन्होंने 'रोम-लाज' नामक थियासफ़ी-सम्बन्धी एक मन्दिर बनवाया। रोम से वे फ्लोरेन्स गईं और फ्लारेन्स से नेपल्स। इन नगरों में भी उन्होंने थियासफ़ी का बहुत कुछ प्रचार किया।

1900 में वे काशी आईं और हिन्दू-सेंट्रल कालेज के बोर्डिंग-हाउस के काम-काज में सहायता देने लगीं। यद्यपि आँखों से उन्हें, दिन पर दिन, कम दिखाई देने लगा था और यद्यपि उनका शरीर भी स्वस्थ न रहता था, तथापि अपना काम उन्होंने बड़ी ही मुस्तैदी से करना आरम्भ किया। लड़कों के सब काम-काज वे स्वयं देखने भालने लगीं। इसका फल यह हुआ कि लड़के उनको बहुत प्यार करने लगे। लड़कों को अँगरेज़ी पढ़ने में वे प्रति दिन सहायता देती थी। कोई काम उनके लिए ऐसा न था जो लड़कों को सहायता देने और उत्साहित करने के लिए वे न कर सकती हों। सुबह और शाम, रोज़, जब वे बोर्डिंग-हाउस में आती थीं तब अनेक नकोरम-मूर्ति लड़के उनको घेर लेते थे। सचमुच ही वे उनकी माता थीं।

इस पवित्रात्मा विदुषी ने, काशी में, जाह्नवी के तट पर, अभी कुछ ही दिन हुए, परलोक का मार्ग लिया। उनकी आत्मा परलोक को गई; उनका शरीर अग्नि ने ले लिया; और उनका पवित्र यश तथा नाम उनके हृदय में जा रहा जिनकी वे प्रीति-पात्र थी।

[नवम्बर, 1903 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'वनिता-विलास' में संकलित।]

फारसी कवि हाफ़िज

हाफ़िज़ फ़ारसी का बहुत बड़ा कवि हो गया है। उसे फारसी के कवियों का बादशाह कहना चाहिए। गुलिस्ताँ और बोस्ताँ के लिखने वाले शेख़सादी से भी, कविता में, उसकी बराबरी नहीं की जा सकती। कविता से जहाँ तक संबंध है, हाफ़िज़ को फ़ारसी का कालिदास कहना चाहिए। हाफ़िज़ में कवित्व-शक्ति अपूर्व थी। वह स्वाभाविक कवि था। उसकी उक्तियाँ ऐसी भावगर्भित और ऐसी नैसर्गिक है कि पढ़ते ही हृदय पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। प्रेम, पूज्यभाव और आतंक—सभी यथास्थान मन में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते। ऐसे गंभीर भाव, ऐसी हृदयद्रावक उक्तियाँ सरल होकर भी ऐसी परिमार्जित भाषा, फ़ारसी में, हाफ़िज के 'दीवान' में ही मिल सकती है, अन्यत्र बहुत कम। परंतु ऐसे महाकवि के जीवन का बहुत ही कम वृत्तांत जाना गया है।

हाफ़िज़ का नाम मुहम्मद शम्सउद्दीन है। हाफ़िज उसका तख़ल्लुस था। अपने दीवान में उसने इस तख़ल्लुस का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है। इसीलिये वह अपने मुख्य नाम से प्रसिद्ध नहीं, तख़ल्लुस से ही प्रसिद्ध है। हाफ़िज़ के माता-पिता अच्छी दशा में थे; परंतु हाफ़िज़ ने दरिद्रावस्था ही में अपनी उम्र बिताई। यह बात उसकी कविता से सूचित होती है। वह फ़ारसी के शीराज नगर में, ईसा की चौदहवी सदी के आरंभ में उत्पन्न हुआ और वही बुड्ढा होकर मरा। यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस सन्, किस महीने, और किस तारीख़ को उसका जन्म हुआ, परंतु उसके मरने का समय निश्चय-पूर्वक ज्ञात है। शीराज़ में उसकी जो क़ब्र है, उस पर 791 हिजरी, अर्थात् 1373 ईसवी, खुदा हुआ है। उस पर एक शायर ने उसके मरने की तारीख़ भी यह लिखी है—

चिराग़े अहले मानी ख्वाज: हाफ़िज़
कि शमए बूद अज़ नूरे तजल्ला
चु दर ख़ाके मुसल्ला याफ्त मज़िल
बिजो तारीख़श अज ख़ाके मुसल्ला

अर्थात् अर्थवेत्ताओं के दीपक ख़्वाजा हाफ़िज़ ने, जो कि ख़ुदा के तेज की मशआल था, ख़ाके मुसल्ला (ईदगाह या नमाज़ पढ़ने की जगह) में स्थिति पाई। उसकी तारीख़ ख़ाके मुसल्ला में ढूंढ़ो (ख़ाके मुसल्ला के अंक, अबजद के क़ायदे से, 791 होते हैं), इससे स्पष्ट है कि हाफ़िज़ को मरे कोई 530 वर्ष हुए। परंतु उसे मरा क्यो कहना चाहिए। जब तक फ़ारसी भाषा का अस्तित्व है और जब तक हाफ़िज़ का अलौकिक कवित्व उसके दीवान में विद्यमान है, तब तक वह मृत नहीं; जीवित है। जिसका यश:शरीर बना है, पार्थिव शरीर के नाश हो जाने से कोई क्षति नहीं।

हाफ़िज़ को अपनी जन्म-भूमि शीराज़ से बड़ा स्नेह था। उसने उसकी बहुत प्रशंसा की है। उसे एकांतवास अधिक पसंद था। साहित्य-प्रेम उसमें विलक्षण था। एकांत में पुस्तकावलोकन और कविता-निर्म्माण में ही वह अधिकतर अपना समय व्यतीत करता था। शीराज, यज्द, किरमान और इस्फ़हान के अधिकारी—शाह शुजा और शाह मंसूर का वह विशेष कृपा-पात्र था। 1393 ईसवी में तैमूर ने शीराज़ पर चढ़ाई करके उसे अपने अधिकार में कर लिया। इस लड़ाई में हाफ़िज़ के पृष्ठ-पोषक पूर्वोक्त शाहद्वय की हार हुई। उस समय, सुनते है, हाफ़िज़ शीराज ही में था। हाफ़िज़ ने, एक पद्य में, अपने बहुत प्यारे शीराज़ी तुर्क के कपोल के ऊपर के तिल के लिए समरकंद और बुख़ारा नाम के दो प्रसिद्ध शहर दे डालने की उक्ति कही थी। वह पद्य ऐसा है—

अक्षरांतर

अगर आँ तुर्क शीराज़ी बदस्त आरद दिले मारा।
बखाले हिंदवश बख्शम् समरकंदों बुख़ारा रा॥

ये दोनों शहर तैमूर के थे। तैमूर ने हाफ़िज़ का यह पद्य पढ़ा था। अतएव उसने हाफ़िज़ को अपने सम्मुख लाए जाने का हुक्म दिया। हाफ़िज़ लाया गया। उसे देखकर तैमूर ने पूछा—"क्या तू वही शख़्स है, जिसने मेरे दो मशहूर शहर एक तुर्क के तिल पर दे डालने का साहस किया है?" हाफ़िज ने इस प्रश्न का उत्तर बड़ी ही नम्रता से दिया। उसने कहा—"जहाँपनाह! ऐसी ही उदारताओं ने तो मुझे इस दरिद्रावस्था को पहुँचा दिया कि इस समय मैं आपकी दया का भिखारी होने आया हूँ।" यह उत्तर सुनकर हाफ़िज़ की प्रत्युत्पन्न-मति पर तैमूर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे पारितोषिक देकर सम्मानपूर्वक विदा किया। यह बात कहाँ तक सच है, नहीं कह सकते; क्योंकि तैमूर के द्वारा शीराज़ लिए जाने के पहले ही हाफ़िज़ की मृत्यु हो चुकी थी।

थोड़ी ही उम्र से हाफ़िज़ ने कविता और दर्शन-शास्त्र में अभ्यास आरंभ किया और शीघ्र ही इन शास्त्रों में वह पारदर्शी हो गया। शेख़ मुहम्मद अत्तार नाम के प्रसिद्ध फ़क़ीर से उसने दर्शन-शास्त्र सीखा। कुछ दिनों में हाफिज़ भी इन शेख़ साहब का अनुयायी हो गया। उस पर शाह के वज़ीर हाज़ी क़यामुद्दीन की बड़ी कृपा थी। उसने विशेष करके हाफ़िज़ ही के लिये एक कॉलेज खोला। उस कॉलेज में हाफ़िज़ क़ुरान पढ़ाने पर मुक़र्रर हुआ। परंतु हाफ़िज़ का स्वभाव बहुत ही उच्छृंखल था। वह मद्यप भी था। उसे बाहरी दिखावा बिलकुल पसंद न था। वह कहता था कि अमीर ग़रीब दोनों का ईश्वर एक ही है। उसके लिये मसजिद, मंदिर और गिरजाघर तुल्य थे। इसलिये उसके साथी अध्यापकों तथा और-और विद्वानों ने भी हाफ़िज़ के आचरण पर कटाक्ष करना आरंभ किया। हाफ़िज़ से भी मौन नहीं रहा गया। उसने भी अपनी कविता में उन लोगों की खूब दिल्लगी उड़ाई और उनकी अंध-धर्म-भीरुता, उनके दांभिक आचरण और उनके मिथ्या विश्वासों पर, मौक़ा हाथ आते ही, बड़े ही मर्म-भेदी व्यंग्य कहे। हाफ़िज़ को लोग कुछ-कुछ नास्तिक समझते थे। और-और बातों के सिवा इसका एक कारण यह

भी था कि हाफ़िज़ ने मंसूर नाम के पहुँचे हुए फ़क़ीर की प्रशंसा में कविता की थी। यह फ़क़ीर अपने को 'अनल-हक़' (अहं ब्रह्मास्मि) कहता था। बड़ी दुर्दशा करके उसे फाँसी दी गई थी; परंतु अंत तक वह 'अनल-हक़' ही कहता रहा।

हाफ़िज़ की कीर्ति बहुत शीघ्र देश-देशांतरों में फैल गई। उसकी मनोमोहिनी कविता का रस-पान करके लोग मत्त होने लगे। अनेक शक्तिशाली बादशाहों और अमीरों ने उसे अच्छे-अच्छे पारितोषिक भेजे। किसी-किसी ने हाफ़िज़ को बड़े प्रेम से अपने यहाँ आने का आवाहन किया। सुनते है, दक्षिण में, बीजापुर के बादशाह महमूदशाह बहमनी ने भी हाफ़िज़ को अपने यहाँ, इस देश में, पधारने के लिये आमंत्रण के साथ जहाज़ भेजा था। इस आमंत्रण को हाफ़िज़ ने स्वीकार भी कर लिया था। यहाँ तक कि हिंदोस्तान को आने के लिए वह शीराज़ से चल भी दिया; परंतु सामुद्रिक सफ़र में उसे कुछ कष्ट हुआ। इसलिए कुछ दूर आकर वह शीराज़ को लौट गया। उस समय बंगाल के मुसलमान सूबेदार ने भी, सुनते है, उसे बुलाया था; परंतु उसने आदर-पूर्वक इस निमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। यज्द के अधिकारी यहिया इब्न मुज़फ़्फ़र के बहुत कहने-सुनने पर, एक बार हाफ़िज़ उसके यहाँ गया। पर वहाँ जाने से उसे प्रसन्नता न हुई। थोड़े ही दिनो में वह शीराज़ लौट आया और फिर कभी उसने उस शहर को नहीं छोड़ा। जब तक वह यज्द में था, शीराज़ को लौटने के लिये वह बहुत ही उत्सुक था।

हाफ़िज के गृहस्थाश्रम-जीवन के विषय मे बहुत ही कम बातें ज्ञात है। उसने एक कविता में अपनी स्त्री की और दूसरी में अपने अविवाहित पुत्र की मृत्यु का कारुणिक उल्लेख किया है। यह भी सुना जाता है कि शाख़े-नबात (इक्षुलता या मिश्री की क़लम) नामक एक सु-स्वरूपा रमणी पर हाफ़िज़ अनुरक्त था। उसकी बहुत-सी शृंगारिक कविता उसी को लक्ष्य करके लिखी गई है।

हाफ़िज़ के दीवान को कहीं भी मनमानी जगह पर खोलकर लोग शुभाशुभ प्रश्न देखते है और वहाँ पर निकले हुए पद्य या पूरी ग़ज़ल के भावार्थ से प्रश्न का अर्थ निकालते हैं। ऐसा करने से पहले लोग एक मिसरा पढते है, जिसमें हाफ़िज़ को यथार्थ बात बतलाने के लिए शाख़े-नबात की क़सम दिलाई गई है। वह मिसरा यह है—

क़समे शाख़े नबातस्त तुरा ऐ हाफ़िज़।
फ़ाले मा रास्त बिगोता शबदम बा तो यक़ीं॥

इससे भी हाफ़िज और शाख़े-नबात का संबंध सूचित होता है। सुनते हैं, नादिरशाह को दीवाने-हाफ़िज़ पर इतना विश्वास था कि बिना उसके द्वारा शुभाशुभ का विचार किए वह कोई चढ़ाई या लड़ाई न करता था।

हाफ़िज़ शिया-संप्रदाय का मुसलमान था। वह हदीस अर्थात् मुहम्मद साहब की निज की कही हुई बातों पर विश्वास न रखता था। उसने अपनी कविता में ऐसी-ऐसी बातें भी कही हैं, जिनको धार्म्मिक मुसलमान अनुचित और धर्म्म-विरुद्ध समझते है। इन कारणो से जब हाफ़िज़ की मृत्यु हुई, तब शीराज़ के धर्म्माचार्य्यों में इस बात का विवाद उठा कि हाफ़िज़ का शव मुसलमानी नियमों के अनुसार उचित स्थान में समाधिस्थ किया

जाना चाहिए अथवा नहीं । इसका फ़ैसला हाफ़िज़ ही के दीवान पर रक्खा गया । यह निश्चय हुआ कि इस पुस्तक का कोई पन्ना सहसा खोला जाय और वहाँ जो कुछ निकले, उसी के अनुसार काम किया जाय । निदान उन लोगों ने ऐसा ही किया । हाफिज़ के दीवान का जो भाग खोला गया, उसमें लिखा था—"हाफ़िज़ के जनाज़े (रथी) से अपना पैर पीछे मत हटाओ; क्योंकि, यद्यपि, वह पापों में डूबा हुआ है, तथापि वह विहिश्त में अवश्य दाख़िल कर लिया जायगा ।" अतएव वह मुसलमानों के नियमानुसार यथाविधि समाधिस्थ किया गया । हाफ़िज़ के समाधि-स्तंभ पर उसी के कहे हुए दो पद्य खुदे है और वही उसका दीवान रक्खा रहता है । उसकी समाधि के दर्शन के लिये लोग दूर-दूर से आते हैं और समाधि पर वे जो सामग्री चढ़ाते है, उससे वहाँ रहने वाले दरवेशों (फ़कीरों) का अच्छी तरह जीवन-निर्वाह होता है । ये दरवेश दीवाने-हाफ़िज़ से अच्छी-अच्छी उक्तियाँ सुनाकर यात्रियो को प्रसन्न करते हैं । जिस जगह हाफ़िज़ की समाधि है, उसका नाम खाके-मुसल्ला है ।

हाफ़िज़ ने यद्यपि और कई छोटी-छोटी किताबें लिखी हैं, परन्तु उसका दीवान सबसे अधिक प्रसिद्ध है । वह हाफ़िज़ की कही हुई उत्तमोत्तम ग़ज़लो का संग्रह है । प्रत्येक ग़ज़ल में पाँच से लेकर सोलह तक बैंत है । प्रायः प्रत्येक अंतिम बैंत में हाफ़िज़ ने अपना नाम दिया है । हाफ़िज़ की ग़ज़लें वर्णक्रमानुसार रक्खी गई है । इससे यह नही जाना जाना कि कौन ग़ज़ल पहले और कौन पीछे बनी है ।

हाफ़िज़ की कविता के विषय में बहुत मत-भेद हैं । कोई-कोई कहते हैं कि उसमें केवल पार्थिव प्रेम और लौकिक बातो का वर्णन है । परंतु कोई-कोई इसके प्रतिकूल मत देते हैं । वे कहते हैं कि हाफ़िज़ ने जो कुछ कहा है, सब अलौकिक और अपार्थिव विषय में कहा है—अर्थात् उसकी कविता केवल हक़्क़ानी है; वह केवल ईश्वर-विषयक है । यह मत सूफ़ी संप्रदाय के मुसलमानों का है । वे हाफ़िज़ की कविता को ईश्वर पर घटाते और कहते हैं कि उसका यथार्थ भाव समझने की कुजी केवल उन्हीं के पास है । परंतु जिन्होंने हाफ़िज़ की कविता का बहुत कुछ विचार किया है और चिरकाल तक उसके परिशीलन में निमग्न रहे हैं, उनका कथन है कि उसमें पार्थिव विषय भी है और अपार्थिव भी । उसका सृष्टि-सौंदर्य-वर्णन, उसकी मनोमोहिनी शृंगारिक उक्तियाँ और मद्य-प्राशन-विषयक उसके विलक्षण कथन आदि का विचार करके विद्वानो का मत है कि इन सब बातों को हाफ़िज़ ने ईश्वर को लक्ष्य करके नही कहा । इन बातो का साधुता अर्थात् फ़क़ीरी से बहुत कम संबंध है ।

हाफ़िज़ की कविता स्वाभाविक है । उसकी कल्पना-शक्ति बहुत उद्दंड है । उसकी किसी-किसी कल्पना को सुनकर हृदय में आतंक-सा उत्पन्न हो जाता है । उसने कोई-कोई बात बहुत ही अद्भुत कही है । उसके दीवान की कई आवृत्तियाँ बर्लिन, लंदन और पेरिस में छपी हैं । उसकी कविता के अनुवाद भी विदेशी भाषाओं में हो गए हैं । सर विलियम जोंस और अध्यापक कावेल, यमरसन और डि हर बेलाट आदि ने उस पर बहुत कुछ लिखा है । बंबई के श्रीयुत के० एम्० जौहरी एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने भी दीवाने-हाफ़िज़ का अनुवाद अँगरेजी में किया है । फ़ारिस में हाफ़िज़ की कविता का

इतना अधिक प्रचार है कि वहाँ के पढ़े-लिखे सामाजिक मनुष्यों को वह कंठ रहती है। ग़रीब और अमीर सभी उसकी कविता का आदर करते हैं। फ़ारिस के रेगिस्तान में दूर-दूर तक सफ़र करने वाले, खच्चरों और ऊँटों के क़ाफ़िले वाले, हाफ़िज़ की ग़ज़लों को बड़े प्रेम से गाते हैं और ऐसा करके मार्ग का श्रम परिहार करते हैं। हाफ़िज़ फ़ारिस का सबसे अधिक प्यारा और प्रसिद्ध कवि है।

फ़ारिस के विद्वान् समालोचकों का मत है कि हाफ़िज़ की कविता निकम्मी—दूषित—ठहराई जा सकती है, परंतु उसकी तुलना और किसी कविता से नहीं की जा सकती। उसकी कविता अनन्वयालंकार का सच्चा उदाहरण है। उसकी समता उसी से हो सकती है और किसी से नहीं। वह वही है। हाफ़िज़ ने जो कुछ कहा है, नया ही कहा है। उसकी उक्तियों में उच्छिष्टता नहीं। उसमें दोष हो सकते हैं, परंतु वैसे दोष उसी में पाये जा सकेंगे, और, कहीं नहीं। उसकी कविता में जो रमणीयता है, वह उसी में है। उसे अन्यत्र ढूंढ़ना व्यर्थ है।

हाफ़िज़ के बराबर प्रतिभाशाली कवि होना दुर्लभ है। उसके समान ललित और मधुर-भाषी रसिक कवि, संस्कृत को छोड़कर, और भाषाओं में नहीं पाया जाता। हाफ़िज़ की कविता का आनंद, उसके दीवान को फ़ारसी ही में पढ़ने से, अच्छी तरह आ सकता है। अनुवाद में वह रस नहीं आता। हाफ़िज को, पंडितराज जगन्नाथराय की तरह, अपनी कविता का गर्व भी था। उसने कई जगह, इस विषय में, गर्वोक्तियाँ कही हैं—ये गर्वोक्तियाँ चाहे सचमुच ही अभिमान-जन्य हों और चाहे यों ही स्वाभाविक रीति पर उसके मुँह से निकल गई हों। पर उसके मुँह से उसकी गर्वोक्तियाँ भी अच्छी लगती हैं। वह उसी प्रकार निकली हैं, जैसे फूलों से मकरंद टपकता है अथवा इक्षु से रस निकलता है।

यहाँ पर, हम, हाफिज की रसवती कविता के दो-चार नमूने देना चाहते हैं और साथ ही मुंशी नानकचंदजी का किया हुआ पद्यात्मक अनुवाद भी हम प्रकाशित करते हैं—

(1)

सबा अगर गुज़रे उफ्तदत् बकिश्वरे दोस्त।
बियार नफ़हए अज़ गेसुए मुअंबरे दोस्त।।

अनुवाद

पवन मीत जो कभी जाय तू मेरे प्राणप्यारे के देश।
उसके केश सुगंधित से कुछ ले आना सुगंध का लेश।।

(2)

बजाने ऊ कि बशुक्रानः औ बरफशानम्।
अगर बसूये मन आरी पयामे अज़बरे दोस्त।।

अनुवाद

प्यारे की है शपथ करूँ मैं तुझ पर नौछावर निज प्राण।
एक सँदेसा प्राणनाथ का जो तू मुझको देवै आन।।

(3)

अगर चुनांचः दरां हज़रतत न बाशद बार।
बराय दीदः बियावर ग़ुबारे अज़ दरे दोस्त॥

अनुवाद

और न जो तू जाने पावै उसके सम्मुख किसी प्रकार।
नैनों के अंजन को रजकण लादे उसका द्वार बुहार॥

(4)

दिल शौके लबत मुदाम दारद।
यारब जु लबत चि काम दारद॥

अनुवाद

मन में तेरे अधर की रहत निरंतर चाह।
कौन हेत जाने हरी कछू न याकी थाह॥

(5)

जां शरबते महरो बादए शौक़।
दर साग़रे दिल मुदाम दारद॥

अनुवाद

मधुरासव-अनुराग अरु प्रेम-वारुणी-वार।
अंतर घट में भर रहे निज मन-मुकुर निहार॥

(6)

शोरीदए ज़ुल्फ़े यार दायम्।
दर दामे बला मुक़ाम दारद॥

अनुवाद

घुंघरारी लट की लगी जाके मन को लाग।
नाग-पाश में वह रहै बँध्यो सकल सुख त्याग॥

(7)

बायार कुजा नशीनद आं को।
अंदेशए लासो आम दारद॥

अनुवाद

प्रीतम सँग कैसे करै सो निःशंक विहार।
लोकलाज कुलकानि सों जो भयभीत अपार॥

(8)

खुर्रम दिले आं कसे कि सुहबत।
बायार अलहबाम दारद॥

अनुवाद

मुखी होय या जगत में कहत सयाने लोग।
जेहि सँग प्रीतम को रहत बिन अंतर संयोग ॥

(9)

हाफ़िज़ चु दमे खुशस्त मजलिम।
अस्बाबे तरब तमाम दारद ॥

अनुवाद

हाफ़िज़ सो क्षण धन्य है कटै जो प्रीतम संग।
सब मुख साज मजे रहैं बाढ़ै हिय उमंग ॥

भावुक मुसलमानों का मत है कि इन सब पद्यों में प्यारे, प्राणप्यारे, प्रियतम आदि शब्द और संबोधन ईश्वर के लिये है।

**[मार्च, 1904 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'प्राचीन पंडित और कवि' पुस्तक में संकलित।]**

लेडी जेन ग्रे

लेडी ग्रे बड़ी रूपवती, सुशीला और पुण्यात्मा थी। अँगरेज़ी इतिहास में जितनी प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्त्रियाँ हो गई हैं उनमें से यह भी एक है। यद्यपि यह महासद्गुणी और सीधी थी, तथापि अठारह ही वर्ष की उम्र में इसे प्राणदण्ड मिला। इसका सिर काट लिया गया। इसकी मृत्यु-वार्ता बडी ही हृदयद्रावक है। ईश्वर की माया कुछ समझ में नही आती। कभी कभी देखने में आता है कि गुणवान् और सदाचारी लोगों की अकाल ही में मृत्यु हो जाती है और महानिर्गुणी तथा दुराचारी लोग चिरकाल तक आनन्द से रहते हैं। परन्तु यह बात बहुत ठीक है कि महात्माओं ही पर अधिक संकट आते हैं; सुख का उपभोग भी वही औरो से अधिक करते है। चन्द्रमा को देखिए। वह कभी घटता है और कभी बढ़ता है। परन्तु तारे जैसे के तैसे बने रहते हैं। न वे घटें, न बढ़े।

लेडी जेन ग्रे, इंगलैंड के राजा आठवें हेनरी की सबसे छोटी बहन की पोती थी। उसका बाप सफ़क का ड्यूक (सरदार) था। जेन ग्रे अपने बाप की सब से बड़ी लड़की थी। उसका जन्म, ब्राडगेन नामक स्थान में, 1537 ईसवी मे, हुआ। लड़कपन ही से जेन को पढ़ने-लिखने का बड़ा चाव था। उसके बाप ने उसके लिए एक शिक्षक नियत कर दिया था। वह शिक्षक उसका बहुत प्यार करता था। वह भी बड़े प्रेम से अपना पाठ पढ़ती थी। जेन ग्रे बहुत रूपवती थी। वह कभी झूठ नहीं बोलती थी। उसका स्वभाव बहुत नम्र था। राजा आठवें हेनरी की रानी कैथराइन जेन को बहुत चाहती थी। जेन के माता-पिता की आज्ञा से उसने उसे अपने महल में रख लिया था। वहाँ उसने जेन के शिक्षण का अच्छा प्रबन्ध कर दिया था। परन्तु राजा के महलो मे जेन के आने के कुछ ही दिनों पीछे रानी कैथराइन की मृत्यु हुई। इसलिए जेन को अपने माता-पिता के यहाँ लौट जाना पड़ा।

उस समय माँ-बाप अपने बच्चों के साथ कभी कभी निर्दयता का व्यवहार किया करते थे। वे उनको धमकाते ही न थे; मारते भी थे, और अनेक प्रकार से तंग करते थे। जेन ग्रे के माता-पिता भी उसके साथ अच्छा व्यवहार न करते थे। उसे भी मार सहनी पड़ती थी। परन्तु जेन के शिक्षको का स्वभाव बहुत अच्छा था। वे कभी उसे दुर्वचन न कहते थे। उसको वे प्रेमपूर्वक पढ़ाते थे। इसीलिए जेन पढ़ने लिखने से बहुत प्रसन्न रहती थी। जब उसका पाठ समाप्त हो जाता और उसके शिक्षक चले जाते तब वह बहुत घबराती, क्योंकि पढ़ने के सिवा और बातें उसे पसन्द न थी।

लेडी जेन ग्रे अँगरेज़ी भाषा बहुत अच्छी तरह जानती ही थी। उसके सिवा वह फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक भाषायें भी समझ लेती थी, समझ ही नहीं, किन्तु उनमें वह बात-चीत भी कर लेती थी और बिना किसी कठिनाई के लिख भी सकती थी। क़शीदा और ज़री का काम भी वह बहुत सुघर करती थी। गाने बजाने में तो वह अत्यन्त ही चतुर

थी। एक दिन की बात है कि एलिज़बेथ रानी के शिक्षक राजर ऐश्चम जेन के मकान पर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सब लोग बाग़ में शिकार खेल रहे हैं; परन्तु जेन को उन्होंने वहाँ नहीं पाया। जब उन्होंने नौकरों से पूछा तब उन्हें विदित हुआ कि जेन अपने कमरे में बैठी किताब पढ़ रही है। यह सुनकर उन्हें आश्चर्य्य हुआ। बाग़ में न जाकर वे जेन के पास उसके कमरे में चले गये। वहाँ उन्होंने जेन को ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो की किताब पढ़ते पाया। उन्होंने जेन से पूछा—"तुम क्यों शिकार खेलने नहीं गई?" यह प्रश्न सुनकर 14 वर्ष की जेन ने अपना सिर ऊपर को उठा कर मुसकराते हुए उत्तर दिया, "मैं समझती हूँ, जो आनन्द मुझे प्लेटो की पुस्तक पढ़ने में मिलता है उस आनन्द की परछाहीं भी उन लोगों को शिकार में न मिलती होगी। खेद की बात है, वे यही नहीं जानते कि आनन्द कहते किसे है!"

इस सुशीला और चतुर जेन को सभी प्यार करते थे। उसके शिक्षकों को इस बात का गर्व था कि उनकी विद्या-शिष्य जेन इतनी भाषाये जानती है। जेन के प्रधान शिक्षक डाक्टर एल्मर उससे बहुत ही प्रसन्न थे। डाक्टर एल्मर कोई साधारण मनुष्य न थे। वे प्रसिद्ध मनुष्य थे और पीछे से लन्दन के बिशप (सब से बड़े पादरी) नियत हुए थे।

जेन को ग्रीक भाषा अधिक प्रिय थी। अन्तिम पत्र, जो उसने अपनी बहन कैथराइन को लिखा, उसकी ग्रीक भाषा के बाइबिल (धर्म्मग्रन्थ) के एक कोरे पन्ने पर था। उसने ऐश्चम इत्यादि अनेक विदेशी विद्वानों को ग्रीक और लेटिन में लम्बे-लम्बे पत्र लिखे थे। वे पत्र अब तक विद्यमान हैं।

लेडी जेन ग्रे के पिता के दो बड़े भाई थे। दैव-योग से वे दोनों मर गये। इसलिए जेन के पिता को ड्यूक की पदवी मिली। उस समय छठा एडवर्ड नामक राजा इंगलैंड के सिंहासन पर विराजमान था। उसकी उम्र बहुत कम थी; अपने राज्य का काम-काज वह स्वयं न देखभाल सकता था। इसके सिवा वह बीमार भी रहा करता था; बहुत दिनों तक उसके जीने की आशा न थी। इन कारणों से राज्य का सारा काम बड़े बड़े सरदार ही करते थे। जेन का पिता सफ़क का ड्यूक था। वैसा ही एक और सरदार नार्थम्बरलैंड का ड्यूक था। नार्थम्बरलैंड के ड्यूक को राज्य का प्रबन्ध करने में जेन का पिता बहुत सहायता देता था। जब सब सरदारों ने जाना कि छठे एडवर्ड की मृत्यु निकट आ गई है तब वे इस बात का विचार करने लगे कि उसको अनन्तर इंगलैंड की गद्दी किसको मिलनी चाहिए। जेन का पिता चाहता था कि जेन इंगलैंड की रानी हो; क्योंकि वह इंगलैंड के राज-वंश की थी। और नार्थम्बरलैंड के ड्यूक चाहते थे कि उनके पुत्र जे० डडले के साथ जेन विवाह कर ले; जिसमें उसके रानी होने पर दोनों पक्ष वालों को सन्तोष हो। राजा एडवर्ड से भी कह सुनकर इस विषय की आज्ञा ले ली गई। उसने अपनी सगी बहन मेरी और एलिज़बेथ को राज्य का अधिकारी न स्वीकार कर जेन को ही स्वीकार किया।

डडले लम्बे क़द के पुरुष थे; रूपवान् भी थे; स्वभाव भी उनका अच्छा था। जेन के साथ उनका विवाह, 1553 ईसवी में, हुआ। राजा ने विवाह के दिन उन दोनों के लिए अपनी ओर से बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण दिये। बड़े बड़े सरदारों, अमीरों और

अधिकारियों ने जेन और डडले के विवाह-मण्डप को सुशोभित किया। बड़े आनन्द और उत्सव के साथ विवाह का मंगल-कार्य्य समाप्त हुआ।

6 जुलाई 1553 ईसवी को एडवर्ड की मृत्यु हुई। अतएव रानी जेन की सास ने उससे कहा कि वह इंगलैंड का राज-मुकुट शीघ्र ही धारण करने के लिए तैयार रहे। यह सुनकर जेन के ऊपर वज्रपात सा हुआ। राज्य की अधिकारिणी एडवर्ड की सगी बहन मेरी थी। अतः जेन ने विचार किया कि सरदार लोग मेरी से राज्य का सूत्र छीनकर उसे देना चाहते हैं। इस दशा में इंगलैंड की प्रजा उससे कभी प्रसन्न न रहेगी और उसको अबला समझ कर उस पर दया करना तो दूर रहा, उलटा वह उसे बिना अधिकार राज्य छीन लेने वाली अन्यायी स्त्री समझेगी। इन बातों का विचार करके उसे इतना दुःख हुआ कि वह अचानक बीमार हो गई। इसलिए उसे उसके घर से दूसरी जगह जल-वायु बदलने के लिए ले जाना पड़ा।

10 जुलाई 1583 ईसवी को एक सुन्दर नाव पर बिठलाकर सरदार लोग लेडी जेन को 'लन्दन-टावर' नामक स्थान में ले गये। वहाँ उसे बड़े समारोह के साथ उन्होंने राजतिलक करना चाहा। उसके पिता और ससुर को, इस समय, परमानन्द हो रहा था; परन्तु जेन ग्रे के दुःख की सीमा न थी। रोते-रोते उसके नेत्र लाल हो गये थे और मुँह फीका पड़ गया था। नाव में उसके पास उसका पति बैठा हुआ धीरज देता था; परन्तु पति के आश्वासन को सुनकर उसे अधिक रंज होता था। जब लेडी जेन ग्रे ने उस मण्डप में प्रवेश किया जहाँ उसे तिलक होने वाला था, तब सब सरदारों ने उसका अभिवादन किया—उसके सामने सिर झुकाया। इस दशा को देख कर जेन ग्रे के सुकुमार कपोल पहले से भी अधिक लाल हो गये; उसका हृदय धड़कने लगा; उसकी घबराहट बढ़ने लगीं। ज्यों ही सब अमीरों और अधिकारियों ने उसे इंगलैंड की रानी कह कर पुकारा और उसकी अधीनता में रहना स्वीकार किया त्यों ही जेन ग्रे को मूर्छा आ गई। वह पहले ही से बीमार थी; इन सब विडम्बनाओं को वह अधिक सहन न कर सकी। वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी और जागने पर बिलख बिलख कर रोने लगी। बड़ी कठिनता से उसने अन्त में अपने को सँभाला और घुटनों के बल बैठकर ईश्वर से उसने यह प्रार्थना की कि यदि इंगलैंड के सिंहासन पर बैठने का मुझे अधिकार है तो हे परमेश्वर तू मुझे अपनी तरह न्यायपूर्वक राज्य करने का सामर्थ्य दे।

इंगलैंड के राज्य की अधिकारिणी मेरी थी। इसलिए प्रजा जेन ग्रे के राज्य पाने के प्रतिकूल थी। इसका फल यह हुआ कि लन्दन की प्रजा ने जेन ग्रे को रानी न स्वीकार किया। थोड़े ही दिनों में मेरी के पक्ष वालों ने राज्य का सूत्र अपने हाथ में कर लिया और लेडी जेन ग्रे को कारागार में डाल दिया। उसका पति भी उससे पृथक् कर दिया गया। जब जेन ग्रे के पिता ने आकर उससे कहा कि वह रानी नहीं रही तब उसने उत्तर दिया कि मैं केवल अपने माता-पिता की आज्ञा से गद्दी पर बैठी थी। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यद्यपि मेरी इच्छा न थी तथापि आपकी आज्ञा का पालन करने में मैंने बड़ा भारी अपराध किया है। अतः अपने अपराध का दण्ड भोगने के लिए मैं सब प्रकार तैयार हूँ।

यथासमय जेन ग्रे और उसके पति पर राजद्रोह करने का अपराध लगाया गया। इस अपराध को उन दोनों ने, बिना किसी विरोध के, स्वीकार किया। अतएव उनके शिरच्छेद की आज्ञा हुई। जेन ग्रे के पिता को भी कारागार जाना पड़ा; परन्तु रानी मेरी ने उसे क्षमा कर दिया। रानी मेरी बड़ी दयालु थी। उसकी इच्छा न थी कि जेन ग्रे और उसके पति को प्राणदण्ड दे। इसीलिए बहुत दिनों तक उनको वैसे ही कारागार में उसने रहने दिया। कारागार में जो कष्ट होते हैं वे भी जेन ग्रे और डडले को नहीं सहन करने पड़े। यह सब रानी मेरी की दया ही का फल था।

परन्तु जेन ग्रे के पिता का स्वभाव बहुत ही बुरा था। कारागार से छूट कर उसने फिर रानी मेरी के प्रतिकूल विद्रोह करना चाहा। इसीलिए रानी मेरी ने जेन ग्रे और उसके पति को जीता रखना उचित न समझा। 12 फरवरी 1554 ईसवी का दिन उनके शिरच्छेद के लिए नियत किया गया। जेन ग्रे ने केवल 10 दिन राज्य किया। कोई सात महीने कारागार में रह कर वधस्थान को जाने के लिए वह तैयार हुई। रानी मेरी 'रोमन कैथलिक' सम्प्रदाय की थी। रानी मेरी ने अनेक धर्म्मोपदेशकों द्वारा जेन ग्रे को कहला भेजा कि यदि वह अपना मत छोड़ कर उसके मत को स्वीकार कर ले तो वह उसका अपराध क्षमा कर देगी। परन्तु जेन ग्रे ने अपना मत नहीं छोड़ा। वह बड़े साहस और धैर्य्य के साथ, अपना जी कड़ा करके, अपने मत पर आरूढ़ रही। धन्य इस 18 वर्ष की अबला की दृढ़ता!

मरने के पहले जेन ग्रे ने अपने पिता को एक पत्र लिखा, जिसका सारांश यह था—"जिस पिता के द्वारा ईश्वर ने मुझे इतनी शीघ्र मृत्यु भेजी उस आज्ञा को मैं शान्तचित होकर मानती हूँ। मेरे समान थोडी उम्र की अज्ञान अबला के हाथ में इंगलैंड का राज्य बहुत दिन तक रखने की अपेक्षा शीघ्र ही उसका अन्त करने के लिए ईश्वर को मैं धन्यवाद भी देती हूँ"।

रानी मेरी को भी उसने एक पत्र लिखा। उसका आशय यह था—

"आप का दिया हुआ दण्ड मुझे मान्य है। तथापि जिस दशा मेमैं ने राज्य का सूत्र अपने हाथ में लिया उस दशा का विचार करके ईश्वर मुझे बहुत ही अल्प अपराधिनी समझेगा। इस पर मुझे पूरा विश्वास है। बलपूर्वक मेरे सिर पर राज-मुकुट रखने का संस्कार केवल मेरी देह ही को हुआ; मेरे अन्तःकरण को नहीं हुआ। मेरा मन सब प्रकार निरपराधी है"।

[अप्रैल, 1904 में प्रकाशित। 'वनिता विलास' पुस्तक में संकलित।]

मारकुइस ईटो

जिस विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष ने जापान को अल्प काल ही में इस योग्य कर दिया कि उसने संसार में सबसे बड़े शक्तिशाली देश, रूस को परास्त कर दिया। उसका नाम ईटो है। ईटो के पिता का नाम जजो ईटो था। वे बाग़बान थे। उनको दो तलवारें बांधने का अधिकार पहले न था। जापान में समुराई वंश के लोगों ही को दो तलवारें रखने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वे लोग औरो की अपेक्षा अधिक माननीय माने जाते हैं। परन्तु जजो ईटो की सुविशेष योग्यता का, विचार करके, पीछे से, उनको भी दो तलवारे बाँधने का अधिकार मिल गया था।

मारकुइस ईटो उदारता की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। उन्होंने अनेक होनहार युवको की वित्त बाहर सहायता की है। वे युवक इस समय जापान में बहुत अच्छे अच्छे पदो पर अधिष्ठित हैं। चीन के कोठली हुंग-चंग की तरह अगर वे चाहते तो अपरिमित धन संचय कर लेते। परन्तु वे अत्यन्त सत्य-प्रिय, सन्तोषी और नेक-नीयत आदमी हैं। अनुचित मार्ग से द्रव्य इकट्ठा करना वे महान् पातक समझते हैं।

ईटो चार दफे मिकाडो के प्रधान मन्त्री रह चुके है। इस समय यद्यपि वे प्रधान मन्त्री के पद पर नही, तथापि जितने बड़े बड़े काम होते हैं उन सबमें वे गुप्त रीति से योग देते हैं। बिना उनकी राय, बिना उनकी मन्त्रणा के कोई काम नहीं होता। इस समय जो रूस और जापान का प्रलयंकर युद्ध हो रहा है उसमें ईटो के बुद्धि-वैभव का पूरा पूरा उपयोग किया गया है। अभी थोड़े ही दिन हुए वे कोरिया गये थे। वहाँ राजधानी सिउल में रहकर और वहाँ की अराजकता का निवारण करके उन्होंने नवीन प्रकार का प्रबन्ध किया है।

इस समय भूमण्डल के भिन्न भिन्न देशों के जितने प्रधान मन्त्री हैं, मारकुइस ईटो उन सबों में कम धनी हैं। उनको सिर्फ़ उतना ही धन मिलता हैं जितने से उनका मामूली खर्च चल जाय। यदि कभी उनको अधिक रुपया मिल जाता है तो उससे वे होनहार जापानी युवकों को योरप या अमेरिका में विद्याध्ययन करने या कला-कौशल सीखने के लिए भेज देते हैं। उनकी निर्धनता का एक उदाहरण लीजिए। जापान की राजधानी टोकियो में कई एकड़ ज़मीन ऐसे मौक़े पर थी जो बहुत ही अच्छा था। वह जमीन ईटो के पिता ने प्राप्त की थी। ईटो ने वही पर अपने रहने के लिए एक बहुत अच्छा मकान और बाग़ बनाया। वहीं पर वे बहुत दिनों तक रहते भी रहे। परन्तु एका-एक उनको रुपये की ज़रूरत पड़ी। अतएव अपने मित्र वाइकौंट कागबा की मारफ़त उसे उन्होंने बेरन इवामकी को सिर्फ़ 18 हज़ार रुपये पर बेच डाला। इस जायदाद की क़ीमत इस वक़्त कम से कम 15,00,000 रुपये कूती जाती है! तब से मारकुइस ईटो के पास रहने का मकान नहीं है। वे इधर-उधर मारे मारे फिरते हैं। कभी वे नतसुशीमा में, कभी

वेदावेर में, कभी इसरागों में, कभी अज़बू में और कभी टोकियो में रहते हैं। सुनने से तअज्जुब होता है, परन्तु उनकी कुल जायदाद 1,20,000 रुपये से अधिक नहीं।

मारकुइस ईटो ख़लासी बनकर पहले पहल इंगलैंड पहुँचे। जहाज़ के ख़लासियों को कितना सख़्त काम करना पड़ता है यह बात छिपी नहीं। परन्तु उस अधम और परिश्रम के काम को ईटो ने बड़ी मुस्तैदी से किया। जिस समय वे लन्दन पहुँचे, उनकी जेब में सिर्फ़ चार-पाँच रुपये थे। वहाँ उन्होंने पश्चिमी देशों की सभ्यता, उनकी राज्य-प्रणाली, उनकी युद्ध-विद्या और उनके कला-कौशल को यहाँ तक सीखा कि वहाँ से लौटकर उन सब बातों की प्रतिच्छाया जापान में उन्होंने प्रकट कर दी। उनके बराबर स्वदेश-भक्त, दृढ़-प्रतिज्ञ, सत्य-प्रिय और नीति-निपुण पुरुष जापान में दूसरा नहीं। जापान का एकछत्र राज्य और वहाँ की पारलियामेंट उन्हीं के अद्भुत अध्यवसाय का फल है।

मारकुइस ईटो परिश्रम से बिलकुल नहीं डरते। जो ख़लासी का काम कर सकेगा वह क्या न कर सकेगा? आराम क्या चीज है, यह वे जानते ही नहीं। चार घण्टे से अधिक आप कभी नहीं सोते। सुबह जब तक उनके नौकर बिस्तर से उठते हैं और उनके लिए कहवा तयार करते हैं, तब तक वे बाग़ में टहला करते हैं। उनको कोई व्यसन छू तक नहीं गया। उनका सिर्फ़ एक ही निज का नौकर है, वही उनके सब काम करता है। शेष नौकर घर के काम के लिए हैं। उनके कमरे में जो सामान है, सब सादा है। कुरसियाँ कई एक अवश्य हैं; पर आराम-कुरसी एक भी नहीं! अच्छा चुरुट उनको अधिक पसन्द है; वे तम्बाकू के सच्चे परीक्षक है। पोशाक उनकी सादी है। 'फ़ैशन' का उनको बिलकुल ही ख़याल नहीं।

मारकुइस ईटो यद्यपि इतने सीधे-सादे है और यद्यपि उनके यहाँ धन की विशेषता नहीं, तथापि उनको पढ़ने लिखने का बेहद शौक है। योरप और अमेरिका मे आज तक जितनी उम्दा किताबें निकली है वे सब उनके पुस्तकालय में विद्यमान हैं। नई नई पुस्तकें भी निकलती जाती है, निकलने के साथ ही उनके हाथ मे पहुँच जाती है। जितनी पुस्तकें उनके यहाँ हैं सब उन्होंने पढ़ी है। जो नई पुस्तक उनके हाथ आती है उसे आवरण-पृष्ठ (Title page) से लेकर अन्त तक वे बिना पढ़े नहीं रखते। पाँच से लेकर छ. घण्टे तक वे रोज़ पुस्तकावलोकन करते है। जर्मन, अँगरेजी, फ्रेंच और चीनी भाषाओं के वे उतने ही पण्डित हैं जितने कि विश्वविद्यालय के अध्यापक होते है। जापानी भाषा के विषय में तो कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं। ईटो के लिए साहित्य की उतनी ही जरूरत है जितनी धुवाँकश के लिए कोयले की जरूरत होती है। वे अत्यन्त मिष्ट-भाषी है। दूसरे देश की भाषाओं को वे उतनी ही शुद्धता से बोलते हैं जितनी शुद्धता से उन उन देशों के निवासी उन्हें बोलते हैं। उनका उच्चारण भी बहुत अच्छा है। परन्तु उनकी गिनती अच्छे वक्ताओ में नहीं।

सर येडविन आरनल्ड जापान के विलक्षण भक्त थे। उन्होंने वहाँ बहुत दिनो तक निवास भी किया, वहाँ की भाषा भी सीखी और एक जापानी स्त्री से विवाह भी किया। जापान के विषय में उनको बहुत अधिक ज्ञान था। मारकुइस ईटो की उन्होंने बड़ी बड़ाई की है—मिकाडो बादशाह—के नीचे उन्होंने उन्हो की गणना की है। उन्होंने

उनको 'जापान का बिस्मार्क' कहा है। यह सर्वथा सत्य है। ईटो की बराबर राजनीति-कुशल पुरुष जापान में दूसरा नहीं। उन्होंने जापान को एक में नये साँचे ढाल दिया। हर विषय में उसकी तरक़्क़ी की। योरप और अमेरिका में जो कुछ ग्रहण करने के योग्य था उसे उन्होने ले लिया और जो कुछ ग्रहण करने योग्य न था उसे छोड़ दिया। वे सर्वोत्कृष्ट गुणग्राही और दोषत्यागी पुरुष हैं। आज तक जितने प्रख्यात पुरुष हो गये हैं, प्राय: सब में एक ही एक प्रधान गुण था। परन्तु ईटो में अनेक गुणों का समुदाय है। नीति-पटुता में वे चाणक्य हैं; देशभक्ति में वे विलियम पिट हैं; दृढ़ता और साहस में वे वाशिगटन हैं; सन्धि-विग्रह में वे बिस्मार्क है। ऐसे मारकुइस ईटो के अनवरत परिश्रम से उन्नत और उत्साहित हुआ जापान इस समय संसार के सबसे अधिक बलवान राज्य से भिड़कर उसे उसने पछाड़ दिया। इस तरह उसने अपने नि:सीम साहस और रणकौशल से संसार को चकित कर दिया है। जो मृत्यु को तुच्छ समझता है; जो अपने देश के लिए धन की तो बात ही नही, प्राणो को भी हथेली पर रक्खे है, बड़े बड़े विजय प्राप्त करके भी जिसे ज़रा भी घमण्ड नहीं, ईश्वर उसका अवश्य ही कल्याण करता है।

[जुलाई, 1904 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'चरित्र-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

जनरल कुरोपाटकिन

कुरोपाटकिन का नाम हमारे देशवासियों में से पहले प्रायः बहुत कम लोग जानते रहे होंगे। परन्तु जब से रूस और जापान का युद्ध छिड़ा है तब से जनरल कुरोपाटकिन का नाम सबकी जबान पर है। आपने अमानुषी वीरता के काम किये हैं; आप साहस और शौर्य्य की मूर्ति हैं; बल में आप भीमकाय भीम के समान हैं। आपके सेना-नायकत्व की बहुत बड़ी शोहरत है। परन्तु ऐसे विश्वविख्यात वीर के द्वारा संचालित सेना को खर्वाकार भतखौवे जापानी पराजय पर पराजय देते चले जा रहे है। रूस की समग्र स्थल-सेना का नायकत्व स्वीकार करके उसको पुनः पुनः परास्त होते देख कुरोपाटकिन अपने मन में क्या कहते होंगे, यह नही जाना जा सकता। क्या पीत-वर्ण जापानी कुरोपाटकिन के पूर्व संचित यश को बिलकुल ही काला कर देंगे?

कुरोपाटकिन मशहूर योद्धा हैं। युद्ध करना उनको बहुत प्रिय है। युद्ध उनके लिए दिल बहलाव की चीज़ है। जैसे जैसे से अपनी इस युद्ध-प्रियता को बढ़ाते जाते हैं, तैसे ही तैसे रूस की राज-सत्ता भी एशिया में बढ़ती जाती है। कुरोपाटकिन ने रूस को क्रम क्रम से उन्नत होते देखा और अपने भुजबल से उन्होने उसके विस्तार को बढ़ाया है। बुखारा और ताशक़न्द के आस पास कुरोपाटकिन ने पहले पहल अपनी युद्ध-प्रियता की चाशनी चखी। उस समय उनकी उम्र बहुत कम थी। वे सब-लेफ़्टिनेंट थे। परन्तु तात्कालिक युद्ध में उन्होंने आश्चर्य्यकारिणी वीरता दिखलाई। इसलिए युद्ध के अन्त में दो तमगों ने उनके हृदयस्थल की शोभा बढाई। साथ ही उनके पद की भी उन्नति हो गई। वे पूरे लेफ़्टिनेंट हो गये।

कुरोपाटकिन के रणकौशल को देखकर उनके सेना-नायको ने उनकी बड़ी तारीफ़ की। उन्होंने सिफ़ारिश करके उन्हे अन्य देश में युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्ति के लिए भिजवाया। पहले वे बर्लिन गये; फिर पेरिस। पेरिस में फ्रांस की घुड़सवार सेना के सुधार मे कुरोपाटकिन ने बहुत सहायता की। इससे मारशल नेकमोहन उन पर बहुत प्रसन्न हुए और 'लीजिन आफ आनर' (Legion of Honour) नामक पदक उनको मिला। कुरोपाटकिन के पहले किसी रूसी अफ़सर को यह पदक न मिला था। जिस समय फ्रांस और प्रुशिया में युद्ध हो रहा था उस समय कुरोपाटकिन पेरिस में थे। प्रुशिया की फ़ौज ने उस समय पेरिस को घेर रक्खा था। उस समय कुरोपाटकिन ने बहुत तजरिबा हासिल किया। युद्धक्षेत्र में स्वयं जाकर उन्होंने युद्ध-कौशल सीखा। उस समय तक कुरोपाटकिन अल्पवयस्क ही थे। वे अपनी भावी उन्नति के सम्बन्ध में तरह तरह के स्वप्न देख रहे थे कि तुर्किस्तान में लड़ाई छिड़ गई। इसलिए कुरोपाटकिन को रूस लौट जाना पड़ा। ख़ोकन्द के ख़ाँ से रूस लड़ा और ख़ोकन्द सदैव के लिए रूसी तुर्किस्तान में मिला लिया गया।

तुर्किस्तान के इस युद्ध में कुरोपाटकिन की योजना जनरल स्कोवेल्फ़ की अधीनता में हुई। वहाँ कुरोपाटकिन पर किसी कारण से स्कोबेल्फ़ नाराज़ हो गये। अतएव उन्होंने कुरोपाटकिन को एक ऐसा काम सौंपा जिसे करके उनके जीते लौट जाने की कोई आशा न थी। कुरोपाटकिन ने अपने जनरल की इस आज्ञा को बड़ी धीरता और बड़ी दृढ़ता से सुना। वे ज़रा भी चंचल नहीं हुए। उन्होंने उस काम को सफलता-पूर्वक करके लौट आने का मन ही मन प्रण किया। उनको हुक्म हुआ कि वे दुश्मन की फ़ौज का पता लगा लावें। इस काम को करने के लिए उन्होंने एक क़ैदी का भेष बनाया। यह करके शत्रु के दल-बल का भेद लेते हुए उसकी सेना में कुछ काल तक गुप्त तौर पर उन्होंने रहना स्थिर किया। एक हफ़्ता हो गया, न कुरोपाटकिन लौटे; न उनकी कोई ख़बर ही मिली। अतएव स्कोबेल्फ ने समझा कि कुरोपाटकिन का भेजा जाना व्यर्थ हुआ; उनको कामयाबी नहीं हुई। यह समझकर वे एक अन्य पुरुष को उसी काम पर भेजने का विचार कर रहे थे कि अकस्मात् एक ज्वर से पीड़ित, घायल और भूखे आदमी ने उनके ख़ेमे में प्रवेश किया। ये आगन्तुक कुरोपाटकिन थे। वे अपने साथ जो काग़ज़ात लाये थे और जिन बातों का पता उन्होंने लगाया वे बड़े महत्त्व की थीं। इस पर स्कोबेल्फ़ को सीमातीत सन्तोष हुआ; वे अपनी पहली अप्रसन्नता को भूल गये। कुरोपाटकिन की योग्यता, साहस, बुद्धि और कौशल को देखकर वे चकित हो उठे। उस दिन से वे कुरोपाटकिन को अपना मित्र समझने लगे। उसी दिन से कुरोपाटकिन की उन्नति पर उन्नति होनी शुरू हुई। थोड़े ही समय में कुरोपाटकिन स्कोबेल्फ़ के दाहिने बाहु हो गये और जिस जिस युद्ध में स्कोबेल्फ़ ने सेना-नायकत्व किया उस उसमें कुरोपाटकिन ने अपने रण-चातुर्य्य से उन्हें बहुत ही ख़ुश किया।

ताशक़न्द पर जब रूसी सेना ने क़ब्ज़ा किया तब कुरोपाटकिन वहां हाज़िर थे। जिस समय ख़ोकन्द का पतन हुआ उस समय भी वे वहीं पर थे। जब बोखारा के अमीर की 40,000 फ़ौज को सिर्फ़ 4000 रूसी फ़ौज से हार खाना पड़ा तब वे रूसी सेना ही के साथ थे। सात दिन तक बराबर युद्ध करने पर जब रूसी फ़ौज ने संगीनों के बल खोजण्ट पर धावा किया और वहाँ से दुश्मन को मार भगाया, तब भी कुरोपाटकिन वहाँ उपस्थित थे। जिस समय समरक़न्द का फाटक खोला गया और तैमूर की इतिहास-प्रसिद्ध राजधानी के भीतर रूस के 8000 सिपाही प्रवेश कर गये, उस समय भी कुरोपाटकिन वहाँ थे। परन्तु इन युद्धों में शामिल होना कुरोपाटकिन ने अपने लिए कोई प्रशंसा की बात नहीं समझी। ख़ीवा और मर्व में उन्होंने भीम विक्रम दिखलाया। यह करके भावी रूस और टर्की के युद्ध के लिए वे तैयार हुए। उस युद्ध में कुरोपाटकिन ने जो वीरता दिखाई उसकी गवाही इतिहास दे रहा है।

तुर्की युद्ध से कुरोपाटकिन ने साहस और शौर्य्य के ऐसे ऐसे काम किये जिनको देखकर जनरल स्कोबेल्फ़ तक को दाँत के नीचे उँगली दबानी पड़ी। एक बात युद्ध में स्कोबेल्फ़ के जितने शरीर-रक्षक और सहकारी थे सब मारे गये; बच गये केवल कुरोपाटकिन। एक अन्य महा भीषण युद्ध में घण्टे ही भर में 3000 रूसी कटकर ज़मीन पर गिर गये, परन्तु कुरोपाटकिन के वीर हृदय पर इसका ज़रा भी असर न हुआ। उल्टा

उनका उत्साह द्विगुणित हो गया। सिर्फ़ 300 सिपाही लेकर वे तुर्कों के एक मोरचे पर टूट पड़े और उसे विजय कर लिया। परन्तु उन 300 में से सिर्फ़ कुछ ही योद्धा जीते बचे। उन बचे हुओं में कुरोपाटकिन भी थे।

तुर्क-रूसी युद्ध में एक बार वे घायल होकर रात भर मुर्दों के बीच में पड़े रहे। लोगो ने उनको भी मुर्दा ही समझा। परन्तु दूसरे दिन वे अपने पैरों चलकर अपनी सेना से जा मिले। उनके बदन पर अनगिनत घावों के निशान हैं। उन्होंने समर-भूमि में सैकड़ों योद्धाओं को अपने हाथ से मार गिराया है।

18 वर्ष की उम्र में कुरोपाटकिन सेना में भरती हुए थे। इस समय इनकी उम्र 56 वर्ष की है। 34 वर्ष की उम्र में वे मेजर जनरल हुए थे और अब 6 वर्ष से आप रूस के ,मिनिस्टर ऑव वार' अर्थात्—युद्ध के प्रधान मन्त्री हैं। आप जापान के साथ युद्ध करने के ख़िलाफ़ थे और अब भी हैं। परन्तु उनकी राय नहीं मानी गई। जिसका फल, इस समय, रूस और लड़ने की राय देने वाले उसके युद्धप्रिय सलाहकार चख रहे हैं।

कुरोपाटकिन ने जो काम किया अच्छी तरह से किया। सख़्त से सख़्त मिहनत से वे कभी नहीं डरे। भय क्या चीज़ है, वे जानते ही नहीं। युद्ध से फुरसत होने पर उन्होंने एशिया के उजाड और रेतीले मैदानों में हज़ारों कोस दूर का सफ़र किया और ऐसी-ऐसी बातों का पता लगाया, जिनका पता लगाना औरों के द्वारा नितान्त असम्भव था। एक बार घोड़े की पीठ पर उन्होंने 2500 मील का रास्ता तै किया। यह रास्ता ऐसे जंगलों के भीतर से था जो अगम्य समझे जाते थे, और जहाँ पद पद पर असभ्य तातारियों से लडना-भिड़ना पड़ता था। इस काम को भी उन्होंने बड़ी योग्यता से किया। इसके अनन्तर काशग़ारिया नामक प्रदेश के ऊपर उन्होंने एक पुस्तक लिखी जो उस समय अनमोल समझी गई। उस समय तक मध्य एशिया के विषय में लोग बहुत ही कम ज्ञान रखते थे। कुरोपाटकिन की किताब से उस ज्ञान की विशेष वृद्धि हुई। उसे पढ़कर रायल ज्योग्राफ़िकल सोसाइटी ने कुरोपाटकिन को एक पदक प्रदान किया।

ऐसे जनरल कुरोपाटकिन को रूस के राजेश्वर ज़ार ने सुदूर पूर्ववर्ती देश में भेजी गई स्थल-गामिनी रूसी सेना का प्रधान नायक नियत किया। युद्ध-भूमि में आपको पहुँचे बहुत दिन हुए। सेंट पीटर्सबर्ग से प्रस्थान करते समय, सुनते है, आपने अपनी पहली बहादुरी का स्मरण करके बहुत गर्वोक्तियाँ कही थीं। परन्तु अभी तक आपकी एक भी गर्वोक्ति सत्य नहीं निकली। आपकी सेना को जापान परास्त करता चला जा रहा है; क़िले और शहर, एक के बाद एक लेता चला जा रहा है; और अपने लोकोत्तर शौर्य्य, वीर्य तथा पराक्रम से संसार को चकित करते हुए सबके मुँह से निकले हुए प्रशंसा-पियूष से अपने कर्णरन्ध्रों को आप्लावित करता चला जा रहा है।

[जुलाई, 1904 में प्रकाशित। 'चरित-चित्रण' में संकलित।]

प्रसिद्ध पहलवान सैंडो

सैंडो साहब एक प्रसिद्ध पहलवान हैं। वे जर्मनी के रहने वाले है। उनका जन्म 1868 ई० में हुआ था। लड़कपन में वे बहुत निर्बल थे; उनका शरीर भी दुबला पतला था कुछ दिनों में उनको अपनी निर्बलता पर खेद हुआ और कसरत करके अपने शरीर को वे दृढ़ करने लगे। कई वर्ष के परिश्रम से उनकी इच्छा पूर्ण हुई। इस समय ये इतने बलवान है कि उनकी बराबरी करने वाला कोई विरला ही होगा। उनके शरीर की बनावट, उनकी छाती की चौड़ाई और उनकी भुजाओं के घेर को देखकर लोग अचरज करते हैं। तौल में सैंडो साहब तीन मन है; और ऊँचाई में 5 फुट 10 इंच। उनकी गरदन का घेरा 18 इंच और फैली हुई छाती का 62 इंच है।

सैंडो साहब बड़े बलवान है। तार के मोटे मोटे रस्सों को पीठ और छाती के चारों ओर बाँध कर छाती को फैलाकर, वे उन रस्सो को साहब में तोड़ डालते हैं। एक एक हाथ से एक एक घोड़े को वे अपने सिर तक उठा लेते है; घूँसे से बड़े बड़े पत्थरो को चूर चूर कर देते हैं; अपनी भुजाओ पर मारे गये पत्थरों के दो टुकड़े कर डालते है; चालीस चालीस मन की लोहे की चादरें पीठ पर उठा लेते हैं। एक बार अमेरिका में उन्होंने एक भयानक सिंह के साथ तीन बार कुश्ती लड़ी और तीनों बार सिंह को उन्होंने पछाड़ दिया। तीसरी बार तो सिंह उनसे इतना डर गया कि वह उनके सामने कुत्ते के समान खड़ा रह गया; कान तक उसने न हिलाये।

सैंडो साहब ने लण्डन में एक अखाड़ा बनाया है। वहाँ वे लोगों को कसरत करना सिखलाते हैं और उनके शरीर को सुडौल और बलवान बनाने की शिक्षा देते हैं। उन्होंने इस विषय की किताबें भी लिखी हैं। उनसे 'डम्बेल' मशहूर हैं।

यही सैंडो साहब हिन्दोस्तान आते हैं। इस संख्या के निकलते निकलते शायद आ भी जायें। इनके साथ में और भी कई पहलवान हैं। ये पहले पहल अपनी कसरत बम्बई में दिखलायेंगे और व्यायाम सम्बन्धी व्याख्यान भी देंगे। फिर आप यहाँ के और और शहरों में भी, इसी निमित्त, घूमेंगे।

सैंडो साहब के उदाहरण से यह बात सिद्ध होती है कि दुबले-पतले और निर्बल मनुष्य भी शरीर-सम्बन्धी नियमों के अनुसार रहने और अच्छी प्रकार कसरत करने से बलवान हो सकते हैं। जिनके शरीर में बल होता है वे सदैव निरोग रहते हैं। बलवान और निरोग होना मनुष्य के लिये बहुत ही हितकर है। इसलिए शरीर को बली बनाने की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

[नवम्बर, 1904 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

जान स्टअर्ट मिल

इंगलैंड में जान स्टुअर्ट मिल नामक एक तत्त्ववेत्ता हो गया है। उसे मरे अभी कुल इकतीस वर्ष हुए। उसने कई अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी है। उनमें से एक का नाम 'लिबर्टी' (Liberty) है।

मिल का जन्म 20 मई 1806 को लन्दन मे हुआ। उसका पिता जेम्स भी अपने समय में एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता था। जिस समय जान स्टुअर्ट मिल की उम्र कोई तेरह वर्ष की थी, उस समय उसके बाप को ईस्ट इंडिया कम्पनी के दफ्तर मे एक जगह मिली। वहाँ उसे इस देश की अनेक बातें मालूम हुई और सैकडो तरह के कागज-पत्र और ग्रथ देखने को मिले। उनके आधार पर उसने भारत का एक बहुत अच्छा इतिहास लिखा। यह इतिहास के लायक है।

मिल के पिता ने मिल को किसी स्कूल या कालेज मे पढने नही भेजा। उसने खुद उसे पढाना शुरू किया। जब तक उसे पढाने की जरूरत समझी, तब तक वह उसे बराबर पढ़ाता रहा। तीन वर्ष की उम्र में मिल ने ग्रीक भाषा की वर्णमाला सीखी। आठ वर्ष की उम्र में उसने उस भाषा का थोड़ा सा अभ्यास भी कर लिया। बहुत से गद्य उसने पढ़ डाले। आठवें वर्ष मिल ने लैटिन सीखना शुरू किया। कुछ दिन बाद अंक-गणित, बीज-गणित और रेखा-गणित भी वह सीखने लगा। बारह वर्ष की उम्र में मिल को ग्रीक और लैटिन का अच्छा ज्ञान हो गया। वह प्लेटो और अरिस्टाटल के गहन ग्रंथ अच्छी तरह समझने लगा। दिल बहलाने के लिए वह इतिहास और काव्य भी पढ़ता था और कभी-कभी कविता भी लिखता था। पोप का किया हुआ इलियड का भाषांतर उसे बहुत पसंद आया। उसे देखकर वह छोटी-छोटी कवितायें लिखने लगा। इससे मिल को शब्दों को यथा-स्थान रखना आ गया। पद्य-रचना के विषय में मिल के पिता ने पुत्र की प्रतिकूलता नही की। यह काम उसकी अनुमति से मिल ने किया।

मिल को अपनी हमजोली के लड़को के साथ खेलने-कूदने को कभी नही मिला। उसने अपना आतम-चरित अपने हाथ से लिखा है। उसमें एक जगह वह लिखता है कि उसने एक दिन भी 'क्रिकेट' नही खेला। लड़कपन में यद्यपि वह बहुत मोटा-ताजा और पहलवान नहीं था, तथापि वह इतना दुबला और अशक्त भी नही था कि उसके लिखने-पढ़ने में बाधा आती। जब वह तेरह वर्ष का हुआ, तब उसके बाप ने उसे विशेष गंभीर विषयों की शिक्षा देना आरंभ किया। ग्रीक, लैटिन और अँगरेज़ी भाषा में उसने तत्त्व-विद्या और तर्क-शास्त्र की अनेक पुस्तकें पढ़ डाली। उसका बाप रोज़ बाहर घूमने जाया करता था। अपने साथ वह मिल को भी रखता था। राह में वह उससे प्रश्न करता था। जो कुछ वह पढ़ता था, उसमें वह उसकी रोज़ परीक्षा लेता था। जो चीज़ बाप पढ़ाता था, उसका उपयोग भी वह पुत्र को बतला देता था। उसका यह मत था कि जिस चीज़ का

उपयोग मालूम नहीं, उसका पढ़ना व्यर्थ है। तर्क-शास्त्र अर्थात् न्याय, और तत्त्व-विद्या अर्थात् दर्शनशास्त्र में मिल थोड़े ही दिनों में प्रवीण हो गया। किसी ग्रंथकार के मत या प्रमाण को क़बूल करने के पहले उसकी जाँच करना मिल को बहुत अच्छी तरह आ गया। दूसरों की प्रमाण-शृंखला में वह बड़ी योग्यता से दोष ढूँढ़ निकालने लगा। यह बात सिर्फ़ अच्छे नैयायिक और दार्शनिक पंडितों ही में पाई जाती है; क्योंकि प्रतिपक्षी की इमारत को अपनी प्रबल दलीलों से ढहाकर उस पर अपनी नई इमारत खड़ा करना सब का काम नहीं। खंडन-मंडन की यह विलक्षण रीति मिल को लड़कपन ही में सिद्ध हो गई। इसका फल भी बहुत अच्छा हुआ। यदि थोड़ी ही उम्र में उसकी तर्क-शक्ति इतनी प्रबल न हो जाती तो वयस्क होने पर इतने अच्छे ग्रंथ न लिख सकता। मिल के घर उसके पिता से मिलने अनेक विद्वान् आया करते थे। उनमें परस्पर अनेक विषयों पर वाद-विवाद हुआ करता था। उनके कोटि-क्रम को मिल ध्यानपूर्वक सुनता था। इससे भी उसको बहुत फ़ायदा हुआ। उसकी बुद्धि बहुत जल्द विकसित हो उठी और बड़े-बड़े गहन विषयों को वह समझ लेने लगा।

बाप की सिफ़ारिश से मिल ने प्लेटो के ग्रन्थ विचारपूर्वक पढ़े। इतिहास, राजनीति और अर्थ-शास्त्र का भी उसने अध्ययन किया। चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र में उसका गृह-शिक्षण समाप्त हुआ। तब वह देश-पर्यटन के लिए निकला। फ्रांस की राजधानी पेरिस में वह कई महीने रहा। इस यात्रा में उसे बहुत कुछ तजरिबा हुआ। कुछ दिनों बाद, घूम-घाम कर, वह लन्दन लौट आया। तब से उसकी यथा-नियम शिक्षा की समाप्ति हुई। जितनी थोड़ी उम्र में मिल ने तर्क और अर्थशास्त्र आदि कठिन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, उतनी थोड़ी उम्र में और लोगों के लिए इस बात का होना प्रायः असम्भव समझा जाता है।

सत्रह वर्ष की उम्र में मिल ने इंडिया हाउस नामक दफ़्तर में प्रवेश किया। वहाँ उसकी क्रम-क्रम से उन्नति होती गई। अन्त में वह एग्ज़ामिनर के दफ़्तर का सबसे बड़ा अधिकारी हो गया। पर 1858 ईसवी में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी टूटी, तब वह दफ़्तर भी टूट गया। इसलिए उसे नौकरी से अलग होना पड़ा। कोई पचीस वर्ष तक उसने नौकरी की। नौकरी ही की हालत में उसने अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे। उसका मत था कि जो लोग केवल पुस्तक-रचना करने और समाचार-पत्रों में छपने के लिए लेख भेजने ही पर अपनी जीविका चलाते हैं, उनके लेख अच्छे नहीं होते, क्योंकि वे जल्दी में लिख जाते हैं। पर जो लोग जीविका का कोई और द्वार निकाल कर पुस्तक-रचना करते हैं, वे सावकाश और विचार-पूर्वक लिखते हैं। इससे उनकी विचार-परम्परा अधिक मनोग्राह्य होती है और उनके ग्रन्थों का अधिक आदर भी होता है।

1865 से 1868 तक मिल पारलियामेंट का मेम्बर भी रहा। वह यद्यपि अच्छा वक्ता न था, तथापि जिस विषय पर वह बोलता था, उसकी दलीलें बहुत मज़बूत होती थीं। ग्लैडस्टन साहब ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। एक ही बार मिल का प्रवेश पारलियामेंट में हुआ। कई कारणों से लोगों ने उसे दुबारा नहीं चुना। उन कारणों में सबसे प्रबल कारण यह था कि पारलियामेंट में हिन्दुस्तान के हितचिन्तक ब्राडला साहब

के प्रवेश-सम्बन्धी चुनाव में मिल ने उनकी मदद की थी। ऐसे घोर नास्तिक की मदद! यह बात लोगों को बरदाश्त न हुई। इसी से उन्होंने दुबारा मिल को पारलियामेंट में नहीं भेजा। यह सुनकर कई जगह से मिल को निमन्त्रण आया कि तुम हमारी तरफ से पारलियामेंट की उम्मेदवारी करो। परन्तु ऐसे झगड़े का काम मिल को पसन्द न आया। इससे उसने उम्मेदवार होने से इनकार कर दिया। तब से उसने एकान्त-वास करने और पढ़ने ही लिखने में अपनी बाक़ी उम्र बिताने का निश्चय किया। वह अविगनान नामक गाँव में जाकर रहने लगा। 1873 में वहीं उसकी मृत्यु हुई। उसका घर पुस्तकों और अख़बारों से भरा रहता था। साल में सिर्फ़ कुछ दिनों के लिए वह अविगनान से लन्दन आता था।

जिस समय मिल की उम्र पचीस वर्ष की थी, उस समय टेलर नामक एक आदमी की स्त्री से उसकी जान-पहचान हुई। धीरे धीरे दोनों में परस्पर स्नेह हो गया। उसकी क्रम-क्रम से वृद्धि होती गई। इस कारण लोग मिल को भला-बुरा भी कहने लगे। उसके पिता को भी यह बात पसन्द न आई। परन्तु प्रेमप्रवाह में क्या शिक्षा, दीक्षा और उपदेश कहाँ ठहर सकते हैं? बीस वर्ष तक यह स्नेह-सम्बन्ध अथवा मित्र-भाव रहा। इतने में टेलर साहब की मृत्यु हो गई। यह अवसर अच्छा हाथ आया देख ये दोनों प्रेमी विवाह-बन्धन में बँध गये। परन्तु सिर्फ़ सात वर्ष तक मिल साहब को इस स्त्री के समागम का सुख मिला। इसके बाद उसका शरीर छूट गया। इस वियोग का मिल को बेहद रंज हुआ। अविगनान ही में मिल ने उसे दफ़न किया और जो बातें उसे अधिक पसन्द थीं, उन्हीं के करने में उसने अपनी बची हुई उम्र का बहुत सा भाग बिताया। मिल के साथ विवाह होने के पहले ही इस स्त्री के एक कन्या थी। माँ के मरने पर उसने मिल की बहुत सेवा-शुश्रूषा की। उसने मिल को गृह-सम्बन्धी कोई तकलीफ़ नहीं होने दी।

मिल ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। वह अकसर प्रसिद्ध प्रसिद्ध अख़बारों और मासिक पुस्तकों में लेख भी दिया करता था। छोटी छोटी पुस्तकें तो उसने कई लिखी हैं। पर उसके जिन ग्रन्थों की बहुत अधिक प्रसिद्धि है, वे ये हैं—

1—अर्थशास्त्र के अनिश्चित प्रश्नों पर निबन्ध (Essays on Unsettled Questions in Political Economy)

2—तर्कशास्त्र पद्धति (System of Logic)

3—अर्थ-शास्त्र (Political Economy)

4—स्वाधीनता (Liberty)

5—पारलियामेंट के सुधार-सम्बन्धी विचार (Thoughts on Parliamentary Reform)

6—प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्य-व्यवस्था (Representative Government)

7—स्त्रियों की पराधीनता (Subjection of women)

8—हैमिल्टन के तत्त्व-शास्त्र की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy)

9—उपयोगिता-तत्त्व (Utilitarianism)

'प्रकृति' (Nature) और 'धर्म्म की उपयोगिता' (Utility of Religion) इन दो विषयों पर भी उसने निबन्ध लिखे; पर वे उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए। मिल के पिता ने मिल को किसी प्रकार की धर्म्म-शिक्षा नहीं दी; क्योंकि उसका विश्वास किसी धर्म्म पर न था। पर उसने सब धर्म्मों और धार्म्मिक सम्प्रदायों के तत्त्व मिल को अच्छी तरह समझा दिये थे। लड़कपन में इस तरह का संस्कार होने के कारण मिल के धार्म्मिक विचार अनोखे थे। उनको उसने 'धर्म्म की उपयोगिता' में बड़ी ही योग्यता से प्रकट किया है। उसकी स्त्री विदुषी थी। तत्त्व-विद्या में वह भी खूब प्रवीण थी। पुस्तक-रचना में भी उसे अच्छा अभ्यास था। 'स्वाधीनता' और 'स्त्रियों की पराधीनता' को मिल ने उसी की सहायता से लिखा है। और भी कई पुस्तकें लिखने में उसने मिल की सहायता की थी। अपने आत्म-चरित में मिल ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। 'स्वाधीनता' को उसने अपनी स्त्री ही को समर्पण किया है। उसका समर्पण भी बहुत ही विलक्षण है। उसमें उसने अपनी स्त्री की प्रशंसा की पराकाष्ठा कर दी है। मिल बड़ा उदार पुरुष था। सत्य के खोजने में वह सदैव तत्पर रहता था। जिस बात से अधिक आदमियों का हित हो उसी को वह सब से अधिक सुखदायक समझता था। इस सिद्धान्त को उसने अपने 'उपयोगिता-तत्त्व' में बहुत अच्छी तरह प्रमाणित किया है। नई और पुरानी चाल की जरा भी परवा न करके जिसे वह अधिक युक्तियुक्त समझता था, उसी को वह मानता था। वह सुधारक था; परन्तु उच्छृंखल और अविवेकी न था। उसने अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे। जो लोग बिना समझे-बूझे पुरानी बातों को वेद-वाक्य मानते थे, उनके अनुचित विश्वासों को उसने विचलित कर दिया; उनकी सद्-सद्विचार शक्ति को उसने जागृत कर दिया; उनकी विवेचना-रूपी तलवार पर जो मोरचा लग गया था, उसे उसने जड़ से उड़ा दिया।

मिल के ग्रन्थों में स्वाधीनता, उपयोगिता तत्त्व, न्यायशास्त्र और स्त्रियों की पराधीनता—इन चार ग्रन्थों का बड़ा आदर है। इन पुस्तकों में मिल ने जिन विचारों से—जिन दलीलों से—काम लिया है, वे बहुत प्रबल और अखण्डनीय हैं। यद्यपि कई विद्वानों ने मिल की विचार-परम्परा का खण्डन किया है, तथापि वे कृतकार्य्य नहीं हुए—उनको कामयाबी नहीं हुई। ये ग्रन्थ सब कहीं प्रीतिपूर्वक पढ़े जाते हैं। स्वाधीनता में मिल ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे बहुत ही दृढ़ प्रमाणों के आधार पर स्थित हैं। यह बात इस पुस्तक को पढ़ने से अच्छी तरह मालूम हो जाती है।

इस पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। उनकी विषय-योजना इस प्रकार है—

पहला अध्याय— प्रस्तावना।

दूसरा अध्याय—विचार और विवेचना की स्वाधीनता।

तीसरा अध्याय—व्यक्ति-विशेषता भी सुख का साधन है।

चौथा अध्याय—व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा।

पाँचवाँ अध्याय—प्रयोग।

मिल साहब का मत है कि व्यक्ति के बिना समाज या गवर्नमेंट का काम नहीं चल सकता और समाज या गवर्नमेंट के बिना व्यक्ति का काम नहीं चल सकता।

अतएव दोनों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा है। पर एक को दूसरे के काम में अनुचित हस्तक्षेप करना मुनासिब नहीं जिस काम से किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं, उसे करने के लिए हर आदमी स्वाधीन है। न उनमें समाज ही को कोई दस्तन्दाजी करना चाहिए और न गवर्नमेंट ही को। पर हाँ, उस काम से किसी आदमी का अहित न होना चाहिए। ग्रन्थकार ने स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। उसकी विवेचना-शक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। उसने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का बहुत ही मजबूत दलीलों से खण्डन किया है। उसकी तर्कना प्रणाली खूब सरल और प्रमाण-पूर्ण है।

स्वाधीनता का दूसरा अध्याय सब अध्यायों से अधिक महत्त्व का है। इसी से वह औरों से बड़ा भी है। इस अध्याय में जो बातें है, उनके जानने की आजकल बड़ी ही जरूरत है। आदमी का सुख विशेष करके उसकी मानसिक स्थिति पर अवलम्बित रहता है। मानसिक स्थिति अच्छी न होने से सुख की आशा करना दुराशा मात्र है। विचार और विवेचना करना मन का धर्म्म है। अतएव उनके द्वारा मन को उन्नत करना चाहिए। मनुष्य के लिए सबसे अधिक अनर्थकारक बात विचार और विवेचना का प्रतिबन्ध है। जिसे जैसे विचार सूझ पड़े, उसे उन्हें साफ साफ़ कहने देना चाहिए। इसी में मनुष्य का कल्याण है। इसी से, जितने सभ्य देश हैं, उनकी गवर्नमेंटों ने सब लोगों को यथेच्छ विचार, विवेचना और आलोचना करने की अनुमति दे रक्खी है। कल्पना कीजिए कि किसी विषय में कोई आदमी अपनी राय देना चाहता है और उसकी राय ठीक है। अब यदि उसे बोलने की अनुमति न दी जायगी तो सब लोग उस सच्ची बात को जानने से वंचित रहेंगे। यदि वह बात या राय सर्वथा सच नहीं है, केवल उसका कुछ ही अंश सच है, तो भी यदि वह प्रकट न की जायगी—तो उस सत्यांश से भी लोग लाभ न उठा सकेंगे। अच्छा, अब मान लीजिये कि कोई पुराना ही मत ठीक है, नया मत ठीक नहीं है। इस हालत में भी यदि नया मत न प्रकट किया जायगा तो पुराने की खूबियाँ लोगों की समझ में अच्छी तरह न आवेंगी। दोनों के गुण-दोषों पर जब अच्छी तरह विचार होगा, तभी यह बात ध्यान में आवेगी, अन्यथा नहीं। एक बात और भी है। वह यह कि प्रचलित रूढ़ि या परम्परा से प्राप्त हुई बातों या रस्मों के विषय में प्रतिपक्षियों के साथ वाद-विवाद न करने से उनकी सजीवता जाती रहती है। उनका प्रभाव धीरे-धीरे मन्द होता जाता है। इसका फल यह होता है कि कुछ दिनों में लोग उनके मतलब को बिलकुल ही भूल जाते हैं और सिर्फ़ पुरानी लकीर को पीटा करते हैं।

मिल की मूल पुस्तक की भाषा बहुत क्लिष्ट है। कोई-कोई वाक्य प्राय. एक-एक पृष्ठ में समाप्त हुए हैं। विषय भी पुस्तक का क्लिष्ट है। इससे इस अनुवाद में हम को बहुत कठिनता का सामना करना पड़ा है। हमको डर है कि हमसे अनुवाद-सम्बन्धी अनेक भूलें हुई होंगी। अतएव हमको उचित था कि हम ऐसे कठिन काम में हाथ न डालते। पर जिन बातों का विचार इस पुस्तक में है, उनके जानने की इस समय बड़ी आवश्यकता है। अतएव मिल साहब के अनुसार जब तक कोई अनुवाद सर्वथा निर्दोष न प्रकाशित हो, तब तक इसका जितना भाग निर्दोष या पढ़ने के लायक हो, उतने ही से पढ़ने वाले

स्वाधीनता के सिद्धान्तों और लाभों से जानकारी प्राप्त करें।[1]

यदि कोई यह कहे कि हिन्दी के साहित्य का मैदान बिलकुल ही सूना पड़ा है तो उसके कहने को अत्युक्ति न समझना चाहिए। दस पाँच क़िस्से, कहानियाँ, उपन्यास या काव्य आदि पढ़ने लायक पुस्तकों का होना साहित्य नहीं कहलाता और न कूड़े-कचरे से भरी हुई पुस्तकों ही का नाम साहित्य है। इस अभाव का कारण हिन्दी पढ़ने-लिखने में लोगों की अरुचि है। हमने देखा है कि जो लोग अच्छी अँगरेज़ी जानते है, अच्छी तनख्वाह पाते हैं और अच्छी जगहों पर काम करते है, वे हिन्दी के मुख्य मुख्य ग्रन्थों और अख़बारों का नाम तक नहीं जानते। आश्चर्य्य यह है कि अपनी इस अनभिज्ञता पर वे लज्जित भी नहीं होते। हाँ, लज्जित वे इस बात पर ज़रूर होते है, यदि समय का सत्यानास करने वाले अपने मित्र-मण्डल में बैठकर वे यह न बतला सकें कि अमुक मुन्शी साहब, या अमुक मिरज़ा साहब, या अमुक पण्डित (!) साहब आजकल कहाँ पर डिप्युटी कलेक्टर हैं; अमुक साहब कहाँ की कलेक्टरी पर बदल दिये गये है; अमुक सदरआला साहब कब छुट्टी पर आयँगे; अमुक मुनसरिम साहब के लड़के की शादी कहाँ हुई है; अमुक हेड मास्टर साहब नौकरी से कब अलग होंगे! एक दिन एक मशहूर ज़िला-स्कूल के हेड-मास्टर ने अपने स्कूल के ढोलन (Roller) का इतिहास वर्णन करके हमारे दो घण्टे नष्ट कर दिये। पर अनेक अच्छी अच्छी पुस्तकों को, नाम लेने पर आपने एक को भी, देखने की इच्छा प्रकट न की। इसका कारण रुचि-विचित्रता है। यदि ऐसे आदमियों में से दस पाँच भी अपने देश के साहित्य की तरफ़ ध्यान दें और उपयोगी विषयों पर पुस्तकें लिखें तो बहुत जल्द देशोन्नति का द्वार खुल जाय। क्योंकि शिक्षा के प्रचार के बिना उन्नति नहीं हो सकती; और देश में फ़ी सदी दो चार आदमियों का शिक्षित होना न होने के बराबर है। शिक्षा से यथेष्ट लाभ तभी होता है जब हर गाँव में उसका प्रचार हो; और यह बात तभी सम्भव है जब अच्छे अच्छे विषयों की पुस्तकें देश-भाषा में प्रकाशित होकर सस्ते दामों पर बिकें। जापान की तरफ़ देखिए। उसने जो इतना जल्द इतनी आश्चर्य्यजनक उन्नति की है, उसका कारण विशेष करके शिक्षा का प्रचार ही है। हमने एक जगह पढ़ा है कि जिस जापानी ने मिल साहब की स्वाधीनता (Liberty) का अपनी भाषा मे अनुवाद किया, वह सिर्फ़ इसी एक पुस्तक को लिखकर अमीर हो गया। थोड़े ही दिनों में उसकी लाखों कापियाँ बिक गई। जापान के राजेश्वर खुद मिकाडो ने उसकी कई हजार कापियाँ अपनी तरफ़ से मोल लेकर अपनी प्रजा को मुफ़्त में बाँट दी। परन्तु इस देश की दशा बिलकुल ही उलटी है। यहाँ मोल लेने का तो नाम ही न लीजिये, यदि इस तरह की पुस्तकें यहाँ के राजा, महाराजा और अमीर आदमियों के पास कोई यों ही भेज दे तो भी शायद वे उन्हें पढ़ने का कष्ट न उठावें। इससे बहुत सम्भव है कि हमारी यह पुस्तक बे-छपी ही रह जाय! ख़ैर!

1. 'स्वाधीनता' पुस्तक का अनुवाद द्विवेदी जी ने 1905 में किया था। यह अनुवाद रचनावली के दसवें खण्ड में संकलित किया गया है। इस पुस्तक ने हिन्दुस्तानियों में स्वातंत्र्य-चेतना पैदा करने में अहम् भूमिका निभाई थी। —यायावर

इस दशा में हमारी राय यह है कि इस समय हिन्दी में जितनी पुस्तकें लिखी जायँ, खूब सरल भाषा में लिखी जायँ। यथासम्भव उनमें संस्कृत के कठिन शब्द न आने पावें। क्योंकि जब लोग सीधी-सादी भाषा की पुस्तको ही को नहीं पढ़ते, तब वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तको को क्यों छूने लगे। अतएव जो शब्द बोलचाल में आते हैं—फिर चाहे वे फ़ारसी के हों, चाहे अरबी के हों, चाहे अँगरेज़ी के हों—उनका प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। पुस्तक लिखने का मतलब सिर्फ़ यह है कि उसमें जो कुछ लिखा गया है, उसे लोग समझ सकें। यदि वह समझ में आया, अथवा क्लिष्टता के कारण उसे किसी ने न पढ़ा, तो लेखक की मिहनत ही बरबाद जाती है। पहले लोगो में साहित्य-प्रेम पैदा करना चाहिए। भाषा-पद्धति पीछे से ठीक होती रहेगी।

इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर हमने मिल की 'स्वाधीनता' के अनुवाद में हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत इत्यादि शब्द—जहाँ पर हमे जैसी जरूरत जान पड़ी है—लिखे है। मतलब को ठीक ठीक समझाने के लिए कही कहीं पर हमने एक ही बात को दो-दो तीन-तीन तरह से लिखा है। कहीं कहीं पर एक ही अर्थ के बोधक अनेक शब्द हमने रक्खे हैं। कहीं मूल के भाव को हमने बढ़ा दिया है और कहीं पर कम कर दिया है। यदि पुस्तक उपयोगी समझी गई और यदि लोगो ने इसे पढने की कृपा की (जिसकी हमें बहुत कम आशा है) तो इसकी भाषा ठीक करने में देर न लगेगी। इस पुस्तक का विषय इतना कठिन है कि कही कहीं पर इच्छा न रहते भी, विवश होकर, हमें संस्कृत के क्लिष्ट शब्द लिखने पड़े हैं; क्योंकि उनसे सरल शब्द हमें मिले ही नही।

जून 1904 में जब हम झाँसी से कानपुर आये, तब हमने, आजकल के समय के अनुकूल, कुछ उपयोगी पुस्तकें लिखने का विचार किया। हमारा इरादा पहले और एक पुस्तक के लिखने का था। परन्तु बीच में एक ऐसी घटना हो गई जिससे हमें उस इरादे को रहित करके इस पुस्तक को लिखना पड़ा। 7 जनवरी को आरम्भ करके 13 जून को हमने इसे समाप्त किया। बीच में, कई बार, अनिवार्य कारणो से, अनुवाद का काम हमें बन्द भी रखना पड़ा। किसी सार्वजनिक समाज की सार्वजनिक बातो की यदि समालोचना होती है तो वह समालोचना उसे अक्सर अच्छी नहीं लगती। इससे उसे रोकने की वह चेष्टा करता है। जब उसे यह बात बतलाई जाती है कि सार्वजनिक कामों की आलोचना का प्रतिबन्ध करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है, तब वह अक्सर यह कह बैठता है कि हम समालोचना को नही रोकते, किन्तु 'व्यर्थ निन्दा' को रोकना चाहते हैं। अतएव ऐसे व्यर्थ निन्दा-प्रतिरोधक लोगो के लाभ के लिए हमने पहले इसी पुस्तक को लिखना मुनासिब समझा; क्योंकि प्रतिबन्ध-हीन विचार और विवेचना की जितनी महिमा इस पुस्तक में गाई गई है, उतनी शायद ही कही गाई गई हो।

जिस आदमी को सर्वज्ञ होने का दावा नही है, उसे अपने काम-काज की विवेचना या समालोचना को रोकने की भूल से भी चेष्टा न करनी चाहिए। और इस तरह की चेष्टा करना सार्वजनिक समाज के लिए तो और भी अधिक हानिकारक है। भूलना मनुष्य की प्रकृति है। बड़े बड़े महात्माओं और विद्वानो से भूलें होती हैं। इससे यदि समालोचना बन्द कर दी जायगी—यदि विचार और विवेचना की स्वाधीनता छीन ली

जायगी—तो सत्य का पता लगाना असम्भव हो जायगा। लोगों की भूलें उनके ध्यान में आवेगी किस तरह ? हाँ, यदि वे सर्वज्ञ हों तो बात दूसरी है।

व्यर्थ निन्दा कहते किसे हैं ? व्यर्थ निन्दा से मतलब शायद झूठी निन्दा से है। जिसमें जो दोष नहीं है, उसमें उस दोष के आरोपण का नाम व्यर्थ निन्दा हो सकता है। परन्तु इसका जज कौन है कि निन्दा व्यर्थ है या अव्यर्थ ? जिसकी निन्दा की जाय, वह ? यदि यही न्याय है तो जितने मुजरिम हैं, उन सब की जबान ही को सेशन कोर्ट समझना चाहिए। इतना ही क्यों, उस दशा में यह भी मान लेना चाहिए कि हाई कोर्ट और प्रिवी कौंसिल के जजों का काम भी मुजरिमों की जबान ही के सिपुर्द है। कौन ऐसा मुजरिम होगा जो अपने ही मुँह से अपने को दोषी क़बूल करेगा ? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी निन्दा को सुनकर ख़ुशी से इस बात को मान लेगा कि मेरी उचित निन्दा हुई है ? जो इतने साधु, इतने सत्यशील, इतने सच्चरित्र होते हैं कि अपनी यथार्थ निन्दा को निन्दा और दोष को दोष क़बूल करते नहीं हिचकते, उनकी कभी निन्दा ही नहीं होती। उन पर कभी किसी तरह का जुर्म ही नहीं लगाया जाता। अतएव जो कहते हैं कि हम अपनी व्यर्थ निन्दा मात्र को रोकना चाहते हैं, वे मानो इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारी बुद्धि ठिकाने नहीं, हम व्यर्थ प्रलाप कर रहे हैं, हम अपनी अज्ञानता को सबके सामने रख रहे हैं। जो समझदार हैं, वे अपनी निन्दा को प्रकाशित होने देते हैं; और जब निन्दा प्रकाशित हो जाती है तब, उपेक्ष्य होने के कारण, या तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, या वे इस बात को सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि उनकी जो निन्दा हुई है, वह व्यर्थ है। अपने पक्ष का जब वे समर्थन कर चुकते हैं, तब सर्व-साधारण जज का काम करते हैं। दोनों पक्षों की दलीलों को सुनकर वे इस बात का फ़ैसला करते हैं कि निन्दा व्यर्थ हुई है या अव्यर्थ।

हम कहते हैं कि जब तक कोई बात प्रकाशित न होगी, तब तक उसकी व्यर्थता या अव्यर्थता साबित किस तरह होगी ? क्या निन्द्य व्यक्ति को उसकी निन्दा सुना देने ही से काम निकल सकता है ? हरगिज नहीं। क्योंकि सम्भव है, वह अपनी निन्दा को स्तुति समझे; और यदि निन्दा को वह निन्दा मान भी ले तो उसे दण्ड कौन देगा ? जिन लोगों के काम-काज का सर्व-साधारण से सम्बन्ध है, उनकी निन्दा सुनकर सब लोग जब तक उनका धिक्कार नहीं करते, तब तक उनको धिक्कार-रूप उचित-दण्ड नहीं मिलता। जो लोग इन दलीलों को नहीं मानते, वे शायद अख़बारवालों से किसी दिन यह कहने लगें कि तुमको जिसकी निन्दा करना हो या जिस पर दोष लगाना हो, उसे अख़बार में प्रकाशित न करके चुपचाप उसे लिख भेजो। परन्तु जिनकी बुद्धि ठिकाने है—जो पागल नहीं हैं—वे कभी ऐसा न कहेंगे।

कल्पना कीजिए कि किसी की राय या समालोचना को बहुत आदमियों ने मिल कर झूठ ठहराया; उन्होंने निश्चय किया कि अमुक आदमी ने अमुक सभा, समाज, संस्था या व्यक्ति की व्यर्थ निन्दा की; तो क्या इतने से ही उनका निश्चय निर्भ्रान्त सिद्ध हो गया ? साक्रेटिस पर व्यर्थ निन्दा करने का दोष लगाया गया। इसलिए उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। परन्तु इस समय सारी दुनिया इस अविचार के

लिए अफ़सोस कर रही है, और साक्रेटिस के सिद्धान्तों की शतमुख से प्रशंसा हो रही है। क्राइस्ट के उपदेशों का निन्द्य समझ कर यहूदियो ने उसे सूली पर चढ़ा दिया। फिर क्यो आधी दुनिया इस निन्दक के चलाये हुए धर्म्म को मानती है? बौद्धो ने शंकराचार्य को क्या अपने मन का व्यर्थ निन्दक नही समझा था? फिर, बतलाइए यह सारा हिन्दुस्तान क्यो उनको शंकर का अवतार मानता है? जब सैकडो वर्ष वाद-विवाद होने पर भी निन्दा की यथार्थता नही साबित की जा सकती, तब किसी बात को पहले ही से कह देना कि यह हमारी व्यर्थ निन्दा है, अतएव इसे मत प्रकाशित करो, कितनी बड़ी धृष्टता का काम है? निन्दा-प्रतिबन्धक मत के अनुयायी ही इस धृष्टता—इस अविचार का परिणाम निश्चित करने की कृपा करें।

जिन लोगो का यह खयाल है कि 'व्यर्थ निन्दा'[1] के प्रकाशन को रोकना अनुचित नही, वे सदय-हृदय होकर यदि मिल साहब की दलीलो को सुनेंगे और अपनी सर्वज्ञता को जरा देर के लिए अलग रख देंगे तो उनको यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि वे कितनी समझ रखते हैं। निन्दा-प्रतिबन्धक मत के जो पक्षपाती मिल साहब की मूल पुस्तक को अँगरेजी में पढ़ने के बाद 'व्यर्थ निन्दा' रोकने की चेष्टा करते हैं, उनके अज्ञान, हठ और दुराग्रह की सीमा और भी अधिक दूर-गामिनी है। क्योंकि जब मिल के सिद्धान्तो का खण्डन बड़े बड़े तत्त्वदर्शी विद्वानों से भी अच्छी तरह नही हो सकता, तब औरों की क्या गिनती है? परन्तु यदि उन्होंने मूल पुस्तक को नही पढ़ा तो अब तो वे कृपा-पूर्वक इस अनुवाद को पढ़े। इससे उनकी समझ में यह बात आ जायगी कि अपनी निन्दा व्यर्थ हो चाहे अव्यर्थ—रोकने की चेष्टा करना मानो इस बात का सबूत देना है कि वह निन्दा झूठ नहीं, बिलकुल सच है। व्यर्थ निन्दा के असर को दूर करने का एक मात्र उपाय यह है कि जब निन्दा प्रकाशित हो ले, तब उसका स-प्रमाण खण्डन किया जाय और दोनो पक्षो के वक्तव्य का फ़ैसला सर्व-साधारण की राय पर छोड़ दिया जाय। ऐसे विषयो मे जन-समुदाय ही जज का काम कर सकता है। उसी की राय मान्य हो सकती है। जो इस उपाय का अवलम्बन नही करते, जो ऐसी बातो को जन-समूह की राय पर नही छोड़ देते, जो अपने मुकद्दमे के आप ही जज बनना चाहते हैं, उनके तुच्छ, हेय और उपेक्ष्य प्रलापो पर समझदार आदमी कभी ध्यान नही देते। ऐसे आदमी तब होश में आते हैं जब अपने अहंमानी स्वभाव के कारण अपना सर्वनाश कर लेते है। ईश्वर इस तरह के आदमियों से समाज की रक्षा करे!

[अगस्त, 1905 में प्रकाशित। 'संकलन' पुस्तक में संकलित।]

---

1. यहाँ द्विवेदीजी ने 'व्यर्थ निन्दा' के सन्दर्भ में जो बातें लिखी है, वह उन पर श्यामसुन्दर दास के द्वारा ऐसा आरोप लगाये जाने के कारण। श्यामसुन्दर दास से हुए उनके विवादों की सामग्रियाँ रचनावली के दूसरे खण्ड में संकलित है।

—यायावर

सुल्तान अब्दुलअज़ीज़

इस समय मुराको पर योरप की शक्तियों की विशेष कृपा-दृष्टि है। मुराको का राज्य-प्रबन्ध अच्छा नहीं। इस कारण मुराको के सभ्य और शिक्षित पड़ोसियों को आन्तरिक पीड़ा हो रही है। उनसे मुराको की राज्य-दुर्व्यवस्था देखी नहीं जाती। इससे वे उसे सुधारने की फ़िक्र में हैं।

मुराको अफ़रीका के उत्तर-पश्चिम में है। उसके उत्तर में भूमध्य-सागर और पश्चिम में अटलांटिक महासागर है। उसका असली नाम मराकुश है। मुराको उसी का अपभ्रंश है। यह देश बहुत पुराना है। इस देशवालों ने योरप की शक्तियों को कई बार परास्त किया है। पर अब उनका वह दिन नहीं। अब जमाना बिलकुल ही बदल गया है। मुराको के पूर्व आलजीरिया नामक एक छोटा सा देश है। वह फ्रांस के अधिकार में है। उसे फ्रांस का उपनिवेश कहना चाहिए। पहले वहाँ मुसलमानी राज्य था। सुल्तान रूम उसके सार्वभौम शासक माने जाते थे। पर कई कारणों से, अनेक लड़ाई-झगड़ों के बाद, फ्रांस ने उसे अपने क़ब्ज़े में कर लिया। उस पर दखल करके उसने अँगरेजों से कहा कि हम यहाँ की दुर्व्यवस्था दूर करके अपना दखल उठा लेंगे। हम सिर्फ़ यहाँ सुधार करने आये हैं। पर कुछ वर्ष बाद फ्रांस ने वहाँ से हटने से इनकार कर दिया। अँगरेजों ने इस पर कोई एतराज़ नहीं किया। मिश्र को सुधारने के इरादे से उन्होंने अपना ध्यान उस तरफ़ फेरा। अब फ्रांस को मुराको की अव्यवस्था भी खटकने लगी है। इस कारण उस पर भी दया दिखाने का वह आयोजन कर रहा है। उधर स्पेन भी मुराको का पड़ोसी है। वह भी इस पुण्य-कार्य्य में शामिल होना चाहता है। जर्मनी यद्यपि दूर है, तथापि अच्छे कामों के लिए दूर या पास का ख़याल नहीं किया जाता। दूर रहकर भी जर्मन-नरेश मुराको की सीमा का दर्शन कर आये हैं और अपने शुभ चिन्तन से मुराको के सुल्तान को ऋणी बना आये हैं।

इन्हीं कारणों से योरप की शक्तियों में मुराको के सम्बन्ध में विषम विवाद हो रहा है। जिबराल्टर के पास एक जगह आलजिसीरस है। वह स्पेन के अधिकार में है। वहीं सब शक्तियों के प्रतिनिधियों ने जमा होकर मुराको-सम्बन्धी समस्याओं के हल करने की ठानी। सब जमा हुए। महीनों मीमांसा होती रही। जर्मनी ने बड़े बड़े दाँव-पेच खेले। इससे मीमांसा का सिद्धान्त स्थिर करने में बहुत विलम्ब हुआ। अब सुनते हैं, सब बातों का निश्चय हो गया है और उस निश्चय को सुनने के लिए सभा के कुछ सभ्य मुराको के सुल्तान अब्दुलअज़ीज़ के पास गये हैं।

पाठक कहेंगे, मुराको के सुल्तान अपने देश का सुधार करें या न करें, औरों को दस्तंदाज़ी करने का क्या अधिकार? पर योरप की राजनीति ऐसी नहीं। उसके अनुसार इस तरह दस्तंदाज़ी करना ही न्याय है। वहाँ के नीतिनिपुण कहते हैं कि यदि आपके

पड़ोस में दिन रात दंगा फ़िसाद और मारपीट हुआ करे उससे आपको कुछ तकलीफ़ पहुँचे या नहीं ? यदि रात रात भर तबला ठनके या आल्हा गाया जाय तो क्या आपको नींद आयगी ? यही दशा आप मुराको की क्यों न समझें ? वहाँ के कुप्रबन्ध से पास-पड़ोस के देश आजिज़ आ गये हैं । इसलिए वे कहते है कि मुराको में खूब अमन-चैन का राज्य स्थापित करके हम अपने घर चले जायँगे और वहीं फिर सुख से सोवेंगे । मुराको के बागियों और डाकुओं के भेरी-नाद से फिर हमारी निद्रा भंग न होगी । इसलिए यह सारा प्रयत्न है ।

जिन मुराको के लिए यह सब बखेड़ा हो रहा है उसका क्षेत्रफल कोई तीन लाख वर्गमील है । क्षेत्रफल में वह फ्रांस के आलजीरिया देश से दूना है । वहाँ की आबादी का ठीक ठीक हिसाब नही मालूम हुआ । कई अँगरेज ग्रन्थकारों का मत है कि वह कोई 65 लाख है । अरब, बरबर और यहूदी लोग वहाँ अधिक बसते है । हबशी भी कुछ हैं । बिगड़ी हुई अरबी वहाँ की भाषा है । पहले वहाँ कोई विदेशी व्यापार करने न जाने पाता था । परन्तु 1864 ईसवी में सुल्तान ने एक इक़रारनामा योरप की सब शक्तियों को लिख दिया कि आज से जो योरप-निवासी चाहे हमारे देश में आकर व्यापार करे । बस, मुराको के दोष देख पड़ने का यही से सूत्रपात हुआ ।

मुराको के सुल्तान का पूरा नाम है मुलाई अब्दुलअज़ीज़ । उनकी पदवी है अमीरुल्मोमनीन । आप जिस वंश के है उसका राज 15 पीढ़ियों से मुराको में चला आता है । आपका जन्म 24 फ़रवरी 1878 को हुआ था । पिता के मरने के बाद, 7 जून 1894 को, आपने गद्दी पाई । आपकी राजधानी फेज़ नाम का शहर है । सुल्तान अब्दुलअजीज़ अपने को अली का वंशज बतलाते है । आपके कुमार का नाम है शाहज़ादा हसन ।

मुराको में सुल्तान की सत्ता अखण्ड है । वे जो चाहे कर सकते है । उनकी इच्छा ही क़ानून है । राजकीय और धार्म्मिक दोनो विषयो में सुल्तान की आज्ञा ही क़ानून है । अलग अलग महकमों के 6 मन्त्री सुल्तान के अधीन है । इच्छा होने पर सुल्तान उनसे सलाह ले सकते हैं । पर इसका कोई नियम नही कि सब बातें मन्त्रियों से पूछ कर ही वे करें । सुल्तान की आमदनी कोई 75 लाख रुपये सालाना है । प्रजा से कर, नज़रें और तोहफ़े इत्यादि लेने से यह आमदनी होती है ।

सुल्तान की राजधानी यद्यपि फेज़ में है, पर आप अकसर और जगह भी रहा करते है । आप की फौज में तोपों की कई बैटरियां हैं, रिसाले है और कोई दस हज़ार सीखी सिखाई पैदल फ़ौज भी है । काईद मैकलिन नाम का एक अँगरेज़ सुल्तान के यहाँ नौकर है । वही उनकी फ़ौज को क़वायद परेड सिखलाता है । ये साहब बहादुर फ़ौजी भी काम करते हैं और मुल्की भी । अँगरेज़ लोग इनकी बड़ी तारीफ़ करते है । वे कहते हैं कि इनके सुधार-मार्ग में यद्यपि अनेक कठिनाइयाँ है तथापि इन्होंने मुराको की बहुत कुछ उन्नति की है ।

सुल्तान को फ़ोटो लेने का बड़ा शौक़ है । आप अच्छे फ़ोटोग्राफ़र है । आपने इंगलैंड से फ़ोटोग्राफ़ी के बहुत क़ीमती सामान मँगवाये हैं । कैमरा सोने का है । उसमें

रत्न जड़े हुए हैं। आप कैमरा लिये हुए अकसर फ़ोटो उतारा करते हैं। आपके महल में अनेक बेगमें हैं। उन तक के फ़ोटो आप उतारते हैं। इतना ही नहीं; उन्हें लोगों को दिखलाते भी हैं। अँगरेज़ों के सामने ये फ़ोटो अकसर पेश होते हैं। इस बात से मुल्तान के अमीर-उमरा अप्रसन्न हैं। एक तो इस तरह के चित्र उतारना ही मुसलमानी धर्म्म के खिलाफ़ है; दूसरे विकट पर्दे में रहने वाली सुल्तान-बीवियों के चित्र खुल्लमखुल्ला औरों को दिखलाना तो स्वतन्त्रता की हद हो गई। लोग समझते हैं कि सुल्तान में पश्चिमी सभ्यता की बू समा गई है। वे इसे अनुचित ससझते हैं।

मुल्तान अब्दुलअज़ीज़ के दादा एक बार नज़रबाग में अपनी बेगमों के साथ हवा खाने गये। वहाँ एक कृत्रिम तालाब था। उसमें छोटी छोटी नावें पड़ी थी। सुल्तान अपनी एक प्यारी बेगम को लेकर एक नाव पर सवार हुए और जल-विहार करने लगे। दुर्दैव से नाव उलट गई। मुल्तान तो किसी तरह निकल आये। पर सुल्ताना डूबने लगी और मदद के लिए चिल्लाई। दूर खड़े हुए एक मन्त्री ने उनकी आवाज़ सुनी। वह दौड़ा आया और उन्हें डूबने से बचाया। इस पर बूढ़े सुल्तान बहुत ही अप्रसन्न हुए। उन्होंने बेगम की जान बचाने के उपलक्ष्य मे उसका सिर कटवा दिया। सुल्तान की बेगम मर चाहे जाय, पर उसके बदन पर दूसरे का हाथ न लगे। इन्हीं सुल्तान के पौत्र अपनी असूर्य्यम्पश्या बेगमों के चित्रों की प्रदर्शनी करते हैं।

मुल्तान को विलायती चीजें बहुत पसन्द है। उन्होंने मामूली बाइसिकल, मोटर बाइसिकल, मोटरगाड़ी, मोटरनाव, गुब्बारे इत्यादि चीज़ें मँगाई हैं। 12 घोड़ों की ताक़त रखने वाला एक एंजिन भी उन्होंने मँगाया है। अपने महल के अहाते में 3 मील लम्बी लोहे की पटरी सुल्तान ने बिछवाई है। दो तीन बहुत ही अच्छी गाड़ियों में इस एंजिन को जोड़ कर सुल्तान खुद उसे चलाते हैं। गाड़ियों में मुल्तान की बेगमें बैठकर मुसाफिरी करती हैं और सुल्तान ड्राइवरी।

सुल्तान अब्दुलअज़ीज योरप और अमेरिका के कला-कौशल की बड़ी तारीफ़ करते हैं। सिनिमेटोग्राफ़ की बदौलत उन्होंने सारे योरप को अपने महल में बुला लिया है। वहाँ के सैकड़ों दृश्य इसी यन्त्र की सहायता से वे देखा करते है। लन्दन, पेरिस और न्यूयार्क की सड़कों में गोया वे हर रोज़ घूमा करते हैं।

राजकीय कामों को सुल्तान खुद देखते है, सब कागज़ात पढ़ते है और हुक्म देते है। वज़ीरों ही की आँखों से वे नहीं देखते। उन्हें खुशामद पसन्द नहीं। योरप के सर्व-साधारण जनों की राय की वे बहुत परवा करते है। वहाँ के अखबार पढ़ते है और जी-जान से अपने देश का सुधार करना चाहते हैं। पर यह सुधार ही लोगों को विष हो रहा है। वे नहीं चाहते कि योरप की शिक्षा और सभ्यता का प्रचार हो रहा है। वे नहीं चाहते कि योरप की शिक्षा और सभ्यता का प्रचार वहाँ हो। ऐसे ही अनेक कारणों से सुल्तान का एक प्रतिपक्षी खड़ा हो गया है। वह अकसर दंगे-फ़िसाद किया करता है। उसने कुछ फ़ौज भी इकट्ठी कर ली है। इस कारण मुराको में कहीं कहीं अराजकता फैल गई है।

अँगरेज़ ग्रन्थकारों की राय है कि सुल्तान की योग्यता में कुछ कसर नहीं। वे

शिक्षा, सभ्यता और कलाकौशल के पक्षपाती हैं। पर प्रजा पर उनकी बात का असर कम पड़ता है। सुल्तान के अमीर उमरा और अधिकारी विश्वास-पात्र नहीं। वे प्रजा-पीड़क हैं। चाहे जिस तरह से हो रुपया कमाना ही उनका एक मात्र उद्देश रहता है। अधिकार की जगहें बिकती हैं। जो सबसे अधिक देता है वही पाता है। गवर्नरी तक बिकती है। इसी तरह ऊँचे से ऊँचे पद लेकर नीचे से नीचे पद तक का क्रय-विक्रय होता रहता है। यदि सुल्तान प्रजा पर किसी निमित्त एक हजार रुपये कर लगाते हैं तो उसका कई गुना प्रजा को देना पड़ता है। कुछ गवर्नर बढ़ा देता है, कुछ कमिश्नर, कुछ ज़िले के हाकिम। इसी तरह उसकी खूब वृद्धि हो जाती है। हर एक बड़े अधिकारी के अधीन एक एक जेल रहता है। जो कोई उसे अप्रसन्न करता है वह उसी में ठूँसा जाता है। यदि प्रजा से तीन रुपये कर वसूल किया जाता है तो सिर्फ़ एक रुपया सुल्तान के ख़जाने में पहुँचता है। इसी से मुराको की दशा अच्छी नहीं।

योरप की शक्तियों को मुराको की यह दुरवस्था असह्य हो गई है। इसी से आलजिसीरस में सभा करके वे उसे दूर करना चाहते हैं—"परोपकारः पुण्याय"।

[मई, 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' पुस्तक मे संकलित।]

हर्बर्ट स्पेन्सर

यह संसार प्रकृति और पुरुष का लीला-स्थल है। बिना इन दोनों का संयोग हुए संसार क्या कुछ भी नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृति का खेल है; पर उस खेल का दिखाने वाला पुरुष है। प्रकृति का दूसरा नाम पदार्थ है और पुरुष का दूसरा नाम शक्ति। जितने पदार्थ हैं सबमें कोई न कोई शक्ति विद्यमान है। पानी से भाफ, भाफ से मेघ और मेघों से फिर पानी। रुई से सूत, सूत से कपड़े और कपड़ों से फिर रुई। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल और फल से फिर बीज। इसी तरह संसार में उलट-फेर लगा रहता है और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहने वाली शक्ति-विशेष इसका कारण है। जब से सृष्टि हुई तब से प्रकृति-पुरुष का झंझट जो शुरू हुआ तो अब तक बराबर चला जा रहा है। यदि प्रकृति निर्बल और पुरुष प्रबल हो जाता है तो उसे विद्वान् लोग उत्क्रान्ति कहते हैं और इसकी विपरीत घटना को अपक्रान्ति। संसार में जितने व्यापार हैं सबका कारण इस उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति ही के आघात-विघात है। जिन नियमो—जिन सिद्धान्तो—के अनुसार यह सब होता है उनकी विवेचना करने वालों का नाम तत्त्वदर्शी है। ऐसे तत्त्वदर्शियों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित सुनिए।

इंगलैंड के डर्बी नामक शहर में 27 एप्रिल 1820 को स्पेन्सर का जन्म हुआ। उसका पिता वहाँ एक मदरसे में अध्यापक था और चचा पादरी था। ख़र्च अधिक था। स्कूल की नौकरी से जो आमदनी होती थी उससे काम न चलता था। इससे स्पेन्सर का पिता लड़कों के घर जाकर पढ़ाया करता था। इसमें अधिक मिहनत पड़ती थी, जिसका फल यह हुआ कि वह बीमार हो गया और मदरसे से उसे इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। जब उसकी तबीयत कुछ अच्छी हुई तब उसने कलाबत्तू की डोरियाँ तैयार करने का एक कारख़ाना खोला। उसमें उसे नुक़सान हुआ। जिसने जन्म भर अध्ययन और अध्यापन किया उससे इस तरह के काम भला कैसे हो सकते हैं? अन्त में कारख़ाना बन्द करना पडा। तब स्पेन्सर के पिता ने अपना एक मदरसा अलग खोल लिया। इसमें उसे कामयाबी हुई और घर का ख़र्च अच्छी तरह चलने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर लड़कपन में बहुत कमज़ोर था। सात-आठ वर्ष की उम्र तक उसने कुछ भी नहीं पढ़ा-लिखा। उसकी कमज़ोरी देखकर उसका पिता भी कुछ न कहता था। उसने अपने लड़के पर पढ़ने लिखने के लिए कभी दबाव नही डाला। हर्बर्ट को छोटी ही उम्र में विज्ञान का चसका लग गया था। वह दूर-दूर तक घूमने निकल जाया करता था और तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े और पौधे लाकर घर पर जमा करता था। इसी को उसकी विज्ञान-शिक्षा का प्रारम्भ समझिए। पिता इन बातों से अप्रसन्न न होता था। वह उलटा पुत्र को उत्साहित करता था। उसका कहना था कि जो बात तुम्हें अच्छी लगे वही करो। इसी से स्पेन्सर कीट-पतंगों के रूपान्तर और पौधों में होने वाले फेरफार देखने

ही में कई वर्ष तक लगा रहा ।

स्पेन्सर ने किसी मदरसे में शिक्षा नहीं पाई । घर ही पर स्पेन्सर के पिता और चचा ने उसे शिक्षा दी । हाँ, कुछ दिन के लिए वह एक मदरसे में ज़रूर गया था । वहाँ उसके क्लास में 12 लड़के थे । वहाँ पाठ सुनाने का समय आने पर हर्बर्ट बेचारे को एकदम सब लड़कों के नीचे जाना पड़ता था । पर गणित इत्यादि वैज्ञानिक शिक्षा का समय आते ही वह सबसे ऊपर पहुँच जाता था । प्रायः प्रति दिन ऐसा ही होता था । स्पेन्सर का पिता अच्छा विद्वान् था और चचा भी । इससे वे दोनों जब मिलते थे तब किसी न किसी गम्भीर शास्त्र-विषय की चर्चा ज़रूर करते थे । उनकी बातें स्पेन्सर ध्यान से सुनता था और उनसे बहुत फ़ायदा उठाता था । पुत्र की प्रवृत्ति वैज्ञानिक विषयों की ओर देखकर पिता ने उसे और भी अधिक उत्तेजना दी और अपनी सारी विद्या-बुद्धि ख़र्च करके पुत्र के हृदय पर शास्त्र के मोटे-मोटे सिद्धान्त खचित कर दिये । इससे यह न समझना चाहिए कि स्पेन्सर को पुस्तकावलोकन से प्रेम न था । प्रेम था और बहुत था । परन्तु विशेष करके वह शास्त्रीय विषयों ही की पुस्तकें देखा करता था ।

स्पेन्सर को पहले पहल 'सैंडफ़र्ड ऐंड मर्टन'(Sandford and Merton)नाम की किताब पढ़ाई गई । उसे स्पेन्सर ने बड़े चाव से पढ़ा । कुछ दिन में उसे पढ़ने का इतना शौक बढ़ा कि दिन-दिन रात-रात भर उसके हाथ से किताब न छूटती थी । उसकी माँ न चाहती थी कि वह इतनी मिहनत करे, क्योंकि वह बहुत कमज़ोर था । इससे रात को वह अक्सर स्पेन्सर के कमरे में सोने के पहले यह देखने जाया करती थी कि कहीं वह पढ़ तो नहीं रहा । उसे आती देख स्पेन्सर मोमबत्ती को गुल करके चुपचाप लेट रहता था, जिससे उसकी माँ समझे कि वह सो रहा है । पर उसके चले जाने पर वह फ़िर पढ़ना शुरू कर देता था ।

कोई 11 वर्ष की उम्र में स्पेन्सर की कमजोरी जाती रही । वह सबल हो गया । वह पढ़ता भी था और घूमता-फिरता भी था । इससे उसके दिमाग़ पर अधिक बोझ नहीं पड़ा और इसी से उसके शरीर में बल भी आ गया । स्पेन्सर बड़ा निडर और साहसी था । एक दफ़े वह अपने चचा के घर से अकेला अपने घर पैदल चला आया । पहले दिन वह 48 मील चला, दूसरे दिन 47 मील ! बिना सबूत के स्पेन्सर किसी की बात न मानता था । चाहे जो हो, जब तक वह उसकी बात की सचाई को सबूत की कसौटी पर न कस लेता था, या ख़ुद तजरिबे से उसकी सचाई को न जान लेता था, तब तक कभी उस पर विश्वास न करता था । यह विलक्षणता उसके लड़कपन ही से थी । यह आदत उसकी मरने तक नहीं छूटी । इसी के प्रभाव से उसने पूर्व-तत्त्व ज्ञानियों के सिद्धान्तों को चुपचाप न मानकर सबकी परीक्षा की और उनके खण्डनीय अंश का कठोरता-पूर्वक खण्डन किया ।

सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र तक स्पेन्सर को घर पर ही शिक्षा मिलती रही । इतने दिनों में उसने गणित-शास्त्र, यन्त्र-शास्त्र, चित्र-विद्या आदि में अच्छा अभ्यास कर लिया। स्पेन्सर को संस्कृत की समकक्ष लैटिन और ग्रीक आदि पुरानी भाषाओं से बिलकुल प्रेम न था और विश्वविद्यालय में इनको पढ़े बिना काम नहीं चल सकता । इससे वह किसी

कालेज में भरती नहीं हुआ। अब मुशकिल यह हुई कि कालेज की शिक्षा पाये बिना नौकरी कैसे मिल सकेगी। उस समय रेलवे ही का महकमा ऐसा था जहाँ विश्वविद्यालय की सरटीफ़िकेट दरकार न होती थी। इस कारण स्पेन्सर ने रेलवे का काम सीखना शुरू किया और 17 वर्ष की उम्र में वह इंजिनियर हो गया। आठ वर्ष तक वह इस काम को करता रहा। पर विद्या का उसे ऐसा व्यसन था कि इसके आगे रेलवे का काम उसे अच्छा न लगा। उसे छोड़कर वह अलग हो गया। नौकरी की हालत में एक इंजिनियरी की सामयिक पुस्तक में वह लेख भी लिखता रहा था। इससे लिखने में उसे अच्छा अभ्यास हो गया। 1842 ईसवी में उसने 'नान-कनफ़ारमिस्ट' (Non-conformist) नामक पुस्तक में 'राजा का वास्तविक अधिकार' नाम की लेख-मालिका शुरू की। वह पीछे से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

इसके बाद स्पेन्सर 'यकनोमिस्ट' (Economist)नामक एक सामयिक पुस्तक का सहकारी सम्पादक हो गया और कोई 5 वर्ष तक बना रहा। सम्पादन करना और लेख लिखना ही अब उसका एक-मात्र व्यवसाय हुआ। इसमें उसने बहुत तरक्क़ी की। कुछ दिनों में वह लन्दन चला आया और वहीं स्थिर होकर रहने लगा। यहाँ पर उसने 'व्यस्ट-मिनिस्टर रिव्यू' (Westminister Review) में लेख लिखने शुरू किये। इससे उसका बड़ा नाम हुआ। लिखने का अभ्यास बढ़ता गया। धीरे-धीरे उसकी लेखन-शक्ति बहुत ही प्रबल हो उठी। 30 वर्ष की उम्र में उसने 'सोशल स्टेटिक्स' (Social Statics) नाम की किताब लिखी। उसमें सामाजिक और राजनैतिक विषयों का उसने बहुत ही योग्यता-पूर्ण विचार किया। उसकी विचार-शृंखला और तर्कनाप्रणाली को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों ने दाँतों के नीचे उँगली दबाई। वह जितना ही निर्भय था उतना ही सत्यप्रिय भी था। उस समय तक इन विषयों पर विद्वानों ने जो कुछ लिखा था उसका जितना अंश स्पेन्सर ने प्रामाणिक समझा सबका बड़ा ही तीव्रता से खण्डन किया। प्राय: सबसे प्रति-कूलता, सबकी समालोचना, सबका खण्डन उसने किया। किसी को आपने नहीं छोड़ा। पर इस पुस्तक का आदर जैसा होना चाहिए था नहीं हुआ।

स्पेन्सर की बुद्धि का झुकाव विशेष करके सृष्टि-रचना और अध्यात्म-विद्या की तरफ़ था। यह प्रवृत्ति प्रतिदिन बढ़ती ही गई और प्रतिदिन वह इन विषयों में अधिका-धिक निमग्न रहने लगा। वह धीरे-धीरे उत्क्रान्तिवादी हो गया। उत्क्रान्ति के 16 सिद्धान्त उसने निकाले। संसार के सारे दृष्टादृष्ट व्यापार इन्हीं नियमों के अनुसार होते है। इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए उसने अपरिमित श्रम किया। 1846-47 में उसने एक नया यन्त्र बनाकर उसका 'पेटेन्ट' भी प्राप्त किया। पर उससे उसे विशेष लाभ न हुआ। शायद अपनी अर्थकृच्छ्रता दूर करने ही के लिए उसने ऐसा किया। तथापि उसने अपनी निर्धनता की कुछ भी परवा न की। उसके कारण वह कभी दु:खित नहीं हुआ। अपना काम वह बराबर करता गया। जिन-जिन सिद्धान्तों का पता उसे लगता गया उन-उनको वह बड़ी योग्यता, आस्था और निर्लोभता के साथ प्रकट करता गया। यह सृष्टि क्या ईश्वर ने पैदा की है, या पदार्थों में ही कोई ऐसी शक्ति है जिसके कारण

वे आप ही आप उत्पन्न हो गये हैं ? जन्म क्या है, पुनर्जन्म क्या है, मरण क्या है, धर्म्म क्या है, पाप-पुण्य क्या है, सुख-दुःख क्या है ? संसार में जितनी घटनायें होती हैं, किन नियमों के अनुसार होती हैं ? दिन-रात वह इन्हीं बातों के विचार और मनन मे संलग्न रहता था। इन विषयो के मनन का अभ्यास उसने यहाँ तक बढ़ाया कि संसार मे कोई भी ऐसा शास्त्रीय विषय शेष न रहा जो उसके मानसिक विचारों की कसौटी पर न कसा गया हो। सब विषयों का उसने विचार कर डाला। उसकी बुद्धि नये-नये सिद्धान्तों के निकालने की एक विलक्षण यन्त्र बन बैठी। कोई 50 वर्ष तक उसने यह काम किया और अपने नये-नये सिद्धान्तों के द्वारा सारे संसार को चकित और स्तम्भित कर दिया।

प्रसिद्ध विद्वान् डारविन, स्पेन्सर का समकालीन था। 1851 के लगभग उसने 'आरिजिन आफ़ स्पिशीज़' (Origin of Species) अर्थात् 'प्राणियों की उत्पत्ति' नाम की पुस्तक लिखी। उसमे उत्क्रान्ति, किंवा परिणतिवाद, के आधार पर उसने प्राणियों की उत्पत्ति सिद्ध की। परन्तु इस उपपत्ति के अनेक सिद्धान्त स्पेन्सर ने पहले ही से निश्चित कर लिये थे। इस बात को डारविन ने साफ़-साफ़ स्वीकार किया है।

डारविन की पूर्वोक्ति पुस्तक के निकलने के कोई चार वर्ष बाद स्पेन्सर की 'मानसशास्त्र के मूलतत्त्व' (Principles of Psychology) नामक पुस्तक निकली। उसको लिखने में स्पेन्सर ने इतनी मिहनत की कि सिर्फ 18 महीने मे वह पुस्तक उसने तैयार कर दी। इस कारण उसकी नीरोगता मे बाधा आ गई। तबीयत उसकी बहुत ही कमजोर हो गई और कोई दो-ढाई वर्ष तक वह कोई नई किताब नही लिख सका। हाँ, दिल बहलाने के लिए सामयिक पुस्तकों मे वह कभी कभी लेख लिखता रहा। इस बीच मे स्पेन्सर का यश दूर-दूर तक फैल गया। 'मानसशास्त्र के मूलतत्त्व' लिखने से उसका बड़ा नाम हुआ। वह अब एक विचक्षण दार्शनिक गिना जाने लगा। इस पुस्तक ने तत्त्व-ज्ञान के प्रवाह को एक बिलकुल ही नये रास्ते में ले जाकर डाल दिया।

किसी नये लेखक या नये विद्वान् के गुणों की क़दर होने में बहुधा बहुत दिन लगते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि ऐसी अच्छी-अच्छी किताबें लिखी; परन्तु उनकी बहुत ही कम क़दर हुई। स्पेन्सर की पहली किताब 'सोशल स्टैटिक्स' को किसी प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता ने लेना और छपाकर प्रकाशित करना मंजूर न किया। तब स्पेन्सर ने उसकी 750 कापियाँ खुद ही छपवाई। उनमें से कुछ तो उसने मुफ़्त बाँट दी और बाक़ी किताबो के बिकने में कोई चौदह-पन्द्रह वर्ष लगे ! यही दशा 'मानसशास्त्र के मूलतत्त्व' की हुई। उसे भी छपाना किसी ने स्वीकार न किया। अन्त में स्पेन्सर ही ने उसे भी प्रकाशित किया। उसे भी बिकने में दस-बारह वर्ष लगे। इन किताबो को उसने किताब बेचने वालो को कमीशन पर बेचने के लिए दे दिया था। स्पेन्सर को ये किताबें लिखने से धन-सम्बन्धी लाभ तो कुछ हुआ नहीं, हानि खूब हुई। उसने जान लिया कि इस तरह की किताबो की क़दर नहीं है। हाँ, यदि वह उपन्यास लिखता तो उसे ख़ातिरख़्वाह आमदनी होती। जब इंगलैंड में इस तरह की किताबों का इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनके कोई न पूछे तो आश्चर्य्य ही क्या है ?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नही रही तथापि वह अपनी निर्धनता

के कारण विचलित नहीं हुआ। उसे आडम्बर बिलकुल पसन्द न था। इससे उसका ख़र्च भी कम था। जो कुछ उसे मिलता था उसी से वह सन्तुष्ट रहता था। यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने में उसका बहुत सा रुपया बरबाद हो गया तथापि उसने किसी से आर्थिक सहायता नहीं ली। कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा; पर उसने कृतज्ञतापूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया। पुस्तक-प्रकाशन में स्पेन्सर की कोई 15,000 रुपये की हानि हुई। यह सुनकर अमेरिका के कुछ उदार लोगों ने उसे 22,500 रुपये भेजे। परन्तु उसने यह रुपया भी लेना नहीं स्वीकार किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'सिस्टम आफ़ सेन्थैटिक फ़िलासफी' (A System of Synthatic Philosophy) अर्थात् संयोगात्मक तत्त्वज्ञान-पद्धति है। 1860 ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया। बीच में उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित हुए तथापि 36 वर्ष तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त ही करके छोड़ा। इस पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है सबकी उपपत्ति उसने अपने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस प्रचण्ड पुस्तक को उसने पाँच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में प्रकाशित कराया। उनका विवरण इस तरह है—

1. फ़र्स्ट प्रिंसिपल्स (First Principles)अर्थात् प्राथमिक सिद्धान्त, 1 जिल्द।

2. प्रिंसिपल्स आफ़ बायोलजी (Principles of Biology) जीवनशास्त्र के मूलतत्त्व, 2 जिल्द।

3. प्रिंसिपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Psychology) मानसशास्त्र के मूलतत्त्व, 2 जिल्द।

4. प्रिंसिपल्स आफ सोशियालजी (Principles of Sociology) समाजशास्त्र के मूलतत्त्व, 3 जिल्द।

5. प्रिंसिपल्स आफ़ एथिक्स (Principles of Ethics)नीतिशास्त्र के मूलतत्त्व, 2 जिल्द।

स्पेन्सर के इस ग्रन्थ ने उसे इस नश्वर संसार में अमर कर दिया। उसका नाम देश-देशान्तर में विदित हो गया। वह वर्तमान युग के तत्त्वज्ञानियों का राजा माना जाने लगा। इस पुस्तक के प्रथम भाग के दो खण्ड हैं। एक का नाम अज्ञेय मीमांसा (The Unknowable) और दूसरे का ज्ञेय मीमांसा (The Knowable) है। हमारी प्रार्थना है कि जो सज्जन इस पुस्तक को पढ़ सकते हों वे एक बार अवश्य पढ़ें; और स्पेन्सर के प्रकृति-पुरुष आदि विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करें; और इस बात का भी विचार करें कि इस विषय में इस देश के तत्त्वज्ञानियों और स्पेन्सर के सिद्धान्तों में क्या तारतम्य है।

इस इतनी बड़ी पुस्तक के प्रकाशित करने में स्पेन्सर को अनेक कठिनाइयाँ हुईं। किसी ने उसे छापना मंजूर न किया। छापे कोई क्यों? कोई ऐसी किताबों को पूछे भी? निदान लाचार होकर स्पेन्सर ने इस पुस्तक के थोड़े-थोड़े अंश को त्रैमासिक पुस्तक के

रूप में निकालना शुरू किया। परन्तु फिर भी ग्राहकों की कमी रही। उसे बराबर घाटा होता गया। जब वह इस पुस्तक की पहली तीन जिल्दें निकाल चुका तब हिसाब करने पर उसे मालूम हुआ कि कोई 15 वर्ष में उसे अठारह हज़ार रुपये का घाटा रहा! स्पेन्सर ही ऐसा था जो इतना घाटा उठा सका। अब उसने इरादा किया कि इस पुस्तक की अगली जिल्दों का प्रकाशित होना बन्द कर दिया जाय। परन्तु सौभाग्यवश बन्द करने का समय नहीं आया। जैसे-जैसे उसकी प्रसिद्धि होती गई वैसे ही वैसे उसकी किताबों की बिक्री भी बढ़ती गई। परन्तु जो घाटा स्पेन्सर ने उठाया था उसे पूरा होने में 24 वर्ष लगे! इसके बाद उसे यथेच्छ आमदनी होने लगी और फिर कभी उसे अपनी आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में शिकायत करने का मौक़ा नहीं मिला। उसने अपनी किसी-किसी किताब के छपाने और प्रकाशित करने में, बिक्री से होने वाली आमदनी का कुछ भी ख़याल न करके, हज़ारों रुपये ख़र्च कर दिये। समाजशास्त्र-सम्बन्धी अकेली एक पुस्तक के छपाने में उसने कोई 44 हज़ार रुपये बरबाद कर दिये! इस बहुत बड़ी रक़म के ख़र्च करने के विषय में उसने विनोद के तौर पर लिखा है कि यदि मेरी उम्र 100 वर्ष से भी अधिक हो तो भी मुझे इस रुपये के वसूल होने की कोई आशा नहीं।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने और भी कितनी ही उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से दो-चार के नाम हम नीचे देते हैं—

1 फैक्ट्स एण्ड कामेंट्स (Facts and Comments) यथार्थता और टीका।

2 एसेज़ (Essays) निबन्ध, 3 जिल्द।

3 वेरियस फ्रैगमेंट्स (Various Fragments) बहुत सी फुटकर बातें।

4 दि स्टडी आफ़ सोशियालजी (The Study of Sociology) समाजशास्त्र का अध्ययन।

5 एजुकेशन (Education) शिक्षा।

इनके सिवा उसने और भी कितनी ही छोटी-बड़ी किताबें लिखी हैं।

स्पेन्सर की किताबों में 'शिक्षा' बहुत ही उपयोगी किताब है। योरप, अमेरिका और एशिया सब कहीं इसकी बेहद कदर हुई है। कोई बीस-बाईस भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। चीनी, जापानी, अरबी यहाँ तक कि संस्कृत तक में इसका रूपान्तर किया गया है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छपकर बिक गई हैं। इसका हिन्दी अनुवाद प्रयाग के इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया है। यह पुस्तक सर्वमान्य है। शिक्षा के विषय में यह अद्वितीय है। विद्वानों की ऐसी ही राय है। इसमें शिक्षा की जैसी मीमांसा की गई है वैसी आज तक किसी ने नहीं की। शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार की शिक्षाओं की, बड़ी ही योग्यता से, इसमें मीमांसा हुई है। स्पेन्सर ने विज्ञान-विद्या ही को सबसे अधिक उपयोगी और सबसे अधिक मूल्यवान् शिक्षा ठहराया है। परन्तु अफ़सोस, हिन्दुस्तान में इसी शिक्षा की सबसे अधिक नाक़दरी है।

1882 ईसवी में स्पेन्सर ने अमेरिका का प्रवास किया। जहाँ-जहाँ वह प्रकट रूप से गया वहाँ-वहाँ उसका बड़ा आदर हुआ। राजकीय और नैतिक शास्त्रों के उत्कर्ष के लिए फ्रान्स में एक प्रसिद्ध विद्या-पीठ है। उसकी एक शाखा तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है।

उसमें विख्यात विद्वान् एमरसन की जगह पर कुछ काल तक वह निबन्धकार रहा। परन्तु वह बड़ा ही निस्पृह और स्वाधीनचेता था। योरप, और अमेरिका के—विशेष करके इंगलैंड के—विश्वविद्यालयों ने उसे दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने के लिए कितने ही ऊँचे-ऊँचे पद देने की इच्छा प्रकट की; परन्तु उसने कृतज्ञतापूर्वक उन्हें अस्वीकार कर दिया। स्वाधीन रहकर अपनी सारी उम्र उसने विद्या-व्यासंग में खर्च कर दी और अपने अभूत-पूर्व तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रन्थों से अपना नाम अमर करके संसार को अनन्त लाभ पहुँचाया।

स्पेन्सर की उम्र के पिछले पाँच-सात वर्ष अच्छे नहीं कटे। वह अकसर बीमार रहा करता था। कोई दस-पन्द्रह वर्ष पहले से वह एकान्तवास करने लगा था। वह बहुत कम मिलता-जुलता था। अपने सांसारिक काम समाप्त करके वह मृत्यु की राह देखने लगा था। अन्त में वह आ गई और 84 वर्ष की उम्र में, 8 दिसम्बर 1903 को, वह उसे इस लोक से उठा ले गई। पर उसका अक्षय्य यश, पूर्ववत्, किंबहुना उससे भी अधिक, प्रकाशित हो रहा है। उसे ले जाने या कम कर देने की किसी में शक्ति नहीं। स्पेन्सर ने लिख रक्खा था कि मरने पर मेरा मृत शरीर जलाया जाय, गाड़ा न जाय। ऐसा ही किया गया और उसका नश्वर पंचभूतात्मक शरीर अग्नि के संस्कार से फिर पंचभूतों में जा मिला। शव-दाह की प्रथा जिन लोगों में नहीं है उन्हें स्पेन्सर के उदाहरण पर विचार करना चाहिए। इस देश के निवासियों में श्यामजी कृष्ण वर्म्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की श्मशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे। थोड़ा सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने 15 हजार रुपया खर्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इंगलैंड के इस ब्रह्मर्षितुल्य वेदान्त-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर होना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शन-शास्त्र की महिमा यह बुड्ढा भारत अब भी खूब जानता है।

स्पेन्सर शान्तिभाव को बहुत पसन्द करता था। वह युद्ध के ख़िलाफ़ था। बोर युद्ध का कारण उस समय के उपनिवेश-मन्त्री चेम्बरलेन साहब थे। उन पर, उनके इस अनुचित काम के कारण, स्पेन्सर ने अप्रसन्नता प्रकट की थी। उसके मरने के बाद उसकी जो एक चिट्ठी प्रकाशित हुई है उसमें उसने जापान को शिक्षा दी है कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो योरप वालों से दूर ही रहो और योरप की स्त्रियों से विवाह करके अपनी जातीयता को बरबाद न करो। नहीं तो तुम किसी दिन अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई और यद्यपि वह संस्कृत की तरह की ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाओं के ख़िलाफ़ था, यहाँ तक कि वह ग्रीक भाषा का एक शब्द तक नहीं जानता था, तथापि वह बहुत अच्छी अँगरेजी लिखता था और अपने मन का भाव बड़ी ही योग्यता से प्रकट कर सकता था। उसकी तर्क-शक्ति अद्वितीय थी। जिस विषय का उसने प्रतिपादन किया है, जिस विषय में उसने बहस की है, उसे सिद्ध करने में उसने कोई बात नहीं छोड़ी। उसकी प्रतिपादन-शक्ति ऐसी बढ़ी-चढ़ी थी कि जो लोग उसकी राय के ख़िलाफ़ थे उनको भी उसकी तर्कना सुनकर उसके

सामने सिर झुकाना पड़ता था। पर, खेद की बात है, उसकी क़दर उसी के देश, इंगलैंड में, और देशों की अपेक्षा बहुत कम हुई। सच है, हीरे की क़दर हीरे की खान में कम होती है।

स्पेन्सर का मत है कि विज्ञान पढ़ने से मनुष्य अधार्म्मिक नहीं होता। विज्ञान से धर्म्मनिष्ठा अधिक बढ़ती है। जो लोग ऐसा नहीं समझते उन्होंने विज्ञान की महिमा को जाना ही नहीं। इस विषय पर उसने 'शिक्षा' नाम की अपनी पुस्तक में बड़ी ही विज्ञता-पूर्ण बहस की है। उसने लिखा है कि ज़रा-ज़रा सी बातों पर वाद-विवाद करके व्यर्थ समय नष्ट करना और सृष्टि-रचना में परमेश्वर ने जो अगाध चातुर्य्य दिखलाया है उस पर ज़रा भी विचार न करना बड़े ही आश्चर्य्य की बात है। परन्तु पीछे उसका मत कुछ और ही तरह का हो गया था। जिस स्पेन्सर ने सृष्टि-सम्बन्धिनी एक 'अगम्य, अमर्य्याद, और सर्वव्यापक शक्ति' की महिमा गाई उसी ने 'विश्वकर्म्मा, जगन्नायक और सर्वशक्तिमान् ईश्वर' की अपने समाज-घटना-शास्त्र में कड़ी समालोचना की। यह शायद धर्म्मश्रद्धा में उसकी अशक्ति का कारण हो। क्योंकि धर्म्म-विषयक बातों में श्रद्धा ही प्रधान है।

स्पेन्सर ने पचास-साठ वर्ष तक अविश्रान्त ग्रन्थ-रचना की। उसके ग्रन्थों को पढ़कर संसार के सुशिक्षित लोगों के विचारों में खूब फेर-फार हो रहे हैं। आशा है कि इस फेर-फार के कारण सांसारिक जनों का कल्याण होगा। स्पेन्सर का विद्याभ्यास दीर्घ, ज्ञान-भाण्डार अगाध और परिश्रम अप्रतिहत था। वह अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ, दृढ़-निश्चय और निर्लोभी था। उसके समान तत्त्वज्ञानी योरप में बहुत कम हुए हैं। किसी-किसी का मत है कि तत्त्वज्ञानियों में अरिस्टाटल, बेकन और डारविन ही की उपमा उससे थोड़ी-बहुत दी जा सकती है। ईश्वर करे इस महादार्शनिक की पुस्तकों का अनुवाद इस देश की भाषाओं में हो जाय जिससे इस बूढ़े वेदान्ती भारतवर्ष के निवासियों को भी उसके सिद्धान्त समझने में सुभीता हो।

[जुलाई, 1906 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'विदेशी विद्वान्' पुस्तक में संकलित।]

डाक्टर जी० थीबो

पी-एच० डी०, सी० आई० ई०

डाक्टर थीबो का नाम अनेक पाठकों ने सुना होगा। प्रयाग के प्रसिद्ध म्योर कालेज के आप प्रधान अध्यापक थे। 24 अप्रैल 1906 से आपने पेनशन ले ली। 55 वर्ष की उम्र हो जाने से अपने मुलाज़िमों को गवर्नमेंट ज़बरदस्ती पेनशन दे देती है। इसी नियम का बर्ताव थीबो साहब के भी साथ हुआ। यदि गवर्नमेंट उन्हें पेनशन न देती तो वे अभी बहुत समय तक म्योर कालेज की अध्यक्षता कर सकते। क्योंकि वे अभी तक हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हैं और उनकी मानसिक शक्तियों में किसी प्रकार का प्रत्यवाय नहीं आया।

डाक्टर थीबो की जन्म-भूमि जर्मनी है। पहले इस देश में कीलहार्न, बूलर, हार्नली, स्टीन आदि कितने ही जर्मन विद्वान् शिक्षा-विभाग में थे। ये सब विद्वान् संस्कृतज्ञ थे। इसलिए उन्होंने संस्कृत भाषा की खूब सेवा की, नई-नई पुस्तकें लिखी और नई-नई बातों का पता लगाया। पर धीरे-धीरे वे सब जहाँ के तहाँ हो गये। थीबो साहब अन्तिम जर्मन हैं। सो उन्हें भी पेनशन हो गई। अब अँगरेज़ों को भी संस्कृत का शौक़ हुआ है। इसलिए गवर्नमेंट जर्मन विद्वानों को हिन्दुस्तान भेजने की कोई ज़रूरत नहीं समझती। अब तो, सुनते हैं, कालेजों में अँगरेज़ ही संस्कृत पढ़ावेंगे। हिन्दुस्तानियो से सिर्फ़ छोटा-मोटा काम लिया जायगा। संस्कृत पढ़ाने का काम तो शायद एक न एक दिन अँगरेज़-पण्डितों के हाथ में चला जायगा। पर अध्यापकी के साथ-साथ यदि पुरोहिती के काम का भी चार्ज यही लोग ले लें तो बड़ी दिल्लगी हो।

डाक्टर थीबो के पूर्वज प्रसिद्ध पुरुष थे। वे अच्छे-अच्छे उहदों पर थे। विद्वत्ता भी उनमें कम न थी। उनके प्रायः सभी गुणों ने थीबो साहब का आश्रय लिया है। संस्कृत का शौक़ आपको लड़कपन ही से है। हीडलबर्ग और बर्लिन के विश्वविद्यालयों में अध्ययन करके थीबो साहब लन्दन गये। वहाँ तीन-चार वर्ष वे मैक्समूलर साहब के साथ रहे। उनकी संगति से थीबो साहब की संस्कृत-विद्या खूब विशद हो गई। 1875 ईसवी में अँगरेज़ी सरकार ने उन्हें अँगरेज़ी और संस्कृत पढ़ाने के लिए अध्यापक नियत किया। वे बनारस-कालेज को भेजे गये। उनके पहले इस पद पर बड़े बड़े विद्वान रह चुके थे। पर तनख़्वाह कम होने के कारण कोई इस जगह पर बहुत दिन तक नहीं ठहरा।

डाक्टर थीबो का नाम पहले पहल शुल्व-सूत्रों पर एक लेख लिखने के कारण हुआ। इस लेख में डाक्टर साहब ने दिखलाया कि वैदिक समय में ज्यामिति-शास्त्र का थोड़ा-बहुत ज्ञान इस देश के पण्डितों को ज़रूर था। क्योंकि यज्ञ में वेदी और हवनकुण्ड आदि बनाने के जो नियम वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं वे इसी शास्त्र के अनुसार हैं।

डाक्टर थीबो को गणित-शास्त्र से भी प्रेम है। उन्होंने ज्योतिष पर जो निबन्ध लिखे हैं उनसे इस बात का प्रमाण मिलता है। जब वे काशी से प्रयाग बदल आये और म्योर कालेज मे अँगरेज़ी भाषा तथा दर्शन-शास्त्र के अध्यापक नियत हुए तब उन्होंने अपने गणित-शास्त्र के ज्ञान को और भी उन्नत किया। अवकाश पाने पर वे गणित-शास्त्र का अभ्यास करते थे और यदि कोई बात समझ में न आती थी तो गणित-शास्त्र के अध्यापक बाबू रामनाथ चैटर्जी से पूछ लेते थे। अपनी जाति या अपने पद का उन्हें ज़रा भी घमण्ड न था और न अब है। अपने से कम महत्त्व के पद वाले हिन्दुस्तानियों से कोई बात पूछने में उन्हें कभी पसोपेश नहीं हुआ।

अँगरेजी और संस्कृत पढ़ाने के लिए बनारस कालेज में जो अध्यापकी का पद था वह 1877 ईसवी में तोड़ दिया गया। इस पद पर थीबो साहब सिर्फ दो वर्ष रहे। इसके बाद कुछ दिनों तक उन्होंने स्कूलों के इन्स्पेक्टर का काम किया। परन्तु शीघ्र ही वे बनारस कालेज के अध्यक्ष, अर्थात् प्रिन्सिपल, कर दिये गये। 1888 ईसवी तक आप इस पद पर रहे। संस्कृत की प्रथमा, मध्यमा और आचार्य्य-परीक्षायें उन्होंने निकालीं। कुछ दिनों के लिए वे पंजाब के रजिस्टरार हो गये। पर फिर इसी प्रान्त को लौट आये और प्रयाग के म्योर कालेज में अध्यापक हुए। तब से अन्त तक वे इसी कालेज में रहे। गफ़ साहब के पेनशन लेने पर ये म्योर कालेज के अध्यक्ष हो गये।

थीबो साहब छोटे-छोटे कालेजों के ख़िलाफ़ है और थोड़ी उम्र में बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को पास कर लेना भी आपको पसन्द नहीं। आपकी राय है कि अच्छे-अच्छे कालेजों में उपयुक्त उम्र के लड़कों को रखने ही से लाभ है। कच्ची उम्र में विद्या कच्ची रह जाती है और छोटे-छोटे कालेजों मे पढ़ाई अच्छी नही होती।

अब आपको इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के रजिस्टरार का पद मिला है। टेक्स्ट बुक कमिटी के मेम्बर भी आप पूर्ववत् बने रहेंगे। इस कमिटी मे शामिल रहकर थीबो साहब ने बहुत कुछ काम किया है। संस्कृत और हिन्दी की पुस्तकों के चुनाव मे तो आपने जो काम किया है वह बहुत ही प्रशंसनीय है। हिन्दी के प्रेमी शायद यह न जानते होंगे कि थीबो साहब शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी के कितने पक्षपाती हैं और जो लोग अफसरों की हाँ में हाँ मिलाकर हिन्दी को उर्दू बनाने की सिफ़ारिश करते हैं उनकी राय का उन्होंने कितना विरोध किया है। अभी बहुत दिन नही हुए, गवर्नमेंट ने हिन्दी-उर्दू की रीडरों के लिए इनाम की नोटिस दी थी। रीडरें जब बनकर तैयार हुई और एक विशेष कमिटी में पेश की गई तब थीबो साहब एक बहुत ही प्रसिद्ध और प्रभावशाली पुस्तक-प्रकाशक की रीडरों के ख़िलाफ़ राय देने से ज़रा भी न हिचके। कारण यह था कि उनमें अनुचित बातें थीं। आपकी न्यायशीलता का यह उत्तम उदाहरण है।

डाक्टर थीबो ने 'पञ्चसिद्धान्तिका' और शंकर तथा रामानुज-भाष्य-युक्त वेदान्तसूत्रों का, निज सम्पादित, बहुत उत्तम संस्करण प्रकाशित किया है। वराहमिहिर पर आपने टिप्पणियाँ लिखी हैं और मीमांसा तथा ज्योतिष-वेदांग पर कितने ही निबन्ध

लिखे हैं। अपनी मातृभाषा जर्मन में भी आपने बहुत से लेख लिखे हैं। जर्मन होकर भी आप अच्छी अँगरेज़ी लिखते और बोलते हैं।

आपकी योग्यता से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने आपको सी० आई० ई० की पदवी से विभूषित किया है।

[जुलाई, 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'विदेशी विद्वान्' पुस्तक में संकलित।]

अमीर हबीबुल्लाखाँ

अफ़ग़ानिस्तान मे 5 सूबे हैं—हिरात, कन्धार, काबुल, अफ़ग़ानी तुरकिस्तान और बदख़शाँ। क्षेत्रफल 3,00,000 वर्गमील है। आबादी कोई 60,00,000 है। उसकी हद रूस से मिली हुई है। इसीलिए अँगरेज़ी गवर्नमेंट अमीर अफ़ग़ानिस्तान की इतनी खातिर तवाजो करती है। यदि अमीर साहब रूस से मिल जायँ तो रूस का हिन्दुस्तान की सीमा पर पहुँचना आसान बात है।

1809 में अँगरेज़ों को सन्देह हुआ कि रूस इस देश पर चढ़ाई करना चाहता है। इसलिए अफ़ग़ानिस्तान के तत्कालीन अमीर शाह शुजा से सन्धि की गई। पर 1826 में जब दोस्तमुहम्मद काबुल का अमीर बन बैठा तब उसने रूस से मित्र-भाव बढ़ाया। सन्धि उसने तोड़ दी। इसलिए अँगरेजों ने 1838 में अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई की और काबुल और कन्धार को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। शाह शुजा को फिर काबुल का सिंहासन मिला। परन्तु 1841 में दोस्तमुहम्मद ने शाह शुजा से काबुल फिर छीन लिया, और 1840-1842 में अँगरेज़ों पर बड़ी भारी विपत्ति आई। बहुत से अँगरेज़ अफ़ग़ानों के हाथ से मारे गये।

इसके बाद दोस्तमुहम्मद ने फिर अँगरेजों से सुलह कर ली और अँगरेज़ उसे बारह लाख रुपये साल देने लगे। अँगरेजो का एक एलची भी काबुल में रहने लगा। दोस्तमुहम्मद ने अपने बेटे शेरअली को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसका प्रतिवाद उसके दूसरे बेटे मुहम्मद अफजलखाँ ने किया। इस कारण 1863 के बीच इन दोनों में लड़ाइयाँ होती रहीं। शेरअली की जीत हुई। काबुल की गद्दी पर बैठने के बाद अँगरेजों ने उसकी भी मदद रुपये और हथियारो से की। उसने अपने बेटे अबदुल्ला जान को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा। पर इस बात को अँगरेजों ने नामंजूर किया और याकूबखाँ का पक्ष लिया। इस पर शेरअली ने याकूब को क़ैद कर लिया और अँगरेजों से मुख़ालिफ़त शुरू की। शेरअली ने रूस को अपना दोस्त बनाया। इस कारण, 1878-79 में अँगरेजों ने काबुल पर चढ़ाई की। शेरअली भागा। अँगरेज़ों ने क़न्धार पर दखल कर लिया। याकूबखाँ काबुल का अमीर बनाया गया। उसके अमीर होने पर अँगरेजों ने अपने कई अफ़सर काबुल भेजे और याकूबखाँ से एक सन्धि-पत्र लिखाना चाहा। पर अफ़गानों ने अँगरेज़ अफसरों और उनके साथियों को काट डाला। इसलिए 1880 ईसवी में तीसरी दफ़े अफ़ग़ानिस्तान से लड़ाई हुई। याकूबखाँ की हार हुई। वह भाग गया।

इस दरमियान में अफ़ज़लखाँ के बेटे अब्दुर्रहमान ने रूस की मदद से अफ़ग़ानिस्तान की तरफ़ प्रस्थान किया। अँगरेजों ने इस बात को पसन्द किया। अब्दुर्रहमान काबुल पहुँचा। अँगरेजो ने उसके अमीर बनने में कोई बाधा न डाली। अतएव वह अमीर हो

गया। इसके कुछ दिन बाद, 1880 में, लार्ड रिपन ने अमीर से कहा कि यदि वह किसी बाहरी बादशाह से सम्बन्ध न करें और अँगरेजी गवर्नमेंट की सलाह से काम करें तो अँगरेज महाराज बाहरी शत्रुओं से उनकी हमेशा रक्षा करेंगे। अमीर अब्दुर्रहमान ने यह बात मंजूर कर ली। इससे गवर्नमेंट खुश हुई और, 1883 ईसवी में, लार्ड रिपन ने अमीर को दस लाख रुपये साल देना क़बूल किया। किसलिए? फ़ौज के ख़र्च और अफ़ग़ानिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा को खूब मजबूत करने के लिए। 1885 में लार्ड डफ़रिन ने एक दरबार किया। उसमें उन्होंने अमीर साहब को दस लाख रुपये नक़द, 20,000 ब्रीच लेडिंग बन्दूकें, तीन तोपखाने और बहुत सी गोली बारूद दी जाने की आज्ञा दी। इस उपलक्ष्य में अमीर ने अँगरेजों से मित्र-भाव रखने, मौक़ा पड़ने पर उनकी मदद करने और उत्तर-पश्चिमी सीमा को खूब मजबूत करने का वचन दृढ़ कर दिया। कुछ दिन बाद अमीर को इसके बदले बारह लाख रुपये साल मिलने लगे। पीछे से 12 के अठारह लाख हो गये। लड़ाई का सामान भी बाहर से मँगाने की आज्ञा उन्हें मिल गई।

अमीर अब्दुर्रहमान ने अनेक सुधार किये। काबुल में कितने ही कारख़ाने खोले। एक सिलहखाना भी खोला। तोपें बनने लगीं। नई तरह की रफलें तैयार होने लगीं। फ़ौज को क़वायद सिखलाई जाने लगी। क़िले बनने लगे। पुराने क़िलों की मरम्मत होने लगी। बाहर से हथियारों के ढेर के ढेर आने लगे। सारांश यह कि अमीर ने अफ़ग़ानिस्तान की दशा यथाशक्य खूब सुधार दी। फ़ौज बढ़ा दी। पहाड़ी सरदारों और मुल्लाओं के पारस्परिक झगड़ों को बहुत कुछ दूर कर दिया। व्यापार की भी तरक़्क़ी की। देश में जो सर्वत्र लूट खसोट हुआ करती थी वह बन्द हुई। क़ानून की नई नई किताबें बनीं। उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान को बिलकुल ही नया कर डाला। यद्यपि अमीर के और अँगरेज़ी राज्य-प्रबन्ध में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि डाक्टर हैमिल्टन का मत है कि आज कल का अफ़ग़ानिस्तान दोस्तमुहम्मद और शेरअली का अफ़ग़ानिस्तान नहीं। अब वहाँ खूब शान्ति है। अब वहाँ अनेक ऐसे सुधार हो गये हैं जिनसे प्रजा के सुख की वृद्धि पहले की अपेक्षा बहुत कुछ अधिक हो गई है। अमीर अब्दुर्रहमान कठोर शासक थे। कठोरता की जरूरत भी थी। महाबर्बर अफ़ग़ान-जाति का सुधार कोमलता से होना असम्भव था। अतएव कठोर शासन-नीति के लिए अमीर दोषी नहीं ठहराये जा सकते। हैमिल्टन साहब बहुत वर्षों तक काबुल में अमीर के डाक्टर रह चुके हैं। अतएव उनकी राय को सब लोग मान्य समझते हैं।

धीरे धीरे अब्दुर्रहमान ने अपने राज्य को खूब दृढ़ कर दिया। जैसे-जैसे आपकी शक्ति बढ़ती गई आपका दिमाग़ भी बढ़ता गया। इन्हीं कारणों से, गवर्नर जनरल ने जब कुछ फ़ौजी सामान का अफ़ग़ानिस्तान में भेजा जाना रोक दिया, तब अमीर ने क्रोध में आकर गवर्नमेंट से 18 लाख रुपया लेने से इनकार कर दिया। यहाँ तक कि आपने सरहद में थोड़ी सी फ़ौज भी भेज दी। आपने गवर्नर जनरल की शिकायत की। शिकायत लिखकर आपने ठेठ विलायत में प्रधान मन्त्री, लार्ड सैलिस्बरी, के पास भेजी। 1890 और 1898 के बीच आप अँगरेज़ी गवर्नमेंट से बहुत नाखुश रहे। तीरा-युद्ध के

समय आपने गवर्नमेंट की मर्ज़ी के खिलाफ़ काम किये। पीछे से मरने के पहले, आप कुछ शान्त हो गये थे।

अब्दुर्रहमान के बाद हबीबुल्लाखाँ अमीर हुए। आपका जन्म समरक़न्द में, 1872 ई० में, हुआ था। आप फ़ारसी के सिवा थोड़ी अँगरेज़ी भी जानते है। अँगरेज़ी समझ अच्छी तरह सकते हैं; पर बोल कम। जब अँगरेजों से बातचीत करते है तब कभी फ़ारसी और कभी अँगरेज़ी बोलते हैं।

अमीर हबीबुल्ला स्वाधीन प्रकृति के शासक है। आपने अफ़ग़ानिस्तान का राज्य-सूत्र अपने हाथ में लेकर अँगरेज़-राज की अधीनता का ख़याल अपने दिल से थोड़ा बहुत दूर कर दिया। गवर्नमेंट ने आपको कई दफ़े हिन्दुस्तान आने के लिए आमन्त्रण दिया। पर आप आने से इनकार ही करते रहे। आपने एक बार भरे दरबार में कह दिया कि आप अपने पिता के विचारों का अनुसरण करेंगे; पर अब्दुर्रहमान पर अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने जो उपकार किये हैं वे उन्ही के साथ गये। आपने अपने को सब तरह स्वाधीन समझा और बाहर से लड़ाई का सामान मँगाने की स्वतन्त्रता का भी दावा किया। आख़िरकार, 1904 में, गवर्नमेंट को डेन साहब की अध्यक्षता में एक प्रतिनिधि-दल अफ़गानिस्तान भेजना पड़ा। उसका फल अमीर के लिए अच्छा ही हुआ। गवर्नमेंट से जो 18 लाख रुपया साल अमीर को मिलता था वह कई साल से अमीर ने नही लिया था। सब मिलाकर 60 लाख रुपया गवर्नमेंट को देना निकला। वह सब अमीर ने लिया। 18 लाख रुपया साल पूर्ववत् अमीर को देना गवर्नमेंट ने मंज़ूर किया। तोप, बन्दूक़, गोला, गोली आदि लड़ाई का सामान भी मनमाना मँगाने के लिए अमीर के दावे को गवर्नमेंट ने क़बूल किया। गवर्नमेंट ने अमीर हबीबुल्ला को स्वाधीन शासक भी माना। यह पिछली बात अमीर के लिए बड़े महत्त्व की हुई। इन बातो के बदले गवर्नमेंट को भी अमीर से कुछ मिलना था; पर अमीर ने कुछ न दिया। आपने अपने पुत्र इनायतुल्लाखाँ को लार्ड कर्जन से मिलने जरूर भेज दिया। बस, अमीर साहब ने गवर्नमेंट के पूर्वोक्त सत्कृत्यों का यही बदला दिया। गवर्नमेंट को लाचार होकर इतने ही से सन्तोष करना पड़ा।

गवर्नमेंट अमीर से कहती हैं कि बाहरी शत्रुओं से अफग़ानिस्तान की रक्षा का भार हमने ऊपर लिया है। इसलिए हमें काबुल और क़न्धार तक रेल बनाने दो। तार भी बड़े बड़े शहरो तक ले जाने दो। अपनी फ़ौज मे अँगरेज़ अफ़सर रक्खो। यदि ये बाते न करोगे तो हम आपकी उत्तरी सरहद की रक्षा कैसे कर सकेंगे? यदि रूस अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई करे तो बिना रेल; तार और अच्छी फ़ौज के, 500 मील दूर, हिन्दुस्तान से उसके मुक़ाबिले का कैसे प्रबन्ध हो सकता है? इसलिए अमीर साहब के निज के फ़ायदे ही के लिए, हिन्दुस्तान की गवर्नमेंट रेल, तार, आदि बनाने की आज्ञा माँगती है। अपने फ़ायदे के लिए नहीं।

जिन अमीर हबीबुल्ला का अँगरेज़ी गवर्नमेंट इतना आदर करती है, जिनके देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा का उसे इतना ख़याल है, वही, इस महीने; इस देश में, अँगरेज़ महाराज के मिहमान होकर आये हैं। बहुत कहने सुनने पर आपने भारत में पदार्पण किया है। आपकी मिहमानदारी का जी-जान होकर गवर्नमेंट प्रबन्ध कर रही

है । 'ज़ियाफ़त' आदि के लिए रुपयों के तोड़े के तोड़े गवर्नमेंट के ख़र्च हो रहे हैं । आगरे में दरबार हो रहा है । फ़ौजें दिखाई जा रही हैं । खेल-तमाशे हो रहे हैं । कल-कारख़ानों की सैर कराई जा रही है । आशा है, इन सब बातों से अमीर साहब के हृदय पर गवर्नमेंट की शक्ति, प्रभुता और उदारता का ख़ूब अच्छा चित्र खिंच जायगा और आगे से वे गवर्नमेंट के दृढ़ मित्र बनकर उसकी सलाह से सब काम करेंगे । [अमीर हबीबुल्ला मर चुके; अब उनके पुत्र अमीर अमानुल्लाख़ाँ अफ़ग़ानिस्तान के सर्वेसर्वा हैं । वे बड़े ही नीति-निपुण, प्रजावत्सल और सभ्यताभिमानी शासक हैं ।][1]

[जनवरी, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित ।
'चरित्र-चित्रण' पुस्तक में संकलित ।]

1. कोष्ठक में लिखे तीन वाक्य 'चरित्र-चित्रण' पुस्तक में इस लेख को संकलित करते समय द्विवेदीजी ने लिखे थे । —यायावर

फारस के शाह मुजफ्फरुद्दीन

फ़ारस में रूस की प्रभुता बढ़ने के चिह्न देखकर अँगरेज़ों का चित्त उस ओर आकर्षित हुआ है। रूस ने फारस को एक बार भारी शिकस्त देकर उसका बहुत-सा देश छीन लिया है। इस पर भी यदि फ़ारस रूस की ओर झुके तो आश्चर्य की बात है। पर अब झुक नहीं सकता। क्योंकि फारस विषयक राजनैतिक रहस्यों में इंगलैंड और रूस दोनो ने, मिलकर योग देने का आपस मे फ़ैसला कर लिया है। फ़ारस की खाड़ी के किनारे जास्क, बन्दर अब्बास और बू शहर आदि स्थानों में अँगरेजी प्रजा जाकर बस गई है और वहाँ व्यापार करती है। और और कारणों के सिवा यह भी एक कारण है जिससे ब्रिटिश राज्य का प्रभुत्व इस खाड़ी मे बना रहना ही चाहिए। ऐसा न होने से और कोई शक्ति अपना दबदबा वहाँ जमा लेगी और जल-मार्ग से भारत के बहुत निकट आ जायगी। यह कदापि इष्ट नहीं। इसीलिए अँगरेज़ी प्रभुत्व की घोषणा देने को दिसम्बर 1903 मे लार्ड कर्ज़न इस खाड़ी के कई स्थानों मे पधारे थे।

फ़ारस बहुत पुराना राज्य है। वहाँ ईसा के कई सौ वर्ष पहले होने वाले बादशाहो तक का हाल इतिहास में पतेवार मिलता है। जिस समय ग्रीस ने योरप को अपनी विद्या और बल से चकित किया था उस समय भी फ़ारस उन्नत था। उससे कई बार ग्रीस की टक्कर हुई है। परन्तु थर्मापिली की घाटी में जब से ग्रीस वालों ने फ़ारस की अनन्त सेना काट डाली तब से फ़ारस का ज़ोर कम हो गया। फ़ारस ने इस देश पर भी कई बार कृपा की है। सबसे पहले दारा ने इस ओर प्रस्थान किया, परन्तु दूर तक वह इस देश मे प्रवेश न कर सका। नादिर ने जो हत्याकांड देहली मे किया और जो सम्पदा यहाँ से लूट ले गया वह तो अभी कल की बात है। तेहरान मे देहली का तख़्ते-ताऊस इसकी गवाही दे रहा है।

नये और पुराने फ़ारस के आकाश-पाताल का अन्तर है। पुराने फ़ारस का विस्तार बहुत अधिक था। वह अब कट छँटकर छोटा हो गया है। तिस पर भी उसका क्षेत्रफल प्रायः 6,10,000 वर्गमील और आबादी प्रायः 90,00,000 है। फ़ारस मे फ़ौज कुल 1,00,000 है; परन्तु शान्ति के समय केवल 24,000 रहती है। फ़ारस के पास जल-सेना बहुत ही कम है। सामरिक सामान से सजे हुए कुल दो या तीन जहाज़ और एक धुवांकश है।

फ़ारस में और फल तो होते ही हैं; परन्तु अंगूर बेहद होता है। उसकी शराब बनती है। उसके लिए शीराज़ सबसे अधिक मशहूर है। इस्फ़हान में भी उसका बड़ा व्यापार होता है। फ़ारस में क़ालीन बहुत अच्छे बनते हैं। किसी किसी का तो मत है कि वहाँ के क़ालीनों की बराबरी और कोई देश नहीं कर सकता। वे अद्वितीय और अनुपमेय होते हैं। ख़ुरासान, फ़रग़ाना और किरमान के क़ालीन सबसे बढ़िया होते हैं।

शाल भी फ़ारस में बनते हैं। यद्यपि काश्मीर के बने हुए शालों की वे बराबरी नहीं कर सकते, तथापि वे भी असाधारण ही होते हैं।

फ़ारस में छोटे बड़े सब दस सूबे हैं। उनमें से अजरबैजान, ख़ुरासान, सीस्तान, मज़न्दरान, ज़ंजान और अस्तराबाद मुख्य हैं। फ़ारस में तुर्क और फ़ारसी ही अधिक बसते हैं; परन्तु अरब और यहूदी भी कहीं कहीं हैं। किरमान में थोड़े से हिन्दू भी हैं। वहाँ एक जगह यज्द है। उसमें फ़ारस के प्राचीन अग्निपूजक भी हैं।

गत जनवरी में फ़ारस के शाह मुजफ़्फ़रुद्दीन की मृत्यु हो गई। आपका ख़िताब था शाहंशाह। फ़ारस के सभी शाह शाहंशाह कहलाते हैं। आपका जन्म 25 मार्च 1853 हुआ था। पिता शाह नसीरुद्दीन के मारे जाने पर आपको, 1 मई 1896 को राजासन मिला था। आपका वंश-वृक्ष बहुत बड़ा है। फ़ारस के शाह अपनी उत्पत्ति नूह के बेटे जाफ़ेट से बतलाते हैं। इस राज्य की नींव साइरस नाम के प्रतापी पुरुष ने डाली। उसे दादा और जरकश ने अपनी तलवार के ज़ोर से दृढ़ किया। फ़ारस की प्रजा अपने शाह को ईश्वर की छाया, स्वर्ग की सीढ़ी, और विज्ञान का उत्ताल तरंगमय समुद्र समझती है। शाह अपनी प्रजा के धन और प्राण दोनों के प्रभु होते हैं। रत्नादि में तो शाह की बराबरी योरप और एशिया का कोई बादशाह, शाहंशाह या राजा नही कर सकता। शाह की निज की सम्पत्ति बहुत करके रत्नमय ही है। उसके 'दरियाय-नूर' नामक हीरे का वजन 186 कैरट (4 तोला 1 माशा है); और 'ताजे-माह' का 146 कैरट (3 तोला 2 माशा 4 रत्ती) है। शाह के 12 लड़कियाँ और 6 लड़के हैं। यह संख्या 1902 तक की है। आपके युवराज मुहम्मदअली मिर्ज़ा अब आपकी गद्दी पर बिराजे हैं। इनका जन्म 1872 ईसवी का है। सुनते है, शाह के बहनें भी उतनी ही हैं जितनी कि उनके लडकियाँ हैं। और भाई भी उतने ही जितने उनके लड़के हैं। यदि यह सच है तो बात बड़ी अजीब मालूम होती है।

मृत शाह के पिता शाह नसीरुद्दीन का शरीर ख़ूब लम्बा चौड़ा था। उनके चेहरे पर रोब, वीरता और पुरुषार्थ झलकता था। आपको शिकार का बड़ा शौक़ था। राजधानी छोड़कर आप बहुधा पहाड़ों पर कुत्ते और शिकारी चिड़ियाँ लिये हुए घूमा करते थे। जब आपको राज्य मिला तब आप केवल तुर्की भाषा जानते थे। परन्तु थोड़े ही दिनों में आपने फ़ारसी लिखना पढ़ना बख़ूबी सीख लिया, और फ़रासीसी और अरबी मे भी थोड़ा बहुत अभ्यास कर लिया। आपने दो बार इंगलैंड की सैर की। एक बार 1873 मे, दूसरी बार 1889 में। शाह प्रजाप्रिय थे; वीर थे; राज्य-प्रबन्ध में पूरी योग्यता रखते थे; परन्तु आपका मिज़ाज कुछ लड़को का सा था। विलायत में आपने एक दफ़े बहुत सी पैरगाड़ियाँ ख़रीदीं। उनमें एक एक गाड़ी आपने अपने साथ आये हुए एक एक अमीर को दी और कहा इस पर चढ़िये। उन लोगो को चढ़ने का बिलकुल अभ्यास न था। परन्तु शाह की आज्ञा कैसे उल्लंघन की जा सकती थी? वे चढ़े कि धड़ाम धड़ाम नीचे आ रहे! विलायत से रबर की एक नाव भी आप तेहरान लाये। वहाँ उसके नीचे की डाट निकालकर आपने कई अमीरों को उस पर सवार कराया और शाही बाग़ के तालाब में उसे चलाने का हुक्म दिया। ज़रा देर में वह पानी के भीतर हो

रही और अमीराना पोशाक पहने हुए उसके सवार गोते खाने लगे। शाह की कई बेगमें थीं। उनमें से एक की बहन से आपने नई शादी करनी चाही। इस पर सब बेगमें बिगड़ उठीं। उन्होंने गड़बड़ मचाया और कहा कि यदि यह शादी होगी तो हम अँगरेजी ध्वजा के नीचे चली जायँगी और तेहरान के अँगरेज़ एलची के यहाँ जा रहेंगी। यदि ऐसा होता तो अँगरेज़ एलची बड़े ही असमंजस में पड़ता। परन्तु ख़ैर हुई, ऐसा नहीं हुआ। तथापि बुड्ढे शाह ने शादी करके छोड़ा।

कन्धार के एक अमीर के भड़काने से शाह नसीरुद्दीन ने 1856 ईसवी में अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर दी और हिरात दख़ल कर लिया। इस कारण अँगरेज़ों को फारस पर सेना भेजनी पड़ी। इस सेना ने पहुँचते पहुँचते कर्क का टापू और बूशहर ले लिया; रिशिर के किले पर भी कब्जा कर लिया। फिर अँगरेज़ी सेना शीराज़ की ओर बढ़ी और ख़ुशाब में फ़ारस वालों को उसने एक शिकस्त दी। इतने ही में सन्धि हो गई। तब से अँगरेज़ प्रभुओं की प्रभुता फ़ारस की खाड़ी में बराबर बनी हुई है। इसको लार्ड कर्ज़न ने नई कर दिया है। लड़ाई के बाद ही कराची से तेहरान, थल-मार्ग से, विलायत को तार लगाया गया। वह बराबर काम दे रहा है। उसके द्वारा एक घंटे से भी कम समय में लन्दन और कलकत्ते के बीच, ख़बरें आती जाती हैं!

शाह नसीरउद्दीन अपनी मौत से नहीं मरे। उनको एक हत्यारे ने मार डाला था। शाह मुजफ़्फ़रुद्दीन पर भी एक दुष्ट ने गोली छोड़ी थी; परन्तु आप बच गये और वह हत्यारा पकड़ा गया। यह उस समय की बात है जब शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन इंगलैंड गये थे। लन्दन की एक गली में यह हादसा हुआ। अपने पूर्वजों के समान ये शाह भी बड़े शिकारी थे। साहस और वीरता भी आपमें ख़ूब थी। किसी किसी का मत है कि शाह में अपना राज्य सँभालने की यथोचित योग्यता नही थी; शारीरिक शक्ति भी उनमें कुछ कम थी; बुद्धि भी उनकी तीव्र न थी। परन्तु लार्ड कर्जन इस राय के ख़िलाफ़ है। उन्होंने फ़ारस में बहुत दिनों तक सैर की है और एक किताब भी उस पर लिखी है। इस किताब का बड़ा मान है। लाट साहब ने इस किताब में लिखा है—"शाह समझदार नरेश हैं; उनकी बुद्धि भी मन्द नहीं; वे इतिहास में पूरे दक्ष हैं; वनस्पति-शास्त्र का भी उन्हे ज्ञान है, स्वभाव भी उनका बुरा नहीं। राज्य के कामों में जो उनको जरा कम अनुभव है, उसका कारण है। शाह नसीरुद्दीन ने उनको राजधानी से दूर एक ऐसे सूबे का गवर्नर जनरल बनाया था जहाँ उनको राज्य के गुरुतर कार्य्यों में हाथ डालने या अपनी राय देने या और कुछ करने का अवसर ही नहीं मिला। फिर उनको इन बातो की विज्ञता कैसे प्राप्त होती? उनको निज के ख़र्च के लिए जो कुछ मिलता था वह भी काफ़ी न था: उनको बहुधा क़र्ज़ लेना पड़ता था। 40 वर्ष की उम्र तक वे इसी दशा में, अजर बैजान में, पड़े रहे। इसलिए यदि उनके स्वभाव और उनकी समझ में कोई दोष पाये जायँ तो उन्हें स्वाभाविक नहीं समझना चाहिए।"

शाह मुजफ़्फ़रुद्दीन योरप के नरेशों की राजनीति का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा किया करते थे। कोई भी योरप का विद्वान् अथवा अधिकारी जो वहाँ जाता था उसकी वे ख़ातिर करते थे और उसके अनेक विषयों पर वार्तालाप भी करते थे। दस ग्यारह

बजे खाना खाने के बाद, आप कुछ देर आराम करते थे। अनन्तर आप थोड़ी सी चाय पी कर तार का यन्त्र चलाते थे। आपने तार का काम सीखा था और उससे ख़बर भेजने का आपको बड़ा शौक़ था। शाह को फ़ोटोग्राफ़ी में भी खूब अभ्यास था। आपके लिये हुए अनेक अच्छे अच्छे फ़ोटो हैं। हर पोशाक और हर सूरत में आपने अपने भी फ़ोटो उतारे थे। यहाँ तक कि लेटे लेटे भी आपकी तसवीर उतारी गई थी। शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन भी दिल्लगी-पसन्द नरेश थे। आपके ज़ेर साये कितने ही मसखरे मज़े उड़ाते रहे हैं। अनेक प्रकार के क़िस्से कहानियाँ कहकर और अजीब अजीब तरह की बातें सुनाकर वे शाह को हँसाते थे।

शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन ने गद्दी पर बैठते ही रोटी और मास पकाकर उठा दिया। इससे उनका बडा नाम हुआ। प्रजा प्रसन्न हो गई। शाह को रुपये की बड़ी ज़रूरत थी। उन्होंने इंगलैंड से क़र्ज़ माँगा। इंगलैंड वालों ने तो क़र्ज़ देना मंज़ूर किया; पर शर्तें बेढब करनी चाहो। इससे लाचार होकर शाह ने रूस से 3॥ करोड रुपया क़र्ज़ लिया। यह बात अँगरेज़ों को अच्छी नहीं लगी। इस ऋण के कारण रूस की प्रभुता फ़ारस में बढ़ गई। रूस और फ़ारस के दरमियान व्यापार-विषयक एक सन्धिपत्र भी लिखा गया। इसका असर जो फ़ारस पर हुआ वह यदि जाता नहीं रहा, तो बढने का भी नहीं, क्योंकि इंगलैंड और फ़ारस के दरमियान अब व्यापार-विषयक एक दस्तावेज लिखी गई है।

शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन ने, 1900 में, रूस और फ्रांस की सैर की और 1902 में इंगलैंड की। वहाँ उन्होंने जो राजनैतिक अनुभव प्राप्त किया उसका फल फ़ारस का नवजात पारलियामेंट है। फ़ारस के शाह अपार सम्पत्ति के स्वामी हैं। उनके शाही महलों में ज़ेवर और जवाहिरात का अन्त नहीं। देहली का तख़्त-ताऊस आप ही की सम्पदा है। तेहरान में एक ख़ास महल है, उसे सम्पत्ति-सागर कहना चाहिए। श्रीमती बिशप ने फ़ारस पर एक किताब लिखी है। उसमें वे कहती हैं कि इस महल का वह दीवानख़ाना जिसमें शाह के रत्नादि रक्खे हैं, दुनिया भर के सबसे सुन्दर स्थानों में से एक स्थान है। उसके बीच में एक सुवर्ण-खचित मेज है। सोने ही के काम की कुरसियाँ भी कमरे में चारों ओर रक्खी हैं। बहुमूल्य मेज़ों के ऊपर और काँच की अलमारियों के भीतर, शाह के अनेक मुकुट और असंख्य रत्न जमा हैं। हीरे, मोती, लाल, नीलम, पुखराज, सैकड़ों प्रकार के सोने के पात्र, रत्नों से खचित कटार और तलवार, लाल और ज़मुर्रद जड़े हुए मुकुट, हीरे लगी हुई ढालें, भाँति भाँति के रत्नों से लबालब भरी हुई रक़ाबियाँ, देख कर देखने वाला हैरत में आ जाता है। उनकी शोभा, उनकी बहुमूल्यता, उनकी अनन्तता अवर्णनीय है। उस सम्पत्ति को देखना एक सपना सा है। परन्तु उसे जो देखता है वह भूलता नहीं। 12 इंच चौड़ी और तीन फुट ऊँची कितनी ही अलमारियाँ ऐसी हैं जिनमें सिवा हीरे, लाल, पुखराज और नीलम के कोई चीज़ नहीं। उनसे जो रंग-बिरंगी किरणें निकलती हैं उनकी शोभा देखते ही बनती है; वह वर्णन का विषय नहीं। किसी किसी जगह पर ये रत्न यों ही ढेर हैं; क़ायदे से रक्खे भी नहीं गये। वहाँ पर पृथ्वी का एक गोला (Globe) है। वह बहुत ही अद्भुत वस्तु है। उसका व्यास 20 इंच है। उसकी

बैठक और याम्योत्तर-वृत्त ठोस सोने के हैं; उन पर लाल जुड़े हुए हैं। उसकी भूमध्य-रेखा हीरों की है। देशों की सीमायें दिखलाने में लाल लगाये गये हैं; परन्तु फ़ारस के लिए हीरों से काम लिया गया है। जहाँ समुद्र है वहाँ नीलम जड़े हुए हैं। इतने रत्न मानो काफ़ी नहीं समझे गये, इसलिए गोले की जड़ में, तीस तीस अशर्फ़ी के बराबर वजनी बड़े बड़े सोने के सिक्के, इकट्ठे कर दिये गये हैं। इस समय फ़ारस के नरेश की सम्पत्ति का जब यह हाल है तब दारा, जरकश, खुसरो, शाहरुख, शाहअब्बास और नादिरशाह के समय में, न मालूम, क्या हाल रहा होगा। तख्ते-ताऊस एक अलग कमरे में है। उसे नादिरशाह देहली से लूट ले गया था। औरंगज़ेब के समय में टेवरनियर नामक एक फरासीसी इस देश में आया था। उसने इस तख्त को देखकर इसका वर्णन लिखा था। उसी वर्णन का साराश देकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे। सुनिए—

"तख्ते-ताऊस 6 फुट लम्बा और 4 फुट चौडा है। उसमें 4 पाये हैं, वे कोई 25 इंच ऊँचे हैं। उस पर 12 खम्भे हैं, जो तीन तरफ से, उसके ऊपर, शामियाने को थाभे हैं। तख्त के पाये और पटियों पर सोने का पत्र है; उस पर अद्भुत काम है और बेशुमार हीरे, लाल और पुखराज जड़े हुए हैं। हर एक पाये पर बीच में एक लाल है। उसकी तराश तिकोनी है। उसके चारों ओर चार पुखराज जड़े हैं। इसी तरह सब पटियों पर, थोड़ी थोड़ी दूर पर, लाल और पुखराज पच्ची किये गये हैं। और, एक जगह पुखराजों के बीच में लाल है तो दूसरी जगह लालों के बीच में पुखराज। पुखराजों और लालों के बीच में जो जगह खाली है उस पर हीरे जड़े हुए हैं। कहीं कहीं सुवर्ण-खचित मोती भी हैं। तख्त पर चढ़ने के लिए एक तरफ़ जीना है, उस पर कई सीढ़ियाँ हैं। एक तलवार एक ढाल, एक कमान, तीरों से भरा हुआ एक तरकस, ये सब तख्त से लटकते हैं। ये शस्त्र और जीने की सीढ़ियाँ सब जवाहिरात से टँकी हैं। छत्र के नीचे का हिस्सा हीरों और मोतियों से जड़ा है; उसके चारों ओर मोतियों की झालरें हैं। तख्त के पीछे जो तकिया है उस पर इतने जवाहिरात जड़े हैं कि उनको गिनने के लिए बहुत वक्त दरकार है। उस पर जो मोर बना है वह अत्यन्त अद्भुत है। उसकी दुम फैली हुई है और कई रंग के रत्नों से बनाई गई हैं। मोर का बदन सोने का है। उसकी छाती पर एक बहुत बड़ा लाल लगा है। छाती से एक तोले से भी अधिक वज़नी एक पीले रंग का विलक्षण मोती लटकता है। इस मोर के दोनों तरफ़ रत्नमय दो गुलदस्ते हैं। मैं उनकी कान्ति और सुन्दरता नहीं बयान कर सकता, उसे बनाना तैमूर ने शुरू किया था और शाहेजहाँ ने खतम किया। उसको बनवाने में एक करोड़ 70 लाख रुपया खर्च हुआ है।"

फ़ारस में जाकर तख्ते-ताऊस की सूरत कुछ बदल गई है; परन्तु उसकी विलक्षणता वैसी ही बनी है। इस समय योरप के जौहरी उसकी क़ीमत 4 करोड़ के क़रीब कूतते हैं !!!

इस अपार सम्पत्ति को छोड़ कर शाह मुज़फ़्फ़रुद्दीन परलोक को प्रस्थान कर गये। अब उसके मालिक उनके बेटे, मुहम्मदअली मिरजा, हुए हैं। [वे भी अब इस लोक में नहीं। अब तो फ़ारस में प्रजासत्ताक राज्य है।]

[फ़रवरी, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' में संकलित।]

कर्नल आलकट

पाठकों ने थियासफ़िकल सोसायटी का नाम सुना ही होगा। उसे स्थापित हुए कोई 30 वर्ष हुए। उसका प्रधान दफ़्तर मदरास (अडियार) में है। इस समाज के सिद्धान्त कुछ-कुछ ब्रह्मवादियों के सिद्धान्तों से मिलते हैं। इसका मुख्य सिद्धान्त है—मनुष्य परमात्मा का अंश है। अतएव वह परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस समाज में सब धर्म्मों और सब सम्प्रदायों के अनुयायी भरती हो सकते हैं। इसके अधिष्ठाताओं और कार्यकर्ताओं का कथन है कि हमें किसी धर्म्म से द्वेष नहीं, ईश्वर सबका एक है। हाँ, उसकी प्राप्ति के साधन जुदे-जुदे हैं। पर इससे मुख्य उद्देश में बाधा नहीं आ सकती। सब लोगों में भ्रातृ-भाव की स्थापना, ब्रह्मविद्या का प्रचार और पारस्परिक सहानुभूतियों की वृद्धि ही इस समाज के कर्तव्य हैं।

इसके संस्थापक कर्नल आलकट का शरीरपात हुए अभी थोड़े ही दिन हुए। मदरास में, 17 फरवरी 1907 को, आपकी मृत्यु हुई। आपके मृत देह के पास सब धर्म्मों की प्रधान-प्रधान पुस्तकें रक्खी गई थीं। यह आपकी आज्ञा से हुआ था। आप कह गये थे, ऐसा ही करना। मरने पर सब धर्म्मों के अनुयायियों ने आपका कीर्त्तिगान किया। आपके शव का अग्नि-संस्कार हुआ। अस्थि-संचय का आधा भाग समुद्र में डाला गया। आधा काशी में, भागीरथी में, प्रवाहित किया गया। यह बात हिन्दू धर्म्मानुकूल हुई।

तीन-चार वर्ष हुए हमने कर्नल आलकट के जीवनचरित की सामग्री इकट्ठी करने की कोशिश की थी। पर सफलता न हुई। जो लोग सामग्री दे सकते थे उन्होंने उत्तर दिया कि कर्नल साहब का जीवनचरित प्रकाशित नहीं हो सकता। साहब नहीं चाहते कि उनका चरित प्रकाशित हो। क्या करते? चुप रहना पड़ा। पर अब, उनकी मृत्यु के बाद, श्रीमती एनी बेसंट ने उनका संक्षिप्त चरित अँगरेज़ी अख़बारों में छपा दिया है। उससे कर्नल साहब का कुछ हाल लोगों को मालूम हो गया है। ख़ैर, तब न सही, अब सही।

कर्नल साहब के पूर्वज अँगरेज़ थे। उन्हें अमेरिका में आकर बसे कई पुश्तें हो गईं। अतएव कर्नल आलकट को अमेरिकन कहना चाहिए। अमेरिका के न्यूजर्सी प्रान्त के आरेंज नगर में कर्नल साहब का जन्म, 1832 ईसवी में, हुआ था। आपको कृषि-विद्या से बड़ा शौक़ था। ग्रीस की गवर्नमेंट ने उन्हें कृषि के महकमे में एक अच्छा पद देने की इच्छा प्रकट की थी। पर उन्होंने एथन्स जाना मंज़ूर न किया। आपने अपने ही देश में कृषि-विद्या का एक स्कूल खोला। उसमें आपने बड़ी कार्य्य-दक्षता दिखलाई। आपका बड़ा नाम हुआ। आपने कृषि-विषयक एक किताब भी लिखी। थोड़े ही समय में वह सात दफ़े छपी। आपकी योग्यता से प्रसन्न होकर अमेरिका के अधिकारियों ने वाशिंगटन में

आपको कृषि विभाग का डाइरेक्टर बनाना चाहा। पर इस पद को लेने से भी आपने इनकार कर दिया। और भी कई अच्छे-अच्छे काम आपको मिलते थे। पर उन्हें भी आपने नहीं मंज़ूर किया।

1858 में आप इंगलैंड गये। वहाँ आपने अपने कृषिज्ञान की और भी वृद्धि की। अमेरिका लौटकर दो किताबें और आपने कृषि पर लिखीं। इससे आपका और भी नाम हुआ।

कर्नल आलकट कुछ दिन तक एक अख़बार के सम्पादक भी रहे थे। अख़बारों में आपने कुछ दिन तक लेख भी दिये थे।

जब अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में लड़ाई शुरू हुई तब आलकट साहब फ़ौज में भरती हो गये। लड़ाई में आपने बड़ी बहादुरी दिखाई और अपने काम से अफ़सरों को बहुत प्रसन्न किया। इसके बाद उन्हें एक ऐसे मामले की तहक़ीक़ात का काम दिया गया जिसमें गवर्नमेंट का बहुत सा रुपया लोग खा गये थे। इस काम में उन्हें लोग रिश्वत देने, और रिश्वत न लेने पर, धमकाने में भी बाज़ न आये। पर आलकट साहब इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़ी ही योग्यता से काम किया। फल यह हुआ कि अपराधी दस-दस वर्ष के लिए जेल भेजे गये। इस काम में साहब ने बड़ी नेकनामी पाई। बड़े-बड़े अफ़सरों ने उनकी प्रशंसा की और बिना माँगे प्रशंसापूर्ण पत्र भेजे।

कुछ दिन बाद आलकट साहब को कर्नल का पद मिला और वे युद्ध-विभाग के स्पेशल कमिश्नर बनाये गये। इसके अनन्तर जहाजी महकमे के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी ने अपने महकमे में उन्हें ले लिया। वहाँ उन्होंने अनेक सुधार किये और उस महकमे में जितनी ख़राबियाँ थीं सब दूर कर दीं। इनकी इस योग्यता पर इनका प्रधान अफ़सर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने एक लम्बी सरटीफ़िकेट दी, और उसमें इनके गुणों का सविस्तर गान किया।

मैडम ब्लेवस्की से कर्नल आलकट की भेंट अमेरिका ही में हुई। वहीं इन दोनों ने मिलकर थियासफ़िकल समाज की नींव डाली। उस समय कर्नल साहब ने गवर्नमेंट की नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया था और विकालत करने लगे थे। विकालत में आपको अच्छी आमदनी होती थी। पर धार्म्मिक और ब्रह्मविद्या-विषयक बातों को उन्होंने रुपया पैदा करने के काम से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा। अतएव सांसारिक झगड़ों से हाथ खींच कर, 1875 ईसवी में, पूर्वोक्त मैडम साहिबा की सलाह से, आपने इस समाज की स्थापना की। आप ही इसके प्रधान अध्यक्ष नियत किये गये। इसके दो वर्ष बाद आपने भारत-वर्ष के लिए प्रस्थान किया और यहाँ मदरास में थियासफिकल सोसायटी का मुख्य दफ़्तर खोला।

यहाँ आकर बम्बई में पहले पहल आप ही ने स्वदेशी चीजों की एक प्रदर्शनी खोलने का उपक्रम किया और लोगों को स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की उत्तेजना दी। एनी बेसंट कहती हैं, कांग्रेस करने का ख़याल भी पहले पहल आप ही को हुआ था।

कर्नल साहब को बौद्ध धर्म्म से विशेष प्रेम था। आपने लंका में इस धर्म्म की

उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया। यह आप ही के प्रयत्न का फल है जो वहाँ इस समय 3 कालेज और 203 स्कूल है और उनमें 25,856 विद्यार्थी पढ़ते हैं। जापान में भी कर्नल आलकट ने बौद्ध धर्म्म की बड़ी उन्नति की। अनेक व्याख्यान आपने दिये। बौद्ध धर्म्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को आपने अपने व्याख्यानो के प्रभाव से एक कर दिया।

1878 ईसवी में कर्नल साहब भारतवर्ष में आये और 1882 में आपने अपने निज के रुपये से ज़मीन वग़ैरह लेकर मदरास में थियासफ़िकल सोसायटी की इमारत बनवाई। यहाँ, 1891 में, मैडम ब्लेवस्की का शरीरपात हुआ। तब से इस सोसायटी का कार्य्य-सूत्र सर्वतोभाव से आप ही के हाथ रहा। आपने अपने उद्योग और अध्यवसाय से 31 वर्षों में, इस सोसायटी की कोई एक हज़ार शाखायें दुनिया भर में खोल दीं। इस समय कोई देश ऐसा नही जहाँ इस सोसायटी की शाखा न हो। आप पर और मैडम ब्लेवस्की पर अनेक लोगों ने अनेक प्रकार की तुहमतें लगाई; अनेक प्रकार से उनकी निन्दा की; अनेक अनुचित आक्षेप और आघात किये; पर उनकी बहुत कम परवा करके आप अपने सिद्धान्तो पर दृढ़ रहे और जिस काम को शुरू किया था उसे उसी उत्साह से करते रहे। फल यह हुआ कि आपके कितने ही विपक्षी इस समय आपकी बातों को मानने लगे हैं। सुनते है आपके सारे बड़े-बड़े काम महात्माओं की प्रेरणा से हुआ करते थे। ऐसी ही प्रेरणा के वशीभूत होकर आप एनी बेसंट को अपने पद का उत्तराधिकारी बनाने की सिफ़ारिश कर गये हैं।

कर्नल आलकट की बदौलत थियासफ़िकल सोसायटी से, एक बात जो सबसे अधिक महत्त्व की हुई है, वह यह है कि इस देश के अँगरेजी पढे विद्वानों के हृदय में अपने देश की विद्या और शास्त्रादि पर श्रद्धा का अंकुर जम गया है। यह कुछ कम लाभ नहीं।

[अप्रैल, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'विदेशी विद्वान्' पुस्तक में संकलित।]

मुग्धानलाचार्य

मुग्धानलाचार्य्य से मतलब डाक्टर मेकडॉनल्ल से है। आप आक्सफ़र्ड में संस्कृत के प्रधान अध्यापक हैं। आपके विषय मे एक नोट, मार्च 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुका है। उसमें आपकी संस्कृत-लिपि का फ़ोटो दिया गया है। जून 1907 की 'सरस्वती' में 'कालिदास का समय' नामक जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें भी आपका उल्लेख है और आपकी रचित 'संस्कृत भाषा का इतिहास' नामक पुस्तक की दो एक बातों की आलोचना भी है। कुछ समय हुआ, आप संस्कृत की जन्मभूमि भारत में भ्रमण करने आये थे। आप यहाँ कई महीने घूमे। अब आप अपने देश लौट गये हैं।

आपका पूरा नाम है आर्थर ए०, मेकडॉनल। मेकडॉनल का संस्कृत-रूप आप ही ने 'मुग्धानल' बनाया है और उसके आगे 'आचार्य्य' भी आप ही ने जोड़ा है। आप एम०ए० (मास्टर आव् आर्ट्स) है; इससे 'आर्ट्स के आचार्य्य हुए। और पी-एच० डी० (डाक्टर आव् फ़िलासफ़ी) है; इससे फ़िलासफ़ी (दर्शन-शास्त्र) के भी आचार्य्य हुए।

डाक्टर मेकडॉनल का जन्म मुज़फ़्फ़रपुर (तिरहुत) में हुआ था। वहाँ 11 मई 1854 को आपने जन्म लिया था। पर शिक्षा और दीक्षा आपने यहाँ नही पाई। जर्मनी के गाटिंजन और इंगलैंड के आक्सफर्ड-विश्वविद्यालयों में आपने ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त की है। पुरानी जर्मन-भाषा, संस्कृत भाषा, और भाषा-व्युत्पत्ति-शास्त्र के अध्ययन और विचार में आपने सविशेष परिश्रम किया है। प्रधान-प्रधान आकर-ग्रन्थो मे एक परीक्षा आक्सफ़र्ड मे होती है। उसकी भी एक सर्वोच्च शाखा है। उसका नाम है 'आनर्स-कोर्स'। जो लोग उसमें पास होते हैं वे विशेष सम्मान की दृष्टि से देखे जाते है। इस परीक्षा को पास करके आचार्य्य मुग्धानल ने चीनी, जर्मन और संस्कृत भाषा सम्बन्धी विश्वविद्यालय की छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं। संस्कृत के प्रगाढ़ पण्डित सर मानियर विलियम्स का नाम पाठको ने सुना ही होगा। उन्हीं से आपने चार वर्षों तक बराबर संस्कृत पढ़ी है। जैसे आप संस्कृत के चूड़ान्त पण्डित हैं वैसे ही जर्मन के भी है। 1880 से 1899 तक कोई 20 वर्ष, आप आक्सफर्ड में जर्मन भाषा के अध्यापक थे। इस भाषा के अध्यापक नियत होने के 8 वर्ष बाद से संस्कृत-अध्यापन का भी काम आपको मिला। 1888 से 1899 तक आप संस्कृत के सहकारी अध्यापक भी रहे। इसके आगे आप संस्कृत के 'बाडन-प्रोफेसर' हुए। बाडन नाम के एक साहब बहुत सा रुपया जमा करके आक्सफ़र्ड मे संस्कृत पढ़ाने का प्रबन्ध कर गये हैं। इससे जो कोई उनकी नियत की हुई जगह पर काम करता है वह 'बाडन-प्रोफेसर' कहलाता है। आचार्य्य मुग्धानल इसी पद पर अधिष्ठित हैं।

मुग्धानलाचार्य्य वेदों के बहुत बड़े ज्ञाता हैं। वैदिक साहित्य की नस-नस से आप वाक़िफ़ हैं। बेनफी, रोट और मोक्षमूलर से आपने वेद पढ़े हैं। पश्चिमी दुनिया में

इस त्रिमूर्ति को वेदज्ञ-शिरोमणि कहना चाहिए। इसी से आचार्य्य मुग्धानल वेद-विद्या मे इतने निष्णात हैं। इसके सिवा काव्य, कोश, व्याकरण आदि विषयों में भी आपकी अच्छी गति है; पर विशेष करके आप वेदों ही के अध्ययन और वेदों ही के तत्त्वार्थ-प्रकाशन में लीन रहते हैं। आपने एक संस्कृत-कोश भी प्रकाशित किया है; एक संस्कृत-व्याकरण भी लिखा है। कितने संस्कृत-ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया है, इसकी तो गिनती ही नहीं। हम उनके नाम देने में असमर्थ है। हमें सबके नाम ही नहीं मालूम, दें कैसे!

डाक्टर मेकडॉनल ने एक बहुत महत्त्व-पूर्ण पुस्तक लिखी है। उसमें आपने वैदिक देवताओं का वर्णन बड़ी ही योग्यता से किया है। वेदो मे जो कितनी ही कथायें और अन्योक्तियाँ हैं उन सबका डाक्टर साहब ने उसमें विचार किया है। उसके लिखने में आपने बड़ा पाण्डित्य दिखाया है; बड़ा परिश्रम किया है। पण्डित शिवशकर शर्म्मा जी ने 'त्रिदेव-निर्णय' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसकी समालोचना सरस्वती में निकल चुकी है। पण्डितजी को चाहिए कि आचार्य्य मुग्धानल की यह पुस्तक अवश्य पढ़े। आचार्य्य ने एक और भी प्रगाढ़ पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ लिखा है। वह छप रहा है। अभी तक प्रकाशित नही हुआ। यह ग्रन्थ वैदिक व्याकरण है। कई वर्षों के सतत परिश्रम से आप इसे लिख पाये हैं। प्रकाशित होने पर, सुनते हैं, यह ग्रन्थ अपने ढंग का एक ही होगा। आपका 'लौकिक व्याकरण' प्रकाशित हुए बहुत दिन हुए; अब 'वैदिक व्याकरण' भी प्रकाशित होने जाता है। दोनों व्याकरणों के आप उत्कृष्ट ज्ञाता मालूम होते है।

पर आचार्य्य मुग्धानल का, संसार को चकित करनेवाला, कार्य्य अभी होने को है। जिन दो ग्रन्थों का नाम ऊपर हमने दिया है उन्हें इस 'महतो महीयान्' कार्य्य की भूमिका मात्र समझिए। आप ऋग्वेद का एक सर्वसुन्दर अनुवाद अँगरेजी भाषा में लिख-कर प्रकाशित करना चाहते हैं। यह अनुवाद आपका 'Complete' (पूर्ण) होगा और 'Scientific' (शास्त्रसम्मत अथवा विज्ञानसिद्ध) भी होगा। इसके लिए आप अभी से तैयारियाँ कर रहे हैं। शीघ्र ही आप उसका आरम्भ करनेवाले है। विदेशी विद्वानों की राय है कि ऐसा अनुवाद कहीं अब तक प्रकाशित नही हुआ। 'Sacred Books of the East' (पौर्वात्य पवित्र पुस्तक-माला) मे जो अनुवाद निकला है वह पूरे का दशांशमात्र है।

आचार्य्य महाशय की महत्त्वाकांक्षा यहीं तक न समझिए। आप ऋग्वेद का अनुवाद करके एक और बृहद् ग्रन्थ लिखने का इरादा रखते है। आप जो इस देश मे विचरने आये थे उसके कई मतलब थे। एक मतलब आपका था—एक बहुत बड़े कोश के लिए सामग्री एकत्र करना। इसमें भारतवर्ष की पौराणिक और धार्म्मिक बातों का भाण्डार रहेगा। प्रत्येक बात का—प्रत्येक कथा का—प्रत्येक धार्म्मिक विचार का—ऐतिहासिक रीति से विचार किया जायगा। इसमे जगह-जगह पर चित्र भी रहेंगे। सारा कोश सचित्र निकलेगा।

आक्टोबर 1907 में आचार्य्य ने भारतभूमि में पदार्पण किया था। आप कोई 6 महीने इस देश में घूमे। आपने इस देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध प्राचीन स्थानों में भ्रमण किया। हिन्दू धर्म्म क्या चीज है, इसको ध्यान से देखा। आपकी इच्छा हस्तलिखित

पुरानी संस्कृत-पुस्तकें प्राप्त करने की भी थी। शायद बहुत सी पुस्तकें आप कौड़ी-मोल विलायत ले भी गये हों। एक अखबार में हमने पढ़ा था कि यहाँ के 'Native' (एतद्देशीय) संस्कृत-विद्वानों से मिलकर संस्कृत-विद्या की उन्नति के विषय मे कुछ सूचनायें भी करने का आप इरादा रखते थे। भारतवर्ष में जितने अच्छे-अच्छे संस्कृत-पुस्तकालय है, जितने अच्छे-अच्छे प्राचीन वस्तु-संग्रहालय है, जितने अच्छे-अच्छे कालेज हैं सब देख-भालकर तब आप स्वदेश को लौटे हैं।

डाक्टर मेकडॉनल विदेशी होकर भी संस्कृत से इतना प्रेम रखते हैं। सात समुद्र पार करके आप यहाँ आये। बहुत श्रम और बहुत खर्च आपने उठाया। यह सब विशेष करके इसलिए कि वैदिक संस्कृत-साहित्य-सम्बन्धी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ आप लिख सकें। आपका यह सदुद्योग सर्वथा प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है। यहाँ के 'नेटिव' विद्वानों के 'मतमकूर' का मालिन्य न मालूम कब दूर होगा ? न मालूम कब वे सोत्साह संस्कृता-ध्ययन में लगेंगे, कब वे अनुसन्धान-पूर्वक नई-नई बाते जानने का यत्न करेंगे; कब अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखने अथवा पुरानी पुस्तकों का पुनरुद्धार करने के लिए अग्रसर होंगे। स्वामी नारायण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी व्यवस्था देने, अथवा एकादशी आज है या कल, इस पर विवाद करने बैठने आदि कामों से उन बेचारों को अवकाश कहाँ !

आचार्य्यवर मुग्धानल इस देश के विद्वानों से मिलने की इच्छा से भी भारत भ्रमण करने आये थे। आपके इस सद्भाव और सदुद्देश की हम प्रशसा करते है। नही कह सकते आपने इस देश के किन-किन विद्वानों से वार्तालाप किया, किस-किस विषय में वार्तालाप किया और उन्हें कैसा पाया। आप तो यहाँ के संस्कृतज्ञों को कोई चीज ही नहीं समझते। फिर उनसे मिलकर आप क्या फ़ायदा उठा सकते है ?

डाक्टर मेकडॉनल संस्कृत-शिक्षा के बड़े पक्षपाती है। आपकी राय है कि जो लोग 'सिविल सर्विस' की परीक्षा पास करके इस देश में अफसरी करने आते हैं वे यदि विलायत ही से संस्कृत पढ़कर आवे तो अँगरेजी राज्य की जड पाताल चली जाय और भारत की प्रजा की सुख-समृद्धि भी बहुत बढ़ जाय। भारतवर्ष के नालायक़ पण्डितों से संस्कृत पढ़ने से विशेष लाभ की सम्भावना नही। क्योकि ये लोग गुण-दोष-परीक्षापूर्वक संस्कृत पढ़ाना नहीं जानते। ये लोग सूक्ष्मदर्शी नही। इससे 'सिविल सर्विस' वालो को आचार्य्य महोदय ही से संस्कृत पढ़कर यहाँ आना चाहिए। यह सूचना आपने अपने छात्रो की संख्या बढ़ाने के लिए नही किन्तु भारतवर्ष और इंगलैंड दोनो के लाभ के लिए दी है। डाक्टर मेकडॉनल ने ऐसी ही अनेक निरर्गल बातो से भरा हुआ एक लम्बा लेख लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी के जुलाई 1906 ईसवी के जर्नल मे प्रकाशित कराया है। आपकी ये सब मधुर मनोहर बाते यहाँ के कुछ लोगो को मीठी नही लगी। बम्बई के एलिफन्स्टन कालेज मे पण्डित श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर, एम० ए०, संस्कृताध्यापक है। उन्होने आचार्य्य महोदय के लेख का खण्डन लिखा। आपके प्रायः प्रत्येक आक्षेप की असारता उन्होंने दिखलाई। जवाब बहुत ही माकूल हुआ। उसे उन्होंने बम्बई की एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में छपने के लिए भेजा। परन्तु सोसायटी के मन्त्री महाशय ने उसे प्रकाशित करने से इनकार किया। आपकी राय हुई कि इस उत्तर

में विवादांश अधिक है; इससे सोसायटी के जर्नल में नहीं छप सकता। अच्छा फ़ैसला हुआ। आचार्य्य जी कुछ कहें कह सकते हैं; जो कुछ छपावें छपा सकते हैं। और लोग उनकी बराबरी किस क़ानून की रू से करने का हक़ रखते हैं? ख़ैर, लाचार होकर, श्रीधरजी ने अपना उत्तर पुस्तकाकार छपाया और उसका विपुल वितरण किया।

आचार्य्य की आज्ञा है कि जो लोग विलायत से संस्कृत पढ़कर आवेंगे वे हमारे धर्म्मशास्त्र की पुस्तकें खुद ही पढ़कर न्याय खूब कर सकेंगे। गुण-दोष-विवेचना-शक्ति-हीन पुराने ढर्रे के पण्डितों से पढ़ने से जो बातें उन्हें न सूझेंगी वे विलायत से पढ़कर आने पर आप ही आप सूझ जायँगी। हम कहते हैं कि जो विद्वान् एक सतर तक नहीं संस्कृत नहीं लिख सकते और जो इस देश में क़दम रखते ही संस्कृत बोलना भूल जाते हैं उनके छात्र मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ क्या समझेंगे, ख़ाक! पहले उनके गुरु तो अच्छी तरह समझ लें। ये योरप के संस्कृत-विद्वान् वैदिक साहित्य में चाहे भले ही भारतवासियों से बढ़ जायँ, क्योंकि वेदाध्ययन के लिए वहाँ विशेष सुभीता है; परन्तु और बातों में यहाँ वालो से अधिक विज्ञता प्राप्त करने की आशा रखना व्यर्थ है। यहाँ किसी कालेज के अँगरेजी भाषा के प्रोफ़ेसर को यदि एक लाइन भी अँगरेजी लिखना न आवे, या वह अपने मन का भाव अपने अँगरेज़ अफ़सर के सामने अँगरेज़ी में न प्रकट कर सके, तो वह उसी दिन निकाला जाय। पर गाटिंजन और आक्सफ़र्ड के संस्कृताचार्य्य यदि एक वाक्य भी संस्कृत में शुद्ध न लिख सके तो भी कुछ हानि नहीं; तो भी वे भारत के पण्डितों को नालायक़ ठहराने के लायक़ समझे जायँ; तो भी वे संस्कृत के बड़े-बड़े छः-छः रुपये क़ीमत के व्याकरण लिख डालें!

आचार्य्य मुग्धानल के गुरुवर सर मानियर विलियम्स द्वारा सम्पादित कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक की एक आवृत्ति है। उसमें—"किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्क-लेखामनुवर्तेते" इस पंक्ति का अर्थ गुरुवर ने किया है—"यदि चन्द्रमा के साथ संयोग होने के लिए विशाखा इतनी उत्सुक है तो शकुन्तला का चन्द्रवंशी दुष्यन्त के साथ संयोग की कामना करना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। शायद दुष्यन्त ने अपनी तुलना चन्द्रमा से और शकुन्तला की विशाखा से की है।"

तो क्या कालिदास ऐसे अहमक़ थे कि दुष्यन्त को चन्द्रमा बनाने के लिए, पुंल्लिग 'शशाङ्क' शब्द को स्त्रीलिंग 'शशाङ्कलेखा' करना पड़ा? और क्या अकेली एक शकुन्तला को विशाखा बनाने के लिए 'विशाखा' शब्द को द्वि-वचन में रखना पड़ा? साहब ने कालिदास का काव्य पढ़ डाला और अपने सैकड़ो छात्रों को पढ़ा भी डाला; पर आपके ध्यान में यह न आया कि उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलकारों में कालिदास ने लिंग और वचन की एकता का बड़ा ख़याल रक्खा है। हाय हाय! कालिदास ने कोई बड़ा ही गुरुतर पाप किसी जन्म में किया था; उसी का प्रायश्चित्त गुरुवर मानियर विलियम्स द्वारा आक्सफ़र्ड में उनसे कराया गया है। विशाखा नक्षत्र में दो तारे हैं। इसी से इस शब्द को द्वि-वचन में रखकर शकुन्तला की दोनों सखियों को कवि ने विशाखा बनाया है। रही शशाङ्कलेखा सो उससे मतलब शकुन्तला से है। प्रियंवदा और अनसूया नामक उसकी दोनों सखियो के द्वारा शकुन्तला ही का अनुवर्तन करने की

बात कवि ने दुष्यन्त के मुँह से पूर्वोक्त वाक्य में कही है। तो उसके समझने में, देखिए, विलियम्स साहब ने कैसा अर्थ का अनर्थ कर डाला। ऐसे ही आचार्य्यों के पढ़ाये साहब पण्डित इस देश में आकर धर्म्मशास्त्र के ग्रन्थिल विषय बिना पण्डितों की मदद के जान लेंगे और न्यायाधीश के आसन पर बैठकर दूध की तरह साफ़ स्वच्छ न्याय करेंगे !

सच तो यह है कि इन साहब पण्डितों ने जो किसी-किसी विषय में विशेष पारदर्शिता दिखलाई है उसका कारण वही गुणदोष-विवेचना-ज्ञान-हीन पण्डित हैं जिन्हें मुग्धानलाचार्य्य इतनी तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन आदि ने जो बड़ी-बड़ी किताबें लिख डालीं सो इस देश के भोले-भाले स्थूलदर्शी पण्डितों ही की कृपा की बदौलत। यदि वे यहाँ वर्षों इन पण्डितों से सबक़ न सीखते तो वेदों के विषय में चाहे भले ही मनमानी कल्पनायें किया करते, पर और विषयों में क़लम उठाने का साहस शायद ही उन्हें होता। फिर भी, पण्डितों से मंथा लेकर भी, इन लोगो ने कोई-कोई बड़ी ही हास्यास्पद भूलें की हैं। बूलर साहब ने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' का सम्पादन किया है। उस काव्य के 18वें सर्ग में कवि बिल्हण ने अपना चरित लिखा है। उसमें एक जगह बिल्हण ने कहा है—

> भोज. क्षमाभृत् स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
> स्तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
> यस्य द्वारोडडमरशिखरक्रोडपारावतानां
> नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा॥

उसका तात्पर्य्य यह है कि धारा नगरी मानो अपने नाम के साथ बिल्हण से कहती है कि तू भोज के जीते जी क्यों न आया ? परन्तु बूलर साहब ने—'तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि' का अर्थ लगाया कि—तू धारा नगरी में जाकर भोज से क्यों न मिला ? बूलर साहब खुद तो गढ़े मे गिरे ही; पर अकेले नही गिरे, साथ हमें भी लेते गये। 'विक्रमाङ्कदेवचरित-चर्चा' लिखने के पहले हमने इस काव्य को अच्छी तरह पढ़ा। जहाँ यह धारा नगरी-विषयक श्लोक मिला वहाँ हाशिये पर हमने लिख दिया—'धारा को गया'। पर जब पुस्तक लिखने बैठे तब वह बात ध्यान से उतर गई। बूलर साहब की भूमिका के आधार पर हमने लिख दिया कि भोज से मिलने के लिए बिल्हण धारा नगरी को गया ही नही। यह भूल हमें मालूम कब हुई जब पण्डित पद्मसिंहजी ने हमारी पुस्तक के हाशिये पर हमारा नोट देखा और हमें उसकी सूचना दी।

आचार्य्य मुग्धानल भारतवर्ष के मामूली पण्डितों ही को नालायक़ नहीं ठहराते। आपकी राय है कि यहाँ के स्कूलों और कालेजों के संस्कृतज्ञ अध्यापक भी योग्यता से ख़ाली हैं। न उन्हें परीक्षा-पत्र अच्छे बनाने आते हैं और न उन्हें पाठ्य-पुस्तकें ही चुनने का शऊर है। आपका ख़याल है कि यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर संस्कृत नही जानते। इसी से अच्छी पुस्तकें नहीं चुनी जातीं। आचार्य्य समझते हैं कि यदि डाइरेक्टर साहब संस्कृत जानते तो अच्छी पुस्तकें चुन देते। आपको यह ख़बर नहीं कि पाठ्यपुस्तकें चुनने का काम या तो 'सीनेट' के प्रबन्ध से होता है, या विश्वविद्यालय के नियत किये हुए 'बोर्ड्स् आव

स्टडीज' के प्रबन्ध से या ख़ास कमेटियों की सिफ़ारिश से। इनमें संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् रहते हैं। बेचारे 'नेटिव' अध्यापकों पर ही इसका भार नहीं रहता। किन्तु आचार्य्य के समकक्ष गौरांग-गुरु टीबो, वीनिस, ईविङ्, ऊलनर और फ़िलिप्स आदि भी रहते हैं। और जब बूलर, फूरर, कीलहार्न और पीटर्सन थे तब वे भी पाठ्य-पुस्तक-निर्वाचन करने की कृपा किया करते थे। यही नहीं, किन्तु कितने ही गौरांग विद्वान, परीक्षक भी नियत होते हैं। अतएव पाठ्यपुस्तकों और संस्कृत के परचों से यदि भारतवासी अध्यापकों की अयोग्यता झलकती है तो विलायतवासियों की क्यों नहीं ? इसलिए नहीं, क्योंकि वे आचार्य्य के देश, द्वीप या भूमिखण्ड के वासी हैं।

आचार्य्य मुग्धानल शायद चाहते हैं कि 'नेटिव' संस्कृताध्यापक एकदम ही कालेजों से निकाल बाहर किये जायँ। उनके निकल जाने से पुस्तकें भी अच्छी चुनी जाने लगेंगी और परीक्षा-पत्र भी अच्छे बनने लगेंगे। एक बात और भी होगी। यह जो बी० ए०, एम० ए० वालों को काव्यप्रकाश, वेदान्त-सूत्रभाष्य और न्याय पढ़ाना पड़ता है सो भी पढ़ाना बन्द हो जायगा। योरप के दिग्गज पण्डितों को ये विषय पढ़ाना मानो लोहे के चने चाबना है। कई बार इन लोगों ने कोशिश करके इनका अध्यापन बन्द कराना चाहा; पर कामयाबी न हुई। सो यह बात उन्हें अब तक खटक रही होगी। साहब आचार्य्यों की राय है कि ये विषय संस्कृत के साधारण साहित्य के बाहर हैं। क्यों न हो ! पर विलायत के विद्यालयों में जो ग्रीक भाषा पढ़ाई जाती है, अरिस्टाटल और प्लेटो के दार्शनिक ग्रन्थ उसके साहित्य के ठीक भीतर हैं। क्यों ? इसलिए कि उन्हें साहब लोग पढ़ा सकते हैं; पर गौतम, शंकराचार्य्य और मम्मट के ग्रन्थों को नहीं पढ़ा सकते।

डाक्टर मेकडानल का सबसे बड़ा आक्षेप इस देश के संस्कृतज्ञों पर यह है कि वे वैज्ञानिक किंवा शास्त्रीय रीति (Scientific method) से व्याकरण और पुरातत्त्वादि विषय पढ़ना-पढ़ाना नहीं जानते। अतएव जिन्हें इन विषयों का अध्ययन करना हो उन्हें विलायत ही से संस्कृत पढ़कर इस देश में आना चाहिए। बहुत दुरुस्त ! "यथाज्ञापयति देव !" डाक्टर भाऊदाजी, डाक्टर भाण्डारकर, डाक्टर भगवानलाल इन्द्रजी, डाक्टर राजेन्द्रलाल मिश्र, पण्डित श्याम शास्त्री आदि इस देश के विद्वान् संस्कृत पढ़ने आक्सफ़र्ड गये थे ! जो कुछ थोड़ा-बहुत काम इन लोगों ने किया है सब आक्सफ़र्ड के 'ब्रॉडन प्रोफेसर आव् संस्कृत' के शिक्षा-प्रसाद से !

मुग्धानलाचार्य्य ने इसी तरह के कितने ही निर्मूल आक्षेप इस देश के संस्कृतज्ञों पर करके सिद्ध करना चाहा है कि—'सिविल सर्विस' वाले आपसे संस्कृत पढ़वाकर यहाँ भेजे जाया करें और अँगरेज़ों को यहाँ कालेजों में अच्छी-अच्छी तनख़्वाहों पर प्रोफेसरी दी जाया करे। सारा मतलब यह कि आपका क्लास भरा रहे और आप के स्वदेशवासियों का पेट। स्वार्थ, तेरी जय ! आपकी स्वार्थ पर और निन्दामूलक एक-एक बात का उत्तर श्रीयुत श्रीधरजी ने अँगरेज़ी में दे दिया है। इस बात को कोई डेढ़ वर्ष हुए। अतएव आचार्य्य मुग्धानल की कालकूट-गर्भित उक्तियों का निदर्शन मात्र ही यहाँ पर बस होगा।

आचार्य्य मुग्धानल की दो पुस्तकें यहाँ के विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं। एक

तो आपका संस्कृत-व्याकरण, दूसरा संस्कृत-भाषेतिहास। आश्चर्य्य है, ऐसे भारतीय-पण्डित-द्वेषी विद्वान् की पुस्तकें भारत ही में प्रचलित की गईं। इन पुस्तकों में बहुत सी बातें समालोच्य है। आपका संस्कृतेतिहास और लोगों के इतिहास की अपेक्षा जरूर अच्छा है; पर उसमें भी भ्रमपूर्ण बाते लिखी गई है। उनमें से एक-आध बात की समालोचना हम जून 1907 की 'सरस्वती' में कर भी चुके है। धीरे-धीरे और बातो की भी समालोचना करने का विचार है। आपकी पुस्तकों में कितनी ही भूले है और बड़ी-बड़ी भूले हैं। आपने 'बृहद्देवता' नाम की पुस्तक का जो अनुवाद अँगरेजी में किया है उसमें श्रीधरजी ने, नमूने के तौर पर, दो-एक ऐसी-ऐसी ग़लतियाँ बतलाई है जिन्हें देखकर मुग्धानलजी की संस्कृत-सम्बन्धी अज्ञता किंवा अल्पज्ञता पर दया आती है।

हमारे विश्वविद्यालय के नायकों ने मुग्धानल का संस्कृत-व्याकरण, कालेज की प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों मे, रक्खा है। उसी को पढ़कर भारतीय युवक सही-सही संस्कृत लिखना और बोलना सीखते है। आपका रचा हुआ संस्कृत-भाषेतिहास बी०ए० में पढ़ाया जाता है। उसका तेरहवाँ अध्याय दृश्य-काव्यों के विषय मे है। उसमे आचार्य्य ने संस्कृत-नाटकों के दो-चार पद्यों का अनुवाद अँगरेज़ी मे दिया है। उसके विषय में बहुत कुछ कहने को जगह है।

दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर और उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मन ही मन कहता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्?

राजा लक्ष्मणसिंह-कृत इसका अनुवाद यह है—

सरसिज लगत सुहावनो यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंकहू लसति कलाधर अंक॥
पहरे बलकल बसन यह लागत नीकी बाल।
कहा न भूषण होइ जो रूप लिख्यो बिधि भाल॥

शकुन्तला के रूप-वर्णन की यह बहुत ही सरस और मनोहारिणी उक्ति है। सहृदय मात्र इसके प्रमाण है। परन्तु कालिदास की यह उक्ति मुग्धानल को नही भाई। आपने कालिदास के उस श्लोक को अच्छा समझकर अनुवाद किया है जिसमें कवि ने शकुन्तला की उपमा लता से दी है। श्लोक यह है —

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥

राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका अनुवाद किया है—

अधर रुचिर पल्लव नये, भुज कोमल जिमि डार।
अंगन में यौवन सुभग, लसत कुसुम उनहार॥

इस श्लोक की अपेक्षा ऊपर का श्लोक कितना अच्छा है, इसका विचार पाठक ही करें। पर मुग्धानल साहब कहते हैं कि शकुन्तला की सुन्दरता पर मुग्ध होकर (struck by her beauty) दुष्यन्त ने 'अधरः किसलयरागः' ही अपने मुँह से कहा। 'मुग्ध' होने की बात मूल में तो कही है नही। पर कविता की मनोहरता और उसके लोकोत्तर भाव को देखकर सम्भावना यही कहती है कि जिस समय दुष्यन्त ने 'सरसिज-मनुबिद्धं' वाला श्लोक कहा था उसी समय शकुन्तला की सुन्दरता का सबसे अधिक प्रभाव उसके हृदय पर हुआ होगा। अतएव यहाँ मुग्धानल साहब पर अरसिकता-दोष आये बिना नही रह सकता।

कण्व ने अपने एक शिष्य से कहा कि देख आ, कितनी रात है ? उसने आश्रम-कुटीर के बाहर आकर देखा तो प्रातःकाल हो गया था। इस पर वह कहता है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीय शोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि॥

इसका अर्थ राजा लक्ष्मणसिंह करते हैं—"चन्द्रमा के अस्त होने पर कुमुदिनी की शोभा केवल ध्यान में रह गई है। अर्थात् देखने में नहीं है, परन्तु सुध में है कि ऐसी थी। जिन नई स्त्रियों के पति परदेश मे है उनको वियोग का दुःख सहना बहुत कठिन है।" इसी भाव को उन्होंने पद्य में इस प्रकार दिखाया है—

अस्ताचल पहुँच्यो शशि जाई। दई कुमुदिनी छबि बिसराई
दृगन देति अब आनँद नाही। आय रही छवि सुमरन माहीं
जिन तिरियन के प्रीतम प्यारे। देस छोड़ि परदेस सिधारे
तिनके दुख नहिं जात कहेहू। अबलन पै क्यों जात सहेहू

कालिदास के पद्य में 'शशिनि' बहुत ही यथार्थ पद है। 'शश' कहते है कलंक को। चन्द्रमा कलंकी है। इसी से उसका नाम शशिन् हुआ। और, कलंकी का अस्त हो जाना उचित ही है। इसी से इस पद को राजा साहब ने अपने अनुवाद में रहने दिया है। इस श्लोक में और भी विशेषतायें है। श्लोक के प्रथमार्द्ध में शशि के अस्त होने से कुमुदिनी को शोभाहीन बतलाकर कवि ने समासोक्ति-अलंकार द्वारा यह सूचित किया है कि बिना नायक के नायिका अच्छी नही लगती। अर्थात् चन्द्रमा और कुमुदिनी का विशेष दृष्टान्त देकर नायक-नायिका-सम्बन्धी एक सर्व-साधारण नियम की सूचना दी है। पर उत्तरार्द्ध में कवि ने इसका बिलकुल उलटा किया है। वहाँ उसने जो यह कहा है कि पति के परदेश-वासी होने से अबला (जो बलहीन हैं) मात्र को वियोग का दुःख दुःसह हो जाता है, सो एक सर्व-साधारण नियम है। इस साधारण नियम से अर्थान्तरन्यास-अलंकार द्वारा यह

विशेष अर्थ निकलता है कि जब सभी अबलाओं को पति का वियोग दुःसह हो जाता तब चन्द्र-पति के अस्त हो जाने पर कुमुदिनी-पत्नी को उसका वियोग दुःसह होना ही चाहिए।

आचार्य्य मुग्धानल ने इसका कैसा अनुवाद किया है सो अब सुनिए—

The moon has gone; the lilies on the lake,
Whose beauty lingers in the memory,
No more delight my gaze : they droop and fade;
Deep is their sorrow for their absent lord.

संस्कृत शब्द 'शशिन्' कहने से जो भाव हृदय में उदित होता है वह मुग्धानल के 'Moon' (चन्द्र) से कभी नहीं होता। खैर, इसे हम अँगरेजी भाषा की न्यूनता समझे लेते है। (they droop and fade) अर्थात् वे मुरझा जाती है—यह आपने अपनी तरफ़ से जोड़ दिया है। खैर, यह भी क्षमायोग्य निरंकुशता है, क्योंकि मुरझाने, कुम्हलाने या झुक जाने का भाव ध्वनि से निकल सकता है। पर आचार्य्य ने चौथी लाइन में जो यह लिखा है कि—"अपने अनुपस्थित (गैरहाजिर) पति के कारण उन्हें बहुत बड़ा दुःख है"—सो किसी तरह क्षमायोग्य नहीं। पहले तो 'प्रवास' का पूरा-पूरा अर्थ 'absent' (अनुपस्थित—गैरहाजिर) से नहीं निकल सकता, क्योंकि 'अनुपस्थिति' से थोडी देर का भी अर्थ निकल सकता है, पर 'प्रवास' से नहीं। फिर यह कहना कि कुमुदिनियो का पति घर पर नहीं है, इससे उन्हें महादुःख हो रहा है, मानो कालिदास के भावार्थ का सत्यानाश करना है। कवि तो प्रत्यक्ष तौर पर कुमुदिनियों के दुःख की बात ही नहीं कहता। वह तो कहता है कि जितनी स्त्रियाँ—नहीं अबलाये—है सभी को पति का वियोग खलता है। जब सभी का यह हाल है तब कुमुदिनियो को दुःख होना ही चाहिए। वे स्त्री-जाति से बाहर नही। यहाँ पर अबलाजन की बात साधारण है; कुमुदिनियो की विशेष। कवि ने साधारण से विशेष की उद्भावना की है; विशेष से साधारण की नही। सो आचार्य्य मुग्धानल ने सभी उलट-पुलट कर डाला।

'शकुन्तला' में एक पद्य सर्वोत्तम समझा जाता है। वह उस समय का है जिस समय पति के घर जाने के लिए शकुन्तला कण्व से विदा होती है। इस श्लोक का उत्तरार्द्ध है—

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।

अर्थात्—

मोसे बनबासीन जो इतौ सतावत मोह।
तो गेही कैसे सहें दुहिता प्रथम बिछोह॥

यह पद्य पदजीवी है। इसके 'गृहिणः' पद सारे श्लोक का जीव है। इसी से राजा लक्ष्मणसिंह ने इसे अपने अनुवाद से नही जाने दिया। देखिए आपके दोहे में 'गेही' विद्यमान है। पर भारतवर्ष के पण्डितों पर सूक्ष्मदर्शी न होने का वृथा कलंक लगाने वाले मुग्धानल महोदय को यह बात नहीं सूझी। आपने 'गृहिणः' पद की योग्यता को

बिलकुल न जानकर उसे अनुवाद से निकाल बाहर किया है। उसकी जगह पर आपने रक्खा क्या है, 'फ़ादर'—पिता ! आपने पूर्वोक्त पद्यार्द्ध का अनुवाद किया है—

But if the grief
Of an old forest hermit is so great,
How keen must be the pang a father feels
When freshly parted from a cherished child.

यहाँ पर 'फ़ादर' (पिता) से कभी वह अर्थ नही निकल सकता जो गेही या गृहस्थ से निकलता है। श्लोक मे वनवासी और गृहस्थ का मुक़ाबला है। कण्व न तो शकुन्तला के पिता थे; न गृहस्थ। तिस पर भी शकुन्तला से विदा होते समय वे विह्वल हो उठे। अब यदि वे उसके पिता होते और वन में भी रहते होते तो उनकी विकलता और भी बढती। और यदि कहीं पिता होकर वे गृहस्थ भी होते तो उनकी विकलता का कहीं ठिकाना न रहता। यदि किसी कन्या का पिता वन में तपस्वी हो तो उसे अपनी कन्या से बिदा होते समय जितना दुःख होगा उससे कई गुना अधिक उस कन्या के पिता को होगा जो घर में रहता होगा—जो गृहस्थ होगा। कारण यह है कि अरण्यवासी तपस्वी त्यागी होते हैं; मनोविकारों के वे कम वश में होते है, पर गृहस्थ आदमियों को माया-मोह बेतरह सताता है। इसी से उन्हें कन्या मे हमेशा के लिए बिदा होते समय अत्यधिक दुःख और कातर्य्य होता है। पर यह इतनी मोटी बात सूक्ष्मदर्शी मुग्धानलाचार्य्य महोदय के ध्यान में नहीं आई जान पड़ती।

दुष्यन्त अपने पुत्र को देखकर मन ही मन कहता है—

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृत्ति चेतसि तस्य कुर्य्याद्यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः ।।

अर्थात् किसी अपरिचित के इस बालक का मेरे शरीर में केवल एक-दो जगह स्पर्श हो जाने ही से मुझे इतना आनन्द हुआ, तो जिस भाग्यशाली की गोद में बढ़कर यह इतना बड़ा हुआ है उसके हृदय में यह न मालूम कितना आनन्दातिरेक पैदा करता होगा।

इसका अनुवाद आचार्य्य मुग्धानल ने किया है—

If now the touch of but a stranger's child
Thus sends a thrill of joy throughout all my limbs;
What transports must be wakened in the soul
Of that blest father from whose loins he sprang !

इसकी पहली दो सतरों का मतलब है कि किसी अपरिचित मनुष्य के इस लड़के के स्पर्श ने मेरे सब अंगों में सुख की सनसनाहट पैदा कर दी है। आचार्य्य ने 'गात्रेषु' का अन्वय 'सुख' के साथ किया है, 'स्पृष्टस्य' के साथ नहीं; पर हमारी तुच्छ बुद्धि में यह भारी भूल है। कालिदास का भाव दुष्यन्त के कुछ अंगों में उस बालक के

शरीर का स्पर्श हो जाने से है; सब अंगों में मुख होने से बिलकुल नही है। प्रिय वस्तु को देखने अथवा छूने से सुख सारे शरीर को होता ही है। उसके कहने की क्या जरूरत? उँगली में आलपिन चुभ जाने से वेदना का अनुभव यदि सारे शरीर को होता है तो पुत्र का स्पर्श हाथ, छाती, या मुख मे हो जाने पर भी सारे शरीर मे सुख-संचार होना चाहिए। खैर, यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि आचार्य्य ने कालिदास के 'कृतिन:' पद का अनुवाद 'Father' (पिता) जो किया है सो भी ग़लत है। आचार्य्य को 'पिता' शब्द से बड़ा प्रेम मालूम होता है। 'गृहिण:' (गृहस्थ) का भी अर्थ आपने पिता कर दिया और 'कृतिन:' का भी! 'कृती' का अर्थ है पुण्यवान, भाग्यशाली। सो लड़के का पालन-पोषण करने वाले पिता, चचा, मामू, भाई सभी पुण्यवान् और सौभाग्यशाली हो सकते हैं। तीसरी बात यह है कि मुग्धानलाचार्य्य ने 'अङ्कात्प्ररूढ:' का अर्थ जो 'from whose loins he sprang' किया है सो अशुद्ध होने के सिवा उद्वेगजनक भी है। कालिदास का मतलब है कि जिसके अंक में, गोद में, उत्संग में, खेल-कूदकर यह इतना बड़ा हुआ है उसे न मालूम इसका स्पर्श कितना सुखदायक होगा। पर आचार्य्य के अँगरेज़ी-वाक्य का अर्थ है,"जिसकी कमर से यह निकला या निकल पड़ा है उसके अन्त:-करण में यह न मालूम कितना सुख उत्पन्न करेगा?" अब सोचने की बात है कि भला कालिदास ऐसी जघन्य बात कभी अपने मुँह से निकाल सकते हैं? 'प्ररूढ:' का अर्थ यहाँ बढ़ने या बड़े होने का है, पैदा होने या निकलने का नही। 'Loins' का अर्थ अँगरेज़ी कोशकार 'कमर' ही लिखते हैं, पर आचार्य्य ने उसे 'Lap' के अर्थ में प्रयोग किया है! सम्भव है, इस शब्द का अर्थ 'गोद' भी होता हो। इसके प्रमाण अँगरेज़ी विद्या विशारद विद्वान् हैं। वही इसका निर्णय करें।

डाक्टर मेकडॉनल ने अपने संस्कृत-भाषेतिहास के 12वें अध्याय में छोटे-छोटे काव्यों पर भी कुछ लिखा है। 'ऋतुसंहार' की आपने बड़ी तारीफ़ की है। इस काव्य के तीसरे सर्ग में शरदृतु का वर्णन है। उसका आदिम श्लोक है—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टि:
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

अर्थात् नव-विवाहिता वधू की तरह रमणीय रूपवाली शरद् आ गई। काश अथवा कास के फूल इसकी पोशाक है। खिला हुआ मनोमोहक कमल-समूह इसका मुख है। उन्मत्त हंसों का शब्द इसके नूपुरों की ध्वनि है। पके हुए धान के खेतों की शोभा इसके पतले गात की सुघरता है। इसका अर्थ मुग्धानल साहब करते हैं—

"Next comes the autumn, beauteous as a newly wedded bride, with face of full-blown lotuses, with robe of sugarcane and ripening rice, with the cry of flamingoes representing the tinkling of her anklets,"

इसमें आपने 'तनुगात्रयष्टि:' का अर्थ करने की जरूरत ही नहीं समझी; और—

'काशांशुका' और 'आपक्वशालिरुचिरा' का अर्थ आपने किया है—"with robe of sugarcane and ripening rice"—अर्थात् ईख और पकते हुए धान जिसकी पोशाक हैं। यह अर्थ खूब रहा। आचार्यों के योग्य ही हुआ। ईख बेचारी का तो कहीं जिक्र ही नहीं। न मालूम साहब ने उसे कहाँ पाया। शायद आपकी पुस्तक में 'इक्ष्वंशुका' पाठ रहा हो। पर सम्भावना कम है। क्योंकि यहाँ पर कालिदास का मतलब कास के सफ़ेद फूलों ही से है। इस बात को सर्ग के अन्त में उन्होंने— 'विकसितनवकाशश्वेतवासो वसाना"—कहकर स्पष्ट कर दिया है। शरद् ऋतु लगते ही कास फूलता है। यह लोक-प्रसिद्ध बात है। उसी को लक्ष्य करके कालिदास ने लिखा है। सो कास को आपने ईख कह दिया। अच्छा, इसे हम पाठान्तर माने लेते हैं। पर पकते हुए धान की पोशाक से क्या मतलब ? कास या ईख की पोशाक तो शरद् को पहनाई जा चुकी, अब धान की पोशाक की क्या ज़रूरत ? क्या दो पोशाकें एक ही साथ पहनाई जायँगी ? अथवा क्या एक ही पोशाक दो रंग की होगी ? कवि का मतलब तो कुछ और ही मालूम होता है। उसका अभिप्राय तो धानों के खेतों के रंग वा रुचिरता से जान पड़ता है। जब धान के खेत पकने को होते हैं तब उनमें पीलापन आ जाता है। वह पीलापन कवियों को है पसन्द। इसी से वे स्त्रियों के वर्ण की उपमा चम्पक, चामीकर और आपक्वशालि से देते है। वही बात यहाँ भी है। शरन्नववधू की पतली देह के रंग की रुचिरता बतलाने के लिए कालिदास के पके हुए धान के खेतों का स्मरण किया है। सो उसका अर्थ मुग्धानल्ल साहब ने कुछ का कुछ करके नवोढ़ा शरद् को धान के पयाल की पोशाक पहना दी ! यह भी शायद आपकी पुस्तक में पाठान्तर होने का फल हो। पर जब तक यह न मालूम हो कि आपकी पुस्तक में क्या लिखा है तब तक आप हमें आलोचना के लिए क्षमा करें।

आपकी पुस्तक में इस तरह की तो अनेक भूलें हैं, ही पर और तरह की भी बहुत हैं। उनका फिर कभी विचार करेंगे। इस बार इतना ही सही।

सुनते हैं मुग्धानलाचार्य्य महाशय छोटे मोटे आदमियों से पत्र-व्यवहार करना नहीं पसन्द करते। यदि कोई वैसा आदमी आपको पत्र भेजे या आपसे कुछ पूछे तो आप उसका उत्तर ही नहीं देते। और, अपना फ़ोटो तो कभी किसी ऐसे-वैसे को देते ही नहीं। शायद यही कारण है जो आज तक आपका चित्र अच्छे से अच्छे भारतवर्षीय सामयिक पत्रों में छपा हुआ नहीं देखने में आया। ऐसी बातें या तो गर्व से हो सकती हैं या शालीनता अथवा संकोच से। आपके वेद-विद्या-गुरु भट्ट मोक्षमूलर में ये बातें न थीं। वे हमारे सदृश छोटे आदमियों से भी पत्र-व्यवहार करते थे। उन्हें यदि कोई संस्कृत में पत्र लिखता था तो वे उत्तर में साफ कह देते थे कि भाई, हमें संस्कृत लिखने का अभ्यास नहीं। वे बड़े ही सच्चे, साधु-स्वभाव और भारतहितैषी थे। हमने पहले-पहल उन्हें एक छोटी सी पुस्तक भेजी। उसके पहुँचते ही आपने अपनी एक पुस्तक हमें भेज दी और साथ ही अपना हस्ताक्षरित फ़ोटो भी भेजा। इस बात को कोई 18 वर्ष हुए।

[जून, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'विदेशी-विद्वान्' में संकलित।]

डाक्टर कीलहार्न

इंडियन ऐंटिक्वेरी में डाक्टर एफ़० कीलहार्न की मृत्यु का समाचार पढ़कर दुःख हुआ। 19 मार्च 1908 को जर्मनी के गार्टिजन नगर में आपका शरीरान्त हुआ।

डाक्टर कीलहार्न बड़े नामी संस्कृतज्ञ थे। योरप वालो में जो लोग संस्कृत जानने का दावा रखते हैं, उनमें से एक कीलहार्न ही ऐसे थे जिन्होंने संस्कृत-व्याकरण में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त की थी। वैदिक साहित्य और खोज के कामों को छोड़कर संस्कृत-सम्बन्धी और बातों में पश्चिमी पण्डितो की पहुँच राम का नाम ही होती है। व्याकरण का तो वे प्रायः मुखचुम्बन ही करके छोड़ देते हैं। पर डाक्टर कीलहार्न व्याकरण के आचार्य्य थे। हां, आचार्य्य हुए थे वे हिन्दुस्तानी ही पण्डितों की बदौलत।

डाक्टर साहब जर्मनी के निवासी थे। वहीं आपने संस्कृत पढ़ी थी। संस्कृत में कुछ विज्ञता प्राप्त कर लेने पर इस भाषा के अध्ययन से आपको इतना आनन्द मिलने लगा कि आपने इसे बराबर जारी रक्खा और अपने संस्कृत-ज्ञान को बराबर बढ़ाते ही गये। कुछ दिन तक आपको अध्यापक मोक्षमूलर के समागम का भी लाभ मिला। मोक्षमूलर उस समय ऋग्वेद का सम्पादन कर रहे थे। उस काम में कीलहार्न ने उनकी बड़ी मदद की। शायद अध्यापक मोक्षमूलर ही की सिफ़ारिश से उन्हे पूने के डेकन-कालेज में संस्कृताध्यापक की जगह मिली। आपने भारत आने के पहले ही योरप में अपने संस्कृत-ज्ञान के विषय में बहुत कुछ नामवरी प्राप्त कर ली थी। आप अच्छे आलोचक और गुण-दोष-विवेचक समझे जाने लगे थे। जर्मनी के लेपज़िक नगर से आप शान्तनव के फिट्-सूत्रों का सम्पादन करके, 1866 ईसवी में, उन्हें प्रकाशित कर चुके थे। उनको देखने से मालूम होता है कि व्याकरण में उस समय भी आपको अच्छा अभ्यास था।

फिट्-सूत्रों के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद आपको भारतवर्ष आना पड़ा। वहाँ आप पूना के डेकन-कालेज में भारतवासियों को संस्कृत पढ़ाते रहे। डाक्टर साहब के दो-एक छात्रों से हमने सुना है कि आप अच्छी संस्कृत पढ़ाते थे। पर आपका संस्कृत-उच्चारण सुनकर बड़ा कौतूहल होता था।

भारत में आकर अनन्त शास्त्री मेंढरकर से आपने यथानियम व्याकरण पढ़ा। कोई बात पढ़ने से आपने बाक़ी नहीं रक्खी। आप अच्छे वैयाकरण हो गये। इसका फल यह हुआ कि आपने नागोजी भट्ट के 'परिभाषेन्दुशेखर' का सम्पादन करके उसे कई भागों में प्रकाशित किया। उसका आपने अनुवाद भी अँगरेजी में किया और यथास्थान टीका-टिप्पणियों से भी उसे भूषित किया। इतने ही से आपको सन्तोष न हुआ। आपने पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य का भी सम्पादन अँगरेज़ी में किया। नौ-दस जिल्दों में यह पुस्तक समाप्त हुई। आपने बड़ा काम किया। इन ग्रन्थों के सिवा आपने व्याकरण

पर और भी कितने ही छोटे-मोटे लेख लिखे। वे सब प्रकाशित हो चुके हैं।

इसके बाद आपका ध्यान भारतवर्ष के प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और दान-पत्रों की ओर गया। इधर भी आपने अच्छा काम किया। कितनी ही नई-नई बातें मालूम कीं। कालिदास और माघ के स्थिति-समय के विषय में आपने कई खोजें कीं। चेदि-सम्वत् के आरम्भ का भी आपने निश्चय किया। प्राचीन चोल और पाण्ड्य देशों के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कई महत्त्वपूर्ण लेख भी आपने लिखे। एक काम आपने बहुत बड़ा किया। जितने प्राचीन शिलालेख आदि इस देश में तब तक निकले और छापे गये थे उन सबकी एक तालिका बनाकर आपने प्रकाशित कर दी।

कोई 42 वर्ष हुए जब डाक्टर कीलहार्न पहले-पहल इस देश में आये थे। बहुत वर्षों तक पूने में अध्यापना करके आप जर्मनी लौट गये। वहाँ आपको गार्टिजन के विश्वविद्यालय में संस्कृताध्यापक की जगह मिली। स्वदेश पहुँचकर भी आप ग्रन्थ-सम्पादन करने और नई-नई बातें खोजने में बराबर लगे रहे। इस देश से जर्मनी लौट जाने पर डाक्टर बूलर ने एक ऐसी पुस्तक निकालना आरम्भ किया जिसमें आर्य्यों से सम्बन्ध रखने वाली बातों के तत्त्वानुसन्धान-विषयक लेख निकलने थे। जब तक डाक्टर बूलर रहे, इसका सम्पादन करते रहे। उनके मरने के बाद डाक्टर कीलहार्न ही ने उसे चलाया। डाक्टर कीलहार्न और बूलर ने इस पुस्तक का सम्पादन ऐसी योग्यता से किया, और संस्कृताध्ययन तथा पूर्वी पुरातत्त्व-विषयों का इतना प्रचार किया कि नये-नये जर्मन विद्वान् पैदा हो गये और इस पुस्तक में बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण लेख निकलने लगे।

दुःख की बात है कि ऐसा विद्वान् संसार से उठ गया। डाक्टर साहब अभी बहुत बूढ़े न थे। आपकी उम्र कोई 65 वर्ष की रही होगी। खूब तगड़े थे। लिखने-पढ़ने में जवानों की तरह काम करते थे। समय आ जाने पर मृत्यु न उम्र देखती है, न दशा देखती है, न और ही किसी बात को देखती है। उसका शासन अनुल्लंघनीय है।

[दिसम्बर, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'विदेशी विद्वान्' में संकलित।]

हबशीराज मैन्यलिक

लाल समुद्र से मिला हुआ, उसके पश्चिम और मिश्र के दक्षिण, एक स्वतन्त्र देश है। उसका नाम है अबीसीनिया। अगर ज़रा और शुद्ध करके लिखें तो उसे हबसीनिया कहना चाहिए। अरबी शब्द हबश से हबसीनिया बना है। हबशी भी उसी से है। यह सभी जानते हैं कि हबश के रहने वाले हबशी कहलाते हैं। अबीसीनिया बहुत प्राचीन राज्य है। उसका पुराना नाम यथिओपिया है। उसका क्षेत्रफल कोई 2,00,000 वर्गमील और आबादी कोई 40,00,000 है। हबश एक पहाड़ी देश है। उसमें कई ऊँचे ऊँचे पहाड़ हैं। नदियाँ भी अनेक हैं। उसे सम-शीतोष्ण देश कहना चाहिए। वहाँ अफरीका के और भागों की सी गरमी नहीं होती और न जाड़ा ही बहुत पड़ता है। वहाँ प्रायः सब प्रकार के वनस्पति होते हैं। खेती भी खूब होती है। कहवा बेशुमार पैदा होता है, गन्ना, अंगूर, अनार, नारंगी, नीबू, खजूर आदि की भी कमी नही है। हाथी और गैंडे अनन्त हैं। वहाँ के गैंडे के दो सींग होते है, एक नहीं। नदियों में मगर, घड़ियाल और जल-तुरंग भरे पड़े हैं। शेर और चीते भी हजारों हैं। शहद वहाँ इतना पैदा होता है कि वह हबशियों का सबसे बड़ा खाद्य है। हबश के हबशी क्रिश्चियन हैं; परन्तु विशुद्ध क्रिश्चियन धर्म्म में ऐसे अनेक ढोंग भर गये हैं जिनका क्रिश्चियन धर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं। ख़ास ख़ास मौक़े पर ये लोग हाल के मारे गये पशुओं का गरम गरम मांस कच्चा ही खा जाते हैं। पारकिन्स और ब्रूस नाम के दो अँगरेज़ इस बात की गवाही देते हैं।

हबश खूब पुराना देश है। इसका पता नही चलता कि कब से वहाँ बादशाहत क़ायम है। वहाँ के वर्तमान राजा अपने को बादशाह नही कहते, किन्तु, शाहंशाह (राज-राजेश्वर) कहते हैं। प्राचीन काल में हबश और मिश्र की राज-सत्ता एक ही पुरुष के हाथ में रहती थी; इसीलिए और हबशियों की अपेक्षा वहाँ के हबशी सुधर गये हैं। हबश में तीन प्रधान सूबे हैं—टाइगरी, अमहरा और शोवा। 1863 ईसवी में हबश के शाहंशाह थिओडर ने महारानी विक्टोरिया को एक पत्र भेजा; परन्तु उसका उत्तर न आया। इस पर आप बेहद नाराज़ हुए। अँगरेज़ी कान्सल को आपने कैद कर लिया। अतएव अँगरेज महाराज को हबश पर चढ़ाई करनी पड़ी। सर हार्बर्ट नेपियर सेनापति हुए। 400 मील पहाड़ी रास्ता तै करके 32,000 सेनासहित आप हबश में दाख़िल हुए, तब शाहंशाह को अपनी शाहंशाही का घमण्ड कम करना पड़ा। आपने 500 भेड़ियाँ और 1000 गायें देकर सुलह करनी चाही। यह बात अँगरेज़ी सेनापति ने स्वीकार भी कर ली; परन्तु यह सन्धि-स्वीकार-वार्ता हबशराज की समझ में ठीक ठीक न आई। इसलिए आपने आत्महत्या कर ली। अँगरेज़ी सेना हबश का विध्वंस करके और क़ैदियों को छुड़ाकर वापस आई। परन्तु उस देश पर दख़ल न कर लेने की उसने उदारता दिखाई। इस भूल के लिए कोई कोई धुरन्धर राजनीतिज्ञ अँगरेज़-राज को अपराधी ठहराते हैं।

अबीसीनिया के वर्तमान हबशराज 1843 ईसवी में पैदा हुए थे और 1889 में आप शाहंशाही तख्त पर बैठे। शुमालियों के देश का भी कुछ भाग आप ही के अधीन है। उसमें से थोड़ा-सा देश आपने, 1888 ईसवी में अँगरेज़ों को देकर उससे दृढ़ मित्रता कर ली है। पहले आपकी राजधानी आदिस अबाबा में थी; परन्तु मैन्यलिक महाराज को वह नगर पसन्द नहीं आया। इसलिए आपने अब आदिस ऐलन को अपना मुख्यस्थान बनाया है।

जिन लोगों ने मैन्यलिक महाराज को देखा और उनसे बातचीत की है वे उन्हें हबशियों के समान जंगली नही बतलाते। मैन्यलिक खूब मोटे ताजे है, मज़बूत भी हैं; रंग वही आबनूस जैसा है। बातचीत आपकी बडी प्यारी होती है; हरे और पीले रंग के रेशमी कपड़े आप अधिक पसन्द करते हैं। आप बड़े न्यायी है। अपराधियो को कभी कभी आप बड़ी सख्त सज़ा देते हैं। परन्तु विदेशियों के साथ आपका बर्त्ताव बहुत नरम है। उन पर आप हमेशा मिहरबान रहते हैं। सूडान में अँगरेज़ो की प्रभुता और ट्रांसवाल के युद्ध में उनकी भारी हानि का हाल सुनकर, एक समय, मैन्यलिक बहुत घबरा उठे थे। उनको यह भय हुआ था कि कहीं, एक दिन उनके पुरातन हबश-सिंहासन के ऊपर उनका भी आसन न हिलने लगे; परन्तु उनका यह भय अब दूर हो गया है। उनको यह मालूम हो गया है कि अँगरेज़-राज उनके सर्वथा शुभ-चिन्तक हैं।

विलक्षण वीरता दिखाने वालों को जैसे 'विक्टोरिया-क्रास' नामक पदक दिया जाता है वैसे ही मैन्यलिक महाराज अपने परम पराक्रमी और बहादुर योद्धाओं को शेर की खाल देते हैं। यह सबसे बड़ी खिलत है; इसे वे अपने ही हाथ से अता फ़रमाते है। मैन्यलिक का सेना-समूह ऐसा वैसा नहीं—वीर है, निडर है, श्रम-सहिष्णु है। तीन दिन तक बिना खाये-पिये ये लोग मार-काट करते चले जाते है। ज़रा भी नही थकते; उनको लड़कपन से शिक्षा ही ऐसी दी जाती है। मैन्यलिक स्वयं महावीर हैं। एक बार इटली वालों से आपकी खटक गई। दोनों ओर की सेना भिड़ पड़ी। इस युद्ध में मैन्यलिक, हाथ में तीव्र तलवार लेकर, शत्रुओं पर ऐसे टूटे जैसे शेर हिरनों के झुण्ड पर टूटता है। एक पल में आपने कितने ही इटेलियनों को धराशाही कर दिया। अन्त में आप ही विजयी हुए। आप अपनी सेना को कभी कभी स्वयं शस्त्र चलाना, निशाना लगाना और क़वायद परेड करना सिखलाते हैं।

मैन्यलिक का चरित अद्भुत है। आपकी आज्ञा है कि आपके वीर योद्धा शेरों के साथ युद्ध करें और युद्ध के समय एक भाला साथ रक्खें। ऐसा ही होता भी है, और नरराज के योद्धाओं के हाथ से बहुधा मृगराज ही को अपने प्राण बचाने पड़ते हैं। राजेश्वर का छत्र धारण करने पर मैन्यलिक ने तीन शेर अपनी राजधानी में बहुत दिनों तक खुले छोड़ रखे थे। जो विदेशी वहाँ जाते थे वे बेचारे उनके कारण बड़ी ही विपदा में पड़ते थे। एक बार एक साहब ने पूछा कि ये शेर क्या कभी किसी पर चोट करके उसे मारते नहीं? इस प्रश्न को सुन कर मैन्यलिक महाराज ने बेपरवाही से उत्तर दिया—"हाँ, कभी कभी मार भी डालते हैं, परन्तु पीछे से हमेशा हमीं लोग उन्हें मार लेते हैं।" एक बार हबशीराज ने एक हाथी पाला था। वह भी खुला रहता था और

यथेच्छाचारी था। जहाँ जी आता था वहाँ वह घूमा करता था; भोजन भी वह मनमाना करता था। एक दिन एक साहब के बँगले पर वह पधारा। साहब बहादुर मैन्यलिक महाराज की राजधानी देखने और उनसे मिलने गये थे। शाम को साहब का मेज़ लगाया गया था और उस पर खाने के पदार्थ चुने गये थे। इसी समय गजेन्द्रदेव वहाँ जा गरजे। उन्हें देखते ही साहब बहादुर के बावर्ची को ग़श आ गया। उसे जमीन पर सुला-कर गजराज भीतर घुसे। वहाँ जो कुछ मेज पर था एक मिनट में अपनी शुण्डादण्ड से उदरस्थ कर लिया। परन्तु वहाँ से निकलने में आपने जल्दी की। इसलिए बँगले का दरवाजा टूट कर आपके सिर पर रह गया। वैसे ही आप, सिर पर ऊँची टोपी सी लगाये, बाहर निकल आये। जब मैन्यलिक महाराज ने यह समाचार सुना तब आप इतना हँसे कि आँखों से आँसू निकलने लगे। कुछ दिनों में आपने इस गुण्डे गज को फ्रांस के सभापति को उपहार में दे डाला। इस समय वह पेरिस की हवा खा रहा है।

अपने को सभ्य मानने वाले लोग मैन्यलिक को चाहे असभ्य भले ही कहें; परन्तु जिन बातों को हम लोग अत्यन्त निर्दयता से भरी हुई देखते हैं वे मैन्यलिक और उनकी प्रजा को न्यायसंगत और तुच्छ जान पड़ती हैं। हबश में चोरों और बदमाशों का एक हाथ या एक पैर काट दिया जाता है; परन्तु वे चूँ तक नहीं करते; चुपचाप और बड़े साहस से इस कठोर दण्ड को सह लेते हैं। यहाँ तक कि घावों पर उबलता हुआ तेल जब डाला जाता है तब उनके मुँह से आह नहीं निकलती। परन्तु यह हरगिज़ न समझिए कि मैन्यलिक महाराज निर्दयी है। उनके विशाल हृदय में दया का दरिया भी बहा करता है। इसका एक उदाहरण सुनिए। इटली वालों ने जब आपसे शत्रुता की तब उनका एक दल मक्पलें नाम के क़िले मे था। मैन्यलिक के सेनापति ने 15,000 सेना लेकर उनको घेर लिया। वे लोग इस घेरे में बहुत दिन पड़े रहे। जब अन्त में बिना जल वे मरने लगे तब उन्होंने 3000 आदमी मैन्यलिक के सेना-नायक के पास भेजे। वह उनसे अच्छी तरह पेश आया और खिला-पिला कर उनको उनके ईप्सित स्थान को उसने भेज दिया। यह देख कर इटली वालो ने सन्धि की प्रार्थना की। वे क़िले के बाहर आये। मैन्यलिक स्वयं उनसे मिले। उनसे आपने कहा—"तुमने न कभी मुझ पर मिहरबानी की, न मेरे आदमियों पर। तुमने अपना वचन भी भंग किया और शत्रुता करके शस्त्र भी उठाया। तथापि मैं नहीं चाहता कि दुनिया यह कहे कि क्रिश्चियन लोग यहाँ कुत्ते की मौत मरें। इससे अब तुम चुपचाप यहाँ से चले जाओ।" इस प्रकार के दया-दान के बोझ से सिर झुकाये हुए वे लोग वहाँ से रवाना हुए। सुनते हैं सवारी के लिए उनको ख़च्चर तक दिये गये थे।

राजधानी में मैन्यलिक ने एक ऊँचा मीनार बनवाया है। उस पर आप कभी कभी दूरबीन लगाकर शहर का दृश्य देखा करते हैं। यदि कहीं अन्याय होता हुआ आप देखते हैं तो तुरन्त अन्यायी पकड़ कर आपके सम्मुख लाया जाता है। वहाँ पर तत्काल ही उसको दण्ड मिलता है। आपके अधीन कई छोटे छोटे राजा हैं। यदि वे कोई अपराध करते हैं तो हबशीराज उनसे वैसा ही बर्ताव करते हैं जैसा कड़े दिल वाला बाप कभी कभी अपने बेटे के साथ करता है। मैन्यलिक उसकी ख़बर बेंत से लेते हैं। आपमें चुस्ती

खूब है। आप अपने महल के आसपास खूब देखभाल रखते हैं; शहर में भी घूमते हैं; और राज्य में भी दौरा करते हैं।

मैन्यलिक महाराज के पहले भी आपके नाम के एक हबशी राजेश्वर हो गये हैं। इसलिए आप 'दूसरे मैन्यलिक' कहलाते हैं। आपकी महारानी का नाम है टेटू। उनकी उम्र, इस समय कोई 50 वर्ष की होगी। उनका पहला विवाह हबशीराज थिओडर के एक सेनापति से हुआ था। उसके मरने पर आपने दो बार और भी विवाह किया। जब आप तीसरी दफ़ा विधवा हुईं तब मन मे कुछ विराग-सा आ गया। इसलिए आप एक धर्म्म-मन्दिर में धर्म्माधिकारियों के साथ रहने चली गई। परन्तु वहाँ आपका जी नहीं लगा। इसलिए थोड़े ही दिनो में आप वहाँ से निकल भागीं। 1883 ईसवी में आपने मैन्यलिक महाराज को अपना पति बनाया। यह आपका पाँचवाँ विवाह है।

[दिसम्बर, 1908 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' मे संकलित।]

अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ समाचार-पत्र-संचालक विलियम हार्स्ट

अमेरिका अखबारों का घर है। सबसे अधिक अखबार वहीं निकलते हैं। वहाँ अखबारों का प्रभाव भी बहुत बढ़ा-चढ़ा है। अखबार ही प्रजा के सच्चे नेता समझे जाते है। इस समय अमेरिका मे जितने अखबार वाले है उन सबके शिरोमणि, सबसे अधिक धनवान्, प्रभावशाली, योग्य और कार्य्यकुशल विलियम हार्स्ट है। किसी-किसी का कथन हैं कि केवल अमेरिका ही नहीं, किन्तु सारे संसार मे ऐसा चलता-पुर्जा समाचार-पत्र-संचालक दूसरा न होगा।

जन्म और शिक्षा

हार्स्ट साहब का जन्म 1864 ईसवी मे केलीफ़ोरनिया की राजधानी सानफ्रांसिस्को नगर मे हुआ था। आपके पिता सिनेटर हार्स्ट केलीफ़ोरनिया के प्रसिद्ध करोड़पति थे। वे कई खानो के मालिक थे। खानें खुदवाकर खनिज पदार्थ निकालना और उनका व्यापार करना ही उनका पेशा था। इसी की बदौलत वे इतने सम्पत्तिशाली हुए थे। शैशवावस्था के व्यतीत होने पर उन्होंने अपने पुत्र हार्स्ट को हारवर्ड-विश्वविद्यालय भेज दिया। वहीं बालक हार्स्ट की शिक्षा प्रारम्भ हुई। कई साल तक पढ़ने के बाद आप बिना कोई पदवी प्राप्त किये वहाँ से लौट आये और गर में रहने लगे।

युवावस्था

अब आपका समय व्यर्थ गप्पाष्टक और थियेटरबाज़ी में नष्ट होने लगा। इसी समय थियेटर में तमाशा करने वाली एक परम सुन्दरी पर आप आसक्त हो गये। आपने उसके साथ विवाह करना चाहा। पर आपके कुटुम्बियों ने इसे अनुचित समझकर इस विवाह को न होने दिया। इस पर हार्स्ट साहब ने प्रसिद्ध अँगरेजी कवि बाइरन के चरित्र का अनुकरण किया। कई वर्ष बाद एक अन्य स्त्री के साथ विवाह होने पर आपकी यह आवारागर्दी जाती रही, अथवा यों कहिए कि आपकी काया पलट गई।

अख़बारी दुनिया में प्रवेश

आवारागर्दी के ज़माने में एक दिन आपकी इच्छा हुई कि हम भी कोई समाचार-पत्र निकालें। इस इच्छा को कार्य में परिणत करने के लिए आपने अपने पिता से सहायता माँगी। सुनते ही वृद्ध पिता को बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उन्होंने इस काम में धन नष्ट करना उचित न समझा; इसलिए अपने पुत्र से इस इच्छा को त्याग देने को कहा। पर हार्स्ट ने न माना। जैसे-तैसे पिता ने सहायता देना स्वीकार किया। आप सानफ्रांसिस्को

एग्ज़ामिनर (San Fransisco Examiner) नाम का समाचारपत्र निकालने लगे। जिन लोगों ने इसे देखा है उनका कथन है कि निकलने के साथ ही इस पत्र ने अमेरिका के पश्चिमी किनारे वाले देशों को हिला दिया। सारे देश में इसकी धूम मच गई। इसके लेखों को पढ़ कर दुष्ट, दुराचारी, अत्याचारी और पापियों के हृदय थर-थर काँपने लगे। आपकी निर्भीक नीति ने जादू का सा असर किया। जिन 'चोरों की डाढ़ी में तिनका' था वे मैदान छोड़-छोड़कर भागने लगे। पापियों ने पराजय स्वीकार किया। केलीफ़ोरनिया के सच्चरित्र सज्जन आपकी क़लई खोलने और भण्डा फोड़ने वाली नीति की शतमुख से प्रशंसा करने लगे। कुछ दिनों में इस पत्र की ग्राहक-संख्या इतनी बढ़ी कि इससे ख़ूब लाभ होने लगा।

कार्य्यविस्तार

सानफ्रांसिस्को में आपने जैसी सफलता प्राप्त की उससे आपका उत्साह ख़ूब बढ़ गया। 1894 में आपने अमेरिका के दूसरे छोर न्यूयार्क में भी एक अख़बार निकालने का निश्चय किया। उस समय न्यूयार्क में 'न्यूयार्क वर्ल्ड' के प्रसिद्ध सम्पादक पलिटज़र साहब की तूती बोलती थी। पर हार्स्ट के समान प्रतिभाशाली और करोड़पति के मुक़ाबले में ठहरना हर एक का काम न था। आपने पलिटजर के सब योग्यतम कार्यकर्त्ता अपनी ओर कर लिये। पलिटजर के तनख़्वाह बढ़ाने पर वे फिर उधर चले गये। इस पर आप इतना अधिक वेतन देने को तैयार हुए जितना पलिटजर के ख़याल में भी नहीं आ सकता था। अन्त में आपकी जीत हुई। थोड़े ही दिनों में आपका पत्र न्यूयार्क जर्नल (New York Journal) अमेरिका के सब अख़बारों से बाज़ी मार ले गया। उसकी ग्राहक-संख्या सबसे अधिक हो गई और वह औवल दर्जे का अख़बार समझा जाने लगा।

हार्स्ट साहब के अख़बारों की वर्तमान दशा

हार्स्ट साहब इस समय जुदे-जुदे नौ समाचारपत्रों और तीन मासिक पुस्तकों के स्वामी और संचालक हैं। ये बारहों पत्र अमेरिका के पांच बड़े-बड़े नगरों अर्थात् बोस्टन, न्यूयार्क, शिकागो, सानफ्रांसिस्को और लास ऐंगलीज़ से प्रकाशित होते हैं। इन पत्रों की ग्राहक-संख्या बीस लाख से कुछ ऊपर है और दिन पर दिन बढ़ती जाती है। मतलब यह है कि हार्स्ट साहब प्रति दिन बीस लाख आदमियों से बातचीत करते हैं। कुछ ठिकाना है! इस संसार में किसी वक्ता को इतने अधिक श्रोता शायद ही कभी मिले होंगे।

हार्स्ट साहब ने अपने अख़बारी कारोबार में कोई चार करोड़ रुपये अपनी गाँठ के लगा रक्खे हैं। पूर्वोक्त बारहों पत्रों के प्रकाशित करने में हर साल आप कई करोड़ रुपये ख़र्च करते हैं। इस काम मे प्रतिदिन एक लाख बीस हज़ार रुपये आपके घर से जाते हैं!!! पत्रों की बीस लाख कापियाँ तैयार करने में प्रतिदिन बारह हज़ार मन कागज ख़र्च होता है। इस समय आपके अधीन काम करने वालों की संख्या उन्नीस हज़ार के क़रीब है। इनमें से चार हज़ार तो दफ़्तरों में काम करने वाले स्थायी कर्म्मचारी हैं

और कोई पन्द्रह हज़ार संवाददाता। आपने अपने कारोबार में वेहद उन्नति की है। इसका अनुमान केवल इस बात से किया जा सकता है कि जिस न्यूयार्क जरनल को आपने साढ़े चार लाख रुपये में ख़रीदा था, इस समय उसकी लागत क़रीब ढाई करोड़ रुपये के है।

उद्देश और कार्य्य

हार्स्ट साहब के अख़बारों को अमेरिका के साधारण तथा नीची श्रेणी के लोग बहुत पसन्द करते हैं। क्योंकि उनमें उन्हीं के मतलब की बातें अर्थात् क़िस्से, चुटकुले, पंच, रहस्य-उद्घाटन और चौंका देने वाली ख़बरें अधिक रहती हैं। इसके सिवा सर्वसाधारण की दशा सुधारना, उन पर अत्याचार न होने देना, ग़रीबों को सताने वालों की ख़बर लेना और अदालत द्वारा उनको दण्ड दिलवाना आपके पत्रों का मुख्य उद्देश है। इसी कारण लक्ष लक्ष दरिद्र नर-नारी आपके पत्रों को ख़ुशी से ख़रीदते, पढ़ते, उनसे मन बहलाते और लाभ उठाते हैं। इन पत्रों का उन पर प्रभाव भी ख़ूब पड़ता है। जैसा हार्स्ट साहब कहते हैं, पढ़ने वाले वैसा ही करते हैं। आपके पत्रों द्वारा अमेरिकन लोगों ने किस क़दर और कहाँ तक राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक और आर्थिक लाभ उठाया है, यदि इसका ब्योरेवार वृत्तान्त लिखा जाय तो एक ग्रन्थ तैयार हो सकता है। न मालूम कितने देश-द्रोही, समाज-द्रोही, दुष्ट और पापी जनों ने आपके पत्रों की बदौलत अपने कुकर्म्मों का कुफल चखा है। न मालूम कितने बार आपके पत्रों ने करोड़ों रुपयों की हानि से गवर्नमेंट और प्रजा को बचाया है। इसी तरह इनकी कृपा से न मालूम कितने निरपराधियों ने अकाल-मृत्यु के पंजे और जेल की यातना से मुक्ति पाई है। धन्य मिस्टर हार्स्ट! धन्य तुम्हारी न्याय-प्रियता!

हार्स्ट साहब के कर्म्मचारी

अमेरिका में इस समय जो सबसे अधिक योग्य, विद्वान्, प्रतिभाशाली और कार्य्यदक्ष पत्र-सम्पादक हैं उनमें से अधिकांश आपके अधीन काम करते है। आपके पत्रों की उन्नति का यह भी एक कारण है। आप उन्हें तनख़्वाह भी अच्छी देते है। इतनी अधिक तनख़्वाह पाने वाले सम्पादक केवल अमेरिका ही नहीं, किन्तु किसी देश में न होंगे। आपका सबसे अधिक वेतन पाने वाला कर्म्मचारी डेढ लाख रुपये वार्षिक पाता है! अर्थात् अमेरिका के प्रेसीडेंट की तनख़्वाह के बराबर! दूसरा आदमी एक लाख वीस हज़ार रुपये पाता है; तीसरा नब्बे हज़ार। तीन सहायक पछत्तर-पछत्तर हज़ार रुपये वार्षिक पाते हैं। यहाँ पर यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि हार्स्ट साहब के अधीन काम करने वाला एक सहकारी सम्पादक जितनी तनख़्वाह (पछत्तर हज़ार) पाता है उतनी ही हमारी जन्मभूमि भारतवर्ष के कर्त्ता, धर्त्ता और विधाता भारत सचिव भी पाते है। अर्थात् तनख़्वाह के लिहाज़ से इंगलैंड का एक राजमन्त्री और अमेरिका का एक सहकारी सम्पादक एक हैसियत रखता है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि हमारे देश के पत्र-सम्पादकों की तरह अमेरिका के सम्पादक दीन, हीन और दरिद्र नहीं।

सूरत, शकल और स्वभाव आदि

हार्स्ट साहब खूब लम्बे-चौडे आदमी हैं। लम्बाई मे वे छ फुट दो इच हैं। शरीर भारी होने पर भी सुदृढ और गठीला है। ज़ाहिरा पहलवान से जान पडते है।

हार्स्ट साहब करोडपति है। अखबारी सम्पत्ति के सिवा कोई दस लाख एकड भूमि के भी वे मालिक है। पर वे रुपये की परवा नही करते। उसे वे पानी की तरह बहाते है। अपने सुख के लिए नही, किन्तु सात करोड अमेरिकनो के उपकार के लिए। कमलापति होने पर भी उनमे अभिमान छू तक नही गया। वे बडे ही सीधे-सादे, श्रमसहिष्णु, दृढ-सकल्प, शान्त, दयालु और न्यायप्रिय है। वे तम्बाकू या मदिरा कभी नही पीते। घुडदौड या और किसी खेल का उन्हे शौक नही। नाच, गान, सैर, शिकार से सदा दूर रहते है। धनवानो से कम मिलते है। साधारण मनुष्य ही उनके मित्र है। एक मामूली मकान मे रहते है और अपने काम से काम रखते है।

क्या हार्स्ट साहब के चरित्र से हम लोग कुछ शिक्षा नही प्राप्त कर सकते ?

[फरवरी, 1909 की 'सरस्वती' मे प्रकाशित। 'विदेशी विद्वान्' मे सकलित।]

सर विलियम वेडरबर्न-1

ईश्वर की कृपा से मनुष्य-जाति में कभी कभी ऐसे अलौकिक गुण-सम्पन्न पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं जिनके चरित देखने, पढने और मनन करने तथा जिनके सारगर्भित सदुपदेशों के अनुसार कार्य्य करने से संसार का बहुत कल्याण होता है । हमारे चरित-नायक भी एक ऐसे ही महानुभाव हैं । आप दिसम्बर, 1910 की प्रभावशाली कांग्रेस के सभापति थे । एक बार पहले भी आप इस पद की शोभा बढ़ा चुके हैं ।

जिस कुटुम्ब में ये उत्पन्न हुए है वह ऐतिहासिक विचार से बहुत प्रसिद्ध और पुराना है । इस कुटुम्ब का वृत्तान्त 1296 ईसवी से बराबर इंगलैंड के इतिहास में मिलता आता है । इनके कुटुम्बी सदा से राजनैतिक विषयो मे योग देते आये हैं । इसी लिए राजनैतिक विषयो में योग देना आपके लिए स्वाभाविक बात है । आपका जन्म 25 मार्च 1838 ईसवी को स्काटलैंड देश की प्रसिद्ध राजधानी एडिनबरा में हुआ था । आप सर जान वेडरबर्न के तृतीय पुत्र हैं । भारतवर्ष से आपका सम्बन्ध कई पीढ़ियों से चला आता है । आपके पिता ने बम्बई की उच्च राजकीय सेवा में, 1807 ईसवी में प्रवेश किया और 30 वर्ष तक भारतवर्ष में रहे । आपके ज्येष्ठ भ्राता 1844 ईसवी में बगाल के उच्च राजकीय सेवा-विभाग में आये और 1857 ईसवी तक यहाँ रहे । सर विलियम वेडरबर्न भी इसी विभाग में घुसे और इसकी परीक्षा में बडी योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुए । आपका नम्बर उत्तीर्ण विद्यार्थियो में तीसरा था । पास होने पर आपको बम्बई हाते मे 1860 ईसवी में नौकरी मिली । 1887 ईसवी तक आप यहाँ रहे ।

जब सर विलियम ने 1887 ईसवी में नौकरी छोड़ी, बम्बई के गवर्नर लार्ड रो ने एक ख़ास गैज़ट में आपके नौकरी से अलग होने पर शोक प्रकट करते हुए कहा— "सर विलियम वेडरबर्न का सम्बन्ध गवर्नमेंट से बहुत घनिष्ठ रहा है । कुछ दिनों तक वे अस्थायी चीफ़ सेक्रेटरी रहे और कुछ दिनों तक कौंसिल के मेम्बर । इन दोनो पदों पर रहकर उन्होने गवर्नमेंट को अपने उत्तम विचारों से बड़ी सहायता दी । उनके शिक्षा विषयक उत्साह ने और उनके इस देश के नैतिक और आर्थिक उन्नति विषयक विचारों ने उन लोगों के दिलों में घर कर लिया जिनके लिए उन्होने इतना परिश्रम किया है ।" यह सम्मान तो बम्बई-सरकार की ओर से हुआ; परन्तु क्या आप समझते हैं कि बम्बई के बुद्धिमान सज्जनों ने देश के ऐसे शुभ-चिन्तक का यथोचित सम्मान नहीं किया । नहीं, बम्बई-निवासियो ने उनकी यादगार के लिए एक बहुत बड़ा चन्दा किया, जिसमें से कुछ रुपये से सर विलियम का चित्र तैयार कराया गया जो अब तक बम्बई की प्रेसीडेन्सी असोसियेशन के कमरों की शोभा बढ़ा रहा है । बाक़ी रुपया इस असोसियेशन को एक ऐसा फंड खोलने की ग़रज़ से दे दिया गया जिसकी आय से बम्बई-वासियो की राजनैतिक दशा का सुधार हो ।

नौकरी की हालत में आप बड़े उच्च पद पद रहे हैं, जैसे, गवर्नमेंट के सहायक मन्त्री, हाईकोर्ट के रजिस्ट्रार, सिन्ध के जुडिशल कमिश्नर, गवर्नमेंट के न्याय, नीति और शिक्षा विभागों के मन्त्री और हाईकोर्ट के जज, जब आप न्याय-विभाग के अधिकारी हुए तब आपने अपने उन विचारों को कार्य्यक्षेत्र में लाने का उपक्रम किया जो पहले से आपके दिल में जमे हुए थे। आपका ख़याल था कि भारतवर्षीय राजों की स्थिति सुदृढ़ होनी चाहिए। क्योंकि, आपके विचारानुसार भारतवासी एक उत्तम देशी राज्य में अधिक आनन्द से रह सकते हैं। इसलिए ज्यों ही आप इस पद पर आये, बम्बई के गवर्नर की सहायता से निम्नलिखित कार्य्य किये—

(1) राजकोट में एक 'राजकुमार कालेज' खुलवाया। इस कालेज की स्थापना से आपका यह अभिप्राय था कि राजे, महाराजे उत्तम शिक्षा पाकर अपने राज्य-कार्य्य करने के योग्य हो।

(2) भावनगर में आपने सम्मिलित शासन की प्रथा चलाई। अब तक राजा के बालिग होने तक राज्य एक पोलिटिकल एजेंट के सुपुर्द कर दिया जाता था, नतीजा यह होता था कि राज्य का रूप ही प्रायः बदल जाया करता था। इसलिए सम्मिलित शासन की प्रथा चलाई गई। मतलब यह कि राजा की अनुपस्थिति में राज्य का रूप न बदले और गवर्नमेंट की नीति के अनुसार काम भी हो।

(3) काठियावाड़ के लिए ग्रामिया अदालत की स्थापना, रियासतों के झगड़े तै करने के लिए की गई।

सर विलियम ने वेडरबर्न इस देश के शासन में बड़ी ही सहानुभूति दिखलाई। वे यद्यपि विदेशी हैं, तथापि उन्होंने ऐसे काम किये हैं कि इस देश के वासी उनकी सेवा को कदापि नहीं भूल सकते। श्रीमान् दादाभाई नौरोजी, माननीय रानाडे, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, माननीय तैलङ्ग, माननीय बदरुउद्दीन तैय्यबजी, बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनरजी, माननीय गोखले, माननीय मदनमोहन मालवीय आदि सबसे आप भली भाँति परिचित रहे हैं। जब भारतवर्ष के सुधार का ख़याल आपको आया तब आपने इन लोगों की सहायता से पहले इस बात का निश्चय किया कि दाल में कहाँ काला है! आपने बहुत जल्द इस बात को जान लिया कि इस देश की दरिद्रता ही एक मात्र सुधार की बाधक है। आपकी राय में इस जीर्ण रोग का इलाज यह निश्चित हुआ कि सरकार कर लेना कम करे, काश्तकारों को रुपया थोड़े सूद पर दिया जाय, और आपस के झगड़े अदालत में तै होने के बदले आपस में तै किये जायँ। इसलिए आपने तीन प्रस्ताव किये—

(1) दक्षिण में इस्तमरारी बन्दोबस्त

(2) कृषि-बैंकों की स्थापना

(3) पंचायतों की स्थापना

प्रथम प्रस्ताव के विषय में आपने मनुस्मृति के आधार पर यह दिखलाया कि प्रजा अपनी आमदनी का राजांश रुपये के रूप में न देकर अनाज अथवा और वस्तु के रूप में दे और वह अंश आमदनी का सोलहवाँ हिस्सा नियत किया जाय। आपने

अहमदनगर के निकट एक गाँव में इसका तजरिबा करने का प्रयत्न भी किया। यह प्रस्ताव सबको रुचिकर हुआ। पर गवर्नमेंट ने इसे अस्वीकार किया। दूसरा प्रस्ताव भी सब लोगों को पसन्द आया। पूने में एक सर्वसाधारण की सभा कलक्टर की अध्यक्षता में हुई, कृषि-बैंक स्थापना करने के प्रस्ताव पास हुए; और एक कमेटी नियत की गई। कमेटी ने अपने प्रस्तावों को सर जेम्स फरगुसन के सामने पेश किया। गवर्नर साहब ने उन प्रस्तावों को पसन्द किया और भारतवर्ष की गवर्नमेंट को भेजने की प्रतिज्ञा की। लार्ड रिपन उस समय बड़े लाट थे। उन्होंने कमेटी के कथन को सहर्ष स्वीकार किया और इस बात पर राजी हो गये कि कुछ गाँवों में एक कमीशन द्वारा प्रजा का क़र्ज़ अदा किया जाय, सरकार इस निमित्त $6\frac{1}{2}$ लाख रुपया पेशगी प्रजा को दे; और जो कृषि-बैंक खोला जाय उसका रुपया उसी तरह सरकारी अफसरों द्वारा वसूल किया जाय जैसे सरकारी रुपया वसूल किया जाता है। भारत-गवर्नमेंट के आग्रह करने पर बम्बई-गवर्नमेंट ने इस संकल्प को कार्य्य में परिणत करने का भार अपने ज़िम्मे ले लिया और 31 मई, 1884 ईसवी को वाइसराय और कौंसल के मेम्बरों के हस्ताक्षरों से विलायत को इस विषय पर एक पत्र भेजा गया। परन्तु सेक्रेटरी आव् स्टेट के दफ़्तर से कुछ हीला-हवाला होने के बाद 1887 ईसवी में पारलियामेंट ने इस बात की इजाजत देने से साफ़ इनकार कर दिया।

तृतीय प्रस्ताव का यह अभिप्राय था कि जब तक पंचायतों से फ़ैसला हो सके तब तक कोई मुक़द्दमा अदालतों में न जाय। पंचायत की प्रणाली भारतवासियों को बहुत प्रिय है। वे पंच को ईश्वर के तुल्य समझते हैं। इस विचार को कार्य्यक्षेत्र में लाने के लिए पूने के टाउन हाल में एक बड़ी भारी सभा की गई। फिर एक कमेटी बनी। उसमें सदरआला, पेंशन पाये हुए महकमे माल के अफ़सर, तीन वकील, दो ख़ज़ानची और एक मंत्री नियत हुए। इस कमेटी के क़ानून का एक मसविदा तैयार किया। उसका मंशा यह था कि हर एक मुक़द्दमा पहले जातीय अदालतों के सामने आवे। और यदि कोई उनके फ़ैसले से असन्तुष्ट हो तो दौरे पर रहने वाले सदरआला की अदालत में अपील करे। इस प्रस्ताव को बम्बई की गवर्नमेंट ही ने अस्वीकृत किया।

सर विलियम शिक्षा के, विशेष कर स्त्री-शिक्षा के, बड़े पक्षपाती हैं। आपका सम्बन्ध सिन्ध से कुछ दिनों तक था। उसके नाते कराची में 1880 में, वेडरबर्न हिन्दू-कन्या पाठशाला खोली गई थी। 1884 ईसवी में आपने श्रीमान् महादेव गोविन्द रानाडे की सहायता से पूने में भी कन्याओं को उच्च शिक्षा देने के लिए एक पाठशाला स्थापित की। आपने अपने भाई सर डेविड की यादगार में 10,000 रुपये देकर इस शाला के लिए छात्रवृत्तियाँ नियत कीं।

कांग्रेस के जन्मदाताओं में से आप भी एक हैं। मिस्टर ह्यूम और मिस्टर बैनर्जी के साथ आपने भारत की राष्ट्रीय सभा का प्रथम अधिवेशन, बम्बई में, किया। लार्ड डफ़-रिन उस समय बड़े लाट थे। उनसे प्रार्थना की गई कि लार्ड री को, जो बम्बई के गवर्नर थे, आज्ञा दी जाय कि वे प्रथम राष्ट्रीय सभा का सभापतित्व स्वीकार कर लें। परन्तु, यद्यपि राष्ट्रीय सभा से लार्ड डफ़रिन ने सहानुभूति प्रकट की, तथापि यह आज्ञा देना उन्होंने उचित

न समझा। 1889 ईसवी में आप राष्ट्रीय सभा के पाँचवें जलसे के सभापति चुने गये। इस जलसे में राष्ट्रीय सभा के विषय में आपने कहा—"मैं आदि से ही उस आन्दोलन को देख रहा हूँ जिसका परिणाम यह राष्ट्रीय सभा है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह आन्दोलन अपनी उत्पत्ति, उद्देश और पद्धति में अत्यन्त शुभंकर है। मैं भली भाँति जानता हूँ कि ब्रिटिश शासकों के उत्तम उद्योगों का यह उत्तम फल है। उच्च शिक्षा और स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकार जो भारतवासियों को खुशी से दिये गये उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। इस आन्दोलन का उद्देश राष्ट्रीय जीवन को पुनरुज्जीवित करना और देश की आर्थिक दशा को सुधारना है। हमारी काम करने की रीति खुली हुई है, क़ानून के, मर्य्यादा के भीतर है और सब तरह गवर्नमेंट की न्यायशीलता पर अवलम्बित है।"

1889 ईसवी की राष्ट्रीय सभा में आपके साथ भारतवर्ष के शुभचिन्तक मिस्टर ब्रेडला भी आये थे। 1904 ईसवी में फिर आप सर हेनरी काटन के साथ भारतवर्ष में पधारे थे। सर हेनरी उस साल की कांग्रेस के सभापति थे। नौकरी छोड़कर जब आप विलायत गये तब वहाँ भी आपने भारतवासियों की उन्नति के लिए काम करना शुरू कर दिया। वहाँ आपने राजनैतिक आन्दोलन का नया ढंग निकाला। आपने सोचा कि यद्यपि सेक्रेटरी आव् स्टेट तक सीधे पहुँचना कठिन है तथापि यदि पारलियामेंट के द्वारा उन तक पहुँचने का उद्योग किया जाय तो सफलता की बहुत कुछ आशा है। अतः भारतवर्ष के विषय में जो कुछ अब कहा जाय वह विलायत के सर्वसाधारण जनों से कहा जाय। सर्वसाधारण ही के नेता पारलियामेंट (हाउस आव् कामन्स) में बैठते हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं। उनकी सिफ़ारिशों को विचार सेक्रेटरी आव् स्टेट को करना ही पड़ेगा। अतः विलायत में ब्रिटिश कमिटी नाम की एक सभा स्थापित हुई, जिसके सभापति सदा आप ही रहे। उन्हीं के आग्रह से विलायत में भी भारतवासियों ने राजनैतिक आन्दोलन करना शुरू कर दिया। 1893 ईसवी में आप हाउस आव् कामन्स के मेम्बर चुने गये और 1900 ईसवी तक मेम्बर रहे।

सर विलियम ने भारतवर्ष के लिए एक लाख रुपये से अधिक अपनी जेब ख़ास से खर्च किया। जो कुछ उनके दक्षिणहस्त ने दिया उसको वाम हस्त ने नहीं जाना। आपने तन, मन, धन से भारत की दशा सुधारने की चेष्टा की।

जिस समय आप पारलियामेंट के मेम्बर थे उस समय आपने एक पारलियामेंट से सम्बन्ध रखने वाली कमिटी स्थापित की थी। उसमें 120 मेम्बर थे। उसका उद्देश पारलियामेंट में भारत सम्बन्धिनी बातों पर ध्यान रखने का था। इस कमिटी के भी आप सभापति चुने गये। इसी कमेटी की सहायता से 1895 ईसवी में श्रीमान् नौरोजी भारत सम्बन्धी व्यय का विचार करने के लिए एक रायल कमीशन नियत कराने में फलीभूत हुए थे।

अखबारों और व्याख्यानों के द्वारा भी आपने भारत के लिए बहुत काम किया है। आपकी अध्यक्षता में ब्रिटिश कमिटी ने 'इंडिया' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। पारलियामेंट में भारत-विषयक जो बातें होती हैं उनकी रिपोर्ट उसमें रहती है। अन्यान्य

बातें भी भारतवर्ष के विषय की उसमें रहती हैं, जिससे विलायत वालों को इस देश का हाल भली भाँति मालूम होता रहता है।

आप सदा इस बात का आग्रह किया करते हैं कि विचारशील शिक्षित भारतवासी विलायत जाया करें और वहाँ वालों को अपनी दशा जताने के लिए व्याख्यानो द्वारा भारतवर्ष का सच्चा ज्ञान प्राप्त करावें।

सर विलियम भारत के उन थोड़े से शासकों में से हैं जो इस देश वालों की क़दर करते हैं और उनसे प्रेमभाव रखते हैं। जिस समय आप इस देश में उच्च अधिकारी थे उस समय प्रत्येक विषय में आप प्रजा की भलाई का ख़याल रखते थे। आप भारतवासियों से ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कोई बराबर वालों के साथ करता हो।

['पण्डित नर्मदा नारायण शर्म्मा, एम० ए०' नाम से जनवरी, 1911 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' में संकलित।]

सर विलियम वेडरबर्न-2

बड़े ही दुःख की बात है कि भारत ने अपने एक और हितैषी को सदा के लिए खो दिया। सर विलियम की मृत्यु से भारत की बड़ी हानि हुई। आप योरप के उन इने गिने सज्जन-शिरोमणियों में थे जिन्होंने आजीवन भारत का सच्चा हित-साधन किया; जिन्होंने परोपकार के आगे तन, मन और धन किसी को कौड़ी मोल का नहीं समझा। मृत्यु के समय आपकी अवस्था 80 वर्ष की थी। आप दो बार कांग्रेस के सभापतित्व के आसन को अलंकृत कर चुके थे। पिछली बार आप 1910 के दिसम्बर में उसके सभा-पति थे। 'सरस्वती' की जनवरी 1911 की संख्या में आपका चरित प्रकाशित हो चुका है। उसमें आपकी गुणावली का कीर्तन है।

25 मार्च 1838 ईसवी को आपका जन्म, इंगलैंड के एडिनबरा नामक स्थान में, हुआ। आपके पिता का नाम था—सर जान वेडरबर्न। वे भारत में उच्च राज-कर्म्म-चारी रह चुके थे। आपने भी सरकार के अंडर सेक्रेटरी और हाईकोर्ट के जज तक के पद को विभूषित किया। सरकारी नौकरी से अलग हो जाने के बाद तो अपना अवशिष्ट जीवन आपने भारत के कल्याणवर्द्धन ही में तरह तरह से लगाया। राज-कर्म्मचारी रहते हुए भी आपने इस देश के वासियों का बड़ा उपकार किया। जिन दिनों वह बम्बई की गवर्नमेंट के अंडर-सेक्रेटरी थे, काठियावाड़ की प्रजा और रजवाड़ों के हित की कामना से प्रेरित होकर, आपने कितने ही उपयोगी काम यहाँ किये। राजकोट का राजकुमार-कालेज आप ही के उद्योग का फल है। आप कहा करते थे कि यदि देशी राज्यों का शासन अच्छी तरह हो तो प्रजा वहाँ बहुत सुखी रहे।

शिक्षा—विशेष करके स्त्री-शिक्षा—के आप बड़े पक्षपाती थे। स्वर्गीय रानाडे महोदय के साथ आपने 'फीमेल हाई-स्कूल' और 'ट्रेनिंग कालेज' की नींव पूने में डाली और 10 हज़ार रुपये अपनी ओर से उसमें लगाये।

जिन दिनों आप हाई कोर्ट के जज थे, आपने शेशन जजों की कड़े दण्ड देने की प्रवृत्ति को बहुत कुछ रोका। जब आप पूने में डिस्ट्रिक्ट जज थे तब परलोकवासी गणेश वासुदेव जोशी की सहायता से एक प्रकार की पंचायतें (Conciliation Courts) स्थापित कीं। किसानों के लिए बैंकों की भी योजना आपने की। दक्षिण में दवामी बन्दो-बस्त की परिपाटी प्रचलित करने का भी प्रयत्न आपने किया।

कांग्रेस के आप बड़े भक्त और भक्त ही क्यों उसके जन्मदाताओं में से भी थे। सन् 1889 में बम्बई की पाँचवीं और सन् 1910 में इलाहाबाद की कांग्रेस के आप सभापति बनाये गये थे।

1893 ईसवी से 1900 ईसवी तक आप इंगलैंड की पारलियामेंट के मेम्बर

रहे। इस अवधि में आपने भारत का जो कल्याण-साधन किया वह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। पारलियामेंट में जब जब मौका मिलता आप हिन्दुस्तान का पक्ष लेकर बोलते। इंडियन पारलियामेंटरी कमिटी नाम की एक सभा भी आपने वहाँ स्थापित की थी। पारलियामेंट के 12 मेम्बर उसके सभासद हुए। ब्रिटिश कांग्रेस कमिटी नाम की एक और संस्था आपने इंगलैंड में क़ायम की। मृत्यु के दिन तक आप उसका कार्य्य चलाते रहे। भारतहितैषी ब्राडला साहब आपके मित्र थे। उनकी सम्मति से आपने भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के सुधार का क़ानूनी मसविदा पारलियामेंट में उपस्थित किया। पर विरोधियों के मारे आप कृतकार्य्य न हुए। वेल्बी कमिशन के सामने गवाही देते हुए आपने भारत का पक्ष खूब सँभाला था। सारांश यह कि हिन्दुस्तान के हित का शायद ही कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण काम आज तक हुआ हो जिसमें सर विलियम वेडरबर्न का हाथ न रहा हो। यहाँ तक कि ऐसे कामों के लिए शरीर-बल और मनोबल के अपरिमित व्यय के अतिरिक्त कोई लाख डेढ़ लाख अर्थ-बल भी आपने ख़र्च किया! 'परोपकाराय सतां विभूतय:' की उक्ति ऐसे ही उदार-हृदय, दयाशील और महामना पुरुषों के विषय में चरितार्थ हो सकती है।

सर विलियम वेडरबर्न लेखक भी बड़े अच्छे थे। उनके लेखों में विवेकशीलता और सचाई खूब रहती थी। लेखगत बिषय का और उनके हृदय का तादात्म्य हो जाया करता था।

शोक की बात है, इंगलैंड में भारतवासियों का ऐसा सहायक अब कोई नहीं रहा! आपके कृतोपकारों को भारतवासी कभी न भूलेंगे।

[मार्च, 1918 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

अलबरूनी

प्राचीन काल से लेकर अब तक न मालूम कितने ग्रीक, रोमन, चीनी, अरब, तुर्क, फ्रेंच और अँगरेज़ आदि विदेशी भारतवर्ष में आये हैं। उनमें से सैकड़ों ने भारतवर्ष-विषयक पुस्तकें भी लिखी हैं। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का प्रायः अभाव है। अतएव ये पुस्तकें इस देश का इतिहास संकलित करने में बड़ी सहायक हुई हैं। इस हिसाब से ये ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी हैं। परन्तु इनमें से अधिकांश ग्रन्थ भ्रमात्मक और ईर्ष्याद्वेष-पूर्ण हैं। कारण यह कि लेखकों ने बिना अच्छी तरह खोज किये ही जो कुछ उनकी समझ में आया, लिख मारा है। हाँ, कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्होंने गहरी खोज के बाद उदारतापूर्वक अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इतिहासकार अलबरूनी इसी श्रेणी के लेखकों में थे।

अलबरूनी के जीवन का इतिहास नितान्त संक्षिप्त है। वर्तमान खीवा नगर के निकट, सन् 973 ईसवी में, उनका जन्म हुआ था। उनका असली नाम अबूरैहान था। बाल्यकाल से ही उन्होंने गणित, ज्योतिष और विज्ञान की शिक्षा पाई थी। धीरे-धीरे उन्होंने इन विषयों में अच्छी पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी। अलबरूनी की जन्मभूमि प्राचीन बाल्हीक (बलख) में राज्य के अन्तर्गत थी। वहाँ इसलाम के अभ्युदय के पहले बौद्ध धर्म्म का प्रचार था। युवावस्था में अलबरूनी खीवा-नरेश के मन्त्री हो गये। इस दशा में उन्होंने अपने देश को स्वाधीन बना रखने के लिए बड़ी चेष्टा की। परन्तु 1017 ईसवी में ग़ज़नी के दिग्विजयी सुलतान महमूद ने खीवा की स्वाधीनता छीन ली और राज्य-परिवार के साथ अलबरूनी को भी क़ैद करके ग़ज़नी भेज दिया। वहाँ राज-परिवार की बड़ी दुर्दशा हुई। परन्तु अलबरूनी के पाण्डित्य का खयाल करके महमूद ने उन पर कृपा की और उन्हें मुलतान भेज दिया।

मुलतान में अलबरूनी कोई तेइस वर्ष रहे। यह समय उन्होंने संस्कृत सीखने और ज्ञानालोचना करने में बिताया। इसके बाद जब सुलतान महमूद की मृत्यु हुई तब उन्होंने 'इंडिका' की रचना की। 'इंडिका' किसी ग्रन्थ विशेष का अनुवाद नहीं; किन्तु मूल ग्रन्थ है। यह बड़ी दुरूह अरबी भाषा में लिखा गया है। साधारण अरबी जानने-वाला इसे नहीं समझ सकता। परन्तु पाश्चात्य पण्डितों की कृपा से अब उसका अनुवाद अनेक योरपियन भाषाओं में हो गया है।

भारतीय साहित्य, दर्शन, गणित, ज्योतिष और धर्म्मशास्त्र आदि का अध्ययन तथा लोकाचार-पर्य्यवेक्षण करके अलबरूनी ने भारतीय शिक्षा, दीक्षा, सभ्यता और सदाचार के सम्बन्ध में जो तथ्य संग्रह किया था उसी को वह 'इंडिका' में लिख गया है। 'इंडिका' के सिवा अलबरूनी ने ऐसे और भी ग्रन्थ रचे है, जिनमे उसने भारतीय गणित और ज्योतिष की आलोचना की है।

अलबरूनी के इन सब ग्रन्थों में पाण्डित्य कूट-कूटकर भरा हुआ है। अब भी बड़े

बड़े विद्वान् उन्हें देखकर मुग्ध हो जाते हैं और उनके रचयिता की हज़ार मुख से प्रशंसा करते हैं। अलबरूनी अरबी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं का उत्कृष्ट विद्वान् था। उसमें दोनों देशों के ज्ञानभाण्डार का सार-संकलन करने की असाधारण शक्ति थी। यह बात उसकी 'इंडिका' से अच्छी तरह प्रकट होती है।

अलबरूनी ने भारतवर्ष-विषयक बातों की यथारीति अध्ययन करने की यथेष्ट चेष्टा की। उमने नरेशों की नामावली और लड़ाई-झगड़े की बातों को लेकर समय नष्ट नही किया। केवल हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन-भूत, दर्शन, विज्ञान, गणित, ज्योतिष और विविध आचार-व्यवहारों का विस्तृत विवरण संकलित करने की उसने चेष्टा की। उस समय काश्मीर और काशी संस्कृत-शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। परन्तु वहाँ मुसलमानों को घुसने की आज्ञा न थी। इस पर अलबरूनी ने बडा अफ़सोस ज़ाहिर किया है। इसीलिए सिन्ध जाकर उसने संस्कृत सीखी और वहीं से ग्रन्थों का संग्रह प्रारम्भ किया। पर बेचारा, अर्थाभाव के कारण, मनमाने ग्रन्थों का संग्रह न कर मका। इसका उल्लेख उसने 'इंडिका' में कई जगह किया है।

अलबरूनी में सबसे बड़ा गुण यह था कि वह विद्वान् होने पर भी अध्ययनशील था और मुसलमान होने पर भी हिन्दुओं से द्वेषभाव न रखता था। यह बात 'इंडिका' के प्रत्येक पृष्ठ से प्रकट होती है। जिन्होंने उसे एक बार भी पढ़ा है वे उसके मतों की उदारता और सच्ची समालोचना-शक्ति पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। उसने जहाँ हम लोगों के आचार, व्यवहार और शिक्षा-दीक्षा के प्रतिकूल समालोचना की है वहाँ पर मूल संस्कृत-शास्त्र का प्रमाण अवश्य उद्धृत किया है। ऐसा किये बिना उसने कोई मन्तव्य प्रकाशित नहीं किया। प्रतिकूल समालोचना करते समय उसने एक जगह यह भी लिखा है—"सम्भव है कि इस उद्धृत अंश का कोई और सुसंगत अर्थ हो; परन्तु अब तक मैंने उसे नहीं सुना।" यह हम लिख चुके हैं कि अरबी और ग्रीक भाषा-विशारद अलबरूनी ने संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करने के बाद 'इंडिका' रची थी। उसकी 'इंडिका' के साथ संस्कृतानभिज्ञ अँगरेज-लेखकों के ग्रन्थो की तुलना नहीं हो सकती।

अलबरूनी ने जब 'इंडिका' की रचना की थी तब मुसलमान लोग भारतवर्ष को काफ़िरस्तान कहकर घृणा करते और पराजित देश समझकर उसकी उपेक्षा करते थे। इधर भारतवासी मुसलमानों को म्लेच्छ कहकर तिरस्कार करते और विजेता समझकर भय खाते थे। उस समय ग़ज़नी के सुलतान और उसके अनुयायी विजयोल्लास में मग्न होकर भारतवर्ष का वक्ष विदीर्ण करने में लगे हुए थे। ऐसे समय में एक मुसलमान का काफ़िरों का धर्म्मशास्त्र पढ़ना और समालोचना करने की धीरता के साथ दार्शनिक प्रणाली से प्रत्येक विषय की मीमांसा करना बड़े विस्मय में बात है। 'इंडिका' से मालूम होता है कि काफ़िर होने पर भी हिन्दू अलबरूनी के विचार में भक्ति और श्रद्धा के पात्र थे। आजकल के यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि इसका एक विशेष कारण था। वह यह कि जिस सुलतान महमूद ने अलबरूनी की जन्मभूमि खीवा की स्वाधीनता हरण की थी उसी ने भारतवर्ष को भी जीता था। अतएव स्वाधीनता-रत्नविवर्जित स्वदेश-प्रेमी के

लिए सम-दुःख-दुःखी एक पराधीन देश के प्रति सहानुभूति का होना स्वाभाविक ही है। जो हो, यद्यपि अलबरूनी ने इसलाम धर्म्म का माहात्म्य प्रकाशित करने में कोई कसर नहीं रक्खी, तथापि उस हिंसा-विद्वेष के युग में भी उसने हिन्दुओं को काफ़िर समझकर उनसे घृणा नहीं की। इस बात को पाश्चात्य पण्डित भी मानते है।

अलबरूनी मूर्तिपूजा को अच्छा न समझता था। वह कहता है कि मूर्तिपूजा साधारण आदमियों ही के लिए है; विद्वानों के लिए तो एकेश्वरवाद है। भारत का वेदान्त-सम्मत धर्म्म इसलाम के एकेश्वरवाद धर्म्म से मिलता जुलता है, यह बात अलबरूनी ने कई बार लिखी है।

अलबरूनी ने जिस समय 'इंडिका' रची थी वह समय एशिया-खण्ड के लिए विप्लव का युग था। एक ओर बौद्ध और हिन्दुओं के संघर्ष के कारण बौद्ध लोग विताड़ित हो रहे थे। दूसरी ओर बौद्ध और इसलाम के परस्पर युद्ध में इसलाम विजयी हो रहा था। बीच-बीच में ईसाइयों और मुसलमानों में भी झगड़ा हो जाता था। इससे ईसाई लोग एशिया से भागे जा रहे थे, इस विप्लव के समय में दर्शनशास्त्रों की चर्चा की जगह बाहुबल और शान्त समालोचना की जगह तेज़ तलवार चल रही थी। इससे कुछ दिन के लिए उच्च शिक्षा विलुप्त हो गई थी। अशिक्षित सेना-दल प्राधान्य और प्रतिष्ठा-लाभ कर रहा था। इसीलिए विजयोन्मत्त मुसलमान लोग भारतवर्ष को काफ़िरस्तान कहने में कुछ भी संकोच न करते थे। भारतवर्ष ही के विपुल-ज्ञान-भाण्डार ने अरबी-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा की है और उसके द्वारा जंगली विद्वानों को विद्वान् बनाया है। इस बात को अलबरूनी की तरह दो-चार विद्वानों के सिवा और कोई न जानता था और सुनने पर भी विश्वास न करता था। अलबरूनी भारतवर्ष पर क्यो अनुरक्त था और बाल पक जाने पर क्यों संस्कृत सीखी थी, यह बात समझने के लिए अरबी-साहित्य की आलोचना करना चाहिए।

यद्यपि अरबी भाषा बहुत पुरानी है तथापि अरबी-साहित्य ग्रीक और हिन्दू-साहित्य की तरह बहुत पुराना नहीं। कुछ दिन पहले बहुत लोग इस बात को न मानते थे। परन्तु जर्मनी के पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस बात को सत्य सिद्ध कर दिया है।

अरबी के प्राचीन साहित्य में केवल कविता ही की अधिकता थी। मरुभूमि अरब के निवासी उसी को यथेष्ट समझते थे। कुछ दिन बाद क़ुरान और हदीस भी उसमें मिल गई। परन्तु तब भी अरबी-साहित्य में केवल इने-गिने ग्रन्थ थे। इसके कई सौ वर्ष बाद तक उसकी यही दशा रही। इसमें सन्देह नही कि अरब की मरुमरीचिका ही में इसलाम-धर्म्म का अभ्युदय हुआ था; परन्तु वहाँ उसने ज्ञान-गौरव-लाभ नहीं किया। सुप्रसिद्ध बग़दाद राजधानी ही इसलाम धर्म्म और अरबी-साहित्य का गौरव-क्षेत्र हुई।

पश्चिमी देशों के साथ भारत का व्यापार प्राचीन काल में बग़दाद ही के रास्ते होता था। इसलिए इन देशों में भारतवासी बराबर आते-जाते थे। किसी समय बौद्ध धर्म्म-प्रचारकों ने एशियाखण्ड के इन सब पश्चिमी देशों में बौद्धमत का खूब प्रचार किया था। उनके द्वारा भारतीय साहित्य का प्रचार भी इन देशों में हो गया था। कुछ

दिनों बाद इसलाम धर्म्म ने आकर बौद्ध धर्म्म को वहाँ से निकाल दिया और अपना राज्य जमा लिया। बौद्ध धर्म्म तो वहाँ से विलुप्त हो गया; परन्तु बौद्ध लोग वहाँ से विलुप्त नही हुए। इसका अर्थ यह है कि जो लोग बौद्ध थे वही मुसलमान हो गये। मुसलमान-राज्य का केन्द्र पहले दमिश्क नगर में प्रतिष्ठित हुआ। परन्तु राज्य-संस्थापना की गड़बड़ के कारण वहां साहित्य-चर्चा उन्नति-लाभ न कर सकी। इसके बाद मुसलमान-साम्राज्य का केन्द्र स्थान बगदाद हुआ। सच पूछिए तो यही मुसलमानों में ज्ञान-पिपासा उत्पन्न हुई। उस समय विपुल भारतीय साहित्य के सामने क्षुद्र अरबी-साहित्य को कोई न पूछता था। अतएव बगदाद के ख़लीफ़ा लोग भारतीय साहित्य-भाण्डार को हस्तगत करने के लिए व्यग्र हो उठे। दो कारणों से यह व्यग्रता और भी प्रबल हो उठी।

इसलाम धर्म्म के अभ्युत्थान की प्रथम अवस्था ही में फ़ारिस मुसलमानों के क़ब्ज़े में आ गया था। बाहुबल में बलवान् होने पर भी बग़दाद ज्ञान-बल में फ़ारिस के समकक्ष न था। फ़ारिस ने किसी समय बौद्ध-शिक्षा के कारण अच्छी उन्नति-लाभ की थी। अतएव पराजित होने पर भी फारिस बग़दाद की अपेक्षा अधिक ज्ञानोन्नत समझा जाता था। भारतवर्ष की शिक्षा ही फ़ारिस की ज्ञानोन्नति का मूल है। यह बात जानते ही बगदाद-वासी भारतीय ज्ञान-भाण्डार को करतलगत करने के लिए व्याकुल हो उठे। इसी समय ब्रह्मगुप्त के 'ब्रह्मस्फुट-सिद्धान्त' का अनुवाद अरबी में किया गया।

उस समय तक जिन-जिन देशों मे मुशलमानो का राज्य था उन सबमें भारतीय ज्ञान का यशःसौरभ फैला हुआ था। उस समय इसलाम केवल एक नवोत्थित महाशक्ति थी; उसके पास पूर्व-ज्ञान-गौरव कुछ भी न था। परतु भारतवर्ष बहुत प्राचीन सभ्य देश है। मुसलमानों में उसके ज्ञान-भाण्डार को हस्तगत करने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही था। इसी समय अरबनिवासियों ने भारतवासियों से ज्योतिष-विद्या का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया। इस बात को सब लोग मानते हैं।

सुप्रसिद्ध ख़लीफा हारुनुर्रशीद के समय में अरबी-साहित्य की खूब उन्नति हुई। प्राचीन बाल्हीक-राज्य के 'नवविहार' नामक प्रसिद्ध बौद्ध मठ के 'परमक' नामक बौद्ध यति के वंशधर उस समय हारुनुर्रशीद के मन्त्री थे। वे उस समय मुसलमान हो गये थे और 'वरमक' गोत्रीय कहलाते थे। उनकी चेष्टा से भारतीय गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, दर्शन, विज्ञान और चिकित्सा-विद्या के सैकड़ो ग्रन्थ अरबी भाषा में अनुवादित किये गये। इसके साथ ही मिश्र और ग्रीस देश का साहित्य अरबी साहित्य को दिन-दिन उन्नत करने लगा।

उस तरह अलबरूनी के पैदा होने के पहले ही अरबी-साहित्य उन्नत हो चुका था। उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करने के बाद अलबरूनी के मन में खुद संस्कृत सीखने की इच्छा उत्पन्न हुई। भारतवर्ष में निर्वासित होने पर उसकी यह इच्छा पूर्ण हुई। संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी-अनुवाद अध्ययन करते समय अलबरूनी भारतीय साहित्य के केवल द्वार पर पहुँचा था। अब उसके भीतर प्रवेश के लिए उसका संस्कृतानुराग प्रबल होने लगा। अलबरूनी की धारणा थी कि मूल संस्कृत-ग्रन्थ का माधुर्य्य अरबी-अनुवाद में रक्षित नहीं रहता। संस्कृत सीखने पर उसकी यह धारणा बद्ध-मूल हो गई। इस समय

अलबरूनी एक मुसलमान साहित्य-प्रेमी के साथ अकसर तर्क-वितर्क किया करता था। उसका विचार था कि मूल संस्कृत-ग्रन्थ अध्ययन करने के लिए परिश्रम करना व्यर्थ है; अरबी-साहित्य में जो अनुवाद मौजूद है वही यथेष्ट हैं। परन्तु अलबरूनी का मत उसके विपरीत था। धीरे-धीरे दोनों में वाद-विवाद बढ़ गया। अतएव अलबरूनी ने अपने मत का महत्त्व स्थापन करने के लिए मूल संस्कृत-शास्त्रो के प्रमाण उद्धृत करके 'इंडिका' की रचना प्रारम्भ की।

'इंडिका' के पढ़ने से मालूम होता है कि उसकी रचना के पहले अलबरूनी ने कई संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। उनमें से सांख्यदर्शन, योगदर्शन, गीता, विष्णुपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण, आदित्यपुराण, पुलिशसिद्धान्त, ब्रह्मसिद्धान्त, बृहत्संहिता, पञ्च-सिद्धान्तिका, करणसार, करणतिलक, भुवनकोश और चरक विशेष उल्लेख योग्य है। इसके सिवा रामायण, महाभारत, मानवधर्म्मशास्त्र, छन्दःशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी अलबरूनी ने पढ़े थे। क्योंकि इनका उल्लेख भी 'इंडिका' में, जगह-जगह पर, पाया जाता है।

['श्रीकण्ठ पाठक, एम०ए०' नाम से मई, 1911 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'विदेशी विद्वान' में संकलित।]

परलोकवासी मिकाडो मुत्सु हीटो

जिस नन्हे से जापान ने हाल ही में संसार की महाशक्ति रूस को रणक्षेत्र में पछाड़ा था, जिसके बल और वैभव, उन्नति और पराक्रम का इतने थोड़े काल में विकास होते देख संसार के बड़े बड़े उन्नतिशील देशों तक को आश्चर्य्य से दाँतो तले उँगली दबानी पड़ी थी और जिसने अपने बल द्वारा संसार की महान् से महान् जातियों की पंक्ति में खड़े होने का स्वत्व प्राप्त करके पूर्व के नीचे झुके हुए सिर को ऊपर उठाया था, उसे इस उन्नतावस्था को पहुँचाने के सबसे बड़े सूत्रधार, उसके सम्राट् मुत्सु हीटो, का देहान्त 29 जुलाई, सन् 1912 को हुआ था।

मुत्सु हीटो का जन्म तीसरी नवम्बर सन् 1852 ईसवी को हुआ था। जापान का राजवंश बहुत पुराना है। जापान के प्रथम सम्राट् जिम्मू टेनो ने सन् ईसवी के 1667 वर्ष पूर्व से राज्य करना आरम्भ किया था। परलोकवासी सम्राट् मुत्सु हीटो जिम्मो टेनो की 121वी पीढ़ी में थे।[1]

मुत्सु हीटो की शिक्षा पूर्वी देशों के राजकुमारों की तरह लाड प्यार से न हुई थी। उनके पिता सम्राट् ओमा हीटो काल-चक्र की गति को अच्छी तरह समझ चुके थे। वे जानते थे कि अधिक दिनो तक कूप-मण्डूक बने रहने से जापान का कल्याण न हो सकेगा। इसलिए उन्होंने मुत्सु हीटो को आधुनिक ढंग पर शिक्षा दी। उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाती जिससे वे नरम गद्दे का सहारा ढूंढ़ने वाले कोमलाग राजकुमार ही न रह जायँ। घोड़े की सवारी, व्यायाम और अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग मे वे थोडे ही काल में सिद्ध-हस्त हो गये। नियमानुसार कार्य्य करने की उनकी आदत डाली गई। वे सदा आज्ञा पालन करते। न करने पर उन्हें साधारण बालक की तरह दण्ड मिलता। लड़कपन ही से वे सहिष्णु थे। वे बहुत कम खेलने-कूदने थे, पढ़ते बहुत थे। प्रतिदिन कुछ कविता भी रचा करते थे। इन कामों से जो समय बचता उसे वे नाना प्रकार के व्यायामो मे ख़र्च करते। बडे होने पर उन्हें राजनीति की भी शिक्षा मिली। विदेशो का इतिहास और वहाँ की राज्यप्रणालियो का वृत्तान्त उन्हें अच्छी तरह पढ़ाया गया।

1867 में, अपने पिता के मरने पर, मुत्सु हीटो राज-सिंहासन पर आसीन हुए। उस समय जापान की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। जापान मे शोगन नाम का एक पद

---

1. जापान के सम्राट मिकाडो (अर्थात् आली जनाब or Honourable Gateway) कहलाते हैं। परन्तु इस नाम का व्यवहार जापान में बहुत कम किया जाता है। वहाँ सम्राट को 'टेनो' और 'टेनशी' कहते हैं। मुत्सु हीटो 'मीजी' (अर्थात् प्रकाश पूर्ण शान्ति) के नाम से जापान में प्रसिद्ध है।

था। जापान के सम्राट् केवल नाममात्र को सम्राट् थे। वे इतने पवित्र और मनुष्य-कोटि से इतने उच्च समझे जाते थे कि प्रजा को उनके दर्शन तक दुर्लभ थे। अतएव शोगन लोग ही उनके नाम से जापान पर राज्य करते और विदेशी राज्यों से संधि आदि करते थे। 1854 में, तत्कालीन शोगन ने, जापान के कुछ बन्दरगाहों को विदेशी वाणिज्य और विदेशियों के निवास के लिए खोल दिया। इस पर पुराने विचार के लोग बड़े नाराज़ हुए। उनकी नाराज़ी बढ़ती ही गई। वे शोगन-पद तक को उड़ा देने के लिए तैयार हो गये। नये सम्राट् ने भी उनका साथ दिया। शोगन का पद तोड़ दिया गया, परन्तु सहज ही मे नही। बड़े बड़े उत्पात हुए। वे सब बल-पूर्वक शान्त किये गये। लोगों ने सोचा था कि शोगन-पद के टूटते ही विदेशियों का आना जाना जापान में बन्द हो जायगा और फिर वही पुराना शान्तिमय और आनन्ददायक समय आ जायगा जब मनमानी करना ही बलवानों का, और लातें तथा बातें सहना ही निर्बलों का काम था। परन्तु उनकी आशा पूर्ण न हुई। शोगन पद के टूटते ही नवीन सम्राट् ने उस दल का पक्ष लिया जो विदेशियों का अपने देश में आने देने और जापानी जाति मे नाना प्रकार के सुधार किये जाने का हामी था। धीरे धीरे सम्राट् के विचार कार्य्य-रूप में परिणत होने लगे। जिस सम्राट् को दर्शन उसकी प्रजा तक को दुर्लभ था उसी ने 1868 के मार्च में विदेशी राजदूतों से भेंट की। लोगों ने उनके इस काम पर बड़ी आपत्ति उठाई और कितने ही जापानियों ने गलियों और बाज़ारों में फिरने वाले विदेशियों के ऊपर आक्रमण भी किया; परन्तु इन बातों से वे तनिक भी भयभीत न हुए। सम्राट् अपनी राजधानी को क्वेटो से इडो (वर्तमान टोकियो) नगर में उठा लाये। उन्होंने विदेशियों पर आक्रमण करने वालों को उचित दण्ड दिया और विदेशियों की जो क्षति हुई थी उसे राज-कोष से पूर्ण कर दिया।

देश में कौन कौन से सुधार किये जायँ, इस विषय पर विचार करने के लिए 1868 में मुत्सू हीटो ने देश के गण्य-मान्य पुरुषों की एक सभा का संगठन किया। इस सभा के अधिकारी ज़मींदार सदस्यों ने जिस प्रकार की देशभक्ति उस समय प्रकट की उस प्रकार की शायद ही संसार के किसी भी देश के जमींदारों ने कभी प्रकट की हो। उन्होंने एक संयुक्त प्रार्थना-पत्र सम्राट के सामने पेश किया। उसमें उन्होंने लिखा—"हम और हमारे पूर्वजों ने चिरकाल तक इन ज़मींदारियों की आमदनी से सुख भोग किया है। इनमें निवास करने वालों के तो हम विधाता ही है; परन्तु देश और जाति के सुधार के लिए और इसलिए कि हमारा देश संसार के उन्नत देशों की श्रेणी में गिना जाय, हमारी जाति संसार की उच्च जातियों की बराबरी कर सके, हम इन जमीदारियों से, जिन पर आज तक हमें स्याह और सफ़ेद तक करने का अधिकार प्राप्त था, जिनकी आमदनी से हम शारीरिक आनन्द लूटते थे और जिनके निवासियों को हम गुलामी की रस्सी के अमानुषिक बन्धनों से बाँधे हुए अपनी इच्छा के अनुसार नाच नचाते थे, अपना हाथ उठाते हैं और अपने सब सत्त्वों को त्यागते हैं। वे ज़मींदारियाँ अब आपके चरणों में अर्पित हैं। उनका जो चाहिए सो कीजिए। इतना ही नहीं, जननी जन्म-भूमि के लिए यदि हमारे शरीर की आवश्यकता हो तो वे भी हाज़िर हैं।

ज़मींदारों के इस आत्मोत्सर्ग से सम्राट् की शक्ति बढ़ गई और निम्न श्रेणियों को पराधीनता की शृंखला में बाँधे रखने वाली ज़मींदारी की कुत्सित प्रथा का दौर-दौरा जापान से उठ गया।

अब सुधार शुरू हुए। अत्याचारी दण्डों की प्रथा बन्द हुई। नये सिरे से, फ्रांस के कानून के आधार पर, जापानी क़ानून की रचना हुई। 1872 में, जापान की पहली रेल बनी। पाश्चात्य सन् और तारीख़ का व्यवहार होने लगा। पाठशालाओं में अँगरेज़ी की शिक्षा भी आरम्भ हो गई। दल के दल जापानी युवक शिल्प-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका और योरप पहुँचे। बड़े आदमी भी घर में न बैठे रहे। विदेशों में जाकर उन्होंने भी देश के लिए अनुभव प्राप्त किया। विद्वान् और व्यापारी भी पीछे न रहे। वे भी पाश्चात्य देशों की शिक्षा-प्रणाली और व्यापारी ढंग देखते फिरे। राष्ट्र ने भी बल-बुद्धि की चेष्टा की। अँगरेज़ों को नौकर रख रखकर उसने अपनी नौशक्ति को बढ़ाया। और जर्मन सैनिकों द्वारा अपनी स्थल-सेना का सुधार किया। 1889 में सम्राट् ने प्रजा को पारलियामेंट देने का वचन दिया और 1890 के नवम्बर में पहली जातीय महासभा (पारलियामेंट) की बैठक हुई।

जापान में महान् परिवर्तन हो गया। उसका रूप ही बदल गया। इतने अल्प काल में इस प्रकार के परिवर्तन संसार में थोड़े ही हुए होंगे। ये परिवर्तन हो गये और मुत्सू हीटो तथा उनकी प्रजा की बुद्धिमत्ता के कारण इतने अल्पकाल में हो गये; परन्तु निर्विघ्न नहीं हुए। 1876 से लेकर 1884 तक—8 वर्ष तक—जापान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, जगह जगह, सुधारों के विरुद्ध कई छोटे-बडे विप्लव हुए। इधर घर की इस अग्नि को शान्त करने में मुत्सू हीटो रत थे, इधर उन्हें अपने घर से बाहर चीन ऐसी बड़ी शक्ति से तलवार नापनी पडी। 1874 में फारमोसा द्वीप के कुछ नौकारोही डाकुओं ने कई जापानी जहाजों को लूट लिया। उस समय फारमोसा चीन के अधीन था। शिकायत करने पर चीन ने डाकुओं को सज़ा देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब मुत्सू हीटो को लाचार होकर चीन के विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करना पड़ा। जापानी नौसेना ने फारमोसा पर अधिकार करके डाकुओ को दण्ड दिया और उस समय तक न छोड़ा जब तक चीन ने उनकी क्षति की पूर्ति न कर दी।

इन घरेलू और बाहरी झगड़ों को निपटाकर मुत्सू हीटो ने जापान को अन्य स्वतन्त्र देशों के बराबर समझे जाने का दावा संसार के सामने पेश किया। पहले तो किसी ने इस दावे की ओर ध्यान न दिया; परन्तु 1894 में आपने इस दावे को जोर से पेश करने पर मुत्सू हीटो को सफलता प्राप्त हुई। इंगलैंड ने जापान से समानता-सूचक सन्धि कर ली। अन्य देश भी आगे बढ़े, और अन्त में, 1901 तक, अन्य स्वतन्त्र शक्तियों ने भी जापान के साथ मैत्री स्थापन की।

1894 में जापान को फिर चीन का मुक़ाबिला करने के लिए रणक्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ा। इस बार पहले की जैसी लड़ाई न थी। चीन ने पूरी-पूरी तैयारी कर ली थी। पर अन्त में चीन को हार जाना ही पड़ा। जापानी योद्धाओं ने अपनी वीरता का

सिक्का संसार पर जमा दिया। इस युद्ध में मुत्सू हीटो ने अपने सेना-नायको को बहुत उत्साहित किया।

1904 में जापान को फिर अपनी वीरता प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ। रूस से उसकी खटपट हो गई। एक वर्ष तक जिस ज़ोर के साथ यह युद्ध होता रहा और जापानियों ने जिस प्रकार की कुर्बानियाँ करके अपनी देशभक्ति और वीरता का परिचय संसार को दिया, वह समाचारपत्रों के पाठक भूले न होंगे। संसार उनकी वीरता और उनके सम्राट् मुत्सू हीटो और अन्य राज्य-पुरुषों की बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता का लोहा मान गया। उनके बल के सामने संसार की महाशक्ति रूस को अन्त में नीचा देखना पड़ा और नन्हे से जापान की गणना अब संसार की महती शक्तियों में होने लगी।

अज्ञात जापान अवनति के गढ़े से निकाला जाकर उन्नति और प्रसिद्धि के शिखर पर चढ़ा दिया गया। गला घोंटने और शरीर को छिन्न भिन्न करने वाली ज़मींदारी-प्रथा से उसे छुटकारा मिला। संसार की अग्रगण्य जातियाँ और देश उसे अपनी बराबरी का समझने लगे। इतना ही नहीं, उसने अपनी उन्नति से पश्चिम की भूमि-लोलुप महाशक्तियों को इस बात की चेतावनी-सी दे दी कि अब भविष्यत् में वे एशिया महाद्वीप में फूंक-फूंककर क़दम रक्खें। ये सब महत्त्वपूर्ण बातें थी। पर ये बहुत ही अल्पकाल मे हो गई। इनका करना किसी एक आदमी का काम न था और न ये एक दिन में हो ही सकती थीं। वर्षों पूर्व से भीतर ही भीतर नाना प्रकार की शक्तियाँ जापानी जाति को ठोंक पीटकर इस परिवर्तन के लिए तैयार करती रही होंगी। परन्तु जापान के सम्राट् मुत्सू हीटो ने इस उन्नति-चक्र को घुमाने का जो यत्न किया वह कम महत्त्व का नही कहा जा सकता। पराधीनता के अन्धकार में ठोकर खाती फिरने वाली जाति का पुनरुद्धार करना बड़ा भारी काम अवश्य है, परन्तु अवनति के गढ़े से गिरी हुई जाति को सचेत करके उन्नति के शिखर पर बिठा देना और संसार से उसकी प्रतिष्ठा करा लेना भी कम महत्त्व का काम नही। मुत्सू हीटो ने दूसरे प्रकार का काम कर दिखाया। यदि नेपोलियन बीस लाख से अधिक मनुष्यो का रक्तपात कराकर फ्रांस के प्रजा-सत्ताक राज्य का बलिदान अपनी उच्च अभिलाषाओं की पूर्ति के निमित्त देकर और अन्त मे हार जाने पर—फ्रांस को योरप की शक्तियों के सामने दयाप्रार्थी होते हुए छोड़कर महान पुरुष कहा जा सकता है, तो संसार में शायद ही कोई ऐसा हृदय-शून्य मनुष्य हो जिसे मुत्सू हीटो को—जिन्होंने अपने देश जापान ही को इस उच्च अवस्था को नही पहुँचाया, किन्तु पाश्चात्य शक्तियों के बढ़े हुए हाथो से पास के अन्य पूर्वी देशो को भी अंशतः निर्भय करने का पुण्य कमाया—महान् पुरुष कहने में संकोच हो।

जापानी जाति मुत्सू हीटो को जी-जान से चाहती थी। समय समय पर इस बात के कितने ही उदाहरण मिल चुके हैं। परन्तु इस समय की राजभक्ति का दृश्य जब मुत्सू हीटो मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे और चिकित्सको ने जवाब दे दिया था, बड़ा ही कारुणिक था। राजमहल के चारों ओर हज़ारों जापानी उदास घूमते रहते थे और सम्राट् के नीरोग होने के लिए झुक-झुककर ईश्वर से प्रार्थना करते थे। एक आदमी ने तो सम्राट् के आरोग्य लाभ के लिए बलिदान स्वरूप आत्म-हत्या तक कर डाली। देश भर में नाच

और तमाशे बन्द हो गये ! मन्दिरों में पूजा-पाठ और प्रार्थनायें होने लगी। महारानी दिन रात सम्राट् की सेवा-शुश्रूषा किया करती। युवराज योशी हीटो बीमार थे। पिता को नाजुक अवस्था का समाचार सुनकर वे बेहोश हो गये, परन्तु अच्छी चिकित्सा के प्रभाव से शीघ्र ही चंगे हो गए। वे भी पिता की रोगशय्या के पास सदा मौजूद रहते। अन्त में स्त्री, पुत्र और प्रजा, किसी की कोई सेवा काम न आई। सबको रोते छोड़कर सम्राट् उस लोक को चले गए जहाँ एक दिन हम सबको जाना है।

मुत्सू हीटो के बाद उनके युवराज योशी हीटो जापान की गद्दी पर विराजमान हुए। आपने घोषणा-पूर्वक प्रण किया कि मैं उसी तरह शासन करूँगा जिस तरह मेरे पिता करते थे। एवमस्तु।

[सितम्बर, 1912 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' में संकलित।]

मुक्ति-फ़ौज के अधिष्ठाता जनरल बूथ

जनरल बूथ संसार के उन महान पुरुषों में से थे जिन्हें उन्नीसवी शताब्दी ने जन्म दिया। वर्तमान समय में, जबकि संसार में चारों ओर पदार्थ-विज्ञान की महिमा के गीत गाये जा रहे हैं और लोग भौतिक उन्नति के मैदान में क़दम बढ़ाये जाना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जनरल बूथ ने, अपने बुद्धि-बल से नहीं —क्योंकि उनकी बुद्धि में कोई विशेषता न थी—किन्तु अपने सुदृढ़ चरित-बल से, मुक्ति-फ़ौज नाम की संसार-व्यापिनी धार्म्मिक संस्था को जन्म देकर तथा उसे अच्छी तरह चला कर ऐसा महान काम किया जिससे उनके चरित की महत्ता अच्छी तरह सिद्ध होती है। उन्हें अपने इस काम में बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, कटुवचन और गालियाँ सुननी पड़ीं, और उनके सहकारियो को जुरमाना देना तथा जेल तक जाना पड़ा; परन्तु वे अपने उद्देश मे कभी न टले। अपने साथियों सहित—और ख़ूबी तो यह थी कि उनके साथी भी उन्हीं के सदृश दृढ़ मिले थे। वे अपना काम करते ही गये; और, अन्त में, फल यह हुआ कि सारी कठिनाइयों ने उनके आगे सिर झुका दिया। जो उनका पहले अपमान करते थे वही उनका आदर करने लगे। बड़े बड़े राजा-महाराजों तक ने उनका सम्मान किया और दीन-हीन हृदय के तो वे स्वयं ही राजा बन गये।

बूथ महाशय का जन्म, 1829 में, नाटिंघम नगर में हुआ था। उनके पिता एक गिरजाघर में काम करते थे। 'उनके पिता का सम्बन्ध था तो गिरजाघर से, परन्तु वे परलोक बनाने से इस लोक का बनाना अधिक अच्छा समझते थे। इसलिए वे व्यापार द्वारा धन एकत्र करने की चिन्ता में अधिक रहते थे। वे थे तो विशेष शिक्षित नही, परन्तु हिसाब-किताब रखना बहुत अच्छा जानते थे। पिता का यह गुण पुत्र को भी प्राप्त हुआ। जनरल बूथ भी बड़े ही हिसाबदां निकले। अन्य गुण उन्हें अपनी माता से मिले। उनकी माता बड़ी ही सुशीला और धार्म्मिक स्त्री थी। माता और पुत्र में प्रेम भी बहुत था। एक दूसरे को देख कर जीते थे। उनका हृदय बड़ा ही उदार था। वे दीन-हीन लोगो के दु:ख न देख सकती थी। उनका विश्वास था कि कोई मनुष्य, चाहे कितना ही पतित क्यों न हो, सद्व्यवहार से वह अच्छा बनाया जा सकता है। उन्होंने यह विचार बचपन ही में बूथ के हृदय में कूट कूट कर भर दिया था। माता की इस शिक्षा का फल यह हुआ कि पुत्र ने बड़े होने पर मुक्ति फ़ौज द्वारा पतितों का उद्धार करके इस विचार की सत्यता अच्छी तरह सिद्ध कर दी।

बूथ का लड़कपन ग़रीबी में कटा। एक छोटी सी पाठशाला में थोड़ा बहुत पढ़ लिख कर, 1850 में, वे भी पादड़ी हो गये। 1861 में, उन्होंने अपने इस पद को त्याग दिया। इस बीच में वे अपना ब्याह कर चुके थे और उनके चार सन्तानें भी हो गई थीं। वे सपत्नीक नगर नगर धर्म्मोपदेश देते फिरे। अन्त में, 1864 में, वे लन्दन

लौट आये। वहाँ उन्होंने एक धर्म्म-सभा स्थापित की। इस सभा का कई बार नामकरण-संस्कार हुआ। अन्तिम नाम के पहले उसका नाम था 'क्रिश्चियन मिशन' (Christian Mission) मज़दूर और अन्य निम्न श्रेणी के लोग ही उसके सदस्य थे। बूथ उन्ही लोगों की सहायता से निम्न श्रेणी के लोगों में धर्म्मोपदेश देते थे। 1878 में इस सभा ने अपना अन्तिम, अर्थात् वर्तमान रूप धारण किया। उसका नाम रक्खा गया—'मुक्ति फ़ौज' (Salvation Army) और उसके नेता बने 'जनरल' बूथ।

पहले लोगों ने मुक्ति-फ़ौज का बड़ा ही प्रबल विरोध किया। इस फ़ौज के 'सैनिकों' का नया ढंग और नया रंग देखकर लोग भयभीत से हो गये। जहाँ ये 'सैनिक' गा गा कर धर्म्मोपदेश करना चाहते वहाँ लोग इतना ऊधम मचाते और इन्हें इतना तंग करते कि लाचार होकर इन लोगों को वहाँ से खिसक जाना पड़ता। लड़के इन्हे राह चलते चिढ़ाते, लोग इनकी पोशाक की हँसी उड़ाते, और गली-गली, घर-घर में इनके से बाजे बजा बजा और गा गा कर इनके उपदेश देने के ढंग का मखौल उड़ाते। कोई इन्हें पागल कहता, कोई मूर्ख ! कोई इन्हे ढोंगी बतलाता, कोई ठग ! केवल इतना ही नही, लोगों ने भी एक फ़ौज तैयार की जिसका नाम रक्खा—'Skeleton Army' (ठठरी फ़ौज) इसका उद्देश 'मुक्ति-फ़ौज' को तोड़ देना था। बहुत दिनों तक ऐसी ही अवस्था रही। अन्त में लोग इनकी दृढ़ता और सुजनता के क़ायल हो गये। बडे बड़े विज्ञानवेत्ताओं और राजपुरुषों तक ने इनके कामों को सराहा। धर्म्मसंस्थाओं के नेता भी आगे बढ़े। उन्होंने 'मुक्ति-फ़ौज' की प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया। स्वर्गीय सम्राट् एडवर्ड, महारानी अलेगज़ेन्ड्रा, जापान के भूतपूर्व सम्राट्, संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसीडेन्ट आदि बड़े-बड़े पुरुषों ने जनरल बूथ और उनके कामों की जी खोल कर प्रशंसा की।

मुक्ति-फ़ौज का काम इंगलैंड ही में परिमित न रहा। वह शीघ्र ही संसार-व्यापी हो गया। 1886 में, संयुक्त राज्य अमेरिका में, और 1881 में आस्ट्रेलिया में, उसकी शाखाये स्थापित हो गई। थोड़े ही दिनों में योरप के अन्य राज्यों में भी मुक्ति-फ़ौज के अड्डे बन गये। 1911 के सितम्बर मास तक मुक्ति-फ़ौज का प्रचार संसार के भिन्न भिन्न 59 देशो में हो गया और उसकी पुस्तकें लगभग 34 भाषाओं में छप गई। इस समय उसकी शाखायें 8582 स्थानो में हैं, परन्तु उसका केन्द्र लन्दन ही में है। केवल ब्रिटिश द्वीपो ही में उसके लगभग सवा लाख 'सैनिक' और दो करोड़ की सम्पत्ति है। उसकी ओर से 'All The World' नाम का एक मासिक पत्र भी निकलता है, जिसमें सब शाखाओं का हाल प्रकाशित होता रहता है।

हमारे देश में भी मुक्ति-फ़ौज के कितने ही अड्डे हैं। यहाँ इसका काम बड़ी धूम से चल रहा है। यहाँ इस फ़ौज के ढाई हज़ार तो केवल अफ़सर ही हैं। अन्य काम करने वालों की संख्या लाखों तक पहुँची है। हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, बँगला, गुरमुखी, तामिल, तेलगू आदि कितनी ही भारतीय भाषाओं में उसकी पुस्तकें छप चुकी हैं। फ़ौज की ओर से कितनी ही प्रारम्भिक पाठशालायें खुल चुकी हैं, जिनमें दस हज़ार से अधिक बच्चे शिक्षा पाते हैं। गाँवों में छोटी छोटी बैंकें खोली गई हैं; और, इस प्रकार

किसानों से मेल बढ़ाया गया हैं। मुक्ति-फ़ौज के कितने ही सैनिक देहात में रहने और वहाँ दुकानदारी करने लगे हैं। भारत की औद्योगिक उन्नति की तरफ भी इस फ़ौज का ध्यान है। सैकड़ों करघे जुलाहों को कम मूल्य पर दिये गये हैं और कपड़ा बुनना सिखलाने के लिए कितनी ही पाठशालायें भी खोली गई हैं। क़ैदियों और अन्य ज़रायम-पेशा जातियों के सुधार में इस फ़ौज को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। दुर्भिक्ष के समय भी मुक्ति-फौज वालों ने बुभुक्षित लोगों को भोजन तथा सस्ते भाव पर अन्न देकर बड़ा काम किया है। ये लोग देशी वेश ही में रहते हैं। इसी से ये इतना काम भी कर सके हैं।

1890 में जनरल बूथ ने 'In darkest England and the way out' नाम की पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने पतित लोगों की अवस्था सुधारने के कितने ही उपाय बतलाये। लोग उनका काम तो देख ही चुके थे; उनके प्रस्तावों को पढ़ते ही धड़ाधड़ चन्दा दे चले। थोड़े ही दिनों में पन्द्रह लाख रुपये मिल गये। काम आरम्भ हो गया। स्थान स्थान पर आश्रय-हीन लोगों के लिए सेवाश्रम खोल दिये गये। मुक्ति-फ़ौज द्वारा सुधारे गये पतित लोगों के निवास के लिए भी प्रबन्ध किया गया। समुद्र के किनारे और अन्य ग़ैर-आबाद स्थानों में वे बसा दिये गये। आश्रयहीन और पतित लोगों में मुक्ति-फ़ौज ने जो काम किया उसका अनुमान इस बात से भली भाँति किया जा सकता है कि अकेले 1909 में, 6425 आदमियों ने फौज की शरण ली और 2559 स्त्रियों और लड़कियों ने सेवाश्रम में स्थान पाया। शरण में रहने वाले लोगों का धर्म्म और सदाचरण की शिक्षा दी जाती है और उनसे फ़ौज द्वारा संचालित कारख़ानों में काम लिया जाता है।

जनरल बूथ शायद ही इतने बड़े काम को अकेले कर सकते यदि उन्हें अपने ही जैसे दृढ़ विश्वासी और निरन्तर परिश्रम करने वाले सच्चे हृदय के साथी न मिलते। उनकी धर्म्मपत्नी केथराइन बूथ ने भी इस काम में उनका साथ दिया। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यदि देवी केथराइन आरम्भ में दरिद्रता का सामना करती हुई अपने पति की सहायता न करतीं तो आज संसार में मुक्ति-फ़ौज का अस्तित्व ही न होता। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीमती केथराइन अन्त समय तक मुक्ति-फौज का काम बड़े उत्साह से करती रहीं। वे इस आन्दोलन की एक स्तम्भ समझी जाती थीं। 1890 में उनका देहान्त हुआ। उससे मुक्ति-फ़ौज के काम को बड़ा भारी क्षति पहुँची। अभी बूथ इस धक्के से सँभलने भी न पाये थे कि उनके ऊपर और भी कुटुम्ब-सम्बन्धिनी विपत्तियाँ टूट पड़ीं। उनकी एक लड़की रेल से कट गई। उनका दूसरा पुत्र उनसे लड़ कर अमेरिका पहुँचा वहाँ उसने अपने पिता के ढंग का एक नया दल बनाया। इन सब पारिवारिक दुखों को बूथ बड़े साहस से सहन करते और निरन्तर अपना काम करते रहे।

जनरल बूथ बड़ी ही सादगी से रहते थे। वे आहार और विहार की उचित सीमा का बहुत ख़याल रखते थे। वे निरामिष-भोजी थे। शराब और तम्बाकू वे न पीते थे। उनके जितने काम थे सब नियत समय पर होते थे। नियमपूर्वक रहने के कारण ही

उनका शरीर सुदृढ़ था और वे अस्सी वर्ष की अवस्था में भी मोटर गाड़ी द्वारा हज़ारों मील की यात्रा करने में कष्ट-बोध न करते थे।

83 वर्ष की उम्र में, गत 20 अगस्त 1912 को, 47 घन्टे अचेत रहने के पश्चात्, इस महात्मा का देहान्त हो गया। इंगलैंड भर में शोक छा गया और छोटे बड़े सब प्रकार के आदमियों ने इस जातीय शोक में साथ दिया। सम्राट् जार्ज और अन्य बादशाहों ने मुक्ति-फ़ौज से, उसकी इस क्षति पर, अपनी समवेदना प्रकट की।

जनरल बूथ के बड़े बेटे, ब्रामवेल बूथ, अब पिता की गद्दी पर बैठ कर मुक्ति-फ़ौज का काम चला रहे हैं। वही अब इस फ़ौज के प्रधान नायक हैं।

[अक्टूबर, 1912 में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

अध्यापक एडवर्ड हेनरी पामर

पाश्चात्य देशों में पूर्वी भाषाओं के जानने वाले विद्वानों की कमी नहीं, परन्तु इस प्रकार के विद्वानों में बहुत ही थोड़े ऐसे निकलेंगे जिन्हें उस पूर्वी भाषा में, जिसके वे धुरन्धर ज्ञाता कहलाते हैं, बोलने का भी वैसा ही अभ्यास हो जैसा उन्हें उसके लिखने-पढ़ने का है। पूर्वी भाषाओं के पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे बड़े भारी संस्कृतज्ञ थे। परन्तु सुनते हैं, नीलकण्ठ शास्त्री गोरे ने उनसे संस्कृत में भाषण किया तो वे उनकी बात ही न समझ सके। उन पाश्चात्य विद्वानों में, जो अपनी अभिमत पूर्वी भाषा लिख भी सकते हों और बोल भी सकते हों, अध्यापक पामर का आसन बहुत ऊँचा है। वे अँगरेज़ी फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, लैटिन, ग्रीक आदि योरप की कितनी ही भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी और उर्दू इन तीन पूर्वी भाषाओं को भी बहुत अच्छी तरह जानते थे। उनमें यह एक ख़ास गुण था कि वे जिन-जिन भाषाओं को जानते थे उनमें वे अपनी मातृभाषा ही की तरह बोल भी सकते थे।

एडवर्ड हेनरी पामर का जन्म सन् 1840 ईसवी की सातवीं अगस्त को, केम्ब्रिज नगर में, हुआ। शैशवकाल ही में उनके माता और पिता दोनों उन्हें अनाथ करके चल बसे। उनके पिता की बहन ने उनका लालन-पालन किया। जब वे कुछ बड़े हुए तब पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजे गये। लड़कपन ही से उन्हें अन्य भाषायें सीखने का शौक़ था। पाठशाला से उन्हें जो समय मिलता उसमें उन्होंने गिप्सी लोगों की भाषा सीख ली। जो पैसे उन्हें जेब-ख़र्च के लिये मिलते उन्हें वे लोगों को दे-देकर रोमेनी भाषा की शिक्षा प्राप्त किया करते। थोड़े ही दिनों में उन्होंने उस जंगली भाषा के शब्दकोष को रट डाला। गिप्सियों के डेरों में जा-जाकर और उनसे उनकी भाषा ही में बात-चीत करके उन्होंने शीघ्र ही वह भाषा बोलने और समझने का इतना अभ्यास कर लिया कि वे असभ्य से असभ्य गिप्सी के भाषण को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेने लगे। रोमेनी सीखने का फल यह हुआ कि उन्हें गिप्सी लोगों के आन्तरिक जीवन की बहुत सी बातें मालूम हो गईं और वे भी उनसे निःसंकोच मिलने और उनसे बातचीत करने लगे।

पामर अधिक काल तक पाठशाला में न रह सके। पढ़ना छोड़ते ही उन्होंने लन्दन के एक सौदागर के यहाँ नौकरी कर ली। जो समय मिलता उसमें उन्होंने फ्रेंच और इटालियन भाषाओं का अध्ययन आरम्भ कर दिया। यद्यपि उन्हें पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक़ था; परन्तु वे कोरे किताबी कीड़े न थे। विदेशी भाषाओं के सीखने में उन्होंने पुस्तकों का विशेष आश्रय न लिया। जिस भाषा को वे सीखते उस भाषा के बोलने वालों के समाज में वे फ़ुरसत पाते ही पहुँच जाते। उनमें एक बड़ा भारी गुण यह था कि वे अपरिचित आदमियों से, चाहे वे जिस देश के हों, चाहे जो भाषा बोलते हों, बड़ी जल्दी

घनिष्ठता पैदा कर लेते थे। इटालियन और फ्रेंच भाषा के वे शीघ्र ही पण्डित हो गये। नौकरी करने और विदेशी भाषायें सीखने से जो समय मिलता था उसे वे खेल-तमाशे में बिताते थे। वे नाटक बहुत देखते थे। कभी-कभी नाटक खेलते भी थे। यार-दोस्त भी उनके कम न थे। वे उनसे भी मिलने जाया करते थे। इस पर भी उन्हें फ़ोटोग्राफी, मेस्मरेज़म और लकड़ी पर नक़्क़ाशी का काम सीखने के लिए भी समय मिल ही जाता था।

1860 में उनकी भेंट, केम्ब्रिज में, सैयद अब्दुल्ला से हुई। सैयद अब्दुल्ला अवध प्रान्त के निवासी थे। वे अरबी, फ़ारसी और उर्दू के विद्वान थे। विलायत में लोगों को वे इन्ही तीनों भाषाओ की शिक्षा दिया करते थे। थोड़े ही दिनों के परिचय से अब्दुल्ला पर पामर की बड़ी श्रद्धा हो गई। वे भी उनसे पूर्वोक्त तीनो भाषायें पढ़ने लगे। पामर की बुद्धि बड़ी ही विलक्षण थी। वे मिलनसार भी परले सिरे के थे। वे जिससे मिलते वह उनके गुणों पर मुग्ध हो जाता। लखनऊ के शाही खानदान के नवाब ईक़बाल उद्दौला उनसे भेंट करके बड़े प्रसन्न हुए। नवाब साहब बड़े ही विद्या-रसिक थे। पामर के विद्या-प्रेम से वे इतने खुश हुए कि तीन वर्ष तक, जब तक वे विलायन में रहे, उन्होंने पामर को अपने ही पास रक्खा और उनकी हर प्रकार से सहायता की। विलायत प्रवासी अन्य कितने ही मुसलमान विद्वानों ने भी पामर की विलक्षण बुद्धि पर मुग्ध होकर उनकी बहुत कुछ सहायता की। पामर भी दिन और रात, अठारह-अठारह घण्टे, अरबी, फ़ारसी और उर्दू पढ़ा-लिखा करते। रात बीत जाती और प्रातःकाल का प्रकाश सर्वत्र फैल जाता; परन्तु वे अपनी पुस्तक न बन्द करते!

1863 में पामर केम्ब्रिज के सेंट जान्स कालेज में भरती हुए। वहाँ की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद, 1867 में, वे अपनी फ़ारसी और उर्दू की योग्यता के कारण, वहाँ के 'फ़ेलो' चुन लिये गये। 'फ़ेलो' नियत होने से उनकी आमदनी कुछ बढ़ गई और उनकी अर्थ-कृच्छ्रता जाती रही।

1870 में, सन्आ (अरब) प्रदेश की नाप-जोख के लिए कुछ लोगों को भेजने की आवश्यकता गवर्नमेंट ने समझी। उस समय एक ऐसे आदमी की भी आवश्यकता हुई जो उस देश की भाषा, अरबी, बहुत अच्छी तरह जानता हो और वहाँ की बातो, नामों, दन्तकथाओं और बीजको को अच्छी तरह पढ़ और समझ सकता हो। यह काम पामर को मिला। इसे उन्होने बहुत अच्छी तरह निबाहा। सन्आ प्रदेश से लौटने पर, वहाँ की छानबीन पर, उन्होंने दो उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की।

1871 में पामर अरबी के अध्यापक हो गये। उसी वर्ष उन्होने अपना विवाह भी किया, परन्तु वे विवाह से सुखी न हो सके। उनकी स्त्री को क्षय-रोग हो गया। स्त्री के इलाज में पामर ने अपना सारा धन फूंक दिया और ऋणी भी हो गये; परन्तु वह न बची। 1879 में उन्होंने अपना दूसरा विवाह किया। 1870 से लेकर 1881 तक बहाउद्दीन की कविता, अरबी का व्याकरण, कुरान का अनुवाद, फ़ारसी का कोश, फ़ारसी-अँगरेजी-कोष, हाफ़िज़ शीराजी की कविता, खलीफ़ा हारूनुर्रशीद की जीवनी आदि कोई बीस छोटी-बड़ी पुस्तकें उन्होने लिखीं।

1881 में ईजिप्ट में घोर विप्लव हुआ। विप्लवकारियों का मुखिया था अरबी पाशा। वह आसपास की असभ्य मुसलमान जातियों को जिहाद के उपदेश द्वारा अँगरेज-अधिकारियों के विरुद्ध भड़काने लगा। इंगलैंड के राजनीतिज्ञ इस बात से बड़े चिन्तित हुए। उन्हें भय हुआ कि यदि असभ्य जातियाँ अरबी पाशा से मिल गईं तो स्वेज की नहर की ख़ैर नहीं, और साथ ही ईजिप्ट देश से भी हाथ धोना पड़ेगा। पामर की योग्यता की ख्याति देश भर में फैल चुकी थी। सनूआ जाकर और वहाँ निर्दिष्ट काम करके उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया था कि अरबी बोलने वाली असभ्य जातियो से काम निकालने में उनसे अधिक चतुर देश भर में कोई नहीं। अतएव गवर्नमेंट की नजर इन्हीं पर पड़ी। काम बड़ा कठिन था। ईसाइयों के विरुद्ध भड़की हुई असभ्य जातियों को अरबी पाशा से न मिल जाने का इन्हें उपदेश देना था। परन्तु पामर अच्छी तरह जानते थे कि इस काम के लिए कार्य्य-दक्षता के अतिरिक्त अरबी की बड़ी भारी योग्यता की भी आवश्यकता है और सिवा उनके और किसी से यह काम न हो सकेगा। यह सोचकर वे ईजिप्ट गये। उस देश की और उसके आसपास के प्रदेशों की असभ्य जातियों और उनके सरदारों से मिलकर इस बात की चेष्टा करते रहे कि वे अरबी पाशा से न मिलें। पामर ने इस काम में बड़ा साहस प्रकट किया। काफ़िरों के खून की प्यासी असभ्य जातियों को रक्तपात करने से मना करना, या उन्हें रुपये के बल से शत्रु के साथ मिल जाने से रोकने की चेष्टा करना, कम साहस का काम न था। पर इस काम में पामर को बहुत कुछ सफलता हुई। यात्रा समाप्त करके वे स्वेज़ पहुँच गये; परन्तु वे वहाँ अधिक दिन न ठहर सके। उन्हें कुछ आदमियो के साथ इन असभ्य जातियों के प्रदेश में पहले से भी गुरुतर कार्य्य करने के लिए फिर जाना पड़ा। इसी यात्रा मे, जब वे अपने साथियों सहित ऊँटो पर सवार एक जंगल से होकर जा रहे थे, बहुत से अरबों ने उनके ऊपर आक्रमण किया और उन्हें और उनके साथियो को मार डाला। अपने देश की सेवा करता हुआ यह विद्वान् संसार से, इस प्रकार, निर्दयता-पूर्वक, छीन लिया गया।

लेख यद्यपि बढ जायगा तथापि, यहाँ पर, पामर साहब के लिखे हुए उर्दू और फ़ारसी के गद्य-पद्यात्मक लेखों के कुछ नमूने देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

आक्सफ़र्ड-विश्वविद्यालय में जी०एफ़० निकोल साहब, एम०ए०, अरबी भाषा के अध्यापक थे। मालूम नहीं इस समय वे जीवित है या नही। वे संस्कृत और फ़ारसी के भी विद्वान् थे। पामर साहब से और उनसे मित्रता थी। उन्होंने फ़ारसी के मशहूर शायर जामी और हाफिज की तारीफ़ मे कुछ कविता फ़ारसी में लिखकर पामर साहब को देखने के लिए भेजी। पामर को वह पसन्द न आई। उसे देखकर आपने एक व्यंग्य-पूर्ण कविता लिखी और निकोल साहब को भेज दी। उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

तू मीदानी ज़े क़ितमीरो नक़ीरम
कि अज़ तहरीरे खुद मन दर नफ़ीरम।
न मीआयद मरा रस्मे किताबत
चे मी पुरसी ज़े इनशाये ज़मीरम?

दवात अंगुश्ते हैरत दर दहानस्त,
पये तहरीर गर मन ख़ामा गीरम।
हमीं क़िरतास मीपेचद ज़े ग़ुस्मः
गरश बहरे नविश्तन् नामा गीरम।
कलमदां मीनुमायद मीना रा चाक
कि मन दर ज़ेबे नादाँ जाय गीरम।
जनम गर दस्त दर आग़ोशे मज़मूँ
जवानी कै नुमायद अक़्ले पीरम?
फ़क़ीराना सवाले फ़िक्र दारम,
कि पेशे फिक्र कमतर अज़ फ़क़ीरम।
चे मीकावी जिगर बेहूदा पामर
हमी बाशद निदाहाये मरीरम।
पये तहरीर हालाते जरूरी
मगर वक़्ते जरूरत ना गुजीरम।
मनो इनशाओ इमलायम हमा पूच
पज़ीर ई क़ौले मन ऐ दिल पजीरम।
मनेह् बर दोशे मन वारे दबीरी
हक़ीरम मन हक़ीरम मन हक़ीरम।

अपने ऊपर डालकर पामर ने निकोल साहब की फ़ारसी की ऐसी ख़बर ली कि स्वयं निकोल साहब को पामर की कविता और फ़ारसी की योग्यता की प्रशंसा करनी पड़ी। पामर के फ़ारसी-गद्य के नमूने के तौर पर उस पत्र का कुछ भाग उद्धृत किया जाता है जिसे उन्होंने अपने मित्र और शिक्षक सैयद अब्दुल्ला को लिखा था—

बिरादरे आली जनाब, फ़ैज़माब, वाला ख़िताब, ज़ो उल् मज्द वल उला सैयद अब्दुल्ला साहब दाम इनायतहू। अल्लाह अल्लाह। ईंचे तहरीर हैरत अफ़ज़ा अस्त कि अज़ किल्के मरवारीद-सिल्के आँ वाला—हमम सरजद। सबबे अदमे तहरीर मुहब्बत नामैजात न ग़फ़लत न तसाहुल बल्कि हक़ीक़त हाल ईं अस्त कि दर तसनीफ़ किताबे सैरो सैयाहीए अरब व तरतीबे नक़शा जात हर दियार व अम्सार व हवाली बहरो बर्र कि गुजरम वर आँहा उफ़तादा व हालाते तवारीख़े पास्तानी बक़ाये व कैफ़ियाते औक़ाते सफ़र व हज़र ख़ुद व दीगर सवानह अज़ हुक्मे हाकिमाने मदरसा बराय ..ददाश्त वर सफ़हात लैलो निहार हमातन मशग़ूलअम। व शर्त ई अस्त कि दर हमी साल अज हुलयाय तबा मुकम्मल शवद। ज़्यादा अज़ दो हज़ार अवराक़ तक़्तीय कार तमाम शुदन्द। अलावा तसनीफ़ तसहीहे अवराक़े मसवदाते मतबा दराँ शबरा बरोज़ व रोज़रा बशब बसर मीबरम। कमाल इहतियात ज़रूर अस्त कि गुफ़्ताअन्द "من حفظ فقد استراح" आहुगीराने बेकार दिल-आज़ार कि नुक्ता-

चीनी ख़्वाहन्द कर्द अज़ अव्वल इस्लाहे कार बायद कर्द। पस चिगूना अज़ तरफ आँ बिरादर कि उस्ताद व मुहसिन व मुरब्बी ईं हेंच मेयुर्ज़ बर दिले मोहब्बत मंज़िलम गुबारे कुदूरत व मलाल जाँ गीरद-बजुज लुत्फ़ो इनायत चे करदह आयद कि मन ख़ुदा न ख़्वास्ता नाख़ुश शवम। बहर कैफ़ लायक़ अफ़ू व उज़रम न क़ाबिले ज़जूर चरा कि दिलम अज़ मुहब्बते शुमा मदाम मामूर अस्त। राह अगर नज़दीक व गर दूरस्त।

दिल जुदा दीदा जुदा सूय तू परवाज़ कुनद।
गरचे मन दर क़फ़सम बाल व परम बिसयार अस्त।

पामर साहब फ़ारसी-गद्य और पद्य तो अच्छा लिखते ही थे—उर्दू-गद्य और पद्य लिखने में भी वे सिद्ध-हस्त थे। नीचे उनकी एक उर्दू कविता उद्धृत की जाती है, जिसे उन्होंने सैयद अब्दुल्ला की एक कविता देखकर उसी के वजन पर लिखा था। सैयद अब्दुल्ला ने इस कविता के विषय में कहा था कि इसमें संशोधन की कुछ भी आवश्यकता नहीं और योरप भर में कोई आदमी ऐसी कविता नहीं लिख सकता—

चूंकि है हमदे ख़ुदा ताजे सरे नुतक़ो बयाँ
चत्र-नअते ईसये गरदूं नशी हो सायबाँ,
क्या अजब बरसाये अख़्तर के जवाहिर आसमाँ
कहकशां के जौहरी बाजार से हों शादमाँ,
मोरछल ताऊस लाये और कलग़ी ख़ुद हुमा
दे ज़रे गुल की बनी पोशाक पुर ज़र बोस्ताँ
बोतलें गुंचे बनें गुलहाय गुलशन हों गिलास
और गुलाबी होय बस रंगे बहारे गुलसिताँ।
शाहिदे ताज़े चमन रक़्क़ासा होकर आयें फिर
दे इन्हें अक़दे सुरैया का वह झुमका आसमाँ।
सब जवानाने चमन गायें बजाये पेश गुल
नग़मये बुलबुल को सुन चक्कर मे आये बाग़बाँ।
यों सदा निकले बहम मिलकर बजाये साज़ जब
धूम दर पर धूम दर पर, दर पै तेरे शादियाँ।
कहकशाँ तो हो सड़क ज़र्रात तावाँ हों नुजूम
रोशनी में उसपै सैयारों की दौड़े बग्घियाँ।
आसमाँ बन जाय पुल ख़ुरशैद व मह हों लालटेन
और बजाये सिलसिला तारे शुआयी हों अयाँ।
चर्ख़ बन जाये अमारी बर्क़े तावाँ झूल हो,
फ़ील हो अब्रे सियः और राद होवे फ़ीलबाँ।
धुन में मस्ती की हवा पर जब चले वह झूम झूम
मौजे दरिया उसकी बेड़ी हो क़दम कोहे कलाँ।

हम-रकाबे अबलके दौरां हो यह सारा जुलूस
और सवारी में मेरे ममदूह की होवे रवाँ।
कौन है वह साहबे इक़बाल व इज्ज़त नार्थकोर्ट
रायट आनरबुल सर इस्टफर्ड ममदूहे ज़माँ।

पामर का उर्दू मे भी अच्छा दख़ल था। वे जिस भाव को चाहते उसे बड़ी ख़ूबी से अदा कर देते। विलायत हुसैन नाम के एक मौलवी ने उनके ऊपर यह दोषारोपण किया कि उन्होंने दीवाने-ख़ुसरो से कुछ कवितायें चुरा ली है। पामर ने इस विषय में अपनी सफ़ाई दी और अपने को निर्दोष सिद्ध किया। इसके बाद उन्होने उक्त मौलवी पर एक व्यंग्यपूर्ण कविता रचकर उसकी ख़ूब ख़बर ली। इस कविता का एक खण्ड नीचे उद्धृत किया जाता है। देखिए—

हाँ ग़ाज़िये मतला तू लगा नेगे दो दस्ती
शश पारा कर इस मौलवी का पैकरे हस्ती।
हाँ साक़िये दौराँ है दमे रिन्दी ओ मस्ती
हुशयार कि दम में न बलन्दी है न पस्ती।
न ख़ुम है न शीशा है न साग़र है न बादा
हर बार फ़िक्रे नशये जुरअत है ज़ियादा।
आ सामने यह गो है यह चौगां है यह मैदां
मैं इल्म हूँ तू जहल, मैं आदम हूँ तू शैतां।

इसे पढ़कर मौलवी साहब के होश ठिकाने आ गये। ड्यूक आव् ऐडिनबरा के विवाहोत्सव पर पामर ने एक मसनवी लिखी थी। उसका कुछ अंश सुन लीजिए—

किसकी यह शादी है किसकी यह फ़ौज
जोश मारे है यह किस दरिया की मौज।
तब कहा एक शख़्स ने तू इस क़दर
हाल से हैगा जहाँ के बेख़बर।
ड्यूक आव् ऐडिनबरा है जिसका नाम
धाक से लरज़े है जिसके रूम व शाम।
+ + +
सुन के यों बोला दोआ कर पामर
नित रहे इस शमा से पुरनूर घर।

1873 में फारिस के तत्कालीन शाह विलायत गये। उनकी इस यात्रा का सविस्तर हाल पामर ने उर्दू में लिखा। वह 'अवध-अख़बार' में निकला। इस लेख के कुछ खण्डों को हम, पामर के उर्दू-गद्य के नमूनों के तौर पर, आगे उद्धृत करते हैं।

शाह् फ़ारस की आमद

अब हर लमहा उम्मेदवारिये दीदारे फ़रहत आमारे शहर-यारे कामगार थी। कभी ख़बर उड़ती थी कि अब रेलगाड़ी शाही क़रीब आन पहुँची।

बस कि दर जाने फ़िगारम चश्मे बेदारम तुई
हर कि पैदा मी शवद अज़ दूर पिन्दारम तुई।

बावजूद गरमी और इन्तिज़ारी के एक तरह की चहल और जिन्दादिली सभों के दिलों पर छा रही थी कि एकाएक शिल्लक सलामी क़िलै लन्दन से बमुजर्रद छूने नाफ़े लन्दन के दनादन दग़ने लगीं। अब कोई दक़ीक़ा की बात बाक़ी न रही। लेडियाँ मुअज्ज़ज़ महवश रश्केहूर, एकबारगी जैसे कोई कल को खींचता हो. उठ उठ खड़ी हुईं कि ट्रेन शाही भी, जैसे कि मिहर अज़ मतलै अनवार दर आयद, तालै हुई। रोज़े इन्तिज़ार आख़िर और शाने इज़तिरार को सहर—

दोबारा लब न कुशायद सदफ़ ब अबरे बहार,
करीम सायले ख़ुदरा ग़नी कुनद एकबार।

एक हलचल सी हुई। हत्ता कि गाड़ियो के घोड़े भी टापें मारने लगे और सभों की आँखें नरगिसवार एक तरफ़ तरतीबवार जम गई।

इटालियन आपेरा के तमाशे में शाह् का जाना

तो क्या देखते हैं कि सात सौ परीज़ाद गुलअन्दाम मिहर-चेहरा ज़ुहरा-जबी माह-तावाँ व ख़ुरशेदे-दरख़्शाँ उनपै शैदा है। हर एक पनी हाय ज़मुर्रद और मरवारीद और इल्मास टके लगाये हुए थी। ज़्याये गयास में ऐसा मालूम होता था कि हज़ारो माहताब निकले है। जो जो राग और स्वाँग और करतब और तमाशे दिखलाये कि बादशाह और हमराही हैरान हो गये। इलाही यह ख़्वाब है। ये सचमुच के आदमज़ाद हैं या परियों का अखाड़ा उतरा है। ख़ुसूमन जब परियाँ तार के ज़ोर से मिस्ल तायरों के उड़ती थीं यकायक बादशाह और सब हमराही के ज़बान से 'वाह', 'वाह' की सदा बलन्द हुई। अगर शिम्मा उसका बयान लिखूँ तो क़लम विशिकन, स्याही रेज़, काग़ज़ सोज़, दम दरकश का आलम हो।

अलबर्ट हाल मे शाह की तारीफ़ में गाये गये अँगरेजी गीतों का पामर द्वारा किया गया फ़ारसी पद्य में अनुवाद

(1)

मुबारक मुबारक सलामत शहा,
मुबारक मुबारक सलामत शहा,
बुबीं आमद अज़ मुल्के ईराँ ज़मीं,
शहे नामवर बा जलाले मुबीं।

बदौरश ख़लायक़ गिरफ़ता हुजूम,
सदाये खुशी ख़ास्त हरसू उमूम,
चे खुल्क़े कि अज़ दस्ते फ़ैज़ाने शाह,
ज़े अकलो ज़े दानिश शवदरु बराह।

(2)

मुबारक मुबारक सलामत शहा।
सदाये रसीदा ज़े चर्ख़े बरी,
मुबारक शहा मक़दमे ई ज़मी,
जवाबे रसीदा जे अफ़लाक बाज़,
मुबारक शलामत शहे बेनियाज।
शहे पारिस आमद ज़े शुकरे अयाँ,
न अज़ क़स्दे तस्ख़ीरे मुल्को जहाँ,
मगर ई कि हामिल कुनद नामे नेक,
शवद अज़ सखावत सर अंजामे नेक।
गुजारद हमी तेगे खुद दर गिलाफ़,
कि सुलहो अमाँ वेह ज़ेलाफ़ो गज़ाफ़,
बख़्वाहद कि मानिन्दे शाहंशहा,
व मानद बसे नामेऊ दर जहाँ।

एक दिन शाह गुप्त रीति से शीश महल (Crystal Palace) देखने गये। उनका सादा वेश देखकर लोगों ने उन्हें शाह का कोई नौकर समझा। पामर ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

बादशाह मे बज़रिये मुतरजिम, जो फ़रासीसी ज़बाँ जानता था, पूछा कि तुमको बादशाह की सरकार में कौन ओहदा है। बादशाह ने फ़रमाया—ख़िदमतगारे ख़ास और मोतमदअलेह। और, चन्द हमराहियों ने कहा कि बादशाह इन पर बहुत एतमाद रखते है। सदहा महलक़ा दुख़्तरान फ़रंग ने इश्तियाक़ गर्मजोशी और लमसे अनामिल फ़ैज़शवामिल ज़ाहिर किया। अक्सरों को आला हज़रत ने सरफ़राज़ फ़रमाया।

पामर से शाह की भेंट

फिर हाल इस बे-परोबाल का पूछा और फरमाया—'निज़्द बया—कुजा फ़ारसी ओ अरबी याद गिरफ़्ता ?'

पामर—'फ़ारसी अज सैयद अब्दुल्ला व अरबी अज़ अरबाँ दर ई जा व हम दर अरबरफ़्ता आमोख़तम्।'

फ़रमाया कि—'मन शनीदाअम तू शायरे फ़ारसी हस्ती।'

पामर—'ई हेचमदाँ कम कम मीगोयद, न लायक़े समाअते बन्दगाने आला हज़रत।'

बहुत हँसे। बादहू पूछा—'ईं कारे मुदर्रिस अज़ तरफ़ कीस्त ?'

पामर—'फ़िदवी ख़ास मुदर्रिस अज़तरफ़ मलिकँ मुअज़्ज़मा इंगलैंड अस्त व ईं ओहदा मुखत्तस अज़ तरफ़े मलिका मायानस्त।'

शाह—'चन्द तलामिज़ा मीदारी ?'

पामर—'बिलफ़ैल हमा ब औताने ख़ुद रफ़्ता अन्द कि अय्यामे तातील अन्द।'

आला हज़रत निहायत खन्दँ पेशानी से हँस हँसके कलाम फ़रमाते रहे और ज़रा ग़ुरूर और नख़वत का नाम नहीं। और सूरत से आसारे सुलतानी व रोवे क़हरमानी और जहूर मकरमते जिल्ले सुबहानी पदीदार थे। सुब्हान अल्लाह ! क्या कहना है। हम लोग मुरख़्ख़स हुए तो रोजनामचा-निगार ने हमारे नाम और निशान दर्ज नामच किये और दस्तख़त उसमें दर्ज करवाये।

प्रशंसा-पत्र

अब हम थोड़े से प्रशंसा-पत्रों का हिन्दी अनुवाद नीचे देते हैं, जो पामर को लोगों ने उनकी योग्यता पर मुग्ध होकर दिये थे।

सैयद ग़ुलाम हैदर ख़ाँ साहब का लिखा हुआ प्रशंसा-पत्र

[1]

एडवर्ड हेनरी पामर साहब के लिखे हुए अरबी, फ़ारसी और उर्दू के निबन्धों की भाषा की शुद्धता और सुन्दरता को पूर्णतया सिद्ध करने के लिए मैंने उनके निबन्धों को लखनऊ के उलमा, अध्यापकों और साहित्य-सेवियो की एक बड़ी सभा करके, 1 जून 1867 को, उसके सामने पेश किया। उन सज्जनों की सहायता से उन निबन्धों की भाषा की शुद्धता और सरलता पर विचार हुआ। अब मैं इस बात की तसदीक करता हूँ कि इन निबन्धों की भाषा बहुत ही शुद्ध और सुन्दर है और उनकी भाषा में और उस भाषा में जो इस देश वाले काम में लाते हैं—भाव दरसाने, उपमा देने या शब्दों का प्रयोग करने में कोई अन्तर नहीं है। मैं इस बात की भी तसदीक़ करता हूँ कि पामर साहब को पूर्वोक्त तीनों भाषाओं में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त है।

(1) सैयद गुलाम हैदर,
इब्न मुंशी सैयद मुहम्मद ख़ाँ बहादुर।

(2) नवलकिशोर,
स्वत्वाधिकारी और सम्पादक 'अवध-अख़बार'

(3) सैयद अली इब्न सैयद अहमद साहब,
लखनऊ के शाही विश्व-विद्यालय के अध्यापक

[2]

केम्ब्रिज के सेंट जान्स कालेज के अध्यापक मिस्टर ई० एच० पामर मेरे मित्र हैं। कई साल तक उन्होंने मुझसे पढ़ा भी है। उनकी अध्ययनशीलता और विलक्षण बुद्धि पर

मुझे सदा आश्चर्य्य और हर्ष होता रहा है। अब मुझे इस बात को प्रकट करने में बड़ी खुशी होती है कि वे हिन्दुस्तानी, फ़ारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे पण्डित हो गये हैं और इन तीनों भाषाओं को बड़ी ही शुद्धता और सरलता-पूर्वक लिख और बोल सकते हैं।

29 जून 1866 — सैयद अब्दुल्ला,
लन्दन-यूनीवरसिटी कालेज के हिन्दुस्तानी
भाषा के अध्यापक
और
पंजाब के बोर्ड आव् एडमिनिस्ट्रेशन के भूतपूर्व
अनुवादक और दुभाषिये

[3]

मैं खुशी से सेंट जान्स कालेज के एडवर्ड हेनरी पामर साहब की अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी भाषा की योग्यता की तसदीक़ करता हूँ। मुझे इस बात तक के कहने में संकोच नहीं कि मुझे अपने जीवन भर में किसी ऐसे योरप-निवासी से भेंट नहीं हुई जो भाषाओं का इतना विज्ञ हो जितने कि पामर साहब हैं।

27 जून 1866 — मीर औलाद अली,
ट्रिनिटी कालेज, डब्लिन के पूर्वी भाषाओ के
अध्यापक

नीचे एक पत्र उद्धृत किया जाता है, जिसे पामर की एक ग़ज़ल सहित निजामुद्दौला बहादुर ने 'अवध-अख़बार' को भेजा था—

साहबे मन मुरब्बी मुश्फ़िक़ी हमदाँ फ़ख़्रे हिन्द अजीज़े दिलहाय अहले इंगलैंड सैयद अब्दुल्ला साहब बहादुर प्रोफ़ेसर ने मुक़ामे दिलकश लन्दन से अपने ख़त में यह क़न्दे मुकर्रर-खत मै गजल फ़ाजिल अजल्ल हकीम व जहांदीदा जहांआशना ख़ुल्के फख्रे इंगलिस्तान मिस्टर एडवर्ड पामर साहब बहादुर का मेरे पास इस गर्ज़ से भेजा है कि उनकी फ़ारसी ग़ज़ल से मैं भी लुत्फ़ उठाऊँ और उनके हाथ का लिखा देखकर हर्वेदाय सवादे ख़त से चश्मे जाँ को मुनौवर करूँ और बादहू वास्ते उलुल-अबसार अहले-हिन्द के बराय दर्ज़ अख़बार भेजूँ, ताकि अहले-हिन्द जानें कि माज परवरदा विलायते दूर दस्त इंगलैंड के वित्तवा ऐसे लायक़ फायक़ तब्बाअ मेहनती अमीर शायक होते है कि घर बैठे उलूम शरक़ी में, जिसमे अक्सर अहले मशरिक़ नो आरी व आतिल हैं, वे कमाल ख़ुदादाद हासिल करते है। सैयद साहब ने अपने ख़त में लिखा है कि ये साहब जवाँमाल जवाँबख़्त उलूम-दान निहायते योरप के सिवा जैस उलूमे मशरिक़ में दस्तगाह रखते हैं वैसे ही उसकी ख़त व किताबत और तहरीर व तक़रीर में यदेतूला। और तुरफ़ा यह कि मरज़ूक़िये तबा से शेर भी फ़रमाते हैं। चुनांचे ग़ज़ले सादी पर एक ग़ज़ल भेजी है कैसी लुत्फ़-अंगेज़ बल्कि हैरत-अंगेज़ है। इस क़ाबलियत के सिले में साहबे मौसूफ़ को, पन्द्रह सौ महीना का एक आला ओहदा बम्बई में मिलता है मगर अभी तअम्मुल है। जहे बख़्ते

हिन्द, जहाँ ऐसे लायक़ और आलिम कारफ़रमाँ हों। साहबे ममदूह से मेरा भी ग़ायबाना इत्तहाद बहुत बरसों से है। मगर उनका शौक़े इल्म व ज़बांदानी रोज़अफ़ जूँ ही सुनता हूँ। चुनांचे अब अरबी इल्म व ज़बाँ में भी कमाल हासिल कर लिया और खुद अरब जाकर नाम कर आये और अब उसकी तारीख़ लिख चुके है जिसका ज़िक्रे ख़ैर भी उनके ख़त में वाज़ेह है। खुदा उनके इल्म और उम्र में ख़ैर व बरकत दे। ज्यादा ज़्यादा वस्सलाम। मक़ाम दारुल मन्सूर, जोधपूर। मुहम्मद मरदान अली ख़ाँ ग़फ़रहू—दिमम्बर सन् 1871 ईसवी।

[जनवरी, 1913 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'विदेशी विद्वान्' में संकलित।]

बुकर टी० वाशिंगटन-1

मराठी-साहित्य में, हाल ही में, एक बहुमोल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। बम्बई के 'मासिक मनोरंजन' के नाम से हिन्दी जानने वाले अपरिचित नही हैं। इस पत्र के उत्साही सम्पादक, श्रीयुत काशीनाथ रघुनाथ मित्र, ने अपनी—'मनोरंजक ग्रन्थ-प्रसारक मण्डली' के कार्यालय से लगभग पौन सौ पुस्तकें प्रकाशित की है। जिस पुस्तक का और उसके आधारभूत जिस विषय का—अर्थात् बुकर टी० वाशिंगटन के चरित्र का—परिचय इस लेख में देने का संकल्प किया गया है उसका नाम है 'आत्मोद्धार'। यह उक्त मण्डली द्वारा इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और कोई भी पुस्तक प्रकाशित न होती, तो भी देश-हित की दृष्टि से उसका उद्देश सफल हो जाता। सचमुच 'आत्मोद्धार' ऐसा ही प्रभावशाली ग्रन्थ है। जो लोग उसको अपनायेंगे और उसमें लिखी हुई बातों पर कुछ ध्यान देंगे वे निस्सन्देह अपना उद्धार करने में समर्थ हो जायेंगे। इस ग्रन्थ के लेखक श्रीयुत नागेश वासुदेव गुणाजी, बी० ए०, एल्-एल्० बी० का नाम मराठी-साहित्य-सेवकों में बहुत प्रसिद्ध है। जब आपने बुकर टी० वाशिंगटन और उनके परोपकारी कार्य्यों का कुछ वर्णन समाचार-पत्रों में पढ़ा तब आपकी यह इच्छा हुई कि अमेरिका जाकर उस महात्मा का दर्शन-लाभ करें और उसकी संस्थाओं मे कुछ दिन रहकर अध्ययन करें। परन्तु द्रव्य के अभाव से आपकी यह सदिच्छा सफल न हुई। तब आपने यह निश्चय किया कि यदि शरीर द्वारा वहाँ नही जा सकते तो न सही, अन्तःकरण ही से बहुत सा काम किया जा सकता है। इसके बाद आपने पत्र-व्यवहार करके बुकर टी० वाशिंगटन के परोपकारी कार्य्यों के विषय में जानने योग्य सब सामग्री एकत्र की। वाशिंगटन के जीवनचरित की कुछ बाते 'आउट लुक' नामक मासिक पत्र मे प्रकाशित हुई थी। उन्हे पढकर उनके अनेक मित्र उनसे अपना आत्मचरित लिखाने का आग्रह करने लगे थे। उनकी पोर्शिया नामक लड़की ने भी कई बार इस विषय में उनसे आग्रह किया। तब उन्होंने 'Up from Slavery' नामक पुस्तक द्वारा अपना आत्मचरित प्रकाशित किया। 'आत्मोद्धार' इसी पुस्तक का मराठी-रूपान्तर है। इस मराठी पुस्तक में, ग्रन्थकार के एक मित्र की लिखी हुई 24 पृष्ठो की एक भूमिका है। उसमें 'आत्मोद्धार' के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की मार्म्मिक चर्चा की गई है। मराठी-ग्रन्थकार श्रीयुत गुणाजी का साहित्य-प्रेम तो प्रशंसनीय है ही; परन्तु इस ग्रन्थ की सामग्री एकत्र करने मे अपने दृढ निश्चय, धैर्य्य, यत्न आदि गुणों का भी परिचय दे दिया है। आपने मराठी भाषा की सेवा करने में जो उत्साह प्रकट किया है वह हम लोगो के लिए अनुकरणीय है। यह ग्रन्थ पढने से यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है कि जब मनुष्य अपने उद्धार के लिए स्वयं यत्न करने लगता है तब परमेश्वर भी उसकी सहायता करता है। आत्मोद्धार के लिए दृढ़ विश्वास और स्वावलम्बन ही की आवश्यकता है। बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित इस बात का

प्रत्यक्ष का उदाहरण है कि दृढ़ निश्चय और प्रयत्न से हबशी (नीग्रो) जाति का एक दास कितने ऊँचे पद पर पहुँच सकता है और परोपकार के कितने बड़े-बड़े काम कर सकता है। आत्मावलम्बन की तात्त्विक शिक्षा देने वाली सैंकड़ों पुस्तकों से जो लाभ न होगा वह 'आत्मोद्धार' की अद्भुत मूर्ति, बुकर टी० वाशिंगटन, के आत्मचरित से हो सकता है।

इस ग्रन्थ के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इस बात की सूचना कर देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि यदि इस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में किया जाय तो उससे देश का बहुत हित हो। अब बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित सुनिए।

दास्य-विमोचन

अफ्रीका के मूल निवासियों की नीग्रो (हबशी) नामक एक जाति है। सत्रहवीं सदी में इस जाति के लोगों को गुलाम बनाकर अमेरिका में बेचने का क्रम आरम्भ हुआ। यह क्रम लगभग दो सदियों तक जारी रहा। इतने समय तक दासत्व में रहने के कारण उन लोगों की कितनी अवनति हुई, उन्हें कितना भयंकर कष्ट उठाना पड़ा और उनकी स्थिति कितनी निकृष्ट हो गई, ये सब बातें इतिहास-ग्रन्थों से जानी जा सकती हैं। कुमारी एच०बी० स्टो ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—इन गुलामों को दिन भर धूप में काम करना पड़ता था। यदि काम में कुछ सुस्ती या भूल हो जाय तो ओवरसीयर उन्हें कोड़ों से मारता था। यहाँ तक कि उनके शरीर से लोहू बहने लगता था। रात को उन्हें पेट भर खाने को भी न मिलता था। एक छोटी सी झोंपड़ी में जानवरो की तरह वे रात भर बन्द कर दिये जाते थे'। केवल धन के लोभ से पति और पत्नी, भाई और बहन, माता और पुत्र में वियोग कर दिया जाता था। यदि कोई गुलाम अत्यन्त दुःखित होकर भाग जाते तो उनके पीछे शिकारी कुत्तों के झुण्ड दौड़ा दिये जाते थे। इतना अन्याय होने पर भी, आश्चर्य यह है कि पादरी लोग दासत्व के इस घृणित रिवाज का समर्थन, बाइबिल के आधार पर, किया करते थे। यद्यपि सन् 1783 ईसवी में अमेरिका में स्वाधीनता प्रस्थापित हो गई थी और यह तत्त्व मान्य हो गया था कि 'ईश्वर की दृष्टि से सब मनुष्य—काले और गोरे—समान और स्वतन्त्र हैं' तथापि अमेरिकन लोगों ने लगभग 100 वर्ष तक नीग्रो जाति के काले मनुष्यो की स्वाधीनता क़बूल न की! वे लोग नीग्रो जाति को 'मनुष्य' के बदले अपना 'माल' (Property) समझते थे! परन्तु कुछ विचारवान् और सहृदय महात्माओ के आन्दोलन करने पर यह मत धीरे-धीरे बदलने लगा। उत्तर अमेरिका की रियासतों ने अपने गुलामों को छोड़ दिया। परन्तु दक्षिण अमेरिका की रियासतों ने गुलामों को स्वतन्त्र करना मंजूर न किया। तब सन् 1860 में इन रियासतो में परस्पर भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। यह युद्ध चार-पाँच साल तक जारी रहा। उस समय महात्मा लिंकन अमेरिका की स्वतन्त्र और संयुक्त रियासतों के प्रेसिडेंट (अध्यक्ष-राजा) थे। आपका दृढ़ विश्वास था कि दासत्व से बढ़कर

और कोई पाप नही है ।[1] इसलिए आपने सन् 1862 के सितम्बर महीने में यह इश्तहार जारी किया कि "सन् 1863 के आरम्भ से अमेरिका में दासत्व की रीति बन्द कर दी जायगी !" इधर आपने युद्ध का भी ऐसा उत्तम प्रबन्ध किया कि दक्षिण-अमेरिका के सारे बाग़ी लोग हार गये। सन् 1865 ईसवी में पूर्वोक्त रियासतों में सन्धि हो गई। 1 जनवरी, सन् 1863 ईसवी के 'दास्य-विमोचन' के इश्तहार से नीग्रो जाति के तीस-चालीस लाख आदमियों को स्वाधीनता मिल गई। ये लोग महात्मा लिंकन को ईश्वर-तुल्य समझकर उसका यश गाने लगे।

बाल्यावस्था और विद्याभ्यास

बुकर टी० वाशिंगटन का जन्म, सन् 1858-59 में, एक अत्यन्त ग़रीब दास-कुल में हुआ। उनके बालकपन की दुःखदायक, उद्वेगकारक और निराशाजनक दशा की कुछ कल्पना ऊपर लिखी हुई बातों से की जा सकती है। जिस समय अमेरिका के सब दास मुक्त किये गये उस समय उसकी अवस्था तीन-चार वर्ष की थी। स्वतन्त्र होने पर उसके माता-पिता अपने बच्चों को लेकर कुछ दूर माल्डन नामक गाँव को, नमक की खान में मजदूरी करने के लिए, चले गये। वहाँ बुकर को भी दिन भर खान के भीतर नमक की भट्ठी में काम करना पड़ता था। यद्यपि बालक बुकर के मन में लिखना-पढ़ना सीखने की बहुत इच्छा थी, तथापि उसके पिता का ध्यान केवल कुटुम्ब के निर्वाह के लिए पैसा कमाने ही की ओर था। ऐसी अवस्था में शिक्षा-प्राप्ति की अनुकूलता नही हो सकती। इतने में उस गाँव के समीप ही नीग्रो जाति की शिक्षा के लिए एक छोटी सी पाठशाला खोली गई। जब बुकर ने अपनी जाति के सब बालकों को स्कूल में जाते देखा तब विद्यार्जन के लिए उसकी स्वाभाविक इच्छा और भी प्रबल हो उठी। पिता के विरोध के कारण काम छोड़कर वह पाठशाला में न जा सकता था। इसलिए मज़दूरी करने के बाद जब कुछ समय तक छुट्टी मिलती तब वह विद्याभ्यास किया करता था। इसके बाद वह रात को पाठशाला में पढ़ने लगा। इस काम के लिए उसे कभी-कभी तीन-तीन चार-चार मील पैदल चलना पड़ा। उसके आत्मचरित में लिखा है—"यद्यपि मुझे कई बार उदास और निराश होना पड़ा, तथापि मैंने शिक्षा-प्राप्ति का निश्चय कर लिया था।" इस निश्चय के अनुसार, सन् 1872 ईसवी में, वह अपने गाँव से सुदूरवर्ती हैम्पटन नगर के नार्मल स्कूल मे पढने गया। उस समय उसकी अवस्था तेरह-चौदह वर्ष की थी। उसको यह भी मालूम न था कि हैम्पटन कितनी दूर है। वहाँ तक जाने के लिए उसके पास पैसा भी न था। घर से निकलने पर उसे मालूम हुआ कि हैम्पटन 500 मील दूर है। मार्ग में उसे बहुत कष्ट सहना पड़ा। जब वह किसी बड़े शहर में पहुँचता तब मजदूरी करके कुछ कमा लेता और आगे बढ़ता। दो-दो दिनों तक उसको भूखा रह जाना पड़ा। रात को सड़क पर पटरी के किनारे वह सो रहता था। इस प्रकार अनेक दुःख और क्लेश भोगने पर वह हैम्पटन पहुँचा। वहाँ मुख्य अध्यापिका ने सबसे पहले

1. Cf. "If slavery is not wrong, nothing is wrong !"

उसे एक कमरे का कूड़ा झाड़ डालने को कहा और इस बात की परीक्षा ली कि वह शारीरिक मिहनत से घृणा तो नहीं करता। वह इस प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और वहीं विद्याभ्यास करने लगा।

हैम्पटन स्कूल के अध्यक्ष (प्रिंसपल) जनरल आर्मस्ट्रांग बड़े परोपकारी पुरुष थे। उनके प्रयत्न से यह स्कूल अमेरिका में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। इन्हीं के पास रहने के कारण चार वर्ष में बुकर टी० वाशिंगटन ग्रेजुएट हो गया। इस स्कूल में वाशिंगटन ने जिन बातों की शिक्षा पाई उनका सारांश यह है—

1—"पुस्तकों के द्वारा प्राप्त होने वाली शिक्षा से वह शिक्षा अधिक उपयोगी और मूल्यवान् है जो सत्-पुरुषों के समागम से मिलती है।"

2—"शिक्षा का अन्तिम हेतु परोपकार ही है। मनुष्य की उन्नति केवल मानसिक शिक्षा से नहीं होती। शारीरिक श्रम की भी बहुत आवश्यकता है। श्रम से न डरने ही से आत्मविश्वास और स्वाधीनता प्राप्त होती है। जो लोग दूसरों की उन्नति के लिए यत्न करते हैं—जो लोग दूसरों को सुखी करने में अपना समय व्यतीत करते हैं—वही सुखी और भाग्यवान् हैं।"

3—"शिक्षा की सफलता के लिए कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण (Hand, Head and Heart) की एकता होनी चाहिए। जिस शिक्षा में श्रम के विषय में घृणा उत्पन्न होती है उससे कोई लाभ नहीं होता।"

वाशिंगटन स्कूल में पढ़ने और बोर्डिंग में रहने का ख़र्च न दे सकता था। इसलिए वह स्कूल में द्वारपाल की नौकरी करके और छुट्टी के दिनों में शहर में मजदूरी या नौकरी करके द्रव्यार्जन करता था। इस प्रकार स्वयं श्रम करके अपने आत्मविश्वास के बल पर उसने हैम्पटन स्कूल का विद्याभ्यासक्रम पूरा किया। उसका नाम पदवी-दान के समय माननीय विद्यार्थियों (Honour-roll) में दर्ज किया गया।

शिक्षक का काम

ग्रेजुएट होने के बाद वाशिंगटन अपने निवास-स्थान, माल्डन, को सन् 1876 में लौट आया और वहाँ एक नीग्रो-स्कूल में शिक्षक का काम करने लगा। स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उसको रात की पाठशाला खोलनी पड़ी। वहाँ से उसने कई विद्यार्थियों को हैम्पटन की शाला में भेजने का प्रबन्ध किया। उस समय शिक्षा के विषय में अनेक भ्रममूलक कल्पनायें प्रचलित थीं। लोग समझते थे कि भाषा, साहित्य, गणित, भूगोल आदि की कुछ बातें जान लेना ही शिक्षा है। माल्डन में दो वर्ष तक शिक्षक का काम करने के बाद, शिक्षा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए, वाशिंगटन कोलंबिया प्रान्त के वाशिंगटन शहर में आठ महीने रहा। वहाँ उसको नीग्रो लोगों की सामाजिक दशा के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हुईं। बहुतेरे लोग नाम-मात्र की शिक्षा प्राप्त करके अपने को सुखी और श्रीमान् सूचित करने के लिए यत्न कर रहे थे। इसलिए उन्हें अपनी आमदनी की अपेक्षा व्यय अधिक करना पड़ता था। फल यह होता था कि वे ऋणी हो जाया करते थे। शहरों में रहने वाले लिखे-पढ़े लोग

स्त्रियाँ और पुरुष दोनों) शारीरिक श्रम करना नीच काम समझते थे। प्राय: अधिकांश लोग कृत्रिम सुख से मोहित होकर राजनैतिक हलचलों में शामिल होना ही अपना कर्तव्य समझते थे। सारांश यह कि उन लोगों ने अपने जीवन की अनेक आवश्यकतायें कृत्रिम रीति से बढा ली थी, परन्तु उनमें अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योग्यता न थी। नगरनिवासियों का मोहक जीवनक्रम देखकर वाशिंगटन के भी मन में एक राजनैतिक हलचल में शामिल हो जाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परन्तु वह अपने जीवन के पवित्र उद्देश को भूल नहीं गया था। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण (Hand, Head and Heart) की शिक्षा से अपनी जाति की उन्नति करना ही उसका प्रधान उद्देश था। अतएव उसने इसी उद्देश की सफलता के लिए यत्न करते रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इसके बाद, जिस हैम्पटन स्कूल में उसने विद्याभ्यास किया था वहीं उसने दो वर्ष तक शिक्षक का काम किया और सुप्रसिद्ध शिक्षक हो गया।

जाति-सेवा का आरम्भ

सन् 1881 ईसवी में, अर्थात् तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र में, बुकर टी० वाशिगटन हैम्पटन में शिक्षक का काम कर रहा था। इसी समय उसे स्वतन्त्र रीति से जाति-सेवा और परोपकार करने का—प्राप्त की हुई शिक्षा को सफल करने का—अपने जीवन को सार्थक करने का—मौका मिला। दक्षिणी अमेरिका की आलवामा रियासत के टस्केजी नामक छोटे से गाँव के कुछ निवासियों ने जनरल आर्मस्ट्रांग को एक चिट्ठी भेजी और यह लिखा कि हम लोग अपने गाँव में काले आदमियों की शिक्षा के लिए एक माडल स्कूल (आदर्श पाठशाला) खोलना चाहते हैं। आपके पास कोई अच्छा शिक्षक हो तो भेज दीजिए। जनरल आर्मस्ट्रांग ने मिस्टर वाशिगटन को वहाँ भेज दिया। इस विषय में वाशिगटन ने लिखा है कि—"टस्केजी जाने के पहले मैं यह सोचता था कि वहाँ इमारत और शिक्षा का सब सामान तैयार होगा; परन्तु वहाँ जाने पर जब मैंने यह देखा कि न इमारत है और न कोई सामान है तब मैं थोड़ी देर के लिए निराश हो गया। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि सैकड़ों इमारतों और सामान से अधिक मूल्यवान् अनेक मनुष्य शिक्षा के लिए आतुर और उत्सुक मुझे देख पड़े!" महीने दो महीने तक वाशिगटन ने उस प्रदेश के निवासियों की सामाजिक और आर्थिक दशा की अच्छी तरह जाँच की और जुलाई की चौथी तारीख़ को गिरजाघर के पास ही एक टूटी सी झोंपड़ी में पाठशाला खोल दी। इस पाठशाला में वाशिंगटन ही अकेले शिक्षक थे। लडके और लड़कियाँ मिलकर सब 30 विद्यार्थी थे। वे सब व्याकरण के नियम और गणित के सिद्धान्त मुखाग्र जानते थे; परन्तु उनका उपयोग करना न जानते थे। वे शारीरिक श्रम न करना चाहते थे। वे यह समझते थे कि मिहनत करना नीच काम है। ऐसी अवस्था में, पहल पहल वाशिगटन को अपने नूतन तत्त्वों के अनुसार शिक्षा देने में बहुत कठिनाइयाँ हुईं। उन्होंने आलबामा रियासत की सामाजिक और आर्थिक दशा का विचार करके यह निश्चय किया कि इस प्रान्त के निवासियों को कृषि-सम्बन्धिनी शिक्षा दी जानी चाहिए और एक या दो ऐसे भी व्यवसायों की शिक्षा देनी चाहिए जिनके द्वारा

लोग अपना उदर-निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। उन्होंने ऐसी शिक्षा देने का निश्चय कर लिया जिससे विद्यार्थियों के हृदय में शारीरिक श्रम, व्यवसाय, मितव्यय और सुव्यवस्था के विषय में प्रेम उत्पन्न हो जाय; उनकी बुद्धि, नीति और धर्म्म में सुधार हो जाय; और जब वे पाठशाला से निकलें तब अपने देश में स्वतन्त्र रीति से उद्यम करके सुख-प्राप्ति कर सकें तथा उत्तम नागरिक (Citizen) बन सकें। इन तत्त्वों के अनुसार शिक्षा देने के लिए वाशिंगटन के पास एक भी साधन की अनुकूलता न थी। ज़मीन का एक छोटा सा टुकड़ा तक उनके पास न था। इतने में उन्हें मालूम हुआ कि टस्केजी गाँव के पास एक खेत बिकाऊ है। इस पर हैम्पटन के कोषाध्यक्ष से 750 रुपया क़र्ज़ लेकर उन्होंने वह ज़मीन मोल ले ली। उस खेत में दो-तीन झोंपड़ियाँ थीं। उन्ही में वे अपने विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे। पहले पहल विद्यार्थी किसी प्रकार का शारीरिक काम न करना चाहते थे; परन्तु जब उन लोगों ने अपने हितचिन्तक शिक्षक, मिस्टर वाशिंगटन, को हाथ में कुदाली-फावड़ा लेकर काम करते देखा तब वे भी बड़े उत्साह से काम करने लगे।

धन की आवश्यकता

ज़मीन मोल लेने के बाद इमारत बनाने के लिए धन की आवश्यकता हुई। धन के बिना कोई भी उपयोगी काम नहीं हो सकता। तब कुमारी डेविडसन (टस्केजी पाठशाला की एक अध्यापिका) और मिस्टर वाशिंगटन ने गाँव-गाँव भ्रमण करके द्रव्य इकट्ठा किया। यद्यपि इस काम में वाशिंगटन को अनेक निद्रा-रहित रात्रियाँ व्यतीत करनी पड़ीं, तथापि अन्त में परमेश्वर की कृपा से उनके सब यत्न सफल हुए। धन इकट्ठा करने के विषय में मिस्टर वाशिंगटन के नीचे लिखे अनुभवसिद्ध, नियम बड़े काम के है—

(1) तुम अपने कार्य्य के विषय में अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं को अपना सारा हाल सुनाओ। यह हाल सुनाने में तुम अपना गौरव समझो। तुम्हें अपने कार्य्य के विषय में जो कुछ कहना हो संक्षेप में और साफ़-साफ़ कहो।

(2) परिणाम या फल के विषय में निश्चिन्त रहो।

(3) इस सिद्धान्त पर विश्वास रक्खो कि संस्था का अन्तरंग जितना ही स्वच्छ, पवित्र और उपयोगी होगा उतना ही अधिक उसको लोकाश्रय भी मिलेगा।

(4) श्रीमान् और ग़रीब दोनों से सहायता माँगो। सच्ची सहानुभूति प्रकट करने वाले सैकड़ों दाताओं के छोटे-छोटे दान पर ही परोपकार के बड़े-बड़े कार्य्य होते है।

(5) चन्दा इकट्ठा करते समय दाताओं की सहानुभूति, सहायता और उपदेश प्राप्त करने का यत्न करो।

इस प्रकार यत्न करने पर, टस्केजी संस्था की उन्नति के लिए, अनेक श्रीमान् तथा साधारण लोगों ने गुप्त तथा प्रकट रीति से वाशिंगटन की सहायता की।

संस्था की उन्नति

आत्मावलम्बन और परिश्रम से धीरे-धीरे टस्केजी संस्था की उन्नति होने लगी। सन् 1881 में वाशिंगटन के पास अपनी संस्था के लिए थोड़ी सी ज़मीन, तीन इमारतें, एक शिक्षक और तीस विद्यार्थी थे। अब वहाँ 106 इमारतें, 2350 एकड़ ज़मीन और 1500 जानवर है। कृषि-उपयोगी यन्त्रों और अन्य सामान की क़ीमत 38,85,639 रुपया है। वार्षिक आमदनी 9,00,000 रुपया है और कोष में 6,45,000 रुपया जमा है। प्रतिवर्ष 2,40,000 रुपये ख़र्च होते है। यह रक़म घर-घर भिक्षा माँग कर इकट्ठा की जाती है। इस समय संस्था की कुल जायदाद एक करोड़ से अधिक की है, जिसका प्रबन्ध पंचों द्वारा किया जाता है। शिक्षकों की संख्या 180 है। 1645 विद्यार्थी (1067 लड़के और 578 लड़कियाँ) दर्ज रजिस्टर हैं। 1000 एकड़ ज़मीन मे विद्यार्थियों के श्रम से खेती होती है। मानसिक शिक्षा के साथ-साथ भिन्न-भिन्न चालीस व्यवसायों की शिक्षा दी जाती है। इस संस्था में शिक्षा पाकर लगभग 3000 आदमी दक्षिणी अमेरिका के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्वतन्त्र रीति से काम कर रहे है। ये लोग स्वयं अपने प्रयत्न और उदाहरण से अपनी जाति के हज़ारों लोगों को आधिभौतिक और आध्यात्मिक, धर्म और नीति-विषयक, शिक्षा दे रहे है। मिस्टर वाशिंगटन ने लिखा है कि—"संस्था की उपयोगिता उन लोगों पर अवलम्बित है जो यहाँ शिक्षा पाकर स्वतन्त्र रीति से समाज में रहने लगते हैं।" इस नियम के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वाशिंगटन की संस्था ने सफलता प्राप्त कर ली है। दक्षिणी अमेरिका के भिन्न-भिन्न स्थानो में, इस संस्था में शिक्षा पाये हुए लोगों की माँग इतनी बढ़ गई है कि लोगो की आधी भी माँग पूरी नही की जा सकती। अनेक विद्यार्थियों को, स्थान और द्रव्य के अभाव से, लौट जाना पड़ता है।

सफलता का रहस्य

वाशिगटन को टस्केजी संस्था का जीव या प्राण समझना चाहिए। आप ही के कारण इस संस्था ने सफलता प्राप्त की है। आप ही इस संस्था के प्रिंसपल हैं। आप पाठशाला में शिक्षक का काम भी करते हैं और संस्था की उन्नति के लिए गाँव-गाँव, शहर-शहर, भ्रमण करके धन भी इकट्ठा करते है। आपने इस संस्था का प्रबन्ध इतना उत्तम कर दिया कि आपकी अनुपस्थिति में भी सब काम नियमपूर्वक होते रहते है और इन सब कामों की रिपोर्ट उन्हें मिलती रहती है। उन्हें अपनी स्त्री से बहुत सहायता मिलती है। वे यह जानने के लिए सदा उत्सुक रहते है कि अपनी संस्था के विषय में कौन क्या कहता है। इससे संस्था के दोष मालूम हो जाते हैं और सुधार करने का मौका मिल जाता है। आपकी सफलता का रहस्य आपके आन्तरिक उद्गारों से विदित हो सकता है। आप कहते हैं—

1. ईश्वर के राज्य में किसी व्यक्ति या जाति की सफलता की एक ही कसौटी है। वह यह कि सत्कार्य्य करने की प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रयत्न करना चाहिए।

2. जिस स्थान में हम रहें उस स्थान के निवासियों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति करने का यत्न करना ही सबसे बड़ी बात है।

3. सत्कार्य्य-प्रेरणा के अनुसार प्रयत्न करते समय किसी व्यक्ति, समाज या जाति की निन्दा, द्वेष और मत्सर न करना चाहिए। जो काम भ्रातृभाव, बन्धु-प्रेम और आत्मीयता से किया जाता है वही सफल और सर्वोपयोगी होता है।

4. किसी कार्य्य का यत्न करने में आत्मविश्वास और स्वाधीन भाव को न भूल जाना चाहिए। यदि एक या दो प्रयत्न निष्फल हो जायँ तो भी हताश न होना चाहिए। अपनी भूलों की ओर ध्यान देकर विचारपूर्वक बार-बार यत्न करते रहना चाहिए। अन्त में ईश्वर की कृपा से अवश्य ही सफलता होती है।

गुणों का उचित आदर

वाशिंगटन का यह विश्वास है कि योग्यता अथवा श्रेष्ठता किसी भी वर्ण, रंग और जाति के मनुष्य में हो, वह छिप नहीं सकती। अन्त में वह मनुष्य अवश्य ही विजयी होता है। गुणों की परीक्षा और चाह हुए बिना नहीं रहती। यह सर्वथा सच है—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।" वाशिंगटन ने जो जातिसेवा-रूप परोपकार किया है वह यह समझकर किया है कि हमारा कार्य्य छोटा ही क्यों न हो—अत्यन्त क्षुद्र ही क्यों न हो—यदि यह औरों से अधिक उपयोगी, सुखदायक और कल्याणकारक होगा तो वर्ण या जाति की परवा न करते हुए 'गुणाः पूजास्थानं' इस सनातन नियम के अनुसार, सब लोग उसका उचित आदर अवश्य ही करने लगेंगे। कार्य्य का आदर करने में—सद्गुणों का सत्कार करने में—कार्य्यकर्त्ता का सम्मान करना ही पड़ता है। अमेरिका-निवासियों ने बुकर टी० वाशिंगटन जैसे सद्गुणी और परोपकारी कार्य्यकर्त्ता का उचित आदर करने में कोई बात उठा नहीं रक्खी। हारवर्ड-विश्वविद्यालय ने आपको 'मास्टर आव् आर्ट्स' की सम्मानसूचक पदवी दी है। अटलंटा की राष्ट्रीय प्रदर्शनी खोलने के समय, उस प्रान्त के गवर्नर साहब ने वाशिंगटन को आरम्भिक वक्तृता करने का बहुमान दिया है। अमेरिका के प्रेसिडेंट (राजा) ने टस्केजी संस्था में पधारकर नीग्रो जाति के अगुआ वाशिंगटन का गौरव करते समय यह कहा कि "यह संस्था अनुकरणीय है। इसकी कीर्ति यहीं नहीं, किन्तु विदेशों में भी बढ़ रही है। इस संस्था के विषय में कुछ कहते समय मिस्टर वाशिंगटन के उद्योग, साहस, प्रयत्न और बुद्धि-सामर्थ्य के सम्बन्ध में कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता। आप उत्तम अध्यापक हैं, उत्तम वक्ता हैं और सच्चे परोपकारी पुरुष हैं। इन्हीं सद्गुणों के कारण हम लोग आपका सम्मान करते हैं।"

उपसंहार

सोचने की बात है कि जिस आदमी का जन्म दासत्व में हुआ, जिसको अपने पिता या पूर्वजों का कुछ भी हाल मालूम नहीं, जिसको अपनी बाल्यावस्था में स्वयं मजदूरी करके पेट भरना पड़ा, वही इस समय अपने आत्म-विश्वास और आत्म-बल के आधार पर कितने ऊँचे पद पर पहुँच गया है। बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित

पढ़कर कहना पड़ता है कि "नर जो पै करनी करे तो नारायण ह्वै जाय।" प्रतिकूल दशा में भी मनुष्य अपनी जाति, समाज और देश की कैसी और कितनी सेवा कर सकती है, यह बात इस चरित से सीखने योग्य है। यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुःख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ, वाशिंगटन के समान, इन लोगों का उद्धार करने के लिए—सिर्फ़ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्त्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैम्पटन और टस्केजी की संस्थायें काम कर रही हैं? जिस समय हमारे हिन्दू और मुसलमान भाई अपने लिए स्वतन्त्र विश्वविद्यालय स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं उस ससय यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि भविष्यत् में हमारे यहाँ निरुपयोगी और निकम्मे ग्रेजुएटों (Superficial Graduates) की संख्या घट जायगी और परोपकारी जाति-सेवकों की संख्या बढ़ जायगी। अन्त में यही प्रार्थना है कि परमेश्वर हम लोगों को अज्ञान-शृंखला के बन्धन से मुक्त होने तथा बुकर टी० वाशिंगटन के समान जातिसेवा करने की बुद्धि और शक्ति दे।

[फरवरी, 1914 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'विदेशी विद्वान्' पुस्तक में संकलित।]

बुकर टी० वाशिंगटन-2

बुकर टी० वाशिंगटन अब संसार में नहीं है। गत 17 नवम्बर को बुकर महाशय की मृत्यु से संसार की एक उदार आत्मा का नाश हो गया। अमरीका के असभ्य हबशियों को एक महान जाति में परिणत करने वाला यह महा पुरुष अज्ञात पिता से एक दासी की सन्तान था। लट्ठो के बने हुए एक झोंपड़े (Log Cabin) में, सन् 1858 ईसवी मे इसका जन्म, अमरीका के वर्जीनिया प्रान्त में, हुआ। जिस समय की यह बात है उस समय यद्यपि अमरीका देश स्वतन्त्र हो चुका था, परन्तु उसने अपने अधीनस्थ हबशी आदि जातियों के साथ, उनको अपना ही सा मनुष्य समझ कर, जानवरों का सा व्यवहार करना नहीं छोड़ा था। बुकर की माता एक धनाढ्य अमरीकन की ख़रीदी हुई दासी थी और अपने मालिक के अन्य ग़ुलामों के लिए रोटी बनाने का काम करती थी। रहने के लिए उस बेचारी के पास रसोई-घर की खपड़ेल का एक कोना था और सोने के लिए भूमि पर पुराने चिथड़ों की एक गुदड़ी। शीत-काल में सैकड़ों छेदों से हवा आकर उसे दुखी करती थी और गरमी में सूर्य्य के ताप के अतिरिक्त चूल्हे की धधक भी खूब झुलसाया करती थी। परिवार कितनी दरिद्रावस्था में था, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि बालक बुकर ने 12 वर्ष की आयु तक यह भी न जाना था कि सिर पर टोपी परमात्मा ने काले चमड़े वाले ग़ुलामों के लिए पहनने को बनायी है अथवा केवल श्वेत चमड़े वाले प्रभुओ ही के लिए! एक बार बुकर ने अपने मालिक की लड़कियों को पुये खाते बाग़ मे देखा। बेचारे के मुँह में पानी भर आया। उसने समझा कि इस तरह के पुये खाना जिस दिन मुझे मिल जायगा उस दिन से बढ़कर मेरे लिए संसार में और कोई सुखकारी दिन न होगा।

बुकर का लड़कपन खेतों पर काम करते और बाग़ो मे झाड़ू लगाते बीता। कुछ बड़े हो जाने पर मालिकों के खाना खाते समय मक्खियाँ उड़ाने के कार्य्य पर उसकी नियुक्ति हुई। पढ़ने लिखने का ऐसे बच्चों से सम्बन्ध ही क्या? बुकर को यह ज्ञात ही न था कि कभी उसके भाग्य में पढ़ना लिखना भी बदा है। परन्तु हाँ, दो एक बार अपने मालिकों की किताबें स्कूल तक पहुँचाने वह अवश्य गया था और स्कूल के दृश्य ने उसके मन में यह विचार उत्पन्न कर दिया था कि स्कूल में पढ़ने से अधिक स्वर्ग-लाभ भी आनन्ददायक नहीं हो सकता।

लगभग इसी समय अमरीका में ग़ुलामों को स्वतन्त्रता देने तथा न देने वाले दोनों दलों में वाग्युद्ध के बाद अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग की भी नौबत पहुँच गई। घमासान युद्ध हुआ। परन्तु सत्य की सदा ही जीत होती है। परिणाम यह हुआ कि हबशी जाति स्वतन्त्र कर दी गई।

स्वतन्त्रता मिल जाने पर बुकर की माता अपने दूसरे बच्चों के पिता के पास

मालडेन नामक स्थान में जाकर रहने लगी। बुकर भी अपने सौतेले पिता के साथ नमक की खान में काम करने लगा। प्रातःकाल 7 बजे से लेकर रात के आठ बजे तक बुकर को वहाँ काम करना पड़ता था। पढ़ने की प्रबल इच्छा होने पर भी उस बेचारे को लिखने पढ़ने के लिए समय कहाँ था ! इसी से वह अन्य लड़कों को स्कूल जाते देख कुढ़ा अवश्य करता था। बहुत कुछ कहने सुनने पर रात्रि-पाठशाला में पढ़ने के लिए उसे आज्ञा मिल गई। परन्तु ऐसी पढ़ाई से बुकर की तृप्ति न हुई। इसलिए बड़े उद्योग के बाद उसने दिन के स्कूल में जाने की आज्ञा इस शर्त पर प्राप्त की कि वह स्कूल जाने से पहले और पीछे कम से कम चार घण्टे कारखाने में काम अवश्य करे। यह सौभाग्य भी उसको बहुत दिन तक प्राप्त न हुआ। उसके लालची सौतेले पिता ने फिर दिन भर के काम में बुकर को जोत दिया।

नमक की भट्ठी छोड़ कर वह कोयले की खान में बहुत दिन तक काम करता रहा। इस काम से वह और भी अधिक असन्तुष्ट था। एक दिन उसको पता लगा कि काले आदमियों के लिए हैम्पटन नामक स्थान में एक अच्छा स्कूल है। इस पर बुकर को यह तो ज्ञात हो गया कि हैम्पटन में शिक्षा प्राप्त करने की उसकी आशा पूर्ण हो सकती है। परन्तु वहाँ वह जाय कैसे, इस बात की वह दिन रात चिन्ता करने लगा। इसी बीच में उसे पता लगा कि एक स्थानीय स्वेतांग स्त्री को एक नौकर की आवश्यकता है। इस स्त्री के यहाँ आज तक कोई नौकर टिका ही न था। लड़के उसके सामने जाते काँपते थे। परन्तु बुकर ने यह नौकरी कर ली और काम करके शीघ्र ही उस गौरांगिनी महिला को इतना प्रसन्न कर लिया कि वह बुकर को नौकर नहीं, किन्तु अपने घर का आदमी समझने लगी। बुकर ने अपनी जीवनी 'Up from Slavery' में लिखा है कि इस स्त्री से उसने बहुत कुछ सीखा। डेढ़ वर्ष नौकरी करके बुकर ने कुछ अपनी जाति के लिए किया वह अमरीका में काले और गोरे चमड़े वाली जातियों में एक दूसरे के प्रति सद्भाव पैदा करना है। आज अमरीका में काले और गोरे में उतना भेद नही रहा जितना तीस वर्ष पूर्व था। और कम से कम जहाँ तक उनका निज का सम्बन्ध था वहाँ तक तो काले गोरे का भेद बिलकुल ही नष्ट हो चुका था। कोई बड़ी सभा ऐसी न होती थी जहाँ वे बुलाये न जाते हों। दावतों में, नाच-रंग आदि सामाजिक उत्सवो में, वे आदरपूर्वक निमन्त्रण पाते थे। बड़े से बड़े विश्वविद्यालयों ने उन्हें अपनी बड़ी से बड़ी आनरेरी उपाधियाँ देकर अपने को कृतार्थ समझा। सारे देश ने उन्हें यथेष्ट आदर करने को हाथ बढ़ाया। अमरीका के स्वयं प्रेज़िडेंट ने उन्हें अपने साथ भोजन करने को राज-भवन में बुलवाया। जब वे इंगलैंड, सन् 1898 में, गये तब महारानी विक्टोरिया ने भी उनको अपने साथ चा-पानी के लिए निमन्त्रित किया। सच है, बढ़ता वही है जो दूसरों को आगे बढ़ाता है, जो स्वदेश-प्रेमी है, जिसका लक्ष्य परोपकार है, और जिसे पुरुषार्थ तथा परमात्मा पर भरोसा है।

जब हबशी जाति स्वतन्त्र हुई थी तब हर व्यक्ति को 'पोलिटिकल (राजनीति) हकूक' प्राप्त करने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। अमरीका में हर कार्य्य 'वोट' (सम्मति) के अधीन था। हबशियों की संख्या भी बहुत थी। इसलिए कोई हबशी गवर्नर, कोई जज

आदि बन भी गये। परन्तु बुकर के सामने सच्चा 'पोलिटिकल हक़ूक' अपनी और अपनी जाति की शिक्षा तथा कला-कौशल द्वारा सहायता करना ही था। उन्होंने अपने को और अपनी जाति को ऊँचा बनाना ही सच्ची देशभक्ति और सच्चा राष्ट्र-प्रेम समझा।

कहने को बुकर महाशय मर गये, परन्तु जब तक हबशी-जाति संसार में मौजूद है तब तक वे प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा पर राज करते रहेंगे। उनका दृष्टान्त सहस्रों हृदयों में ज्योतिःस्तम्भ बन कर अपना कार्य्य करता रहेगा—सन्मार्ग दिखाता रहेगा।

भारत को भी ऐसे ही सच्चे कर्म्मवीरों की आवश्यकता है। परमात्मा इस दीन भारत में भी एक आध बुकर पैदा करने की कृपा करे।

['सेवाव्रत' नाम से फरवरी, 1919 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

डाक्टर हर्मन जी० जैकोबी

मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथराय आदि बड़े-बड़े अलकार-शास्त्रियो की जन्मभूमि, भारत, के बी० ए०, एम० ए० पास युवकों को अलंकारशास्त्र पढ़ाने के लिए एक विदेशी विद्वान् बुलाये गये हैं। इनका नाम है—डाक्टर हर्मन जी० जैकोबी। ये जर्मनी के रहने वाले है। जर्मनी में एक जगह बान है। वहाँ के विश्वविद्यालय में आप संस्कृत का अध्यापन कार्य्य करते हैं। कलकत्ते के विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने, कुछ समय के लिए, आपको कलकत्ते बुलाया है। वहाँ आप उस विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों को अलंकारशास्त्र पढ़ावेंगे—अलंकारशास्त्र पर आप लेक्चर देंगे। कलकत्ते में संस्कृत के अनेक बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्री और आचार्य्य हैं। क्या ही अच्छा हो यदि उनमें से कोई इस बात पर एक लेख प्रकाशित करने की कृपा करे कि डाक्टर महाशय के अलंकारशास्त्र-विषयक लेक्चरों में क्या विशेषता है। अथवा यदि उनके लेक्चर ही छपा-कर प्रकाशित कर दिये जायँ तो और भी अच्छी बात हो। इससे इस देश के आलंकारिक पण्डितों की आँखे तो खुलें कि इस तरह नहीं, इस तरह यह शास्त्र पढ़ाया जाता है।

सुनते हैं, डाक्टर जैकोबी संस्कृत के बड़े भारी पण्डित है। उनका जो चित्र दिसम्बर की 'सरस्वती' में निकल चुका है उसके परिचयदाता ने जो नोट लिखा है उसमें डाक्टर साहब की विद्वत्ता का उल्लेख हो चुका है। 'कालेजियन' नामक एक शिक्षा-विषयक पाक्षिक पत्र के सम्पादक ने भी आपकी बड़ी प्रशंसा प्रकाशित की है। इस पाक्षिक पत्र के सम्पादक का कथन है कि संस्कृत में जितने शास्त्र है प्रायः सभी मे डाक्टर जैकोबी की अबाध गति है। सस्कृत का साधारण साहित्य, संस्कृत छन्दःशास्त्र, सस्कृत का काव्यशास्त्र, संस्कृत का न्याय, वैशेषिक और वेदान्त-शास्त्र—सभी आपके कँठ-नल के आमलक हो रहे है। ज्योतिषशास्त्र में भी आप निष्णात है। प्राकृत भाषायें भी आप जानते है; और इस देश की वर्तमानकालिक भाषायें भी। जैन और बौद्ध-शास्त्रो के ज्ञान के तो आप महासागर ही हैं। आपने अनेक नई-नई बातें ढूंढ़ निकाली है। आपकी विद्वत्ता को देखकर देश-विदेश, सभी कहीं, के पण्डित आश्चर्य्य करते है। 'कालेजियन' के सम्पादक का यही मत है।

जैन-साहित्य से तो डाक्टर साहब का बहुत ही अधिक परिचय है। उस दिन बनारस में जैनों का जो महोत्सव हुआ उसमें डाक्टर साहब भी निमन्त्रित हुए थे। वहाँ आपका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। जैनों ने आपकी स्तुति और प्रशंसा से पूर्ण एक अभिनन्दनपत्र भी आपको दिया।

डाक्टर जैकोबी का जन्म 1850 ईसवी में हुआ। बर्लिन और बान के विश्व-विद्यालयों में संस्कृत और तुलनामूलक भाषाशास्त्र आपने पढ़ा। 1872 में आपको दर्शनशास्त्र के आचार्य्य की पदवी मिली। इसके बाद एक वर्ष तक आप लन्दन में रहे।

1873 में आप डाक्टर बूलर के साथ हिन्दुस्तान आये। यहीं आपका परिचय जैन धर्म्म और जैन-साहित्य से हुआ। तभी से आपने इन विषयों का अध्ययन आरम्भ कर दिया और धीरे-धीरे इनमें खूब पारंगत हो गये। स्वदेश को लौट जाने पर कई विश्वविद्यालयों में आप संस्कृत पढ़ाते रहे। 1889 ईसवी में आपकी बदली बान के विश्वविद्यालय को हो गई। आपने जैनों के 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थ का सम्पादन करके उसे प्रकाशित किया और उसकी भूमिका में यह सिद्ध किया कि जैन धर्म्म बौद्ध धर्म्म की शाखा नहीं; वह बौद्ध धर्म्म से बिलकुल ही जुदा धर्म्म है। इसके बाद आपने हेमचन्द्र-कृत 'परिशिष्ट-पर्व का प्रकाशन किया और कई जैन-ग्रन्थों का अनुवाद भी योग्यतापूर्वक निकाला। जर्मनी के विद्यार्थियों के लाभ के लिए प्राकृत भाषा-विषयक एक पुस्तक भी आपने लिखी। 'ध्वन्यालोक' तथा अलङ्कारसर्वस्व' का अनुवाद भी, जर्मन भाषा में आपने कर डाला। पण्डित बालगंगाधर तिलक की तरह आपकी भी राय है कि वैदिक सभ्यता बहुत पुरानी है। योरप के विद्वान् उसे जितनी पुरानी समझते हैं उससे भी वह बहुत पहले की है।

[मार्च, 1914 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'विदेशी विद्वान्' में संकलित।]

लार्ड किचनर

वीर जाति वही कहलाती है जिसमें सच्चे वीर पैदा होते हैं। धन्य है वह देश जिसमें पैदा होने वाले पुरुष रत्न अपनी जन्मभूमि के लिए अपने प्राणों को निछावर करने में ज़रा भी नहीं हिचकते।

आज यूरप के इस महासंग्राम के समय सारी दुनिया का चित्त अँगरेज़ जाति के उस वीर पुंगव की ओर आकृष्ट है जिसका नाम हमने ऊपर दिया है। इस वीर ने संसार की महाशक्तियों के हृत्पटल पर अपनी विजयिनी शक्ति का आतंक उत्पन्न कर दिया है। सारी ब्रिटिश जाति आज जयध्वनि के साथ लार्ड किचनर का नाम बड़े गौरव से ले रही है। लार्ड किचनर ने जिस बुद्धिमत्ता और योग्यता से ब्रिटिश साम्राज्य का सैनिक बल बढ़ाया है वह सर्वथा स्तुत्य है। लार्ड किचनर में स्वाभाविक वीरता है। अपनी प्रतिज्ञा का पालन वे खूब जानते हैं। लोगों का विश्वास है और वह सच्चा है कि लार्ड किचनर ने जब जब जब म्यान से अपनी तलवार खींची है तब तब उन्होंने शत्रु के पक्ष का पराभव किये बिना उसे म्यान में नहीं रक्खा। इसी से ब्रिटिश जाति ने आज उन्हें इस घोर महाभारत के समय अपना युद्ध-सचिव—अपना युद्ध-नेता—बनाया है। लार्ड किचनर जैसा सेनापति अपनी सेना को किस प्रकार संगठित और सुसज्जित कर सकता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज हमारे सामने है। आज भारत की अनगिनत सेना फ्रांस की रणभूमि में जर्मनों के कलेजे चीर रही है। लार्ड किचनर ने भारत में आकर यहाँ की फ़ौज का जो सुधार किया, कमांडर चीफ़ होकर यहाँ जो काम किया, यह उसी का फल है।

किचनर बड़े अच्छे सेनानायक तो है ही, वे शासनाधिकारियों और शासितो के साथ सद्व्यवहार करना भी खूब जानते हैं। कभी आपका कोई मुलाजिम या आपका अधीन अधिकारी आपसे नाराज़ नहीं हुआ। आप हर तरह से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते है। लड़ाई पर और बाहर भी उनके आराम का आपको हमेशा ख़याल रहता है। केवल अपने सैनिको के साथ ही नहीं, किन्तु अफ़सरों के साथ भी आपका व्यवहार बहुत ही आत्मीय रहता है। सादगी की तो आप प्रत्यक्ष मूर्ति है। मिश्र में, अभी थोड़े ही दिन हुए, जब आप शासक थे तब हमेशा ही हर मनुष्य आपसे अपनी बातचीत करता और अपनी बात का उत्तर पाकर आपको धन्यवाद देता हुआ लौट जाता था। वहाँ के निवासी आप पर बड़ा विश्वास करते थे। गाँव के किसानों और देहाती आदमियो तक को उनके पक्षपातरहित न्याय का पक्का भरोसा था। एक समय की बात है कि एक बुड्ढा किसान बहुत रात को लार्ड किचनर के डेरे पर पहुँचा। वहाँ आकर उसने लार्ड किचनर से मिलना चाहा। किचनर ने उसी वक़्त उसे अपने पास आने की आज्ञा दे दी। उसने जाकर सलाम किया। वह कहने लगा कि, मेरा खच्चर चोरी हो गया है। उसका अभी पता नहीं लगा। लार्ड किचनर ने उसी समय एक अफ़सर को बुलाया और उसके खच्चर को तुरंत

ढूंढ़ देने की आज्ञा दी। अफ़सर ने तुरन्त जाकर खच्चर का पता लगाया और किसान उस पर बैठकर लार्ड किचनर को आसीसता हुआ अपने घर गया। यह बात मिश्र देश भर में फैल गयी। इससे पता चल जाता है कि लार्ड किचनर मिश्र देश के सर्वसाधारण जनों में भी किस तरह सम्मानित और विश्वसनीय हो गये थे। भारत के सिपाही लार्ड किचनर को बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

लोग कहते हैं कि जो आदमी फौजी काम करने योग्य होता है वह विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी काम नहीं कर सकता। पर लार्ड किचनर में यह बात नहीं है। आप जिस समय स्कूल में पढ़ते थे उस समय आप गणित में हमेशा अपनी कक्षा भर में प्रथम रहते थे। चाहे जैसा हिसाब हो, आप बहुत जल्द लगा डालते थे। अध्यापक लोग आपकी इस योग्यता को देखकर दंग रह जाते थे।

मिश्र देश में जो रेलवे लाइनें बन गई हैं। वे आप ही की कृपा का फल हैं। उनसे मिश्र वालों का बड़ा भारी उपकार होने लगा है।

लार्ड किचनर अपना एक मिनट भी व्यर्थ नही खोते। समय को आप सदैव बहुमूल्य समझते हैं। जब आप पहले पहल बहुत कम उम्र में पैलेस्टाइन भेजे गये तब आपने बड़े परिश्रम और बड़े उत्साह से वहाँ का एक बड़ा सुन्दर नक़शा बनाया। यह नक़शा बड़े काम का निकला। इसके अतिरिक्त वहाँ रहकर सबसे बड़ा काम जो आपने किया वह यह था कि अरबी भाषा और उसकी लिपि को आपने सीख लिया। आप अरबी जैसी किठन भाषा में भी थोड़े ही दिनों के परिश्रम से ख़ासे पण्डित हो गये। परिश्रमपूर्वक काम करना और एक भी मिनट व्यर्थ न जाने देना ही इसका कारण है।

लार्ड किचनर अपनी धुन के बड़े पक्के हैं। जब वे काम करने बैठते हैं तब बिना उसे ख़तम किये नहीं उठते। वर्तमान युद्ध छिड़ने के समय लन्दन के युद्ध-सम्बन्धी (War Office) में दस दस बारह बारह घंटे जमकर आपने काम किया है। आपकी ऐसी कार्य्य-तत्परता देखकर आपके सहकारियों को भी आपके साथ बराबर काम करना पड़ता है।

लार्ड किचनर सुप्रबन्ध करना भी खूब जानते है। आयरलैंड में आपके पिता ने कुछ भूमि ख़रीदी। उसे उन्होंने अच्छी तरह आबाद किया। वहीं घर भी उन्होंने बना लिया। पर वहाँ के भूस्वामी के बुरे बर्ताव के कारण उनका वह सारा परिश्रम व्यर्थ गया। यह दशा देखकर लार्ड किचनर ने, कुछ समय बाद, वहीं कुछ और भी भूमि ख़रीदी। उस भूमि को भी उन्होंने आबाद किया और ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि उससे लाखों रुपये की आमदनी होती है। यह आपके सुप्रबन्ध का ही फल है।

लार्ड किचनर ने किस तरह धीरे धीरे फ़ौज में उच्च पद प्राप्त किया और मिश्र देश तथा ट्रान्सवाल में कैसी कैसी बहादुरी के काम किये, यह सब हाल पाठकों ने समाचार-पत्रों में पढ़ा ही होगा। आप ही की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से मिश्र देश और दक्षिणी अफ्रीका में ऐसा सुबन्ध हुआ कि अब वहाँ सब तरह अमन चैन है। अफ्रीका के सुधार के विषय में सबसे पहले लार्ड किचनर का ही नाम लिया जायगा। सूडान को द्वितीय बार आप ही ने जीता। मिश्र की सेना का सुधार आप ही ने किया और उसे अधिक शक्ति-शालिनी भी आप ही ने बनाया। भारतीय सेना का पुनर्वार संगठन भी आप ही ने किया।

ये सारे कार्य्य साम्राज्य के लिए ऐसे महत्त्व के हुए हैं कि अँगरेज़ी इतिहास में लार्ड किचनर का नाम किसी राष्ट्रनिर्माता से कम नहीं। यदि लार्ड किचनर भारतीय सेनाओं को फिर से नये साँचे में न ढालते तो शायद सेना की इतनी संख्या भारत से यूरप के युद्ध-स्थल में न जा सकती।

लार्ड किचनर के वीरत्व और अन्यान्य गुणों पर आज हमारी ही नही, सारे संसार की दृष्टि आकृष्ट है। ब्रिटिश जाति का यह सचमुच ही बड़ा भारी सौभाग्य है जो उसमे ऐसे नररत्न विद्यमान हैं।

[जनवरी, 1915 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

सिंहल द्वीप के बौद्ध विद्वान् आचार्य्य सुमंगल

1911 ईसवी के एप्रिल में, लंका के सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आचार्य्य श्रीसुमंगलजी का देहान्त हो गया। उन पर आक्टोबर 1912 ईसवी के 'आफ़रीकन टाइम्स एंड ओरियंट रिव्यू' नामक मासिक पुस्तक में, कोलम्बो के श्रीयुत ए० सुमेरुसिंहजी का लिखा हुआ, एक सचित्र लेख प्रकाशित हुआ है। पूर्वोक्त पुस्तक के सम्पादक की अनुमति से उसी लेख का आशय नीचे दिया जाता है।

सुमंगलजी बौद्ध धर्म्म के देदीप्यमान रत्न थे। उन्होंने तलवार के बल या धींगा-धींगी से नहीं, किन्तु अपनी योग्यता और विद्वत्ता और आभा से, अपनी सरलता और उच्चाशयता के प्रभाव से, संसार के कठोर से कठोर और उद्दण्ड से उद्दण्ड मनुष्यों के हृदयों पर भी बौद्ध धर्म्म के दया और क्षमा, प्रेम और सहानुभूति के सिद्धान्तों की महत्ता अंकित करके छोड़ी। इसमें सन्देह नहीं कि थोड़े ही से भारतवासी ऐसे निकलेंगे जो सुमंगलजी के नाम और धाम से परिचित हों; परन्तु, यथार्थ में, सुमंगलजी अप्रसिद्ध पुरुष न थे। संसार की अनेक प्रतिष्ठित सभाओं ने उन्हें अपना माननीय मेम्बर निर्वाचित किया था। पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े विद्वानों में उनका बड़ा आदर था। न्याय देश के बौद्ध राजा और बड़े-बड़े धनाढ्य उनके चरणों पर अपना सिर रखते थे।

सुमंगलजी का जन्म 1827 ईसवी में हुआ था। उनके जन्म के थोड़े ही समय पीछे लंका पर अँगरेज़ो का आधिपत्य स्थापित हुआ। उनका असली नाम था अभयवीर गुणवर्द्धन। सुमंगल नाम तो उस समय पड़ा जब वे साधु हुए।

चार वर्ष की उम्र में वे अपने गाँव की पाठशाला में सिंहली भाषा पढ़ने लगे। बचपन ही में उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। लोग उनकी चतुरता और बुद्धिमत्ता को देखकर दंग रह जाते थे। उनका एक भाई उनसे बहुत बड़ा था। बहुत पहले से वह पढ़ता भी था। जिस समय सुमंगल ने पाठशाला में प्रवेश किया उस समय वह कितनी ही पुस्तकें समाप्त कर चुका था। पर थोड़े ही दिनों में सुमंगल पढ़ने में केवल उसके बराबर ही न हो गये, किन्तु उससे आगे भी बढ़ गये। नौ वर्ष की उम्र में सुमंगल ने सिंहली भाषा का पाठ्य-क्रम समाप्त कर डाला। तब उन्होंने अँगरेज़ी पढ़ना चाहा; परन्तु एक घटना ऐसी हो गई जिससे उन्हें, उतनी ही छोटी उम्र में, घर-द्वार छोड़कर एक बौद्धमठ में प्रवेश करना पड़ा।

उन्हीं दिनों उनके माता-पिता ने एक ज्योतिषी को उनका जन्म-पत्र दिखाया। ज्योतिषी ने बताया कि सुमंगल अधिक काल तक जीवित न रहेंगे। उसकी इस भविष्यद् वाणी से सुमंगल के माता-पिता के हृदयों पर बड़ी चोट लगी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि बालक सुमंगल का प्रवेश बौद्ध-मठ में करा ही देना चाहिए। कदाचित् इस पुण्यकार्य्य से वे दीर्घजीवी हो सकें। बालक सुमंगल साधु बनने को तैयार न थे; परन्तु, अन्त में,

उन्हें अपने माता-पिता की आज्ञा माननी ही पड़ी।

सुमंगल के गुरु का नाम था अनुगामी रेवतक थीरो। साधु-दीक्षा लेने पर सुमंगल का पूरा नाम हुआ हिक्कादुआ श्री सुमंगल। मठ में प्रवेश करते ही उन्होंने अपने गुरु से पाली भाषा पढ़ना आरम्भ किया। जो अवकाश मिलता उसमें वे अपने गुरु के कामों की देख-भाल भी करते। बारह ही वर्ष की उम्र में वे पाली अच्छी तरह लिखने-पढ़ने लगे। तब उन्होने संस्कृत पढ़ना चाहा। उस समय, लंका में, पाली की कुछ चर्चा भी थी, क्योंकि लंका-निवासी अधिकतर बौद्ध है और बौद्ध धर्म्म का पाली से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु संस्कृत और संस्कृतज्ञो का तो वहाँ बहुत ही टोटा था।

सौभाग्यवश, उस समय, काशिनाथ नाम के एक संस्कृत-विद्वान् दक्षिणी भारत से लंका के कोलम्बो नगर में आये। सुमंगल उनके पास सबसे पहले पहुँचे। उनके शिष्यो में सुमंगल ही सबसे अधिक तेज भी थे। संस्कृत पढने में सुमंगल को मानसिक परिश्रम तो करना ही पड़ता था; परन्तु उन्हें तदर्थ जो शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था उस पर विचार करके यही कहना पड़ता है कि वर्तमान काल में ऐसे विद्या-प्रेमी बहुत ही थोड़े निकलेगे जो विद्योपार्जन के लिए इतना परिश्रम करने के लिए तैयार हों। उनके शिक्षक काशिनाथ कोलम्बो में रहते थे, पर सुमंगल का मठ कोलम्बो से आठ मील दूर था। परन्तु इस दूरी की कुछ भी परवा न करके वे रोज़ मठ से कोलम्बो पढ़ने जाते थे और सन्ध्या को अपने घर लौट जाते थे। इस प्रकार संस्कृत पढ़ने के लिए, वर्षों तक वे प्रतिदिन कोलम्बो से मठ तक, और मठ से कोलम्बो तक सोलह मील पैदल चलते थे।

शिक्षा समाप्त होने पर सुमंगलजी अपने गुरु की पाठशाला का काम देखने लगे। दो वर्ष के बाद वे अपने गाँव गये। वहाँ उन्होंने एक विद्यालय स्थापित किया और सात वर्ष तक उसमें पढ़ाते रहे। इसके अनन्तर वे लंका के भिन्न-भिन्न नगरों में विद्यादान और उपदेश-कार्य्य करते फिरे। 1866 ईसवी में उनकी विद्वत्ता और शुद्ध-चरित्रता पर मोहित होकर सिंहली बौद्धों ने उन्हें आदम-शिखर (Adams Peak) के प्रसिद्ध मठ का प्रधान महन्त निर्वाचित किया। तब से वे अपना सारा समय बौद्ध धर्म्म तथा पूर्वी भाषाओ के प्रचार में लगाने लगे।

1873 ईसवी में उन्होने, कोलम्बो में, विद्योदय नाम का एक बड़ा कालेज स्थापित किया। मृत्यु तक वे इस कालेज के अध्यक्ष रहे। उनका कालेज प्रसिद्ध भी खूब हुआ। भारत, ब्रह्म देश, स्याम, कम्बोडिया, चीन और जापान तक के विद्यार्थी उसमें पढ़ने के लिए आने लगे और अब भी बराबर आते है। उसमें संस्कृत, पाली और सिंहली भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त ज्योतिष और आयुर्वेद भी पढ़ाया जाता है। कोई और कहीं का भी विद्यार्थी क्यों न हो, वह उसमें पढ़ सकता है। जाति, वर्ण या धर्म्म का कुछ भी ख़याल नही किया जाता। गवर्नमेंट भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर चुकी है और एक हज़ार रुपये वार्षिक सहायता देती है।

विद्या और धर्म्म का प्रचार करके ही सुमंगलजी चुप नहीं बैठे। उन्होंने पुस्तक-रचना भी की। बौद्धो के 'महावंश' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद उन्होंने, पण्डित बलवन्तदेव की सहायता लेकर, पाली से सिहली भाषा में किया। बालावतार-टीका और

सिद्धान्त-संग्रह पर भाष्य भी उन्होंने लिखा। इनके सिवा और भी कितने ही उपयोगी ग्रन्थ उन्होंने लिखे और कितनी ही टीका-टिप्पणियाँ बनाई।

सुमंगलजी की स्मरण-शक्ति गजब की थी। विद्यार्थि-दशा में उन्होंने जो कुछ पढ़ा था सो तो पढ़ा ही था। जब वे दूसरों को पढ़ाते और अन्य उपकारी कामों में लगे रहते थे तब भी उन्होंने अपना अध्ययन जारी रक्खा था। अपनी धारणा-शक्ति और दृढ़ता के बल से वे भिन्न-भिन्न देशों की बारह भाषाओं के ज्ञाता हो गये। अँगरेजी, फ्रेंच, पोर्चुगीज़, ब्रह्मी. तैलंगी, तामिल और हिन्दुस्तानी भाषाओं को वे अच्छी तरह लिख, पढ और बोल सकते थे। वे गणित-शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। अंक-गणित, रेखा-गणित, बीज-गणित, त्रिकोणमिति, माप-विद्या आदि में उनकी यथेष्ट गति थी। आयुर्वेद का भी उन्हें ज्ञान था। शास्त्रार्थ में तो वे एक ही थे। बड़े-बड़े विद्वानों को भी उनके सामने झुकना पड़ता था।

वे बड़े ही सरल-चित्त थे। जो उनसे मिलता उनके शील की प्रशंसा किये बिना न रहता। विदेशों में भी वे वहुत प्रसिद्ध थे। योरप और अमेरिका के बड़े-बड़े विद्वान् उनसे मिलने के इच्छुक रहते। यद्यपि ज्योतिष के नवग्रह उन पर प्रसन्न न थे तथापि सुमंगलजी सदा नीरोग रहे और चौरासी वर्ष की पक्की उम्र में परलोक के प्रवासी बने। केवल लंका वालों ही को नहीं, किन्तु सारे बौद्ध-संसार को उनकी मृत्यु से बड़ी ही क्षति पहुँची। सुमंगलजी के मित्रों में सर मानियर विलियम्स, अध्यापक रीज़ डेविड्स, कर्नल आलकाट आदि अनेक विद्वानों की गणना है। परलोकवासी स्याम-नरेश ने, अपनी योरप-यात्रा के समय, कोलम्बो में सुमंगलजी को दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया था। कलकत्ते के संस्कृत-कालेज के प्रधानाध्यापक आचार्य्य सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने, कई महीने तक, सुमंगलजी के चरणों के पास बैठकर पाली भाषा और बौद्ध-ग्रन्थों का अवलोकन किया है। बनारस के जैन यशोविजय-पाठशाला के भी कई छात्र सुमंगलजी के शिष्य हैं और उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा है।

[फरवरी, 1915 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'कोविद-कीर्तन' में संकलित।]

एडमिरल वान टिरपिज़

जर्मनी के कुस्ट्रियन नामक मौज़े में टिरपिज का जन्म हुआ। उन्होंने यद्यपि अच्छे घराने में जन्म लिया तथापि वह जर्मनी के बड़े घरानों में नहीं गिना जाता था। टिरपिज़ बचपन ही से खूब हृष्ट-पुष्ट थे। उनकी बुद्धि भी तेज़ थी। वे बड़े शरीर थे। अतएव उनके पिता ने टिरपिज़ को एक लड़ाकू जहाज़ पर नौकर करा दिया। उस समय जहाज़ों पर प्रायः 'बड़ो का बोलबाला' था। सिफ़ारशी टट्टू अमीरों ही का वहाँ इज़ारा सा था। इस कारण टिरपिज़ को अपनी उन्नति करने में कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा तथापि अपने स्वाभाविक गुणों के बल पर वे दिन पर दिन उन्नति करते गये। उनके हाथ में अधिकार आने पर अमीरों की दाल न गलने लगी। यहाँ तक कि खुद कैसर तक की सिफ़ारिश की वे परवा न करने लगे। टिरपिज ने जहाज़ी समर-विद्या का यथेष्ट ज्ञान सम्पादन कर लिया था। काम करने की उमंग उनमें खूब थी। उद्योगी भी बहुत थे। दूसरों पर किस प्रकार अपना गौरव जमाना चाहिए, यह तो वे खूब ही जानते थे। इसी कारण वे बीस ही वर्ष की उम्र में लेफ़्टिनेंट हो गये। पाँच वर्ष बाद उन्हें लेफ़्टिनेट कमाण्डर का पद मिला और थोड़े ही दिनों बाद वह रियर एडमिरल के पद पर प्रतिष्ठित किये गये। जिस दिन से टिरपिज़ ने टारपेडो नामक जहाजनाशक नावों का जोड़ा तैयार किया उस दिन से कैसर उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखने लगे। टिरपिज़ ही ने कियाचू (चीन) में जर्मन उपनिवेश की स्थापना की।

जर्मनी की जहाज़ी बेड़े की उन्नति का एक मात्र कारण टिरपिज़ ही हैं। इस बेड़े को उन्नत और बलशाली करना वे जर्मनी के लिए बहुत ही आवश्यक समझते है। यहाँ तक कि जो लोग जहाज़ी बेड़े की विशेष उन्नति करने के पक्ष में नहीं उनको वे देश-द्रोही तक कह डालते हैं।

जर्मनी के जहाज़ी बेड़े की उन्नति के लिए टिरपिज़ ने अत्यन्त परिश्रम किया। उपाय भर उन्होंने कुछ भी कसर नही कीं। उन्होंने अख़बारों में लेख लिखे, सभा-समितियाँ स्थापित कीं, जहाज़ी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था कराईं, पुस्तकें प्रकाशित कराईं और व्याख्यान दिलवाये। अँगरेज़ों का जहाज़ी बेड़ा दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। अतएव विद्यार्थियों को इंगलैंड भेज भेज कर अँगरेज़ों के जहाज़ी बेड़े का हाल जानने और उनका ज्ञान प्राप्त करने की भी उन्होंने बड़ी चेष्टा की। फल यह हुआ कि आज जर्मनी के टारपेडो, ट्रेडनाड और पनडुब्बी नावों की धूम मच रही है।

टिरपिज़ में अपने पक्ष की बात का प्रतिपादन करने की शैली अपूर्व है। प्रति-पक्षियों के विचारों का खण्डन और उनके मतों का मण्डन जब वे करने लगते हैं तब जी चाहता है कि उन्हीं की बात मान लें। अपने तथा अन्य राष्ट्रों के जहाज़ी बेड़ों के विषय का ज्ञान वे पूरा पूरा रखते हैं। किस देश में, कितने जहाज़ हैं, उनके लिए वहाँ कितना

ख़र्च किया जाता है, वहाँ के मुख्य अधिकारी कौन कौन हैं, इत्यादि सभी बातें उन्हें मालूम हैं।

क्रोध तो उन्हें छू तक नहीं गया। वे सदा हँसमुख देख पड़ते हैं। पारलियामेंट में क़ानूनी मसविदे पेश करते समय वे सदा कहा करते हैं कि—"किसी बात को जिस दृष्टि से मैं देखता हूँ उसी दृष्टि से जब तक सभासद न देखेंगे तब तक उन्हें उनके कथन की यथार्थता न मालूम होगी।"

एडमिरल टिरपिज़ रोज़ सवेरे सात बजे आफ़िस में पहुँचते हैं। जाते ही वे काम में भिड़ जाते हैं। पारलियामेंट में अपने क़ानूनी मसविदे पास हो जाने का उन्हें इतना निश्चय रहता है कि मंज़ूरी मिलने के पहले ही वे उन मसविदों के सम्बन्ध के काम कम्पनियों को ठीके पर दे दिया करते है। उनके काम से प्रसन्न होकर कैसर ने उन्हें 'आर्डर आव् दी ब्लैक ईगल' (Order of the Black Eagle) नाम की प्रतिष्ठित पदवी प्रदान की है। अच्छे कामों के लिए उन्हें कितने ही पदक दिये गये हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका सम्मान किया गया है।

अब तक वही जर्मनी के जहाज़ी बेड़े के प्रधान अधिकारी थे। पर हाल में उन्हें अपना पद त्याग करना पड़ा है। सुनते हैं, सबमैरीन नामक जहाज़-नाशनी पनडुब्बी नावो द्वारा मित्र-त्रितय के जहाज नाश करने की निन्द्य नीति के सम्बन्ध में कैसर से उनकी अनबन हो गई है। इसी से उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया है।

टिरपिज़ जैसे निपुण जलयुद्ध-विशारद और राजनीतिज्ञ हैं वैसे ही दूरदर्शी भी है। वर्तमान महासंग्राम रूपी विशाल और जटिल वट-वृक्ष का सूक्ष्म बीज टिरपिज़ ही का बोया हुआ है।

टिरपिज़ सत्रह वर्ष तक एडमिरल के पद पर रहे। बिस्मार्क को छोड़कर इतनी अधिक अवधि तक कोई भी जर्मन अधिकारी आज तक इतने बड़े पद पर नहीं रहा। जर्मनी और इंगलैंड दोनों की मित्रता पर पानी फेरने का दोष टिरपिज़ ही पर है।

टिरपिज़ अब बुड्ढे हो चले हैं। उनकी उम्र इस समय 68 वर्ष की है। जर्मनी के वर्तमान जहाज़ी बेडे को टिरपिज़ का जीता-जागता स्मारक ही समझिए।

[जुलाई, 1916 में प्रकाशित। 'चरित्र-चित्रण' में संकलित।]

बेंजमिन फ्रैंकलिन

बेंजमिन फ्रैंकलिन अमेरिका में एक बड़ा उद्योगी पुरुष हो गया है। वह केवल अपने ही पराक्रम और परिश्रम से योग्यता को पहुँचा। उसके आदि-अन्त की दशा का मिलान करने से निश्चय होता है कि दरिद्र भी उद्योग से धनाढ्य हो सकता है। वह निरा दरिद्र होने पर भी इतना बड़ा विद्वान् और सम्पत्तिमान कैसे हुआ, जो जो संकट उस पर पड़े उनसे उसको कैसे छुटकारा मिला, उसकी कीर्त्ति कैसे फैल गई—इन सब बातों का विचार करने से बहुतों को उसका सा उद्योग करके उन्नति करने का उत्साह होगा।

फ्रैंकलिन उत्तरी अमेरिका के बोस्टन नगर में सन् 1706 ई० में उत्पन्न हुआ था। उसका बाप बीस बरस पहले इंगलैंड से अमेरिका में जाकर बसा था। उसका कुटुम्ब बड़ा था; इसलिए वह सोच समझ कर चलता था। वह बुद्धिमान् और उद्योगी था और अपने लड़कों को विद्वान् बनाने के लिए सदा यत्न किया करता था।

फ्रैंकलिन के बड़े भाई ने एक छापाखाना खोला। उस समय फ्रैंकलिन की अवस्था केवल बारह बरस की थी। उसके बाप ने उसे भाई के अधीन कर दिया। फ्रैंकलिन को लड़कपन से ही पुस्तकें पढ़ने की बड़ी रुचि थी। इस कारण जो द्रव्य वह कमाता उसे बहुधा पुस्तकें मोल लेने में लगाता था। छापेख़ाने में रहने के कारण बहुत से पुस्तक बेचने वालों से उसकी जान पहचान हो गई। वह शाम को उनसे पुस्तकें माँग लाता और रात में पढ़कर सबेरे लौटा आता था। इस रीति से उसकी बुद्धि दिन दिन बढ़ती गई और वह अपने भाई की विशेष सहायता करने लगा।

सोलह बरस की उम्र में बेंजमिन के हाथ एक पुस्तक लगी, जिसका आशय यह था कि अन्न और वनस्पतियों का आहार मनुष्यों के लिए सस्ता और हितकारी है। तब उसने इसी प्रकार का भोजन करने का निश्चय किया। अपने भाई से उसने कहा कि जितना व्यय मेरे भोजन में पड़ता है उसका आधा ही ख़र्च किया जाय; शेष रक्खा रहे; काम पड़ने पर माँग लिया करूँगा। भाई ने उसका कहना मान लिया। उसकी आधी कमाई बचने लगी, जिससे नई नई पुस्तकें लेने में उसे बड़ी सुगमता हुई। जब उसका भाई और छापेख़ाने के नौकर भोजन करने जाते तब वह वहीं रहता और खाकर कुछ न कुछ सीखा करता। जब वह कोई नई विद्या सीखने पर उतारू होता तब धीरज से अवश्य ही उसे सीख लेता। एक दिन की बात है कि उसे गणित का एक प्रश्न हल करने की आवश्यकता हुई। पर वह उसे न कर सका। इस पर वह बहुत लज्जित हुआ। उसी दिन से वह गणित के अभ्यास में तत्पर हो गया और जब तक उसमें निपुण न हो गया उसने दूसरे विषय के सीखने को मन न चलाया।

फ्रैंकलिन का भाई उसके साथ निठुरता का बर्ताव करता था। इसलिए वह नौकरी की खोज में फ़िलाडेलफ़िया गया। उस समय उसकी गाँठ में बहुत ही थोड़ा धन

था। इसलिए वह वहाँ थोड़े दिन एक छापेख़ाने की नौकरी करके लन्दन गया और वहाँ नौकर हो गया। वह समय पर उपस्थित रह कर छापेख़ाने के अपने काम को बड़े ध्यान से करता था। इसलिए उसका स्वामी उससे बहुत सन्तुष्ट रहता था। वह अक्षर बड़ी फ़ुर्ती से जोड़ता था। इसलिए जल्दी के काम उसी को मिला करते थे। ऐसे कामों में धन भी भी अधिक मिलने लगा और ख़र्च के बन्धेज से धीरे धीरे उसके पास कुछ धन इकट्ठा भी हो गया।

लन्दन में डेढ़ बरस रह कर वह फ़िलाडेलफ़िया को लौट आया और फिर अपने पुराने स्वामी के यहाँ नौकरी करके बहुत सा रुपया कमाया। उस रुपये से उसने निज का छापाख़ाना खोल लिया और एक समाचार-पत्र निकालने लगा। इस समाचार-पत्र के चारों ओर ग्राहक हो गये और उसकी प्रतिष्ठा दिन दिन बढ़ने लगी। सम्पत्ति होने पर भी उसने अपने व्यवहार में तनिक भी अन्तर न पड़ने दिया। बहुधा हीन दशा से जो उन्नति पाते हैं वे इतराने और औरों को तुच्छ समझने लगते हैं। परन्तु फ्रैंकलिन ऐसा न था। ज्यों ज्यों उसकी बढ़ती होती गई त्यों त्यों वह और भी नम्र होता गया। वह यहाँ तक निरभिमानी था कि बाज़ार से काग़ज़ मोल लेकर, ठेले पर रख कर, आप ही उसे खींच लाता था। कुछ दिन पीछे उसने विवाह किया। उसकी स्त्री भी शील स्वभाव की अच्छी थी। इस कारण उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उसने एक बड़ा पुस्तकालय साधारण लोगों के लिए खोला। उसमें चन्दा देने वालों को पुस्तकें देखने के लिए मिला करती थी। अमेरिका में इस ढंग का यह पहला ही पुस्तकालय था। उसने 'दि वे टु वैल्थ' (The Way to Wealth) अर्थात् धन उपार्जन करने का मार्ग नामक एक ग्रन्थ रचा। इस पुस्तक की अमेरिका में बड़ी बिक्री हुई। सन् 1739 में वह गाँव के कामों पर ध्यान देने लगा। उन दिनों पुलिस की अवस्था अच्छी न थी। उसके सुधार के लिए बड़ा प्रयत्न करके उसने सरकार से अच्छा प्रबन्ध कराया। उसने आग से हानि होने का बीमा करने वाली कम्पनियाँ खड़ी करने के लिए लोगों को उत्साहित किया। उसने शिक्षा के लिए पाठशालायें खुलवाईं और अपने देश की रक्षा के लिए सेना रखवाई।

इस समय फ्रैंकलिन का मन पदार्थ-विज्ञान की ओर झुका। उसने यह सिद्ध कर दिया कि कृत्रिम बिजली, जो पदार्थों की रगड़ से उत्पन्न होती है, और अकृत्रिम बिजली (जो आकाश से गिरती है) में कुछ भेद नहीं है, और अकृत्रिम बिजली को आकाश से उतार सकते हैं। जब यह बात निश्चित हो गई तब उसने बिजली से बड़े बड़े ऊँचे घरों के बचाव की युक्ति अपनी बुद्धि से सोच निकाली। वह युक्ति यह थी कि ऊँचे ऊँचे मकानों में कच्चे लोहे की छड़ें लगाई जायँ, जिनका एक सिरा धरती में गड़ा रहे और दूसरा सिरा मकान के ऊपर निकला रहे। बिजली उसी छड़ के ऊपर गिर कर धरती में समा जाय और मकान को कुछ भी हानि न पहुँचे।

उस समय फ्रैंकलिन से बढ़ कर प्रतिष्ठित और कोई भी न था। इस असाधारण मनुष्य ने केवल विद्या ही के बल से इतनी प्रतिष्ठा पाई। उसमें विशेषता यह थी कि उसने किसी पाठशाला में किसी अध्यापक से कुछ नहीं पढ़ा। जो कुछ विद्या उसे प्राप्त हुई वह उसके ही परिश्रम का फल था। वह निर्धन था, तो भी अपने अन्न-वस्त्र के ख़र्च

से पुस्तकों के लिए कुछ बचा रखता था और जिन पुस्तकों को वह न मोल ले सकता था उन्हें औरों से कुछ काल के लिए माँग लाता था। जीविका के लिए दिन भर तो वह काम काज में लगा रहता और आधी रात तक पुस्तकें देखा करता था।

फ्रैंकलिन जैसा विद्वान् था वैसा ही स्वदेश-हितैषी भी था। इस कारण प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि राज्य-सम्बन्धी सभाओं में उसकी कुरमी मिलने लगी। अमेरिका के निवासी अँगरेज़ों ने स्वाधीन होने के लिए इंगलैंड से युद्ध आरम्भ किया। उस समय उन्होंने बेंजमिन को फ्रांस के दरबार में अपनी ओर से प्रतिनिधि बना कर भेजा। उसने वहाँ जाकर अपने देश वालों से फ्रांस वालों की मित्रता कराई। इस कारण फ्रांस और इंगलैंड वालों में युद्ध हुआ। जिस समय फ्रैंकलिन फ्रांस देश के पेरिस नगर में था उस समय एक आयरलैंड-निवासी जो वहाँ रहता था, बड़ी दुर्दशा में था। उसने पत्र द्वारा फ्रैंकलिन से कुछ सहायता चाही। फ्रैंकलिन ने उसे लिखा कि पत्र के साथ दस मोहरों की हुण्डी तुम्हारे पास भेजी जाती है। ये मोहरें मैंने तुम्हें दे नहीं डालीं किन्तु तुम इनको उधार समझो। आशा है कि जब तुम अपने देश लौट जाओगे तब तुम्हारी जीविका का कहीं न कहीं ठिकाना हो ही जायगा। उस समय तुम अपना ऋण भी चुका सकोगे। इतना सामर्थ्य होने पर जब तुम किसी मनुष्य को ऐसी ही अवस्था में देखो जैसी अवस्था में तुम इस समय हो तब उसे यही मोहरें दे देना, और उससे भी जो मैंने तुम्हें लिखा है, कह देना। ऐसा करने से तुम उऋण हो जाओगे। मैं चाहता हूँ कि इसी तरह रुपये से बहुतों का काम निकले। मैं बड़ा धनी नहीं हूँ। तो भी थोड़े ही धन से, जहाँ तक बन पड़े, दीन-दुखियों का उपकार करना चाहता हूँ। इसलिए मैंने तुमको यह पत्र लिखा है।

अन्त में इंगलैंड और अमेरिका वालों में सन्धि हो गई, जिससे अमेरिका के निवासी स्वतन्त्र हो गये। उस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए अमेरिका वालों ने बेंजमिन को ही भेजा। दो बरस इंगलैंड में रह कर वह अपने देश को लौट आया। लौट आने पर, उसके उपकारों का स्मरण करके, उसके देश-निवासियों ने उसे अपना प्रेजिडेन्ट अर्थात् सभापति बनाया।

यह महान् पुरुष पचासी बरस की अवस्था में, अप्रैल की सत्रहवीं तारीख़ को, सन् 1790 में, परलोक सिधारा।

[अगस्त, 1916 की 'सरस्वती' में '—सिंह—वर्म्मा' नाम से प्रकाशित। असंकलित।]

डाक्टर एल० पी० टैसीटोरी

एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी बोलने और हिन्दी भाषा के पत्र और पुस्तकें पढ़ने वालों में से बहुत कम लोगों ने डाक्टर टैसीटोरी का नाम सुना होगा। उनके काम से तो शायद ही दस-पाँच हिन्दी-प्रेमी सज्जन परिचित हों। डाक्टर साहब बड़े विद्वान्, बड़े विद्याव्यसनी और बड़े श्रमसहिष्णु थे। खेद है, पिछले नवम्बर महीने में, आपका शरीरान्त हो गया। इटली में रह कर भी, जिस देश की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओ पर आपका अप्रतिम प्रेम था उसी देश—भारतवर्ष—में आकर और कई वर्ष रह कर, बीकानेर में आपने शरीर छोड़ दिया। श्लेष्मज्वर, अर्थात् इन्फ़्लुयंजा, से आपकी मृत्यु हुई।

डाक्टर साहब की जन्मभूमि इटली का यूडाइन नगर था। भारतवर्ष की भाषायें सीखने का आपको व्यसन सा था। पच्चीस ही वर्ष की उम्र में, अपने ही देश में बैठे बैठे, बिना किसी अध्यापक की सहायता के, आपने हिन्दी, उर्दू, गुजराती (नई पुरानी दोनों), संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था—इतना ज्ञान कि आप हिन्दी में अपने विचार व्यक्त तक कर सकने लगे थे; हिन्दी में आप पत्र लिख सकते थे।

31 वर्ष के होने पर डाक्टर साहब ने अपने भाषा-ज्ञान को और भी बढा लिया। यहाँ तक कि इस देश की भाषाओं के सम्बन्ध में आपने कितने ही गवेषणापूर्ण लेख भी प्रकाशित कर दिये। लैटिन और ग्रीक भाषायें तो आप पहले ही से जानते थे। नई और पुरानी मारवाड़ी, डिंगल, ब्रजभाषा इत्यादि का भी अच्छा ज्ञान सम्पादन कर लिया। अँगरेज़ी में आप एम० ए० थे ही। तुलसीदास की रामायण पर निबन्ध लिख कर अपने देश के विश्वविद्यालय से आपने पी-एच० डी० (अर्थात् दर्शन-शास्त्र के आचार्य्य) की भी पदवी प्राप्त कर ली थी।

और और लेखों के सिवा मारवाड़ी भाषा का व्याकरण लिख कर आपने इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित कराया। जैन-साहित्य पर भी आपका विशेष प्रेम था। 'उपदेश-माला', 'भववैराग्य-शतक' तथा 'इन्द्रिय पराजय-शतक' का अनुवाद आपने अपनी मातृभाषा इटालियन में कर डाला। जैन-साहित्य का ज्ञान सम्पादन करने में आपको जैनाचार्य्य श्रीविजयधर्म्म सूरि से बहुत सहायता मिली। आचार्य्य महाराज से डाक्टर साहब का अनिर्बन्ध पत्र-व्यवहार रहता था।

भारतवर्ष आकर यहाँ अपने भाषाज्ञान की वृद्धि करने की इच्छा बहुत पहले ही से आपके हृदय में थी। इसे पूर्ण करने के लिए इस देश के सरकारी कर्म्मचारियों से आपने लिखा-पढ़ी शुरू की। इसमें आपको सफलता हुई। आप राजपूताने के भाटों की रचनाओं तथा ऐतिहासिक लेखों का संग्रह करने के लिए नियुक्त किये गये। यह काम

दो-तीन वर्ष तक आपने बड़ी खूबी से किया। इन रचनाओं का एक सूचीपत्र आपने तैयार कर दिया। अपने काम की दो सालों की रिपोर्टें भी आपने लिखीं। उनमें कितनी ही महत्त्वपूर्ण और अज्ञात बातों का उल्लेख आपने किया। 'रतनसिंह राठोड़ की वचनिका' नाम की एक ऐतिहासिक पुस्तक का सम्पादन भी आपने किया। यह पुस्तक पुरानी मारवाड़ी भाषा में है।

भारत आने पर आचार्य्य विजयधर्म्म सूरि महाराज के पास बैठ कर आपने जैन-साहित्य तथा और भी कितने ही विषयों के ज्ञान को पुष्ट और पल्लवित किया। आचार्य्यजी पर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। उनके साथ आप भी पैदल यात्रा करते थे। एक दफ़े सादड़ी से रानकपुर तक आप आचार्य्यजी के संघ के साथ साथ बराबर पैदल गये।

पीछे से आप बीकानेर में जा रहे थे। वहाँ के पास-पड़ोस के गाँवों में आप पुराने शिलालेखों, सिक्कों तथा अन्य वस्तुओं का संग्रह करते थे। यदि आप कुछ दिन और जीते तो बीकानेर में प्राचीन वस्तुओं का एक बहुत अच्छा संग्रहालय संस्थापित हो जाता। अब भी वहाँ डाक्टर साहब की संग्रहीत वस्तुओं की अच्छी संख्या एकत्र है।

सोचने की बात है। इटली में रह कर, बिना किसी की सहायता के, इस मनस्वी महापुरुष ने भारत की कितनी ही नई पुरानी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। अपनी इस ज्ञानप्राप्ति की पिपासा को दूर करने के लिए वह इतनी दूर, समुद्रपार करके, इस देश में भी आया और यहीं खप गया। एक हम हैं जो पुरानी भाषाओं की तो कथा ही क्या, अपनी निज की मातृभाषा में भी शुद्ध शुद्ध पत्र-व्यवहार तक नहीं कर सकते और जो लोग कर भी सकते हैं उनमें से अधिकांश अपनी भाषा लिखना अपनी इज्जत घटाना समझते हैं। इन अन्धे और अनुदार विचारों के गर्त से निकलने की बुद्धि भगवान् हमें शीघ्र ही दे, यही उससे हमारी प्रार्थना है।

[मार्च, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

वाल्ट ह्विटमैन

समाज उच्छृंखलता नही चाहती । इसीलिए एक मर्य्यादा निर्धारित कर दी गई है जिसे भंग करने का साहस कोई नहीं कर सकता । साहित्यक्षेत्र की भी यही दशा है । वह भी मर्य्यादित है—नियमबद्ध है । उन नियमों को तोड़ देना बड़ा कठिन है । फिर भी, मानव-समाज से समान साहित्यक्षेत्र में भी परिवर्तन होते रहते हैं । जब प्रचलित नियमों से साहित्य के विकास में बाधा आती है, जब उन नियमों के कारण साहित्य में प्रतिभा-स्रोत मलिन पड़ जाता है । मौलिकता नष्ट हो जाती है, अपूर्वता नही रहती है, तब एक ऐसे कवि का आविर्भाव होता है जो अपनी मौलिकता से उन नियमों को निस्सार सिद्ध कर देता है । इसमें सन्देह नहीं कि लोग उसकी कृति को देख पहले पहल उसका उपहास करते है, कुछ कुछ उसकी अवहेलना भी करते हैं; पर अपनी विलक्षणता से, अपनी अपूर्वता से, शीघ्र ही वह मनुष्यों के हृदय में स्थान कर लेता है । तब लोग उस कवि का आदर करने लगते हैं ।

वाल्ट ह्विटमैन अमेरिका का ऐसा ही कवि था । विद्वानों का कथन है कि उसकी कविता में अमेरिका के अन्य कवियों से अधिक सजीवता और मौलिकता है । वह प्रजा-पक्ष का कवि कहा जाता है, क्योंकि उसने जन-साधारण के हृद्गत भावों को अच्छी तरह व्यक्त किया है । उसने न तो किसी का अनुकरण किया है और न स्वयं कोई नियम बनाने की परवा की है । उसके विचार विचित्र हैं और उसकी शैली विलक्षण है । चाहे कोई उन विचारों से सहमत हो चाहे न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह वाल्ट ह्विटमैन की कृति का आदर अवश्य करेगा ।

वाल्ट ह्विटमैन की उच्छृंखता का प्रमाण हमें उसकी कृति में खूब मिलता है । उसका कहना है कि कविता-कामिनी से शब्दों का भार-वहन कराकर उसे हंसगामिनी मत बनाओ । उसे अपनी स्वाभाविक गति से स्वच्छन्दतापूर्वक चलने दो, साहित्याकाश में उसे निर्बन्ध-रहित पक्षी की तरह उड़ने दो, भाव-सिन्धु में उसे मछली की तरह तैरने दो । उपमा आदि अलंकारों की कोई ज़रूरत नहीं । उसका प्राकृतिक सौन्दर्य्य इन अलंकारों से नष्ट हो जाता है । कविता मे न तो तर्क से काम लो और न विवाद से । उसमें तुम रहो; तुम्हारा प्रतिविम्ब न रहे । उसमें प्रकृति रहे; प्रकृति की छाया न रहे । उसके निम्नलिखित पद्यों से यह भाव प्रकट होता है—

Small is the theme of the following chant, yet the greatest, namely,

One's self, that wondrous thing, a simple separate person.
That, for the use of the New World I sing,
Man's physiology from top to bottom I sing,

Not physiognomy alone, nor brain alone, is worth the Muse.

I say, the form complete is worthier far, the female equally with the male I sing.

इसका मतलब यह है—मेरे गान का विषय क्षुद्र है; फिर भी वह महत्तम है। वह है अपनी आत्मा, सबसे विलक्षण वस्तु, सबमे भिन्न साधारण व्यक्ति। मै इसे नवीन विश्व के हितार्थ गाता हूँ; नख से शिख पर्य्यन्त में मनुष्य का शरीर-विज्ञान गाता हूँ। सिर्फ़ उसका लक्षण अथवा उसका मस्तिष्क कविता देवी के योग्य नही। मैं कहता हूँ, उसका सम्पूर्ण रूप ही योग्यतर है। स्त्री के साथ पुरुष के विषय मे मैं गान करता हूँ।

वाल्ट ह्विटमैन का जन्म वेस्ट हिल्स, लाँग आइलैंड, न्यूयार्क में, 1819 ईसवी की 31 मई को हुआ था। उसका पिता पहले खेती करता था। फिर वह बढ़ई का धन्धा करने लगा। कुछ समय तक वह कारीगर भी रहा। वाल्ट 9 भाई-बहन थे। वह अपने बाप का दूसरा लड़का था। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा ब्रुकलिन नगर में हुई। तेरह ही वर्ष की अवस्था में उसे जीविका-निर्वाह के लिए काम करना पडा। पहले उसे चिट्ठी-रसानी का काम मिला। फिर उसने एक छापेखाने मे काम किया। इसके बाद वह एक देहाती स्कूल में मास्टर हो गया। 1836 में उसने एक सामयिक पत्र निकाला। उसका नाम रक्खा गया 'लाँग आइलैंडर' (Long Islander)। 1839 तक उसका सम्पादन उसी ने किया। फिर वह ब्रुकलिन से प्रकाशित होने वाले एक दैनिक पत्र का सम्पादक हुआ। 1849 में वह न्यू आरलीन्स (New Orleans) के 'क्रेसेन्ट' (Crescent) नामक सामयिक पत्र के सम्पादन-विभाग में नियुक्त हुआ। दो वर्ष बाद वह ब्रुकलिन के एक छापेखाने में प्रिण्टर हुआ। इसके बाद वह अपने पिता का ही व्यवसाय करने लगा। पर मासिक पत्रों में उसके लेख बराबर निकलते रहे।

1855 में उसकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। उसका बड़ा विचित्र नाम था—'Leaves of Grass' अर्थात् घास के पत्ते। कुछ समय तक तो जनता का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट नही हुआ। पर कुछ समय बाद राल्फ़ वाल्डो इमरसन नामक विद्वान् ने उसकी प्रशंसा में एक पत्र न्यूयार्क 'ट्रिब्यून' नामक पत्र में प्रकाशित किया। तब से लोग उसे जानने लगे। 1856 ईसवी मे उसकी कविताओं के संग्रह का दूसरा संस्करण निकला। इसके बाद 1880 में उसका एक और परिवर्धित संस्करण निकाला गया। उसके आरम्भ मे एक भूमिका थी। भूमिका क्या थी, कवि और काव्य पर एक निबन्ध था। उसकी कुछ बातें सुन लीजिए। उनमे आप जान सकेंगे कि कवि के कर्तव्य के विषय में ह्विटमैन के विचार कैसे थे—

कवियो के लिए कोई भी विषय छोटा नही। जिसे साधारण जन क्षुद्र समझते है वह भी कवि के हाथों में पड़कर महान् हो जाता है। कवि उसमें नया जीवन डाल देता है। कवि द्रष्टा है। उसमें और दूसरे लोगों में इतना ही भेद है कि वह देखता है और दूसरे देखते नहीं; और जब देखते हैं तब कवि ही की दृष्टि से देखते हैं। कवित्वगुण न तो शब्दों के झंकार में रहता है और न यमक और अनुप्रास के आडम्बर में। न वह शिक्षा-पूर्ण पद्यों में है और न विषादात्मक रचनाओं में। उसका जन्म-स्थान आत्मा है। इसलिए

जिस रचना का सर्वस्व आत्मा का विकास नहीं, वह कविता ही नहीं।

कवि समस्त विश्व का प्रेमी है। उसके जीवन का आधार यही अनन्त प्रेम है ! जो दूसरे के लिए विघ्न-स्वरूप हैं वे उसके प्रेमानल में आहुति का काम देते हैं। उनके सम्पर्क से उसका आनन्द और भी अधिक बढ़ जाता है। उसके लिए बाधा है ही नहीं। न दुःख है, न मृत्यु है, न अन्धकार है और न भय है। कवि न तो सदुपदेश देता है और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना गौरव समझता है। इस आत्मगौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनन्त है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है।

जब वाल्ट ह्विटमैन ब्रुकलिन में था तब घण्टों खड़े खड़े लोगों की भीड़ देखा करता था। उसी से उसे अपनी कविता के लिए सामग्री मिलती थी। उसके शरीर में एक प्रकार की आकर्षण-शक्ति थी जिससे लोगों की दृष्टि उस पर अनायास खिंच जाती थी। कानवे नाम के एक सज्जन एक बार उसे देखने गये थे। उन्होंने लिखा है—

"उस दिन बड़ी गरमी थी। सूर्य्य के तीव्र उत्ताप से लाँग आइलैंड की भूमि तप रही थी। उस समय मैंने वाल्ट ह्विटमैन को धूप में लेटे हुए पाया। उसके कपड़े भूरे थे। सूर्य्य-ताप से शरीर का रंग भी वैसा ही हो गया था। पृथ्वी पर लेटा हुआ वह सहसा पहचाना न जा सकता था। ऐसा जान पड़ता था कि वह और पृथ्वी दोनों एक हैं।"

जिस घर में ह्विटमैन रहते थे उसमें एक ही कमरा था। सामान भी बहुत कम। किताबों में बाइबिल, होमर नामक ग्रीक कवि का काव्य और शेक्सपियर के नाटक। यही उसे खूब पसन्द थे। इन्हें वह सदा जेब में रक्खा करता था।

1862 में जब उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में परस्पर युद्ध आरम्भ हुआ तब वाल्ट ह्विटमैन ने उत्तरी अमेरिका का पक्ष ग्रहण किया। उसका भाई जी० डब्ल्यू० ह्विटमैन सेना-विभाग में अफ़सर था। जब वह घायल हुआ तब ह्विटमैन ने स्वयं जाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा की। 10 साल तक वह बल्लमटेर फ़ौज में रहा। 1866 में उसने युद्ध-विषयक कवितायें प्रकाशित कीं। 1873 में उसको लकवा मार गया। इससे वह क्षीण-शक्ति हो गया। तब वह कैमडन नाम के एक नगर मे जाकर रहने लगा। वहीं उसकी मृत्यु, 1892 में, हो गई।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में इस कवि के विषय में लिखा है—"His life was a poet's life from first to last—free, unwordly, unhurried, uncontentional, unselfish and was contentedly and joyously lived." अर्थात्—ह्विटमैन का जीवन आदि से अन्त तक कवि का जीवन था। कैसा जीवन ? स्वच्छन्द, विरक्त, शान्तिमय, सन्तुष्ट और आनन्द-पूर्ण।

[जून, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। असंकलित।]

विक्टर ह्यूगो

ह्यूगो की गणना संसार के सार्वभौम कवियों मे है । उसकी रचना-शक्ति विलक्षण थी। उसने लगातार 50 वर्ष तक साहित्य-सेवा की। वह कवि था, नाटककार था और उपन्यास-लेखक भी योरप में उसके ग्रन्थों का बड़ा मान है।

फ्रांस के बेसनकान (Basancon) नामक नगर में, 26 फ़रवरी 1802 को, ह्यूगो का जन्म हुआ। वह अपनी माता के द्वारा स्नेहपूर्वक प्रतिपालित हुआ। उसकी माता ने राजपक्ष ग्रहण करके नेपोलियन के एक सेनाध्यक्ष के साथ विवाह किया था। राजपक्ष के उत्थान और पतन पर इनका भाग्य अवलंबित था। ह्यूगो ने अपने शैशव-काल में ही इसका अनुभव कर लिया था। बालक ह्यूगो पर इसका पूरा प्रभाव पड़ा। यह उसके प्रारम्भिक ग्रन्थों में लक्षित होता है।

बाल्य-काल में ही ह्यूगो की प्रतिभा का विकास होने लगा था। स्विनबर्न नामक एक लेखक ने उसके विषय में लिखा है—There was never a more brilliant boy than Victor Hugo. अर्थात् विक्टर ह्यूगो से अधिक तीव्र-बुद्धि कोई भी अपने बाल्य-काल में नहीं हुआ। 16 वर्ष की अवस्था में उसने Bug Jargal नामक एक कथा लिखी। उसमें भावों की कोमलता और प्रवणता दोनों अच्छी तरह व्यक्त हुई हैं। दो साल बाद उसने 'हैन डी आइलैंड' (Han d' Island) की रचना की। इसके विषय में एक विद्वान् की राय है—No boyish work on record ever showed more singular force of hand, more brilliant variety of power—अर्थात् किसी के भी बाल्य-काल की रचना में क़लम की ऐसी कारीगरी और शक्ति-वैचित्र्य नही है।

1823 में एडले फ़ाउचर (Adele Foucher) नामक एक महिला के साथ उसका विवाह हुआ। शीघ्र ही उसके अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए। उनसे उसकी बड़ी ख्याति हुई और फ्रांस के प्रतिभाशाली कवियो में उसकी गणना होने लगी। उसकी कविताओ का पहला संग्रह ले 'ओरियन्टेल'(Les Orientales) है। उसकी अक्षय कीर्त्ति को स्थापित करने के लिए यही एक ग्रन्थ पर्याप्त था। इसमें ओज है और माधुर्य्य भी है। इससे कवि का कला-कौशल और भाषा-नैपुण्य दोनों सूचित होते है। 1831 से 1840 तक उसके अन्य कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए। सभी में उसकी विलक्षण शक्ति विद्यमान है। शेक्सपियर के बाद वियोगान्त नाट्य-काव्यों की रचना मे वह अद्वितीय है, यह सभी लोगों ने स्वीकार कर लिया है।

ह्यूगो के उन्नत हृदय का एक प्रमाण लीजिए। उसने एक नाटक लिखा था, 'मेरियन डी लार्मे' (Marion de Lorme)। इसमें सन्देह नहीं, वह एक उत्कृष्ट वियोगान्त नाटक था। उसमें राजा अपने मंत्री के वशीभूत बतलाया गया था। चार्ल्स दसवें के शासन-काल में इसी कारण उसका प्रचार बन्द करा दिया गया। चार्ल्स के बाद

उसके उत्तराधिकारी ने ह्यूगो को उस नाटक का प्रचार करने की आज्ञा दे दी। पर ह्यूगो ने अस्वीकार कर दिया।

38 वर्ष की अवस्था में वह फ्रेंच एकेडमी नामक विद्वत्समिति में सम्मिलित हुआ। उस समय उसने जो वक्तृता दी वह नेपोलियन की कीर्त्ति का स्मारक है। 1846 में उसने चेम्बर आव् पीयर्स अर्थात् अमीरों की राजकीय सभा में पोलैंड का पक्ष लेकर व्याख्यान दिया। उसका दूसरा व्याख्यान फ्रांस की तट-रक्षा पर था। उसने नेपोलियन के निर्वासित परिवार के लिए भी खूब प्रयत्न किया। उसका फल यह हुआ कि फ्रांस के राजा लुई फिलिप ने निर्वासन-विषयक अपनी आज्ञा रद्द कर दी। इसके बाद फ्रांस में षड्यन्त्रकारियो ने हत्या पर हत्या करके नेपोलियन बोनापार्ट को सिंहासनारूढ़ कराया। ह्यूगो निर्वासित हुआ और कोई 28 वर्ष तक वह अपने देश के बाहर रहा। इसी समय उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ले चेटीमेंट्स' (Les chatiments) निकला। इसमें ह्यूगो के क्षुब्ध हृदय से ऐसे उद्‌गार निकले हैं जो किसी भविष्यद्‌वक्ता के वचन जान पड़ते हैं। उनमे पदलालित्य है, दिव्य भावावली है और हृदयहारी व्यंग्य है। सम्भव नही, कोई उसका पाठ करके मुग्ध न हो जाय।

'ले चेटीमेंट्स' के प्रकाशित होने के तीन साल बाद 'ले कनटमप्लेशन्स' (Les contemplations) निकला। यदि 'ले चेटीमेंट्स' अर्धरात्रि के अन्धकार में लिखा गया था तो इसकी रचना उषःकाल के मनोरम प्रकाश में हुई थी। इसके 6 भाग हैं। पहले भाग में जीवन के प्रभात-काल के सुख-दुःख, भाव और कल्पनायें, उत्साह और स्फूर्ति वर्णित हुई हैं। इसके प्रयुक्त छन्दों में भी वही मधुरिमा और लालित्य है। दूसरे भाग में भाषा की वैसी ही विशदता और छन्दो का वैसा ही वैचित्र्य है, पर भावों में गम्भीरता आ गई है। तीसरा भाग और भी अधिक परिष्कृत हो गया है। चौथे भाग में शोक का उच्छ्‌वास है। विक्टर ह्यूगो की एक कन्या अपने पति के साथ 1843 में नारमेण्डी के किनारे डूबकर मर गई थी। इसी घटना से व्यथित होकर कवि ने जो कवितायें लिखी थी वे सब इस भाग में हैं। इसके एक एक पद से कवि की मर्म-व्यथा प्रकट होती है। इससे अधिक हृदय-ग्राही वर्णन अन्यत्र नही मिल सकता। पाँचवें और छठे भाग मे भी कुछ कवितायें, भावों की गम्भीरता और विशदता के लिए अद्वितीय हैं।

1862 मे ह्यूगो का प्रसिद्ध उपन्यास 'ले मिजेरेबिल' (Les miserables) निकला। आज तक ऐसे उपन्यास की सृष्टि ही नही हुई है। इसमें आत्मा की कथा है—वह कैसे विकृत होती है और उसका कैसे उद्धार होता है; दुःखों की ज्वाला से उसका परिशुद्ध रूप कैसे उदित होता है। इसमें जीवन के आलोक और तिमिर का, उत्थान और पतन का, बड़ा ही अच्छा वर्णन है।

इसके बाद ह्यूगो ने विलियम शेक्सपियर की कृति पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। उसके पुत्र ने शेक्सपियर के नाटको का अनुवाद किया था। उसी के साथ भूमिका के रूप में जोड़ने के लिए इस निबन्ध की रचना हुई थी। इसके बाद उसके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यह तो हम कह ही आये हैं कि ह्यूगो में विलक्षण रचना-शक्ति थी। अन्तकाल तक उसमें यह शक्ति विद्यमान रही। उसकी मृत्यु के बाद उसके कई ग्रन्थ

प्रकाशित हुए। उनमें भी वही विलक्षणता है; वही प्रतिभा-प्रकाश है। अपने जीवन-काल में ही अनन्त यशोराशि अर्जन करके, 1885 में, विक्टर ह्यूगो ने अपनी इहलीला संवरण की।

ह्यूगो के चरित्र-चित्रण में एक विशेषता है जो अन्य किसी लेखक में नहीं। उदाहरण के लिए स्काट को ही लीजिए। स्काट मे भी चरित्र अंकित करने की कुशलता थी, अवलोकन की शक्ति थी और कल्पना थी। यही बात विक्टर ह्यूगो में थी। पर ह्यूगो की कृति से जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा स्काट के उपन्यासों से नही पड़ा। अर्थ और भाव का जो गाम्भीर्य ह्यूगो मे है यह स्टाक में नहीं। ह्यूगो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने मानव-जीवन में हमें अदृष्ट शक्ति का दर्शन कराया है। संसार मे सबसे अलक्षित किन्तु सबसे अनुभूत जो हाहाकार-ध्वनि उठ रही है, जिसके कारण सब अपने अधरों के हास्य में हृदय की मर्मव्यथा छिपाये रहते है, वह हमें ह्यूगो की कृति में दिखाई देती है। ह्यूगो के साथ पाठकों की अनवच्छिन्न सहानुभूति रहती है। यही कारण है कि पाठक उसकी प्रतिभा से केवल विस्मय-विमुग्ध ही नही होते, उसके साथ ही उसके भावस्रोत में बह भी जाते है।

साधारण मनुष्यों के अत्यन्त साधारण जीवन में भी काव्यमय सौन्दर्य्य रहता है, परन्तु उसे देखने के लिए कल्पना और सहानुभूति चाहिए। राजा के प्रासाद और दरिद्र की क्षुद्र कुटि में जीवन का जो उत्थान-पतन होता है, आशा और निराशा का जो द्वन्द्व-युद्ध मचता है, धनिकता और निर्धनता के बाह्य आवरणो के नीचे जो आँधी उठती है, उसका चित्र खचित कर देना कवि का ही कर्त्तव्य है, यद्यपि यहीं उसके कर्त्तव्यों का अन्त नहीं हो जाता। ह्यूगो के काव्यों का जो विलक्षण प्रभाव पड़ता है उसका कारण यही है। कवि में जैसे भावों की गम्भीरता है वैसे ही कल्पना-शक्ति की उद्दण्डता भी है। परन्तु अस्वाभाविकता ज़रा भी नही। वह जिस प्रकार जीवन के अन्धकारमय रहस्यो पर प्रकाश डालते हैं उसी प्रकार वह मनुष्यों की कोमल वृत्तियों को भी अंकित करने मे सिद्ध-हस्त है।

विक्टर ह्यूगो ने एक बार प्रिन्स बिस्मार्क को सम्बोधन कर के कहा था—"तुममें एक शक्ति है; मुझमें दूसरी शक्ति है। पर मैं तुझसे बड़ा हूँ। तू शरीर है तो मै आत्मा हूँ। यदि हम दोनों एक हो जायँ तो संसार का अस्तित्व ही न रहे।"

ह्यूगो के इस कथन में क्या केवल गर्वोक्ति है ? नहीं, वह याथार्थ्य से भरी हुई है।

[नवम्बर, 1920 को 'सरस्वती' मे प्रकाशित। असंकलित।]

लुई पास्टुर

फ्रांस के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्रवेत्ता लुई पास्टुर की गणना उन वैज्ञानिकों में है जिसके आविष्कारों से संसार को अपरिमित लाभ पहुँचा है। संसार में न तो विद्वानों का अभाव है और न कीर्तिमान् पुरुषों का। परन्तु ऐसे थोड़े ही लोग होते हैं जो संसार में सुख और शान्ति फैलाने की चेष्टा में ही अपना जीवन लगा देते हैं। वे किसी स्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर उद्योग नहीं करते। सच तो यह है कि अपने उद्योग में वे ऐसे लीन हो जाते हैं कि उद्योग ही उनका जीवन हो जाता है। लुई पास्टुर ऐसे ही मनुष्य थे। उनके समान उद्योगशील मनुष्य थोड़े ही होंगे।

लुई पास्टुर का जन्म 27 दिसम्बर सन् 1822 ईसवी को हुआ था। उसके पिता साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। वे चमड़े का रोज़गार करते थे। पास्टुर को अपने जन्म-स्थान से बड़ा प्रेम था। एक बार जब वह पेरिस में बीमार पड़ा तब उसने अपने साथी से कहा—"यदि मैं एक बार भी अपने पिता के चमड़े के कारख़ाने में जा सकूं तो ज़रूर अच्छा हो जाऊँ"। जन्मस्थान के प्रति लुई का यह प्रेम सदा बना रहा। कदाचित् यही कारण है कि लुई के स्वभाव में इतनी सरलता और स्नेह था।

बाल्यावस्था में लुई की कुछ भी प्रसिद्धि नहीं हुई। उसके जन्म के बाद उसका पिता सपरिवार अरबई (Arbois) नामक स्थान में चला आया। यहीं लुई को प्रारम्भिक शिक्षा मिली। साधारण शिक्षा पा लेने के बाद यहीं एक कालेज में वह भरती हुआ। उसकी गणना साधारण विद्यार्थियों में की जाती थी। पर लुई के सौभाग्य से यहीं एक अध्यापक से उनका परिचय हो गया। उस अध्यापक ने लुई में प्रतिभा के चिह्न देखे और उसी ने लुई को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वह पेरिस जाकर इकोली नारमेली (Ecole Normale) नामक संस्था में भरती हो। 1838 में लुई अपने एक मित्र के साथ पेरिस गया भी। वहाँ जाकर उसने एक स्कूल में नाम भी लिखाया। पर थोड़े ही दिनों के बाद उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और वह घर लौट आया। परन्तु नारमेली में भरती होने की आकांक्षा घटी नहीं। कुछ समय के बाद वह बेसानकान (Besancon) के रॉयल कालेज में भरती हुआ। 1840 में वह पदवीधर हो गया और उसी कालेज में गणित का सरकारी अध्यापक भी नियुक्त हुआ। दो साल के बाद परीक्षा देकर उसने विज्ञान की भी पदवी प्राप्त कर ली और वह नारमेली के लिए उम्मेदवार हुआ। परन्तु कदाचित् परीक्षक की भूल से यहाँ उसे जो प्रशंसापत्र (डिप्लोमा) मिला था उसमें लिखा था कि उसका रसायन-शास्त्र में बहुत साधारण ज्ञान है।

उस समय डूमा सबसे प्रसिद्ध रसायन-शास्त्रवेत्ता थे। उन्हीं का एक व्याख्यान सुन कर पास्टुर को भी रसायन-शास्त्र में विशेष विज्ञता प्राप्त करने की इच्छा हुई।

सौभाग्य से उसे एक अच्छा अवसर भी मिल गया। बलार्ड ने उसे रासायनिक प्रयोग-शाला में सहकारी के पद पर नियुक्त कर दिया। तब से वह अनुसन्धान करने लगा और शीघ्र ही उसकी कीर्त्ति फैल गई। जब उसने पहले पहल रसायन-शास्त्र में एक खोज की तब किसी ने उसके कथन को प्रामाणिक न माना। बिआट (Biot) साहब विज्ञान के धुरन्धर आचार्य्य समझे जाते थे। पास्टुर से उनका परिचय हो गया था। उन्होने भी पास्टुर की बातों पर विश्वास न किया। पर जब पास्टुर ने उनके सामने प्रयोग करके अपने कथन को प्रमाणित कर दिया तब वे चकित हो गये।

उन्होंने पास्टुर की बड़ी प्रशंसा की। बस, उसी दिन से पास्टुर की गणना विज्ञान-विशारदों में होने लगी। स्टैस्वर्ग में फेकल्टी आव् साइन्स में तुरन्त ही उसे रसायन-शास्त्र के अध्यापक का पद मिल गया। यहीं उसने एक सुन्दरी का पाणि-ग्रहण किया। धीरे-धीरे उसकी कीर्त्ति बढ़ने लगी। 1854 में वह लिली में विज्ञान का अध्यापक नियुक्त हुआ। यही उसने वह खोज की जिसके कारण उसका नाम सर्वत्र फैल गया।

बीअर (Beer) आदि शराब प्राय: बिगड़ जाती थी। उसमें यह एक तरह का रोग था। इस रोग का प्रतीकार कोई भी वैज्ञानिक नहीं कर सका। एक बार पास्टुर साहब शराब की किसी भट्ठी में गये। वहाँ अच्छी और बुरी, दोनों तरह की, शराब मौजूद थी। उन्होंने खुर्दबीन से ख़मीर की जाँच की। अच्छी शराब में जो दाने (Globules) थे वे तो गोलाकार थे, पर ख़राब शराब के दाने टेढ़े मेढ़े थे। इसी से उन्होंने यह सिद्ध किया कि स्वयमेव उत्पत्ति की कल्पना भ्रमपूर्ण है। अभी तक ख़मीर का विषय बड़ा रहस्यमय था। पास्टुर ने ही सबसे पहले उसे स्पष्ट कर दिया। उन्होंने बतलाया कि ख़मीर में जो विकार होते हैं उनका कारण फ़रमेंट (Ferments) नामक जीवाणुओं का अस्तित्व और उनकी वृद्धि है। यदि ये जीवाणु किसी प्रकार से निकाल दिये जायँ तो फिर कोई भी विकार न हो। जिस हवा से जीवाणु निकाल दिये गये हों वहाँ रक्खे रहने से दूध हमेशा मीठा बना रहेगा। तब यह प्रश्न होता है कि हवा मे दूध को खुला छोड़ देने से वह खट्टा क्यों हो जाता है। क्या ये सूक्ष्म जीवाणु हमेशा ही हवा में बने रहते है ? क्या ये ख़मीर होने योग्य रस के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होते। इसी बात पर बहुत दिनो तक वैज्ञानिकों में विवाद होता रहा। परन्तु अन्त में जीत पास्टुर साहब ही की हुई। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि हवा से जीवाणुओं के निकाल लेने पर किसी प्रकार का विकार नही हो सकता। पास्टुर साहब के इस आविष्कार से बड़ा लाभ हुआ। लिस्टर नामक एक साहब ने चीर-फाड़ की क्रिया में इसका उपयोग बड़ी सफलता से किया।

पास्टुर की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। अन्य देशों ने भी उसका सम्मान किया। इकोली नारमेली (Ecole Normale) में उसको एक प्रतिष्ठित पद मिला। परन्तु यह सम्मान उसे यों ही नहीं मिल गया। इसके लिए बड़े बड़े विरोधों का सामना करना पड़ा। उसके कई मित्र तक उसके विरोधी हो गये थे। बिआट (Biot) उसे पुत्रवत् मानता था। परन्तु उसने साफ़ साफ़ कह कि पास्टुर का कार्य्य बिलकुल भ्रम-पूर्ण है; उसे सफलता मिलने की नहीं। डूमा ने भी उसे यह काम छोड़ देने की सलाह दी। परन्तु पास्टुर अपने सिद्धान्त

पर निश्चल रहा। अन्त में अपने अपूर्व धैर्य्य और विलक्षण अध्यवसाय से उसने पूरी सफलता प्राप्त की।

इसके बाद पास्टुर के धैर्य्य और अध्यवसाय की कठोर परीक्षा हुई। फ्रांस में रेशम तैयार करने वालों में एक भयानक रोग फैल गया था। डूमा ने उसका अनुसन्धान करने के लिए पास्टुर से अनुरोध किया। पास्टुर ने तब तक रेशम का कीड़ा भी नहीं देखा था। इसलिए पहले तो वह इस काम से हिचका, पर अपने एक मित्र के अनुरोध को वह टाल न सका। 1865 के जून में वह गया और सेप्टेम्बर में उसने अपने अनुसन्धान का फल प्रकाशित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का डर बिलकुल ही दूर हो गया। पास्टुर साहब ने उस रोग का निदान और प्रतीकार दोनों ढूंढ़ निकाले। फ्रांस का रेशम का व्यवसाय इससे खूब बढ़ा। पास्टुर साहब ने एक बार कहा—There is no greater charm for the investigator than to make new discoveries, but his pleasure is heightened when he sees that they have a direct application to practical life. अर्थात् वैज्ञानिक को तो आविष्कार करने में ही आनन्द आता है, परन्तु जब उसका आविष्कार मानव-जीवन के लिए हितकर प्रमाणित हो जाता है तब तो उसके आनन्द की सीमा ही नहीं रहती।

रोगों के प्रतीकार के लिए पास्टुर ने जो आविष्कार किया उसका मूल सिद्धान्त डाक्टर जेनर द्वारा पहले ही प्रतिपादित हो चुका था। 1796 में जेनर ने चेचक का टीका निकाला था। परन्तु पास्टुर ने उस सिद्धान्त के कार्य्यक्षेत्र को खूब बढ़ा दिया। उनकी रीति से अनुसरण का आश्चर्य्यजनक परिणाम हुआ। जान पड़ता हैं, सभी संसर्गज रोगों के प्रतिकार के लिए पास्टुर साहब का आविष्कार उपयोगी सिद्ध होगा। जिस तरह खमीर में एक विशेष प्रकार के जीवाणु होते हैं उसी तरह रोगों की भी उत्पत्ति जीवाणुओं से होती है। यदि कोई चाहे तो वह इन जीवाणुओं को पैदा कर सकता है। कृत्रिम उपायों से इन जीवाणुओं का बीज क्षीण कर दिया जाता है और यदि वह बीज किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश करा दिया जाय तो उस रोग का भयानक प्रकोप न होगा; बहुत साधारण बुखार आ जायगा। परन्तु उसको फिर उस रोग का डर न रहेगा। यही जीवाणु (Virus) बीज (Vaccine) दवा हो गई। फ्रांस में मुर्गियों को एक रोग होता था। वह एक तरह का हैजा था। उससे हज़ारों मुर्गियां मर जाती थीं। पास्टुर साहब ने अपने सिद्धान्त का प्रयोग किया और उन्हें आशातीत लाभ हुआ। मुर्गियों की मृत्यु-संख्या एकदम घट गई। फिर उन्होंने भेड़ों और बैलों के रोग में इसे प्रयुक्त किया। उनको टीका लगाया और उन्हें भी बड़ा लाभ हुआ।

सबसे बड़ा काम पास्टुर साहब ने यह किया कि उन्होंने जलातंक-रोग (Hydrophobia) की चिकित्सा ढूंढ़ निकाली। पागल कुत्ते, सियार आदि जानवरों के काट खाने से यह रोग होता है। यह बड़ा ही भयानक और कष्टदायक रोग है। पास्टुर साहब ने पागल कुत्तों पर परीक्षा आरम्भ की। परीक्षा करने पर उन्हें मालूम हुआ कि जो पशु इस प्रकार के रोग से पीड़ित हैं उनकी मज्जाधातु में इस रोग का बीज होता है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि यदि किसी पागल कुत्ते की पृष्ठ-मज्जा (Spinal Cord) से इसका

कुछ अंश निकाल कर किसी नीरोग कुत्ते के शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाय तो वह कुत्ता भी पागल हो जायगा। तव पास्टुर ने इसमें टीका लगाने के सिद्धान्त का प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि जिन कुत्तों के टीका लगाया गया है उन्हें पागल कुत्ते के काट खाने पर भी रोग नहीं होता। इस पर उन्होंने इस बात की परीक्षा आरम्भ की कि पागल कुत्ते के काट लेने के बाद टीका लगाने से लाभ होता है या नहीं। इसमें उन्हें सफलता हुई। तब उन्होंने इस रोग को दूर करने के लिए चिकित्सालय खोला। हज़ारों मनुष्यों की चिकित्सा करके उन्होंने वड़ा नाम कमाया। आजकल सभी देशों में पास्टुर साहब के चिकित्सालय खोले गये हैं। ये सब पास्टुर इन्स्टिट्यूट (Pasteur Institute) कहलाते हैं। भारतवर्ष में इस तरह के दो चिकित्सालय हैं। एक तो नीलगिरि पर कोनूर नामक स्थान में, और दूसरा कसौली में।

इस प्रकार अपने आविष्कारों से जगत् का असीम उपकार करके 28 सितम्बर, 1895 को पास्टुर साहब ने अपना यह नश्वर शरीर छोड़ दिया। परन्तु उनका यशः-शरीर सदैव विद्यमान रहेगा—'कीर्तिर्यस्य स जीवति'।

[दिसम्बर, 1920 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।]

भाग : पाँच

यमलोक का जीवन

उत्तरी ध्रुव की ओर; आज तक अनेक साहसी योरोपियन गये हैं। तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत चेष्टायें हुई हैं, और अब तक हो भी रही हैं। उस वर्ष डाक्टर नानसन उत्तरी ध्रुव में बहुत दूर तक निकल गये। वहाँ तक और कोई नहीं गया था। अपने भ्रमण का वृत्तान्त जो उन्होंने प्रकाशित किया है वह बहुत ही मनोरंजक है। उत्तरी ध्रुव की ओर तो बहुत लोगों का ध्यान था; परन्तु आज तक, दक्षिणी ध्रुव में सैर करने और उसकी व्यवस्था जानने का विचार दो ही एक आदमियों के मन में आया था। विद्या और सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ नई-नई बातें जानने, नये-नये काम करने और नये-नये देशों का पता लगाने के लिये मनुष्यों की प्रवृत्ति सहज ही हो रही है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर दो एक साहब दक्षिणी ध्रुव की तरफ कुछ दूर तक गये भी; परन्तु थोड़ी ही दूर जाकर उनको लौट आना पड़ा। लोगों का ख्याल था कि उत्तरी ध्रुव की जैसी दशा दक्षिणी ध्रुव की नहीं; वहाँ जानने के लिए कुछ विशेष बातें भी नहीं। परन्तु कुछ काल से किसी किसी को दूर तक दक्षिणी ध्रुव में जाने की उत्सुकता बहुत बढ़ गई। यहाँ तक कि कुछ जर्मन लोगों ने उस दिशा की ओर बड़े-बड़े जहाजों में प्रयाण भी किया। वे अभी तक वहीं हैं, उन्होंने दक्षिणी ध्रुव का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। उसके भ्रमण-वृत्तान्त के प्रकाशित होने पर वहाँ का विशेष हाल सुनने को मिलेगा। जर्मनी वालों की देखादेखी इंगलैंड से भी कुछ लोग दक्षिणी ध्रुव की ओर गये हैं। इन लोगों को इंगलैंड की रायल सोसायटी ने भेजा है। जो लोग गये हैं वे अभी तक लौटे नहीं। उनमें से डाक्टर शैकलटन बीमारी के कारण लौट आये हैं। उन्होंने लोगों के कौतूहल को निवारण करने के लिए इस चढ़ाई का संक्षिप्त वृत्तान्त प्रकाशित किया है। उन्हीं के वृत्तान्त के आधार पर इस दक्षिणी ध्रुव की चढ़ाई के सम्बन्ध में हम यह लेख लिख रहे हैं।

पौराणिकों का मत है कि दक्षिण में यम का वास है; अथवा दक्षिण यम की दशा है। इसलिए उसे वे याम्य दिशा कहते हैं। जब दक्षिण याम्य दिशा हुई तब यमलोक भी उसी तरफ हुआ। यही कारण है जो हमने इस लेख का नाम 'यमलोक का जीवन' रक्खा है।

इस चढ़ाई का प्रबन्ध रायल सोसायटी और रायल जियाग्राफ़िकल सोसाइटी ने किया। गवर्नमेंट ने भी 6,75,000 रुपया देकर इसकी सहायता की। इसके लिए 'डिस्कवरी' नाम का एक खास जहाज तैयार किया गया। कप्तान स्काट उसके अधिकारी

नियत हुए। यह धूमपोत इंगलैंड के काउस स्थान से, महाराज सातवें एडवर्ड और उनकी महारानी के सामने, 6 अगस्त, 1901 को छूटा। इस पर सरकारी सामुद्रिक विभाग के चुने हुए 11 अफ़सर और 37 मनुष्य भेजे गये। उनके साथ उत्तरी ध्रुव के 23 कुत्ते भी भेजे गये। ये कुत्ते वर्फ के ऊपर छोटी-छोटी गाड़ियाँ खींचने के लिये थे।

1500 मील की यात्रा करके यह धूमपोत 9 जनवरी 1902 को दक्षिणी ध्रुव के किनारे पहुँचा। दक्षिणी ध्रुव के आस-पास का प्रदेश आस्ट्रेलिया के बराबर है। वहाँ पहुँचकर, जहाँ तक हो सका, इस चढ़ाई ने अपना काम किया; अनन्तर इसको यरबरा नामक सजीव ज्वालामुखी पहाड़ के पास ठहर जाना पड़ा। क्योंकि जाड़े के दिन आ गये और वर्फ अधिक पड़ने के कारण चढ़ाई के लोग और अधिक काम न कर सके। 8 फरवरी को काम बन्द हुआ। सब लोग बर्फ से बचने और दक्षिणी ध्रुव की लम्बी रात में आराम से रहने का प्रबन्ध करके ठहर गये। वहाँ की रात 2 अप्रैल से 27 अगस्त तक रहती है। रात का आरम्भ हुआ। वर्फ भी खूब पड़ने लगी। 400 मील तक समुद्र के ऊपर बर्फ जम गयी। 'डिस्कवरी' का सम्बन्ध बाहरी दुनिया से बिलकुल ही छूट गया।

नवम्बर 1902 में कप्तान स्काट, डाक्टर विलसन और लेफ़्टिनेंट शैकलटन ने सब कुत्ते साथ लिये और स्लेज नाम की छोटी-छोटी गाड़ियाँ लेकर वे बर्फ के ऊपर दक्षिणी ध्रुव की ओर दूर तक चले गये। मार्ग में उनको सख्त तकलीफ़ें हुई तथापि वे 82° 17 अंश तक दक्षिण की ओर गये और वहाँ उन्होने अँगरेज़ी झण्डा गाड़ा। दक्षिणी ध्रुव वहाँ से 467 मील रह गया। आज तक जितने लोग दक्षिणी ध्रुव की तरफ गये थे, उन सबसे वे लोग 207 मील और आगे बढ़ गये। इस चढ़ाई की सहायता के लिए और इसे भोजन, वस्त्र इत्यादि पहुँचाने के लिए पीछे से धूमपोत और भेजे गये। उन्हीं में से 'मार्निंग' नाम के धूमपोत में लेफ़्टिनेंट शैकलटन, बीमार हो जाने के कारण, इगलैंड लौट आये। उन्होंने दक्षिणी ध्रुव की जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में जो कुछ प्रकाशित किया है उसका साराश उन्हीं के मुंह से सुनिए—

उत्तरी ध्रुव की अपेक्षा दक्षिणी ध्रुव में शीत अधिक है। उत्तरी ध्रुव के जिस अंश में जितना शीत है, दक्षिणी ध्रुव के उसी अंश में उस शीत की अपेक्षा बहुत अधिक है। पृथ्वी का वह भाग जो दक्षिणी ध्रुव के आस पास है इतना शोभाशाली है कि एक बार वहाँ जाकर फिर लौटने को जी नहीं चाहता। वहाँ के शीत की, वहाँ की तकलीफ़ों की और वहाँ की निर्जनता की कुछ परवा न करके पुनर्वार वहाँ जाने की इच्छा होती है। उसकी प्राकृतिक शोभा कभी नहीं भूलती। वह वहाँ बलात् ले जाने के लिए चित्त को उत्कण्ठित किया करती है।

चलते-चलते एक दिन सहसा हम लोगों को कुछ सफ़ेदी नज़र आई। वह सफ़ेदी बर्फ के छोटे छोटे टुकड़ों की चादर थी। हमारा जहाज (डिस्कवरी) धीरे धीरे उस बर्फ को फाड़ता हुआ आगे बढ़ने लगा। कुछ देर बाद हमारे दाहिने बायें और आगे पीछे समुद्र शुभ्र रजतमय हो गया। बर्फ की सफ़ेद लाइन, जिस तरफ नज़र उठाइए उसी तरफ देख पड़ने लगी। उस बर्फ के ऊपर सील नामक मछलियाँ और पेनगुइन नामक चिड़ियाँ आनन्द से खेल रही थीं। सीलों ने तो हमारी कुछ परवा न की। उन्होने हमारी तरफ

नज़र तक नहीं उठायी। परन्तु पेनगुइन चिड़ियाँ एक विलक्षण प्रकार की आवाज़ करते हुए हमारी तरफ दौड़ीं। हमारे जहाज़ को देखकर उन्हें शायद आश्चर्य्य सा हुआ। उन्होंने शायद अपने मन में समझा कि यह कोई महाबलवान दानव उनके घर में घुस आया है। ये चिड़ियाँ बहुत बड़ी न थीं। उनकी छाती सफेद और पीठ काली थी।

पाँच रोज तक उस पतले बर्फ को फाड़ता हुआ हमारा जहाज़ चला गया। उस रोज हमको दक्षिणी ध्रुव के पास का प्रदेश देख पड़ा। बर्फ से ढके हुए उन आकाशभेदी पर्वतों का दृश्य हमको कभी न भूलेगा। 10 से लेकर 15 हज़ार फुट तक वे स्वच्छ और निरभ्र नीले आकाश के भीतर चले गये थे। वहाँ पर हम लोगों के लिए बहुत कम काम था। पौधों और जीवधारियों के नमूने हम लोगों को लेने थे। परन्तु वहाँ पर दो एक सामुद्रिक पौधे, सील और पेनगुइन के समान दो चार चिड़ियों को छोड़कर और कुछ था ही नहीं। यह बात उत्तरी ध्रुव में नही। वहाँ अनेक प्रकार के वनस्पति और पशु पक्षी पाये जाते हैं।

दक्षिणी ध्रुव में एक प्रकार की सील बहुत अधिकता से होती है। उसी पर हम लोग प्रायः बसर करते थे। तौल में वह कोई 14 मन होती है। ये मछलियाँ बर्फ के ऊपर धीरे-धीरे घूमा करती हैं; आदमी से वे ज़रा भी नहीं डरती। उन्होंने कभी आदमी देखा ही नहीं। अतएव मारने के लिए भी यदि आदमी उनके पास पहुँचते है तब भी वे अपनी जगह से नहीं हटतीं, परन्तु पेनगुइन का मिज़ाज इतना सीधा नही। वे आदमी को देखकर उन पर हमला करने के लिए दौड़ती है। इन चिड़ियो के घोंसले बहुत छोटे और भद्दे होते है। जब ये चिड़ियाँ अपने बच्चों को खिलाती है तब उनको देखकर बड़ा आनन्द आता है। बच्चों के माँ-बाप पास वाली समुद्र की उथली खाड़ियों की ओर उड़ जाते हैं। वहाँ वे मछलियों वगैरह का शिकार करके अपने मुँह में रख लेते हैं। जब मुँह भर जाता है तब वे अपने घोंसलों को उड़ आते हैं। वहाँ आते ही उनके बच्चे मुँह में अपनी चोंच डालकर बड़े प्यार और बड़े प्रेम से उन लजीज़ चीज़ों को चुगते है।

जिस समय का ज़िक्र है, वह ग्रीष्म ऋतु थी। ग्रीष्म क्या उसे वसन्त ही कहना चाहिए। किसी किसी दिन आकाश निरभ्र और सूर्य्य चमकीला नज़र आता था। जब सूर्य्य की किरणें बर्फ के ऊँचे-ऊँचे टीलों पर पड़ती थी तब बड़ा कौतुक मालूम होता था। उनको देखकर तबियत बहुत ख़ुश होती थी। जान पड़ता था कि तपाये हुए सुर्ख़ सोने के तार सूर्य्य-मण्डल से उन राशि-राशिमय बर्फ के शिखरों तक फैले हुए हैं। यह ऋतु सिर्फ छः हफ़्ते रहती है। 16 दिसम्बर से 31 जनवरी तक ही यह शोभा देखने को मिलती है।

जिस दिन यरबस नामक ज्वालामुखी पर्वत हम लोगो को पहले-पहल दिखलाई दिया, वह दिन हमें बख़ूबी याद है। इस पर्वत का पता 60 वर्ष हुए सर जेम्स रास ने लगाया था। यह पर्वत 12,500 फुट ऊँचा है। जब हम लोग उसके पास पहुँचे, हमने देखा कि उसके मुँह से धुवें की धारा भक-भक निकल रही है। जहाँ चारों ओर बर्फ के ऊँचे-ऊँचे टीले खड़े हुए है, जहाँ समुद्र ही बर्फमय हो गया है, वहाँ इस ज्वालागर्भ पर्वत को देखकर बड़ा विस्मय होता है। जहाँ प्रचण्ड शीत वहाँ अग्नि वमन करने वाला पर्वत ! परन्तु प्रकृति बड़ी विचित्र है। वह अपनी विचित्रता के ऐसे ही ऐसे विलक्षण उदाहरण

कभी-कभी दिखलाती है। इस पहाड़ के नीचे ही, कुछ दूर पर, लोगों ने शीत ऋतु बिताने के लिए, रहने का स्थान बनाना चाहा। हमको आशा थी कि यहाँ रहने से हम लोगों को कुछ गरमी मिलेगी; परन्तु हमारा यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत निकला।

पहले तो हम लोगों को बहुत गरम कपड़े नहीं पहनने पड़े; परन्तु कुछ काल में थर्मामीटर का पारा शून्य (०) के नीचे चला गया। तब हम लोगों ने निहायत गरम कपड़े निकाले। मोटे चमड़े के बूट भी सर्द मालूम होने लगे। इस कारण से सम्बूर के बूट पहनने की जरूरत पड़ी।

बर्फ की वर्षा अधिक हो गई। हमारा जहाज़ बड़ी मुश्किल से आगे बढ़ने लगा। हम लोगों को भय हुआ कि कहीं नियत स्थान पर पहुँचने के पहले ही जहाज़ न रुक जाय। परन्तु राम-राम करके किसी तरह हम लोग वहाँ तक पहुँचे जहाँ हमने जाड़ा व्यतीत करने का निश्चय किया था। हमको मालूम था कि 122 दिन की रात आने वाली है। इसलिए बहुत जल्द हमने ठहरने का प्रबन्ध किया और सब सामान ठीक करके जहाज का लंगर डाला।

ज्यों ही जहाज ठहरा और उसके चारों तरफ बर्फ का ढेर इकट्ठा हुआ; त्यों ही हम लोगों ने बर्फ में बड़े-बड़े बाँस गाड़ दिये और किनारे तक गाड़ते चले गये। फिर लम्बे-लम्बे रस्से लेकर हमने उन बाँसों पर बाँधे। बिना यह किये हम लोगों को जहाज का पता लगाना मुश्किल हो जाता। तब किनारे पर एक झोंपड़ा बनाया गया। उसमें थर्मामीटर और बारोमीटर इत्यादि यन्त्र रक्खे गये।

सूर्य्य बिलकुल ही आकाश से लोप होने को हुआ। परन्तु उसका सम्पूर्ण तिरोभाव होने के पहले, एप्रिल के महीने में, कई दिनों तक 24 घण्टे का उषःकाल रहा। अस्ता-चलगामी सूर्य्य की किरणों के सुन्दर रंग बर्फ के संयोग से इतना मनोहर दृश्य दिखलाने लगे कि उनका वर्णन साधारण मनुष्य से होना असम्भव है। उस शोभा को चित्रित करने के लिए कालिदास या शेक्सपियर की लेखनी ही समर्थ हो सकती है।

ध्रुव प्रदेश की रात एक ऐसी वस्तु है जिसकी समता संसार की और किसी वस्तु से नहीं की जा सकती। वह सर्वथा अनुपमेय है। वह कैसी होती है, यह जानने के लिये उसे आँख ही से देखना चाहिए। लिखने या बतलाने से उसका ज़रा भी अनुमान नहीं हो सकता। ज्यों ही रात हुई और शीत बढ़ा त्यों ही हम लोगों ने सम्बूर के कोट, बूट और टोपियाँ वग़ैरह निकालीं। मोटे-मोटे नीले कोटों के ऊपर हमने शीतल हवा से बचने के लिए, एक विशेष तरह का 'ओवर कोट' भी पहना। बर्फदंश एक प्रकार का रोग होता है। उसके होने का हम लोगों को पल-पल पर डर मालूम होने लगा। हम लोग एक दूसरे के मुँह की तरफ देखने लगे कि कहीं बर्फदंश के चिह्न तो नहीं दिखाई देते। जिसे बर्फदंश होता है उसे ऐसा जान पड़ता है कि बर्र ने डंक मारा। जिसे इस तरह का दंश होता था वह फ़ौरन अपना दस्ताना उतार कर उस जगह को देर तक रगड़ता था। ऐसा करने से पीड़ा कम हो जाती है और विशेष विकार नहीं बढ़ता। परन्तु यदि ऐसा न किया जाय तो उस जगह मांस के गल जाने का डर रहता है।

यहाँ पर बहुत सख़्त जाड़ा पड़ता है। जाड़े का अनुमान करने के लिए हम यह

लिख देना चाहते हैं कि हम लोग 2 या 3 मिनट से अधिक अपने हाथ को दस्ताने के बाहर नही निकाल सकते थे। यदि इससे जरा भी अधिक देर लग जाय तो फ़ौरन ही बर्फ़दंश हो जाय। इतना जाड़ा पड़ने पर भी मुँह के आस-पास का भाग बिलकुल खुला रखना पड़ता था। अगर खुला न रक्खा जाय, या किसी चीज से ढक दिया जाय, तो मुँह से निकली हुई साँस फ़ौरन जम जाय, यहाँ तक कि उसके जमने से आँखों की बीरनियाँ चिपक जायँ। ऐसा होने से हम लोग कुछ देर के लिए अन्धे हो जायँ। नंगे हाथ से हम लोग धातु की कोई चीज नही छू सकते थे। अगर छूते तो फौरन ही एक सफेद-सफेद दाग़ पड़ जाता और उस जगह पर बर्फदंश की पीड़ा होने लगती। एक दिल्लगी सुनिए। एक टीन में कोई चीज रक्खी थी। वह टीन बर्फ के ऊपर पड़ी थी। उसे हमारे एक कुत्ते ने देखा और जबान को भीतर डालकर उसे वह चाटने लगा। बस दो तीन दफे जबान लगाने की देर थी कि वह वही चिपक गई। कुत्ता बेचारा चीखने और दर्द से बेक़रार होने लगा। यह तमाशा एक खलासी ने देखा। वह वहाँ दौड़ा गया। बलपूर्वक उस टीन को कुत्ते की जबान से अलग किया।

जोर से जाड़ा पड़ने के पहले हम लोगों ने अपनी छोटी-छोटी बेपहिये की गाडियों में कुत्ते जोते और जहाज से कुछ दूर आगे का सफर करना विचारा। हम लोग रवाना हुए। बारह घण्टे तक हम बाहर रहे। इस बीच मे बर्फ का एक सख्त तूफान आया। इससे हम लोगो की बड़ी दुर्दशा हुई। मुँह में और हाथों में भी, बर्फदंश की पीड़ा होने लगी। इसलिए हमने तत्काल अपने छोटे-छोटे खेमे खड़े किये और बड़ी मुश्किल से हाथ पैरों के बल पर रेंगकर उनके भीतर हम सब गये। यदि ऐसा करने में और जरा देर हो जाती तो हम लोगों का काम वही तमाम हो जाता।

लेफ्टिनेंट रायड्स और मिस्टर स्केल्टन भी कुछ आदमियों के साथ, बेपहिये की गाड़ियाँ लेकर, हमारे जहाज से कोई 60 मील दूर तक चले गये। इन गाड़ियों को कुत्ते खीचते थे। रास्ते में एक भयानक बर्फ का तूफ़ान आया। इस कारण इन लोगों को पाँच दिन तक छोलदारी के भीतर बन्द रहना पड़ा। जब तूफ़ान बन्द हुआ तब इन्होंने देखा कि छोलदारी के ऊपर नीचे, इधर-उधर सब कही बर्फ जम गई है। बड़ी कठिनाई से बर्फ को कुदारियों से काटकर ये लोग उसके भीतर से बाहर आये। समुद्र के जम जाने के कारण हम लोगों ने, इसी प्रकार, इन छोटी-छोटी गाड़ियो पर दूर-दूर तक सफ़र किया और जीव-जन्तु, वनस्पति, भूगोल और भूस्तर-विद्या-सम्बन्धी अनेक जाँचें की, और अनेक प्रकार की वस्तुओं के नमूने इकट्ठे किये।

इस चढ़ाई में कुत्तों ने बड़ा काम किया। हमारे पास 23 कुत्ते थे। क्या ही अच्छा होता यदि हम लोग अधिक कुत्ते ले गये होते। एक-एक कुत्ता सवा मन के क़रीब बोझ से लदी हुई गाड़ी खींचता था। इन कुत्तों में कुछ कुतियाँ भी थीं। जाड़े में उनसे 9 पिल्ले पैदा हुए। परन्तु वे बहुत छोटे हुए। वे अपने माँ-बाप के न तो डील-डौल में बराबर हुए और न बल में।

हमारे साथ एक बिल्ली भी थी। एक दफे रात को हमारे झोंपड़े के ऊपर वह गई। वहाँ वह कुछ अधिक देर तक रही। जब वह भीतर आई तब हम लोगों ने देखा

कि उसका एक कान ही नदारद है। अगर ज़रा देर वह और वहाँ रहती तो शायद वह वहाँ से जिन्दा न लौटती।

आठ बजे सुबह हम लोग भोजन करते थे। खाने की सामग्री में हलवा, सील मछली का गोश्त, रोटी, मक्खन, मुरब्बा, चाय और कहवा मुख्य चीज़ें थी। 9 बजे ईश्वर की प्रार्थना होती थी। प्रार्थना-पाठ जहाज का कप्तान करता था। फिर सब आदमी अपने-अपने काम में लग जाते थे। कुछ आदमी सोने के वास्ते थैलियां सीते थे; इन्ही थैलियां के भीतर हम लोग रात को घुसे रहते थे। कुछ उन थैलियों की और दूसरे कपड़ो की मरम्मत करते थे, कुछ जहाज के ऊपर जमे हुए बर्फ को साफ करते थे, कुछ जहाज पर पड़े हुए मोम-कपड़े की मरम्मत करते थे, क्योंकि बर्फ के गिरने से उसमे सैकडों छेद हो जाते थे। कुछ आदमी सील मछलियों और चिड़ियों की खाल खींचकर उनमें मसाला भरते थे। ये चीजे इंगलैंड को लाये जाने के लिए नमूने के तौर पर रक्खी गई है। कुछ आदमी जलचर जीवों की तलाश में जाते थे; कुछ वनस्पतियों की खोज़ने निकल जाते थे; और कुछ भूस्तर-विद्या के विषय में ज्ञान प्राप्त करने को बाहर निकलते थे। एक बजे फिर हम लोग भोजन करते थे। आठ बजे रात को जहाज की देख-भाल होती थी और बाद उसके हम लोग ताश वगैरह खेल कर सो रहते थे।

हम लोगो ने 'साउथ पोलर टाइम्स' नाम का एक अखबार भी लिखना शुरू किया। वह महीने मे एक बार लिखा जाता था। जहाज पर जितने अफ़सर थे, सब उसमें लेख लिखते थे; और लोग भी कोई-कोई उसमें लिखते थे। लेखो में इस चढ़ाई का सविस्तर वर्णन रहता था। इस अखबार के अंक अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। चढ़ाई के लौट आने पर वे इंगलैंड में प्रकाशित होंगे।

वहाँ बाहर कोई पौधा नही हो सकता था। मगर हम लोग इंगलैंड से एक बक्स में थोड़ी सी मिट्टी ले गये थे। उसी में हमने 'क्रोक्यूसेज़' नामक पौधे के बीज बोये। उनमें से दो पौधे हुए। फूल भी उनमें यथासमय निकले। 'गुड फ्राईडे' को हम लोग उन फूलो को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। हमारे जहाज में वह मानो हमारा एक छोटा-सा फूलबाग था।

किसी-किसी रात का दृश्य बड़ा ही मज़ेदार था। जिस समय पूरा चन्द्रबिम्ब आकाश में उदित होता था उस समय वह सारा प्रदेश दुग्धफेन के समान शुभ्र दिखाई देता था। कभी-कभी उत्तर की ओर, दूर सफ़ेद रोशनी का एक धुँधला पुंज देख पडता था, जिससे मालूम होता था कि सूर्य्य ने अपना मुँह ढाँप रक्खा है; तथापि वह वहीं पर कहीं प्रकाशित है। इस महा विस्तृत और महा आतंकजनक सफेद मैदान की शोभा मैं नही बयान कर सकता। उससे अधिक सौन्दर्य्यमय वस्तु मैंने संसार में दूसरी नही देखी। कुछ दूर पर बर्फ से ढके हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत नज़र आते थे और आसमान को फाड़कर उसके भीतर घुस जाने की चेष्टा सी करते थे। पास ही वह ज्वालामुखी पर्वत अपने अग्निवर्षी मुँह से धुयें के प्रचण्ड पुंज छोड़ रहा था। अहः, क्या ही हर्ष और विस्मय से भरा हुआ दृश्य था।

22 अगस्त को सूर्य्य ने हम लोगों को अपने पुनदर्शन से फिर कृतार्थ किया। हम

लोग तत्काल उसके दर्शनों के लिए बाहर निकले। जिसने सूर्य्य के बहु-काल-व्यापी लोप का अनुभव नहीं किया वह कदापि नहीं जान सकता कि उसका पुनर्दर्शन कितना आनन्द-दायक होता है। आकाश ने अजीब रंगत धारण की; उसने बलात् हम लोगों के हृदय का हरण कर लिया। जितने जीव और जितने पदार्थ थे सबमें नया उत्साह और नया जीवन-सा आ गया। जितने मेघ थे सबने इन्द्रधनुष की शोभा छीनी; नाना प्रकार के मनोमुग्धकारी रंगों से वे भर गये।

अब बेपहिये की छोटी-छोटी गाड़ियों को साथ लेकर बाहर निकलने का मौसम आया। सब तैयारियाँ शीघ्र ही हुईं। कुत्ते, छोलदारियाँ, खाने-पीने का सामान, कपड़े-लत्ते और सोने के लिए थैलियाँ तैयार हुईं। हम लोग सफ़र के लिए निकल पड़े। जहाँ तक मुमकिन था हमने कम असबाब साथ लिया। इस सफ़र में हमने एक बार भी कपड़े नहीं उतारे। हाँ, मोजे अलबत्ते हर रोज़ निकालने पड़ते थे, क्योंकि न निकालने से पैर चिपक जाने का डर था। जब हम चले, हमारे सोने के थैलो का वज़न 7 सेर था; परन्तु जब हम लौटे तब वह 14 सेर हो गया था। बर्फ ने उनके वज़न को दूना कर दिया था। जब दो आदमी कोशिश करके खोलते थे तब रात को सोने के वक्त ये थैले खुलते थे। वे इतने ठण्डे हो जाते थे कि उनमें और बर्फ में कोई अन्तर न रहता था। उसी के भीतर हम लोग किसी प्रकार बड़े कष्ट से रात बिताते थे। सुबह के वक़्त हमारे पैर सुन्न हो जाते थे, बड़ी बड़ी मुश्किलो से वे मोजों और बूटो के भीतर जाते थे।

ऐसी मुसीबते झेलते हुए हम लोग 300 मील तक गये। यहाँ तक जाने मे हमको 94 दिन लगे। किसी-किसी दिन हम लोग 15 मील जाते थे। इस सफ़र मे हमारे बहुत से कुत्ते मर गये। इसलिए हम लोगो को स्वयं गाड़ियाँ खीचनी पड़ी। जब हम लोगो ने देखा कि हमारे कुत्ते मर रहे है तब हमने अपने खाने-पीने का बहुत-सा सामान एक जगह रख कर गाड़ियाँ हलकी कर ली। तेल भी कम कर दिया गया। इसलिए एक ही दो बार चूल्हा जलने लगा। इसका फल यह हुआ कि हम लोगो को गरम खाना कम नसीब होने लगा। ज़रा-सी शक्कर, सील के मास का एक छोटा-सा सूखा टुकड़ा और डेढ़ बिस्कुट पर हम लोग बसर करने लगे। ये चीजें हम रास्ते में चलते-चलते खाते थे। कुत्तो की बुरी हालत थी। जब हम लोग खाते थे तब वे हमारे मुँह की तरफ देखा करते थे कि अगर कोई टुकड़ा नीचे गिरे तो वे उसे उठा लें मगर यह उदारता दिखलाना हम लोगों के लिए स्वय अपनी मृत्यु को बुलाना था। जब शाम को हम लोग कही ठहरते तब हम एक कुत्ते को प्राय. गोली मार देते। उसी के मांस से दूसरे कुत्तों का गुजर होता। प्रतिदिन हमारी खूराक कम होने लगी; भूख से हम लोग विकल होने लगे; यहाँ तक कि बिस्कुट और हलवा हम लोगों को स्वप्न में भी देख पड़ने लगा। दिन-रात खाने ही की चीजों का ध्यान रहता था। एक प्रकार की निराशा ने सबके चेहरो का रंग फीका कर दिया। नवम्बर भर हम लोग इसी तरह सख़्त मुसीबतों में मुब्तिला रह कर भी बराबर चले गये। दिसम्बर में भी यही हालत रही। अन्त को 31 दिसम्बर के दिन हम लोग अपने सफ़र की अन्तिम सीमा पर पहुँचे; वहाँ से आगे हम न बढ़ सके। वहीं हमने अँगरेज़ी झण्डा खड़ा कर दिया।

खाने का सामान बहुत कम रह गया था। कुत्ते प्रायः सभी मर चुके थे। अतएव हम लोगों ने वापस जाने का विचार किया। वहाँ से हमारा जहाज़ 300 मील दूर था। सब लोग निहायत कमज़ोर हो गये थे। ख़ैर किसी तरह हम लोग पीछे लौटे। हममें से किसी-किसी को बर्फ़ ने कुछ काल के लिए अन्धा तक कर दिया। कलेजे को कड़ा करके हम सबने जहाज़ की तरफ़ पैर फेरा। धीरे-धीरे सब कुत्ते मर गये, सिर्फ़ दो बचे। अतएव हम लोगो को खुद गाड़ियाँ खींचनी पड़ी। कभी-कभी तीन-तीन मन वज़न गाड़ियों मे भर कर हमने खींचा। ओह ! उस मुसीबत का स्मरण आते ही बदन काँपने लगता है। वर्णनातीत दुःख सह कर 3 फ़रवरी 1904 को हम लोग अपने जहाज़ पर वापस आये। वहाँ हमने देखा कि हमारी मदद के लिए एक दूसरा जहाज आ गया है। उसमें हम लोगों की ख़ानगी चिट्ठियाँ और अख़बार वग़ैरह मिले। तब हमने जाना कि बोर युद्ध की समाप्ति हो गई और हमारे बादशाह सातवें एडवर्ड की राजगद्दी का जलसा भी हो चुका।

हमारा 'डिस्कवरी' नामक जहाज 1902 के आरम्भ से बर्फ़ के भीतर पड़ा है। आशा है वह शीघ्र ही वापस आवे और अपने काम की सफलता से भेजने वालों ही के नहीं, किन्तु सारे संसार के आनन्द और ज्ञान की वृद्धि करने का साधक होगा।

[सितम्बर, 1904 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'ज्ञान भारती' 'प्रबंध-पुष्पांजलि' पुस्तकों मे संकलित।]

दक्षिणी ध्रुव की यात्रा-1

पिछले सौ वर्षों में योरुप और अमेरिका के सैकड़ों साहसी मनुष्यों ने उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की यात्रायें की हैं। उनमें से कितने ही लोग इन दुर्गम और भयंकर स्थानों में बहुत दूर तक गये हैं। वहाँ के अद्भुत दृश्यों का हाल भी उन्होंने लिखा है। कुछ दिन हुए लेफ्टिनेण्ट शैकलटन अपने साथियो समेत दक्षिणी ध्रुव की दूसरी यात्रा करने गये थे। आप वहाँ से लौट आये हैं। आपकी पहली यात्रा का वृत्तान्त पिछले लेख में दिया जा चुका है। दूसरी यात्रा के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ अभी हाल ही मे प्रकाशित किया है, उसका भी आशय नीचे दिया जाता है।

शैकलटन साहब अपने साथियों समेत 29 अक्टूबर 1907 को दक्षिणी ध्रुव की यात्रा के लिए न्यूजीलैंड से रवाना हुए थे। वे अपने साथ कुत्तों की जगह मंचूरिया के टट्टू और मोटर ले गये थे। बालू खा जाने के कारण यद्यपि कुछ टट्टू मर गये और कुछ मार डाले गये तथापि कुत्तों की अपेक्षा वे अधिक लाभदायक सिद्ध हुए। शैकलटन साहब कोई चौदह महीने तक इधर उधर घूमते और तरह तरह की चीजें खोजते रहे। अन्त मे वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ से ठेठ दक्षिणी ध्रुव 111 मील था। ध्रुव के इतने निकट अब तक कोई न पहुँचा था। आप ही पहले मनुष्य है जो वहाँ तक पहुँचे। आपके पहले, 1902 में, जो मनुष्य दक्षिणी ध्रुव की ओर सबसे अधिक दूर तक गया था वह कप्तान स्काट था। परन्तु वह जिस स्थान तक पहुँचा था वह ठेठ दक्षिणी ध्रुव से 461 मील की दूरी पर था। इससे आप समझ सकते हैं कि शैकलटन साहब कप्तान स्काट से कोई 350 मील आगे तक पहुँच गये। वहाँ पहुँच कर आपने अँगरेजो का जातीय झण्डा (Union Jack) फहराया। यह चिरस्मरणीय घटना 9 जनवरी 1909 ईसवी की है। आगे ऐसा दुर्गम मार्ग था कि और दूर बढ़ना आपने असम्भव समझा। इसलिए वहाँ से आप लौट पड़े और न्यूज़ीलैंड होते हुए इंगलैंड को रवाना हुए।

शैकलटन साहब ने अपना एक दूसरा दल दाक्षिणात्य चुम्बक ध्रुव (South Magnetic Pole) की खोज के लिए दूसरी तरफ भेजा था। कहते है कि वह स्थान दक्षिणी ध्रुव से भी अधिक दुर्गम, निर्जन और भयंकर है। वहाँ तक पहुँचना बहुत बड़े साहस का काम था। तिस पर भी इस दल को कामयाबी हुई। इस दल के लोग 16 जनवरी 1909 को उस चुम्बकीय ध्रुव के पास पहुँच गये और वहाँ अपने देश का दिग्विजयी झंडा गाड़ दिया। इस स्थान पर भी इन लोगों के पहले कोई मनुष्य न पहुँचा था।

शैकलटन साहब और उनके साथियों ने दक्षिणी ध्रुव की इस चढ़ाई में कौन-कौन सी बातें जानीं—अथवा यों कहिए कि कौन से अद्भुत और साहसिक काम किये तथा किन किन बातों की खोज की—इसका विवरण इस प्रकार है।

(1) ये लोग ऐसे स्थान पर पहुँच गये जहाँ से दक्षिणी ध्रुव केवल 111 मील की दूरी पर था।

(2) दाक्षिणात्य चुम्बक ध्रुव तक भी पहुँचे।

(3) आठ पर्वत श्रेणियों को खोज निकाला।

(4) कोई एक सौ पर्वतों की पैमाइश की।

(5) एरीयस नाम के ज्वालामुखी पर्वत पर चढ़े। यह पर्वत 13, 120 फुट ऊँचा है।

(6) विक्टोरियालैंड नामक टापू के पश्चिमी ओर के ऊँचे ऊँचे पर्वतों का ज्ञान प्राप्त किया।

(7) कोयले की खानों के निशान पाये।

(8) दक्षिणी ध्रुव के चारों ओर का वायुमण्डल शान्त है, इस कल्पित मत की असारता प्रत्यक्ष अनुभव की।

5 मार्च 1908 को शैकलटन साहब ने एरीवस पहाड पर चढना प्रारम्भ किया। साथ में सात आदमी और थे। सब लोग अपना अपना असबाब अपनी पीठ पर लादे हुए थे। 7 मार्च की रात को वे लोग 9500 फुट की ऊँचाई पर पहुँचे। वहाँ पर इतनी सख्त सर्दी पड़ रही थी कि थर्मामीटर का पारा शून्य से पचास डिग्री नीचे पहुँच गया था। इसी समय एक बड़ा भयंकर तूफ़ान आया वह कोई तीस घण्टे। तक बराबर बना रहा। इसलिए दूसरे दिन वे लोग वहीं रहे। 9 मार्च को उन्होने फिर चढना प्रारम्भ किया। 11,000 फुट की ऊँचाई पर पहुँचने के बाद उन्हें इस ज्वालामुखी पर्वत का एक दहाना देख पडा जिसमें से आग की लपटे सदा निकला करती हैं। पर खूबी यह कि उसमे धुवें का नामोनिशान तक न था। जब वे लोग चोटी पर पहुँचे तब उन्होने देखा कि वहाँ पूर्वोक्त दहाने की अपेक्षा एक बहुत बडा दहाना मौजूद है। उसका घेरा आध मील से अधिक होगा। गहराई अस्सी फुट के क़रीब मालूम होती थी। वह भाफ और गन्धक की गैस को इतनी तेजी से उगल रहा था कि उसकी लपटे बीस हज़ार फुट की ऊँचाई तक जाती थी। इस स्थान के कई फोटो लिये गये और बहुत से भूगर्भ विद्या-सम्बन्धी पदार्थ इकट्ठे किये गये। इसके बाद वे लोग वहाँ से लौट पडे और दूसरे दिन, 11 मार्च को अपने नियत स्थान पर पहुँचे। कोई तीन महीने तक इस पहाड़ के चारो ओर शान्ति रही। एकाएक 14 जून 1908 की रात को वह फट पड़ा। पर्वत के चारों ओर की भूमि अग्निमय हो गई। यह घटना शुक्ल पक्ष की है। चाँदनी रात मे बर्फीले पहाड पर धधकती हुई अग्नि का कलोल करना, भयानक होने पर भी, कैसा सुन्दर दृश्य था, इसको वही समझ सकते हैं जिन्होने उसे देखा है। शैकलटन साहब के साथियो ने इस मनो-मुग्धकारी दृश्य के कई फ़ोटोग्राफ़ लिये।

शैकलटन साहब के साथ कोई आठ दस विज्ञान-वेत्ता भी गये थे। उनमें से हर मनुष्य विज्ञान की एक न एक शाखा का पण्डित है। उन लोगों ने अपना अपना काम बड़ी खूबी से पूरा किया। किसी ने ज्योतिष्क तारकाओं की जाँच की; किसी ने वायुमण्डल

की परीक्षा की; किसी ने जल की, किसी ने जल-जन्तुओं की, किसी ने वनस्पतियों की। फ़ोटोग्राफ़रों ने फ़ोटो लिये। पैमाइश करने वालों ने पैमाइश की और संग्रह करने वालों ने नाना प्रकार की वस्तुओं का संग्रह किया। इन साहसी विज्ञानवेत्ताओं ने वहाँ ऐसी कितनी ही चीज़ों का पता लगाया जिनकी सहायता से जड़ और जीव-विज्ञान की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

[जून, 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' पुस्तक में संकलित।]

दक्षिणी ध्रुव की यात्रा-2

पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी भागों को क्रम से उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव कहते है। ये देश बर्फ से सदा ढँके रहते हैं। वहाँ बारहो मास अत्यन्त शीत रहता है। अतएव वहाँ मनुष्य का निवास प्रायः असम्भव है। सभ्य देशों के निवासी इन दुर्गम देशों का हाल जानने के लिए सदा से उत्सुकता प्रकट करते रहे है। केवल यही नही, उनमें से कितने ही साहसी पुरुष इन देशों का पूरा हाल जानने के लिए, समय समय पर, वहाँ गये भी है। परन्तु सन् 1911 ईसवी के पहले ठेठ ध्रुवों तक कोई भी नही पहुँच पाया। हाँ, उस साल और उसके बाद दो आदमी तो खास उत्तरी ध्रुव तक और दो आदमी ठेठ दक्षिणी ध्रुव तक पहुँच गये। उनके नाम क्रम से ये हैं—पियरी, कुक, एमंडसन और स्काट। इनमें से पहले और तीसरे साहब के विषय में तो लोग निश्चित रूप से कहते है कि वे क्रम से उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को अवश्य पहुँचे, पर दूसरे और चौथे महाशय के विषय में किसी किसी को सन्देह है। पर जो लोग इस विषय में विशेष अनुभव रखते है उनका कहना है कि चारों महाशय ध्रुवो तक पहुँच गये थे। इनमें से अन्तिम साहब, कप्तान स्काट, के विषय मे हाल ही में खबर मिली है कि कई साथियो समेत उनका दक्षिण के ध्रुव या देश में देहान्त हो गया। इस दुःखदायी समाचार ने सारे सभ्य संसार—विशेष कर इंगलैंड में हाहाकार मचा दिया। विलायत के प्रायः सभी प्रसिद्ध पुरुषो और बड़ी बड़ी सभाओं ने—यहाँ तक कि स्वयं सम्राट जार्ज और पार्लियामेंट ने भी कप्तान स्काट और उनके साथियों की अकाल-मृत्यु पर शोक प्रकट किया और उनके परिवार वालों के साथ सहानुभूति दिखाई। कितने ही लोग इन पर लोकगत वीरों का स्मारक चिह्न स्थापित करने तथा उनके आश्रितों की सहायता करने के लिए धड़ाधड़ चन्दा एकत्र कर रहे है। ऐसे समय में कप्तान स्काट और उनकी ध्रुवीय यात्रा का हाल जानने के लिए पाठक अवश्य उत्सुक होंगे। अतएव इस विषय में कुछ लिखना हम यहाँ उचित समझते है।

कप्तान स्काट के पहले जिन जिन लोगों ने जब जब दक्षिणी ध्रुव की यात्रा की उसका विवरण इस प्रकार है—

नाम यात्री	कब यात्रा की	कहाँ तक पहुँचे/क्या खोजा
बवेट	1738 ई०	बर्फ के पहाड़
कप्तान कुक	1773	71 डिग्री 10 मिनट
वेडेल	1823	74 डिग्री
सर जेम्स रास	1839	साउथ विक्टोरियालैंड, ऐरबस तथा हेरर पहाड़
सर जेम्स रास	1841	कुछ भूमि

कमाण्डर जरलैंच	1901	$70\frac{1}{5}$ डिग्री
कमाण्डर स्काट	1901	82 डिग्री 17 मिनट, एडवर्डलैंड मार्खम तथा लांग स्टाफ पर्वत
गास	1901	कुछ वैज्ञानिक तत्त्व
डाक्टर ब्रूस	1901	,, ,,
डाक्टर चारकोट	1904	ग्रैहमलैंड
डाक्टर चारकोट	1908	70 डिग्री 30 मि०
सर अर्नेस्ट शैकलटन	1908	88 डिग्री 23 मिनट, एक ज्वालामुखी पर्वत तथा मैगनेटिक पोल
कप्तान एमंडसन	1910	ठेठ ध्रुव तक माड पर्वत

अब कप्तान स्काट की बारी आई। ऊपर की सूची से मालूम होगा कि स्काट साहब एक बार पहले भी दक्षिणी ध्रुव की यात्रा कर आये थे। उस समय वे कमाण्डर स्काट के नाम से प्रसिद्ध थे। उनकी दूसरी या अन्तिम यात्रा सन् 1910 ईसवी में प्रारम्भ हुई। यह यात्रा टेरानोआ नामक जहाज पर हुई थी। यह जहाज अँगरेजों ही का बनाया तथा अँगरेज़ों ही की सम्पत्ति थी। इसके यात्री भी अँगरेज़ ही थे। इसीलिए इस ध्रुवीय यात्रा का अँगरेज लोग (British National Expedition) अर्थात् अँगरेजों की जातीय चढ़ाई कहते हैं।

इस यात्रा में कप्तान स्काट ठेठ ध्रुव तक पहुँचना चाहते थे। अतएव इसके लिए उन्होंने जैसी चाहिए वैसी ही तैयारी भी की थी। उन्हें दक्षिण के ध्रुवीय प्रदेशों का अनुभव भी था। क्योंकि वे खुद एक बार वहाँ हो आये थे। इसके सिवा शैकलटन साहब ने भी अपने अनुभवों के द्वारा कप्तान स्काट को इस यात्रा की तैयारी में सहायता पहुँचाई। अब इस यात्रा के लिए धन का प्रश्न सामने आया। परन्तु यह कमी भी कुछ तो सर्व-साधारण के चन्दे से पूरी हो गई और कुछ कप्तान स्काट ने अपनी सम्पत्ति गिरवी रखकर पूरी कर ली।

इस प्रकार सजधज कर कप्तान स्काट यात्रा के लिए तैयार हो गये। इस यात्रा में उनके मुख्य मुख्य साथी ये थे—(1) लेफ्टिनेंट एवेंस, एटोरानोवा जहाज़ के सहकारी नायक। (2) डाक्टर विल्सन, इस यात्रा में जाने वाले वैज्ञानिकों के मुखिया, (3) मिस्टर मेकिटासवेल, न्यूजीलैंड के भूगर्भ-विभाग के डाइरेक्टर।

कप्तान स्काट का टेरानोवा जहाज़ 29 नवम्बर, 1910 ईसवी, को न्यूजीलैंड से रवाना हुआ। 30 दिसम्बर को वह क्रोज़र अन्तरीप के निकट पहुँचा। परन्तु वहाँ उतरने का सुभीता न देखकर वह मेकमर्डोसोड नामक स्थान की ओर गया। वहाँ जहाज़ से उतरकर सब लोगों ने एवेंस अन्तरीप में जाड़ा बिताया। जनवरी 1911 के अन्त में कुछ साथियों समेत कप्तान स्काट ने दक्षिण की यात्रा की तैयारी के लिए खाने-पीने का सामान इकट्ठा करना प्रारम्भ किया।

इस स्थान पर कोई नौ महीने ठहरने के बाद ये लोग 2 नवम्बर 1911 ईसवी

को दक्षिण की ओर रवाना हुए। रास्ते में बर्फ के टीलों, गढ़ों और ऊँचे नीचे दुर्गम स्थानों को पार करते हुए, साथियों समेत, कप्तान स्काट पन्द्रह मील प्रति दिन की चाल से आगे बढ़ने लगे। मार्ग में बर्फ के ख़ास तरह के तूदे बनाते जाते थे, ताकि लौटते वक्त राह न भूल जायँ। 4 जनवरी 1912 को यह दल 87 डिग्री 36 मिनट दक्षिणी अक्षांश पर पहुँचा। वहाँ से दक्षिणी ध्रुव केवल डेढ़ सौ मील के फासले पर था और उन लोगों के पास तीस दिन के लिए खाने का सामान था। कहते हैं कि इस जगह से स्काट साहब ने अपने कुछ साथियों को लौटा दिया और कहा कि तुम लोग जाकर जहाज का प्रबन्ध करो। ये लोग रास्ते में ध्रुवीय प्रदेश के जीव-जन्तुओं तथा जलवायु की परीक्षा करते और कितने ही आविष्कार करते हुए अपने ठहरने के स्थान पर लौट आये। कप्तान स्काट अपने चार साथियों के साथ आगे बढ़े और शायद ध्रुव तक पहुँच गये। लौटते वक्त रास्ते में पाँचों वीर-पुंगवों का प्राणान्त हो गया। अभी तक यह पता नहीं लगा कि किन कारणों से उनकी मृत्यु हुई। हाँ, 5 मार्च 1912 तक, सभ्य संसार को उनके समाचार मिलते रहे; उसके बाद नहीं। कोई दस महीने तक टेरानोवा वाले, कप्तान स्काट के साथी, केवल उनके लौटने की प्रतीक्षा ही नहीं करते रहे, किन्तु उनका पता भी लगाते रहे। जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि वीरवर कप्तान स्काट और उनके साथी अकाल काल-कवलित हो गये तब वे लोग इंगलैंड को लौटे और वहाँ पहुँच कर उन्होंने संसार को यह महा दुखदायी समाचार सुनाया।

उत्तरी ध्रुव की यात्रा में तो ऐसी दुर्घटनायें कई बार हो चुकी हैं, पर दक्षिणी ध्रुव की यात्रा में इसके पहले कभी कोई बड़ी दुर्घटना नहीं हुई थी।

जो वीर अँगरेज इस भयंकर दुर्घटना के शिकार हुए हैं उनका परिचय दे देना हम यहां पर उचित समझते हैं। सबसे पहले कप्तान स्काट का हाल सुनिए।

स्काट साहब की पदवियों समेत पूरा नाम था—कप्तान राबर्ट फैकन स्काट, आर० एन० सी० बी० ओ०, एफ० आर० जी० एस०। आपका जन्म 6 जून सन् 1868 ईसवी को विलायत के डेवन पोर्ट औटलैंड स्थान में हुआ था। आपने बाल्यावस्था में साधारण स्कूली शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद सन् 1882 ईसवी में आप इंगलैंड के नौ-सेना विभाग में भर्ती हुए। बहुत दिनों तक मामूली जहाजी काम करने के बाद आप सन् 1898 ईसवी में, इस विभाग के लेफ्टिनेण्ट बनाये गये। एक ही दो वर्ष बाद आपको कमाण्डर का पद मिला। सन् 1904 में कप्तान के उच्च पद पर आप नियत किये गये। 1905 ईसवी में कैम्ब्रिज और मैंचेस्टर के विश्वविद्यालयों ने आपको विज्ञानाचार्य्य, अर्थात् डी०एस०सी० की प्रतिष्ठित पदवी से विभूषित किया। सन् 1908 में आपने विवाह किया। सन् 1901 ईसवी में कप्तान स्काट ने पहली बार दक्षिण ध्रुव की यात्रा की। उस समय आप ध्रुवीय प्रदेशों में जितनी दूर तक गये थे उसके पहले उतनी दूर तक कोई न पहुँच पाया था। अतएव तब से आपका नाम सारे संसार में प्रसिद्ध हो गया और आप अच्छे ध्रुवीय यात्री माने जाने लगे। इस उपलक्ष्य में उस समय आपको दुनिया भर की मुख्य मुख्य भौगोलिक सभाओं ने स्वर्णपदक दिये थे। स्काट साहब बड़े ही साहसी, दृढ़ प्रतिज्ञ और वीर पुरुष थे। प्रबन्ध करने की शक्ति उनकी

बहुत बढ़ी चढ़ी थी। विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं में वे थोड़ा बहुत दख़ल रखते थे।

कप्तान स्काट के साथ जिन चार वीरों ने ध्रुवीय प्रदेश में अपनी मानवलीला समाप्त की उनके नाम ये हैं—डाक्टर विलसन, कप्तान ओट्स, लेफ़्टिनेण्ट ओवर्स, पेटी अफ़सर एवेंस। इनमें डाक्टर विल्सन इंगलैंड के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता थे। वे कप्तान स्काट के पुराने मित्रों में से थे। कप्तान ओट्स एक सुयोग्य अफ़सर थे। वे बड़े ही मुस्तैद थे। स्काट साहब उन पर बहुत विश्वास करते थे। लेफ़्टिनेण्ट ओवर्स को तो कप्तान स्काट का दाहिना हाथ कहना चाहिए। कार्य-दक्षता के कारण अपने साथियों के वे बड़े ही प्रिय पात्र बन गये थे। यह बात यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेख योग्य है कि ये दोनों अफ़सर भारतीय सेना विभाग से सम्बन्ध रखते थे और इसी देश से जाकर इस विकट यात्रा में सम्मिलित हुए थे। एवेंस साहब भी कप्तान स्काट के विश्वासपात्र और साहसी सहायकों में थे।

विलायत वाले स्काट साहब और उनके साथियों का स्मारक बनाना चाहते हैं। लार्ड कर्ज़न इस काम के लिए जी तोड़ कर परिश्रम कर रहे हैं। इस चढ़ाई में कोई साढ़े चार लाख रुपया ख़र्च पड़ा है। वह सब चन्दे से भुगताया जायगा, जो लोग इस यात्रा में मरे हैं, उनके कुटुम्बियों को पेंशन भी दी जायगी। कर्म्मवीरों का आदर करना कर्म्मवीर ही जानते हैं।

[मार्च, 1913 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' में संकलित।]

उत्तरी ध्रुव की यात्रा-1

पाठक जानते ही हैं कि पृथ्वी गोल है। पृथ्वी के गोले की एक तरफ योरप, एशिया और अफ्रीका की पुरानी दुनिया और दूसरी तरफ अमेरिका की नई दुनिया है। दोनों गोलार्द्धों का ठीक ऊपरी सिरा उत्तरी ध्रुव कहलाता है अर्थात् उसकी स्थिति ठीक 90 अंश पर है। वहाँ हमेशा बर्फ जमी रहती है। बर्फ के भयंकर तूफ़ान आया करते हैं, समुद्र जम कर बर्फ की चट्टान की शकल का हो जाता है। अतएव मनुष्य के लिए ध्रुव प्रदेश प्राय: अगम्य है। परन्तु महा अध्यवसायशील योरप और अमेरिका वाले अगम्य को गम्य, अज्ञेय को ज्ञेय और अदृश्य को दृश्य करने के लिए भी यत्न करते हैं। 1827 ई० से लेकर आज तक कितने ही उद्योगी आदमियों ने उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने, वहाँ की सैर करने, वहाँ की स्थिति प्रत्यक्ष देखने का यत्न किया है। उन्हें इस काम में बहुत कुछ कामयाबी भी हुई है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की स्थिति प्राय: एक सी अनुमान की जाती है। अब तक लोगों का ध्यान विशेष करके उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने ही की तरफ था; पर कुछ समय से दक्षिणी ध्रुव पर भी चढ़ाइयाँ शुरू हुई हैं। उनमे से कुछ का संक्षिप्त वृत्तान्त इसके पहले के लेखो में दिया जा चुका है। इस लेख में दक्षिणी ध्रुव के विषय में नहीं, किन्तु उत्तरी ध्रुव पर की गई एक नवीन चढ़ाई का कुछ हाल पाठकों को सुनाना है। 1896 ईसवी में डाक्टर नानसेन ने उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाई करके बहुत नाम पाया। वे 86 अक्षांश तक पहुँच गये थे। उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाइयाँ तो कई हुई हैं; पर उनमें से 9 मुख्य हैं। इन चढ़ाइयो के नायकों के नाम, चढ़ाई का साल और उसकी अन्तिम सीमा के अक्षांश हम नीचे देते हैं—

नाम	सन्	अक्षांश
डब्लू० ई० पारी	1827	82-45
सी० एफ़० हाल	1870	82-11
जूलियस पेयर	1874	82-05
सी० एस० नेयर्स	1876	83-20
ए० डब्लू० ग्रीली	1882	83-24
वाल्टर वेल मैन	1889	82-00
एफ० नानसेन	1896	86-14
ड्यूक आफ़ अबरूजी	1900	86-34
राबर्ट ई० पीरी	1902	84-17

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि नानसेन 86 अंश 14 मिनट तक ही जा सके थे; पर ड्यूक आफ़ अबरूजी, उनके बाद उनसे भी दूर अर्थात् 86 अंश 34 मिनट

तक पहुँचे थे। अब एक अमेरिकन साहब ने इन ड्यूक महाशय को भी मात दिया है। आपका नाम है कमांडर पीरी। उत्तरी ध्रुव पर चढ़ाई करने के लिए आप 16 जुलाई 1905 को उत्तरी अमेरिका के न्यूयार्क शहर से रवाना हुए थे। कोई डेढ़ वर्ष बाद आपकी चढ़ाई का फल प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम हुआ है कि आप 87 अंश 6 मिनट तक गये। वहाँ से आगे नहीं जा सके। अर्थात् उत्तरी ध्रुव से कुछ कम 3 अंश इधर ही रह गये। यही बहुत समझा गया है। लोग धीरे धीरे आगे ही बढ़ रहे हैं। बहुत सम्भव है किसी दिन कोई 90 अंश तक पहुँच कर ध्रुव के दर्शनों से कृतकृत्य हो आवे। कमांडर पीरी ने उत्तरी ध्रुव के पास बर्फ से भरे हुए समुद्र में चलने लायक एक खास तरह का जहाज बनवाया। 16 जुलाई 1905 को वह जहाज न्यूयार्क से चला। उस पर सब मिलाकर 20 आदमी थे। वे सब कप्तान बार्टलेट की निगरानी में थे। पीरी साहब जहाज के साथ नहीं रवाना हुए। उत्तरी अमेरिका के ठेठ पूर्व, समुद्र से सटे हुए, नोवा स्कोटिया के ब्रेटन नामक अन्तरीप में सिडनी नाम का एक बन्दरगाह है। वहीं जाकर कमांडर पीरी जहाज़ पर सवार हुए। वहाँ जहाज ने खूब कोयला लिया। खाने पीने का भी सामान यथेष्ट लादा। 26 जुलाई को जहाज ने सिडनी से लंगर उठाया। जहाज़ का नाम है 'रूज़वेल्ट'। अमेरिका की संयुक्त रियासतों के सभापति रूजवेल्ट के नामानुसार इसका नाम रक्खा गया है। 29 जुलाई को यह जहाज 'डोमिनोरन' नामक बन्दरगाह मे पहुँचा। वह जगह लबराडोर नाम के टापू में है। वही उत्तरी अमेरिका के पूर्व है और अँगरेजों के न्यूफ़ौंडलैंड टापू के अन्तर्गत है। वहाँ से वह ग्रीनलैंड की तरफ उत्तर को रवाना हुआ। 7 अगस्त को वह ग्रीनलैंड के यार्क नामक अन्तरीप में पहुँचा और 16 को एटा नामक बन्दगाह में। इस जहाज के साथ उसकी एक मददगार भी था। उसका नाम है 'यरिक'। यह जहाज ग्रीनलैंड के कितने ही स्थानों में, वहाँ के निवासियों तथा कुत्तों को लेने के लिए घूमता फिरा। जब यह काम हो चुका तब 13 अगस्त को उसने लाये हुए कुत्तों और आदमियों को 'रूज़वेल्ट' के हवाले किया। एटे में 'रूजवेल्ट' कई दिन तक ठहरा। अपने प्रत्येक पुर्जे की परीक्षा करके उन्हें खूब साफ किया। जहाँ तक कोयला लाद सका 'यरिक' से लिया। क्योंकि अब आगे और कोयला मिलने की आशा न थी। 200 कुत्ते और यस्किमो नामक जाति के 23 आदमी भी 'यरिक' से उसने लिए। यस्किमो जाति के लोग बर्फिस्तानी देशों और टापुओं मे रहते है। बर्फ में रहने का उन्हे जन्म ही से अभ्यास रहता है। वे उत्तरी ध्रुव के आस पास के प्रदेश से खूब परिचित होते है। इसीलिये कमांडर पीरी ने उनको अपने साथ ले जाने की ज़रूरत समझी।

बर्फ में डूबे हुए उत्तरी ध्रुव के पास वाले प्रदेश में, गत वर्ष, पीरी साहब ने जो अनुभव प्राप्त किया, और जो कुछ उन पर बीती, उसका संक्षिप्त वृत्तान्त उन्होंने 2 नवम्बर 1906 को लिखकर रवाना किया है। लबराडोर के होपडैल नामक स्थान से उन्होंने यह वृत्तान्त न्यूयार्क को भेजा है। उसका मतलब हम थोड़े में उन्हीं की ज़बानी यहाँ देते हैं—

उत्तरी समुद्र के किनारे, ग्रांट रोड नामक भू-प्रदेश के पास 'रूज़वेल्ट' ठहरा। वहीं उसने जाड़ा बिताया। फरवरी में हम लोग बर्फ पर चलने वाली स्लेज नामक छोटी छोटी गाड़ियाँ लेकर उत्तर की ओर रवाना हुए। हेकला और कोलम्बिया के रास्ते हम आगे बढ़े। 84 और 85 अक्षांशों के बीच हमें खुला हुआ समुद्र मिला। उस पर बर्फ जमा हुआ न था। तूफ़ान ने जमे हुए बर्फ को तोड़ फोड़ डाला; हमारे खाने पीने की चीज़ों को बर्बाद कर दिया; हमारी टोली के जो लोग पीछे थे, उनका लगाव काट दिया। इस कारण आगे बढ़ने में बहुत देर हुई। किसी तरह हम लोग 87 अक्षांश 6 मिनट तक पहुँचे। आगे बढ़ना असम्भव हो गया। लाचार लौटे। लौटती बार 8 कुत्ते मारकर खाने पड़े। कुछ दिनों में फिर खुला हुआ समुद्र मिला। उसमें पानी भरा था। राम राम करके ग्रीनलैंड के उत्तरी किनारे पर पहुँचे। राह में अनेक आफ़तों का सामना करना पड़ा। बड़ी बड़ी मुसीबतें झेलने पर ग्रीनलैंड के सामुद्रिक किनारे के दर्शन हुए। वहाँ के कई बर्फिस्तानी बैल मारकर खाये। किसी तरह किनारे किनारे चल कर जहाज़ के पास पहुँचे। हमारी टोली के जिन लोगों का साथ छूट गया था, उनमें से कुछ को तूफ़ान ग्रीनलैंड के उत्तरी किनारे पर ले गया। कुछ आदमी एक तरफ गये, कुछ दूसरी तरफ। एक टोली को मैंने भूखों मरते पाया और उसके प्राण बचाये। एक हफ्ते 'रूज़वेल्ट' पर रह कर हम लोग कुछ तरोताज़ा हुए। फिर 'स्लेज' गाड़ियों पर सवार हुए और पश्चिम की तरफ चले। ग्राटलैंड नामक भूभाग के सारे उत्तरी किनारे को देख डाला। इतनी दूर चले गये कि उस किनारे की दूसरी तरफ जा पहुँचे। घर लौटती बार बर्फ और तूफ़ान का लगातार सामना करना पड़ा। 'रूज़वेल्ट' तूफ़ानों से बड़ी बहादुरी से लड़ता आया। बर्फ से लड़ने में 'रूजवेल्ट' बड़ा बहादुर है। इस चढ़ाई में न कोई आदमी मरा और न कोई बीमार ही हुआ।

यह पीरी साहब की संक्षिप्त चिट्ठी है। आपको आशा थी कि आप उत्तरी ध्रुव तक ज़रूर पहुँच जायँगे। पर नहीं पहुँच सके। बर्फ के तूफ़ानों ने उन्हें 87 अक्षांश से आगे नहीं बढ़ने दिया। तिस पर भी वे इतनी दूर तक गये जितनी दूर तक आज तक कोई नहीं गया था। पीरी साहब अमेरिका के रहने वाले हैं। अतएव उत्तरी ध्रुव की सैर करने वालों में, दूरी के हिसाब से, इस समय अमेरिका का नम्बर सब से ऊँचा है। पीरी साहब का इरादा था कि सबाइन अन्तरीप से 350 मील उत्तर वे अपना खेमा रक्खेंगे। वहाँ से उत्तरी ध्रुव 500 मील है। राह में बर्फ के मैदान का विकट बियाबान है। इसे कोई डेढ़ महीने में पार कर जाने की उन्हें उम्मेद थी। परन्तु तूफ़ानों की प्रचण्डता ने उनकी आशा नहीं पूरी होने दी।

1876 ईसवी में नेयर नाम के जो साहब उत्तरी ध्रुव देखने के इरादे से 83 अक्षांश तक गये थे, उन्होंने लौट कर बतलाया था। कि ग्रांटलैंड नामक भूभाग के उत्तर, 30 मील की लम्बाई-चौड़ाई में, समुद्र बिलकुल बर्फ से जमा हुआ है। आपने राय दी थी कि बर्फ 50 फुट तक गहरा था। तब से लोगों ने यह अनुमान किया था कि इस तरह का समुद्र बहुत करके ध्रुव के पास तक गया होगा और वह बहुत गहरा न होगा। उस पर बर्फ की बहुत मोटी तह ठेठ नीचे तक गई होगी। लोगों ने समझा था कि

यह बर्फ हज़ारों वर्ष का पुराना होगा और पत्थर की तरह अपनी जगह पर जम गया होगा। अतएव इन चट्टानों पर 'स्लेज' गाड़ियाँ आसानी से चल सकेंगी। परन्तु कमाण्डर पीरी ने इस अनुमान को गलत साबित कर दिया। पीरी ने यथा सम्भव 'स्लेज' गाड़ियों से भी काम लिया और जहाज़ से भी। यदि बर्फ समुद्र के तल तक पत्थर की तरह जमा होता तो वह तूफ़ानों से न टूटता और पीरी की इच्छा के विरुद्ध उनके जहाज़ को ग्रीनलैंड की तरफ, दक्षिण-पूर्व की ओर, न बहा ले जाता। पीरी ने समुद्र में बर्फ जमा ज़रूर पाया; पर वह पुराना न था। इसी से तूफ़ान के वेग से वह टूट गया, पानी के ऊपर बहने लगा, और अपने साथ 'रूज़वेल्ट' को भी ग्रीनलैंड की तरफ बहा ले गया। अतएव 'स्लेज' गाड़ियों पर सवार हो कर ध्रुव तक पहुँचने की आशा व्यर्थ है।

अनेक विघ्न बाधाओं को टालकर, और 'स्लेज' गाड़ियों पर दूर तक जाने में असमर्थ होकर भी, पीरी साहब 87 अक्षांश से भी कुछ दूर आगे बढ़ सके, यही ग़नीमत समझना चाहिए। आपकी यात्रा का सविस्तर वृत्तान्त प्रकाशित होने पर कितनी ही अद्भुत अद्भुत बातों के मालूम होने की आशा है।

[फरवरी, 1907 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' में संकलित।]

उत्तरी ध्रुव की यात्रा-2

डाक्टर कुक और कमांडर पीरी में तुमुल वाग्युद्ध हो रहा है। एक दूसरे को अपदस्थ करने की कोशिश में अपनी पूरी पूरी शक्ति खर्च कर रहा है। तुम झूठे हो, तुम उत्तरी ध्रुव तक हरगिज़ नही गये—इस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर अभिशाप लगा रहा है। योरप और अमेरिका में दो पक्ष हो गये हैं। एक पीरी का पृष्ठपोषक बना है, दूसरा कुक का। ये दोनों ही महात्मा अमेरिका के रहने वाले हैं। इस कारण अमेरिका में इनके झगड़े की मात्रा बेहद बढ़ रही है। अख़बारों में भी दो पक्ष हो गये हैं। एक पीरी की प्रशंसा के गीत गा रहा है, दूसरा कुक के। अमेरिका के प्रसिद्ध नगर न्यूयार्क के अधिकारियों ने कुक के दावे को सच समझ कर उनका बढ़िया सत्कार किया है। उधर अमेरिका की संयुक्त रियासतो के भूतपूर्व प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट ने कमांडर पीरी ही से हाथ मिला कर उन्हें उत्तरी ध्रुव की चडाई पर भेजा था। कमांडर पीरी अमेरिका की फ़ौज में अफ़सरी कर चुके हैं। उन्होंने प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट ही के नामानुसार अपने जहाज़ का नाम 'रूज़वेल्ट' रक्खा था। इसी जहाज पर वे पहले और इस दफ़े भी उत्तरी ध्रुव की यात्रा करने गये थे। अतएव पीरी की कामयाबी पर रूज़वेल्ट साहब को ज़रूर ही प्रसन्नता हुई होगी। न्यूयार्क की प्रधान भौगोलिक सभा ने भी पीरी के काग़ज़ात की जाँच करके उन्हें यथार्थ माना है।

पीरी के पक्षपाती कुक की बेतरह खबर ले रहे हैं। उत्तरी अमेरिका में आलस्का एक जगह है। उसमें मेलकिन्ले नाम का एक पर्वत है। उसके सर्वोच्च शिखर पर चढ़ जाना दुःसाध्य समझा गया था। कई वर्ष हुए डाक्टर कुक उस पर्वत पर चढ़े थे। बाद में उन्होंने प्रकाशित किया था कि मैं उसकी चोटी तक हो आया। अपने चढ़ने उतरने का वृत्तान्त भी उन्होंने प्रकाशित किया था। जो मनुष्य उस चढ़ाई में उनके साथ था उसने अब, इतने दिनों बाद, हल्ला मचाया है कि डाक्टर कुक उस पहाड़ की चोटी तक गये ही नहीं। बीच ही से वे उतर आये थे और झूठ ही प्रकाशित कर दिया था कि मैं ऊपर तक हो आया। एक और तुर्रा सुनिए। डाक्टर कुक कहते हैं कि उत्तरी ध्रुव की चढ़ाई के विषय के काग़ज़ात मैं अमुक टापू के अमुक नगर में अमुक मनुष्य के पास रख आया हूँ। उनके आने पर मैं अपनी यात्रा का वैज्ञानिक वर्णन प्रकाशित करूँगा। इस 'अमुक' मनुष्य को लोगों ने ढूंढ़ निकाला और कुक के काग़ज़ात की बात उससे पूछी। वह कहता है कि मेरे पास कुक के काग़ज़ात की एक चिट भी नही। हाँ, दो एक बकस कुक ज़रूर मेरे पास रख आये हैं। उनमें चाहे जो भरा हो, मैं नहीं जानता; वे सब बन्द हैं।

इस प्रकार के पक्षपाती डाक्टर कुक के पीछे पड़ गये हैं। वे उन्हें हर तरह झूठा साबित करने की चेष्टा कर रहे हैं। वे कहते कि डाक्टर कुक के जी में यदि चालाकी न

होती तो वे ध्रुव की यात्रा में अपने साथ किसी सभ्य आदमी को ज़रूर ले जाते। जंगली यस्किमो लोगों ही को वे अपना मददगार न बनाते। खैर, जिन दो जंगली आदमियों को वे कहते हैं कि मेरे साथ थे उन्हीं को हाज़िर करें। क्यों वे उन्हें वहीं छोड़ आये ? बिना बरसों पहले से तैयारी किये, मछली मारने की एक साधारण सी नौका पर सवार होकर, कोई उत्तरी समुद्र की यात्रा नहीं कर सकता।

अमेरिका के न्यूयार्क नगर से 'सायंटिफिक अमेरिकन' नाम का एक वैज्ञानिक पत्र बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता है। इसके लिखने के तर्ज़ से मालूम होता है कि यह डाक्टर कुक ही को उत्तरी ध्रुव का आविष्कारक समझता है। उसने पहले तो कुक की यात्रा का संक्षिप्त समाचार प्रकाशित किया; फिर पत्र के दूसरे अंक में पीरी और कुक के झगड़े पर अफ़सोस ज़ाहिर करके यह राय दी कि पीरी ने यह बहुत ही अनुचित बात की जो लबराडोर से तार द्वारा कुक के आविष्कार को झूठा ठहराया। इसी अंक में उसने सेक्सटंट नामक यन्त्र द्वारा आकाश में सूर्य्य की अवस्थिति और अक्षांश आदि जानने की तरकीब भी प्रकाशित की। आपने लिखा कि इस यन्त्र के द्वारा वैज्ञानिक जाँच करना कोई कठिन काम नही, अतएव डाक्टर कुक ने उत्तरी ध्रुव पर पहुँच कर जरूर ही इस यन्त्र के द्वारा सब बातें जान लीं होंगी। क्यों न हो ! आपके इस वैज्ञानिक औदार्य्य का मतलब डाक्टर कुक ही नही और भी लाखों आदमी समझ गये होंगे। खैर आपने यह सब करके पीरी की यात्रा का भी कुछ हाल अपने पत्र में छापा है। इस कृपा के लिये कमांडर पीरी जरूर ही आपके कृतज्ञ होंगे।

अँगरेज़ी के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'रिव्यू आव् रिव्यूज' के सम्पादक स्टीड साहब डाक्टर कुक से मिलने डेनमार्क की राजधानी कोपिनहेगिन गये थे। उनकी राय है कि कुक बड़े सच्चे आदमी हैं। वे ज़रूर उत्तरी ध्रुव तक हो आये है। सम्भव है पीरी भी हो आये हों। पर डाक्टर कुक के बाद पीरी पहुँचे होंगे। स्टीड साहब पीरी को सज्जन नहीं समझते। वे कहते हैं कि पीरी को डाक्टर कुक पर यह अभिशाप न लगाना चाहिए था कि वे झूठे हैं। डाक्टर कुक ने पीरी पर ऐसा अभिशाप नहीं लगाया। पीरी ने कप्तान बर्टलेट को अपने साथ ध्रुव तक ले जाने से इनकार कर दिया। लौटते वक़्त डाक्टर कुक के यन्त्र और काग़ज़ात भी अपने जहाज़ पर लाने से उन्होंने इनकार किया। यह उन्होंने भलमंसी का काम नहीं किया। इससे उनका ईर्षाद्वेष प्रकट होता है। अतएव डाक्टर कुक के ख़िलाफ़ कही गई उनकी बातें नहीं मानी जायँगी। खैर।

पीरी ने अपनी यात्रा का संक्षिप्त हाल 'न्यूयार्क टाइम्स' नामक पत्र में प्रकाशित कराया है। डाक्टर कुक और कमांडर पीरी में से कौन सच्चा और कौन झूठा है, इसका निश्चय तो कुछ दिनों में हो ही जायगा। तब तक पीरी की यात्रा का थोड़ा सा वृत्तान्त सुन लीजिए।

अमेरिका के एक अमीर आदमी उत्तरी समुद्र में शिकार खेलने जाते थे। उन्होंने कहा, डाक्टर कुक, तुम भी चलोगे ? कुक ने कहा, बहुत अच्छा, खुशी से। बस डाक्टर साहब उनके साथ चल दिये। वहाँ एक जगह आपने बहुत से यस्किमो जाति के आदमियों को देखा। खाने का सामान भी बहुत सा आपको मिल गया। बस आपने ठेठ उत्तरी

ध्रुव तक जाने की ठान दी। और, गये भी और लौट भी आये। पर पीरी के लिए यह काम इतना सहज न था। उन्हें उत्तरी ध्रुव तक भेजने के लिए अमेरिका वालों ने एक सभा बनाई है। उसने हजारों रुपये एकत्र कर के पीरी की मदद की है। 'रूज़वेल्ट' नाम का जहाज़ भी उसी सभा का है। आज कोई 400 वर्ष से लोग उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं। सब मिला कर 21 आदमी ध्रुव की तरफ़ आज तक गये है। कोई कुछ अधिक दूर तक गया, कोई कुछ कम। इन्हीं आदमियों में से पीरी भी एक हैं। आप इसके पहले दो दफ़े ध्रुव की ओर जा चुके है। पिछली दफ़े आप 87 अक्षांश तक पहुँच गये थे। उसका वर्णन इस लेख के प्रथमांश में दिया जा चुका है। वहाँ से उत्तरी ध्रुव सिर्फ 3 अक्षांश दूर था। वहाँ तक उनके पहले और कोई नहीं पहुँचा था। इससे उन्होंने एक दफ़े और कोशिश कर देखना चाहा। उन्होंने कहा, सम्भव है, इस दफे बाकी के 3 अंश भी तै हो जायँ। कमांडर पीरी उत्तरी ध्रुव के आस पास के टापुओं में बहुत समय तक घूमे हैं। उनका तजरिबा कोई 23 वर्ष का है।

6 जुलाई 1908 को पीरी न्यूयार्क से रवाना हुए। नोवा स्कोटिया में ब्रेटन नाम का जो अन्तरीप है उसके पास सिडनी नाम के बन्दरगाह में 17 जुलाई को उनका जहाज़ पहुँचा। वहाँ से न्यूफ़ौडलैंड के किनारे किनारे चक्कर लगाते हुए वे डेविस नाम के मुहाने में पहुँचे। वहाँ से सीधे उत्तर की ओर जाकर वे बेफिन की खाड़ी में दाख़िल हुए। वहाँ से चल कर ग्रीनलैंड टापू के यार्क अन्तरीप के पास उन्होंने जहाज़ का लंगर डाला। 1 अगस्त को वे वहाँ से आगे बढ़े। समुद्र में जमे हुए बर्फ के टुकड़े इधर-उधर बह रहे थे। बड़ी कठिनता से उन टुकड़ों को बचाते हुए उन्हें अपना जहाज आगे की ओर चलाना पड़ा। धीरे धीरे व ग्राटलैंड में पहुँचे। वहाँ शेरिडन नामक अन्तरीप में उन्होंने अपना जहाज ठहराया। 1 सितम्बर को वे वहाँ पहुँचे। अन्तरीप के पास तो वे पहुँच गये, पर किनारे पर जहाज लगाने में उन्हे बड़ी आफ़तें झेलनी पड़ीं। जाड़े शुरू हो गये थे। बर्फ की वर्षा हो रही थी। समुद्र जम चला था। इस दशा में जहाज को किनारे ले जाना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य जरूर था। हवा भी बड़े जोर से चलने लगी थी। अगर 1 मील समुद्र जहाज़ चलाने लायक़ था तो दो मील जम गया था। ख़ैर, किसी तरह राम राम करके 5 सितम्बर को जहाज़ किनारे लग गया।

वहाँ जाड़ों में रहने के लिए एक छोटा सा घर लकड़ी के तख़्तों का बनाया गया। खाने पीने का सब सामान उसी में रक्खा गया। फिर यह ठहरी कि शेरिडन अन्तरीप से लेकर कोलम्बिया अन्तरीप तक जगह जगह पर खाने पीने की सामग्री रख आई जाय। इसके लिए बहुत सी बेपहिये की स्लेज नामक गाड़ियाँ तैयार की गई। उन में कुत्ते जोते गये। सामान लादा गया। और 15 सितम्बर से 5 नवम्बर तक वह सब सामान ढोकर थोड़ी थोड़ी दूर पर बनाये गये झोंपड़ों में रखा गया। यह इसलिए किया गया, जिसमें लौटते वक्त खाने पीने का काफी सामान रास्ते में तैयार मिले। तब तक शिकार भी खूब खेला गया। कितने ही रीछ, खरगोश और वालरस नाम के दरियाई घोड़े मारे गये। वैज्ञानिक जाँच भी उस प्रदेश की की गई।

फरवरी में 'रूज़वेल्ट' जहाज वहीं पर छोड़ दिया गया। जितने लोग पीरी के

साथ थे, तीन टुकड़ियों में बाँट दिये गये। सबके लिए अलग अलग स्लेज गाड़ियाँ तैयार हुईं। ये तीनों टुकड़ियाँ 15, 21, और 22 फरवरी को अलग अलग तीन आदमियों की अध्यक्षता में उत्तरी ध्रुव के लिए रवाना हुईं। एक के अध्यक्ष हुए कप्तान बार्टलेट, दूसरी के अध्यापक मारटीन, तीसरी के कमांडर पीरी। सब मिलाकर इस चढ़ाई में 7 गोरे और 59 यस्किमो जाति के बर्फिस्तानी आदमी थे। स्लेज गाडियों की सख्या 23 थी और कुत्तों की 140।

कोलम्बिया अन्तरीप में तीनों टुकड़ियाँ एकत्र हुईं। कुत्तों को विश्राम दिया गया। साथ ही गाड़ियों की मरम्मत की गई। खाने पीने का सामान फिर से सँभाला गया। 27 फरवरी तक यह सब होता रहा। बार्टलेट साहब आगे बढ़े। वे बहुत दूर तक निकल गये। उनके पीछे दूसरी टुकड़ी वालों को बर्फ ने बहुत सताया। ज़ोर की हवा ने बर्फ के टुकड़ों को तोड़ फोड़ डाला। समुद्र खुल गया। उस पर जो बर्फ जमा हुआ था वह बह गया। अब वह पार कैसे किया जाय? दो गाड़ियाँ वहाँ पर टूट गई। फिर आदमी पीछे भेजे गये। वे कोलम्बिया अन्तरीप से दो और गाडियाँ ले गये। चौथे दिन खुले समुद्र को किसी तरह पार करके पिछली दोनो टुकड़ियों ने बार्टलेट वाली टुकडी को जा पकड़ा, जाड़ों के बाद 5 मार्च को सूर्य्य के पहले पहल दर्शन हुए। 11 मार्च को फिर कूच हुआ। वहाँ से सिर्फ 16 आदमी, 12 गाड़ियाँ और 100 कुत्ते पीरी ने साथ रक्खे। बाकी के कुछ वही रहे, कुछ लौटा दिये गये। दो तीन गोरे भी आगे न बढ़ सके। एक का पैर सूज गया। एक रास्ता ही भूल गया। इससे वे पीछे पड़े रह गये। मारटिन और बार्टलेट ने बहुत दूर तक पीरी का साथ दिया। परन्तु खाने पीने का सामान कम रह जाने से मारटिन को भी पीछे ही पड़ा रह जाना पड़ा। रहे बार्टलेट, सो उनसे पीरी ने कहा, आप क्यों उत्तरी ध्रुव तक जाने का कष्ट उठावेंगे। मैं ही अमेरिका की तरफ से वहाँ तक जाने का बीडा उठा आया हूँ। सो अब मुझे ही जाने दीजिए।

कमांडर पीरी बड़ी मुस्तैदी और बहादुरी से आगे बढ़ने लगे। किसी दिन वे 20 मील चलते थे, किसी दिन 25 मील। मुसीबतों का तो कुछ ठिकाना ही न था। मारे जाड़ों के बर्फिस्तानी यस्किमो लोगों तक के नाकोंदम हो गया। अंगुलियाँ सूज गईं। चेहरों की बुरी दशा हो गई। पीरी के क्लेशों की तो कुछ पूछिये ही नहीं। जहाँ ये लोग विश्राम के लिए ठहरते थे, वहीं पर कभी कभी बर्फ फटकर खुला समुद्र निकल आता था और ये लोग डूबने से बाल-बाल बच जाते थे। चलते चलते कमाडर पीरी 88 अक्षांश तक जा पहुँचे। अब उन्होंने सोना और आराम करना बहुत कम कर दिया। दौड़ने ही की उन्होंने धुन बाँधी। ज़रा आराम करना और फिर दौड़ लगाना। चौबीसवें पड़ाव पर पीरी ने जो यन्त्र से दूरी जाँची तो मालूम हुआ कि वे लोग अक्षांश 89 कला 25 पर पहुँच गये हैं। अब वे बारह बारह घण्टे में चालीस चालीस मील चलने लगे। छब्बीसवें पड़ाव पर वे अक्षांश 89 कला 57 पर जा पहुँचे। वहाँ से उत्तरी ध्रुव केवल 3 कला अर्थात् 3 मील से कुछ अधिक दूर था। बस फिर क्या था, फिर कूच किया गया और वह तीन मील का सफ़र तै कर डाला गया। ठीक उत्तरी ध्रुव पर जाकर 5 एप्रिल 1909 को पीरी ने उसे अपने पैरों के स्पर्श से पुनीत किया।

26 घण्टे तक पीरी उत्तरी ध्रुव की जाँच करते रहे। वहाँ से पाँच मील पर बर्फ के टूट जाने से समुद्र निकल आया था। उसकी गहराई नापने की आपने कोशिश की। पर थाह न मिली। इस नाप जोख में नापने का तार ही टूट गया।

अब पीरी ने बड़ी फुर्ती से लौटने की ठानी। लौटते वक्त उन्होंने अपनी रफ़्तार और भी बढा दी। जितनी दूरी को उन्होंने जाते समय 26 पड़ाव में तै किया था उतनी को लौटती बार सिर्फ 15 पड़ाव में तै किया। इस प्रकार दौडने में साँड़नी सवार को भी मात करके कमांडर साहब 23 एप्रिल को कोलंबिया अन्तरीप तक पहुँच गये। दो कूचों में वे अपने जहाज़ 'रूज़वेल्ट' के पास आ गये और उसे सुरक्षित पाया। दो महीने तक वहीं रहकर उन्होंने कितने ही प्रकार की वैज्ञानिक जाँच की। इस बीच में जो सामग्री मार्ग के पड़ावों में रह गई थी वह भी वापस आ गई। 18 जुलाई 1909 को वहाँ से कूच हुआ। 5 दिसम्बर को वे लबराडोर में पहुँच गये। वहीं से आपने तार दिया—"उत्तरी ध्रुव पर मैं अमेरिका का झण्डा गाड़ आया।"

[दिसम्बर, 1909 को 'सरस्वती' में 'उत्तरी ध्रुव का का आविष्कार' शीर्षक से प्रकाशित। 'प्रबन्ध पुष्पांजलि' में संकलित।]

उत्तरी ध्रुव की यात्रा और वहाँ की स्कीमो जाति

उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने की कोशिश बहुत समय से हो रही है। पीरी, अमन्दमन और नानसन आदि कितने ही साहसी यात्री समय-समय पर उसका पता लगाने के लिये उस तरफ जा चुके हैं, पर अभी तक पूर्ण सफलता किसी को नही प्राप्त हुई। कुछ लोग बहुत दूर तक पहुँच गये हैं, कुछ थोड़ी ही दूर तक। उनके अनुभवों से पश्चाद्वर्ती यात्रियों ने विशेष लाभ उठाया है और आशा है कि अब कोई-न-कोई भाग्यवान् पुरुष ठेठ ध्रुव-प्रदेश में मेख गाड़े और वहाँ पर अपने देश का झण्डा उड़ाये बिना न रहेगा। सतत उद्योग करने से सफलता अवश्य ही मिलती है। अभी हाल में भी एक साहब ध्रुव पर चढ़ाई करने गये थे। पर सुनते हैं बीच ही में कहीं वे अटक रहे और बहुत दिन बाद वहाँ के बर्फ से छुटकारा पाने पर अब वे लौट रहे हैं।

ध्रुव-प्रदेश के इन यात्रियों ने अपनी-अपनी यात्राओं का वर्णन लिखकर प्रकाशित किया है और उस प्रदेश में रहने वाली स्कीमो नामक मनुष्य-जाति के विषय मे भी अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं। क्योंकि इन लोगों की सहायता के बिना अन्य देशवासी ध्रुव-प्रदेश में अधिक दूर तक नहीं जा सकते। इन्हीं लोगों के वर्णनों के आधार पर नीचे हम उत्तरी ध्रुव की यात्रा और वहाँ के निवासियों के विषय में कुछ बातें लिखते हैं—

पृथ्वी के उत्तरी छोर को उत्तरी ध्रुव कहते है। उसके आस-पास ज़मीन बिल्कुल नहीं, चारों तरफ समुद्र-ही-समुद्र है। पर उसमें प्रायः पानी नहीं। बहुत करके सर्वत्र जमी हुई बर्फ की राशियाँ-ही-राशियाँ हैं। यह बर्फ भी सब कहीं एक सी अर्थात् सम नहीं। कहीं वह सैकड़ों फुट ऊँची है और कहीं दो ही चार फुट। वहाँ खाद्य पदार्थ का कही पता नहीं; कोई चीज़ उत्पन्न ही नहीं होती। जो लोग ध्रुव प्रदेश की यात्रा करने जाते हैं, वे खाने-पीने का सारा सामान अपने साथ ले जाते हैं। ये गाड़ियाँ बर्फ पर फिसलती हुई चलती हैं। संसार के अन्य देशो की अपेक्षा ग्रीनलैंड नाम का टापू उत्तरी ध्रुव के अधिक पास है। वहीं के कुत्ते इन गाड़ियो को खींचते या घसीटते हैं।

भूमि छोड़ने पर कोई चार-पाँच सौ मील बर्फ पर ही चलना पड़ता है। बीच में यदि कहीं पानी मिल जाता है तो बड़ी दिक़्क़ते उठानी पड़ती है। जब तक पानी जमकर कठोर बर्फ के रूप में नहीं हो जाता, तब तक उसे पैदल पार करना असम्भव हो जाता है।

ध्रुव-प्रदेश में सरदी इतनी अधिक पड़ती है कि थर्मामीटर का पारा शून्य के नीचे 10 से 55 अंश (डिग्री) तक उतर जाता है। सरदी के कारण मिट्टी का तेल तक जम जाता है और शराब गाढ़ी हो जाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यात्री लोग सामुद्रिक पानी मिलने पर, उसके जम जाने की प्रतीक्षा नहीं करते। वे अपना माल-असबाब वहीं कही छोड़ देते हैं और तैरकर पानी को पार करते हैं। कहीं बर्फ की तह

बहुत पतली होती है। ऐसी जगह चलना बड़ा ही भयंकर है। यदि वह मनुष्य के बोझ से टूट जाय तो मनुष्य वहीं अथाह सागर में समा जाय। फिर उसकी प्राण-रक्षा किसी भी तरह नहीं हो सकती।

जो लोग उत्तरी ध्रुव की यात्रा के लिये निकलते हैं वे जहाज़ पर ग्रीनलैंड पहुँचते हैं। वहीं से कुछ दूर आगे तक भी वे जहाज़ पर जा सकते हैं। राह में उन्हें पानी-ही-पानी नहीं दिखाई देता है। बर्फ के बड़े-बड़े पहाड़ पानी पर तैरते हुए दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं तो बर्फ की इतनी अधिकता हो जाती है कि बिना उसे तोड़े जहाज़ आगे बढ़ ही नहीं सकता। और फिर, जो कहीं सरदी के कारण समुद्र का पानी जम गया और जहाज़ वहीं फँस गया तो जहाज़ वालों की जान गई ही समझिये।

अद्भुत सहन-शक्ति रखने वाले बलवान मनुष्य ही ध्रुव-प्रदेश की यात्रा कर सकते हैं। साधारण सरदी से भी बीमार हो जाने वाले मनुष्य इस यात्रा के योग्य नहीं। लोमश चमड़े के मोटे-मोटे कपड़े ही वहाँ काम दे सकते हैं। उनके भी ऊपर पानी से बचने के लिये एक ऐसा ओवरकोट (Overcoat) पहनना पड़ता है जिसके भीतर पानी न प्रवेश कर सके। फिर भी यदि शरीर का कोई भाग खुला रह गया तो सरदी अपना काम किये बिना नहीं रहती और मनुष्य की जान के लाले पड़ जाते हैं। यदि राह में जूता फट जाय और दूसरा जूता पास न हो तो भी खैर नहीं। जब बर्फ का तूफ़ान जोरों से चलता है तब यात्रियों की नाक से खून बहने लगता है। हवा बहुत ज्यादा ठण्डी होने और तेजी से चलने से भी कभी-कभी मनुष्य मर जाता है। जब आदमी को सरदी लग जाती है तब उसे नींद बहुत आती है। उस समय यदि वह सो जाय तो उसके शरीरवर्ती रुधिर की गति बन्द हो जाय और वह मर जाय।

प्रतिदिन यात्री कोई 20 मील की यात्रा कर सकता है, अधिक नहीं। जहाँ ठहरना होता है वहाँ बर्फ के झोंपड़े बना लिये जाते हैं। उनके भीतर यात्री तेल और स्पिरिट (Spirit) की सहायता से आग जलाते और उस पर चाय तैयार करते हैं। वहाँ पानी तो मिलता ही नहीं। आग से बर्फ गलाकर ही पानी बनाया जाता है। रहने के लिए बनाया गया बर्फ का झोंपड़ा भी निरापद नहीं। उसे भी विपत्ति का घर ही समझना चाहिए। उसके नीचे यदि समुद्र हो और उसके ऊपर बर्फ की तह पतली हो, तो उसके फटने का डर रहता है। यदि वह फट पड़े तो झोंपड़े के भीतर विश्राम करने वाले यात्रियों का फिर कहीं पता न मिले।

ध्रुव-प्रदेश में हमारे यहाँ की तरह दिन और रात नहीं होती। साल भर में केवल एक ही दिन और एक ही रात होती है—अर्थात् छः महीने का दिन और छः महीने की रात। घड़ी देखकर ही वहाँ समय का अन्दाजा लगाया जाता और दिन-रात का अनुमान किया जाता है। सूर्य्य के प्रकाश से चारों ओर फैली हुई बर्फ की राशियाँ जगमगाया करती हैं। यदि यात्री हरे रंग के ऐनक लगाकर इस चमक से अपने नेत्रों की रक्षा न करे तो वह अन्धा हो जाय।

उत्तरी ध्रुव के पास पहुँच जाने वाले को दिशाओं का ज्ञान नहीं होता। उसको उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, सभी दिशाएँ एक-सी जान पड़ती हैं। वह जिस ओर

जायगा उसे वह दक्षिण ही कहेगा। बात यह है कि सूर्य्य आकाश के मध्यबिन्दु के पास गोलाकार घूमा करता है। इसी कारण उत्तरी ध्रुव के पास पहुँचने वाले यात्री को सभी दिशाएँ दक्षिण ही सी जान पड़ती हैं।

उत्तरी ध्रुव में जब दिन होता है तब सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश दिखाई पड़ता है, और जब रात होती है तब भयंकर अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं नजर आता।

इस प्रदेश में मनुष्य का नाम नहीं और वृक्षों तथा वनस्पतियों का कहीं निशान तक नही। चारो ओर बर्फ और दिन हुआ तो प्रकाश के सिवा और कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता। अतिशय शीत और बर्फ के विकट तूफ़ानों का सदा राज्य रहता है। पर पाश्चात्य देशों के उत्साही, साहसी और कष्ट-सहिष्णु अनुसन्धानकर्त्ताओं के वर्षों के निरन्तर परिश्रम की बदौलत यह प्रदेश अब पहले की तरह दुर्भेद्य और दुर्गम नही रह गया। अब तो कुछ समय से खोज करने वालों का एक न एक दल वहाँ जाया ही करता है।

उत्तरी ध्रुव-प्रदेश का समुद्र बहुत गहरा है। पाँच-पाँच, सात-सात सौ गज़ नीचे तक भूमि का कही पता नही। यदि वहाँ समुद्र न होता, भूमि होती, तो वहाँ की यात्रा इतनी कठिन न होती। जब जाड़ा खूब पड़ने लगता है तब समुद्र जम जाता है। इसी से जाड़ों ही में यात्रा करना सुभीते का होता है। गरमियों में यात्रा करना जान ख़तरे में डालना है। गरमी के दिनों में बर्फ गलकर पानी हो जाती है और जहाँ नही भी गलती वहाँ इतनी पतली पड़ जाती है कि थोड़ा भी बोझ या दबाव पड़ने पर टूट जाती है।

ध्रुव-प्रदेश में 23 सितम्बर को सूर्य्य अस्त हो जाता है और 21 मार्च तक अस्त रहता है। इस समय एक-दो महीने आगे-पीछे सायंकाल के सदृश अस्तकाल और अरुणोदय रहता है। अर्थात् उसी तरह का धूमिल प्रकाश रहता है जिस तरह का कि अन्यत्र सायं-काल देखा जाता है। हाँ, बीच के तीन महीनों में बिलकुल ही अन्धकार रहता है। तब तक उत्तरी ध्रुव में जाड़े का मौसिम समझा जाता है। लोग इसी जाड़े के पिछले भाग में ध्रुव-यात्रा करते हैं। उन्हें सब काम अधिकतर अँधेरे ही में करना पड़ता है। उस समय उनको घड़ी से बड़ी सहायता मिलती है। जिस मनुष्य ने अँधेरे में दो-चार दिन भी बिताये हों वही सूर्य्य के प्रकाश का महत्त्व अच्छी तरह समझ सकता है। ध्रुव के आस-पास, स्वच्छ आकाश में, तारों का प्रकाश भी भयदायक मालूम होता है। हर महीने सिर्फ दस-बारह दिन निशानायक के दर्शन होते हैं। इतने दिन वह अस्त नही होता, हाँ, घटता-बढ़ता ज़रूर रहता है। वहाँ चाँदनी में इधर-उधर घूमना भी ख़तरे से ख़ाली नही। कही बादल घिर आये तो चन्द्रिका छिप जाती है और घूमने वालों को रास्ता भूल जाने का बड़ा डर रहता है। चन्द्र के आस-पास बहुधा परिधि-मण्डल और कहीं-कहीं इन्द्रधनुष भी देख पड़ते हैं। कभी-कभी एक नहीं अनेक—सात-सात, आठ-आठ—झूठे चन्द्रमा भी दिखाई दे जाते हैं। चन्द्रमा की किरणें बर्फ पर टेढ़ी होकर पड़ने से ये अलीक चन्द्र दिखाई पड़ते हैं।

ग्रीनलैंड के उत्तरी किनारे की सरदी और गरमी से ही उत्तरी ध्रुव की सरदी और गरमी का अन्दाज़ा किया जाता है। वहाँ कम-से-कम दिसम्बर में शून्य के नीचे 53

अंश तक सरदी और ज़्यादा से ज़्यादा जून में शून्य के ऊपर 52 अंश तक गरमी पड़ती है। यह गरमी हमारे देश में कड़ाके के जाड़ों के दिनों की-सी होती है। जाडों में यात्रियों को विशेष कष्ट नहीं होता; परन्तु सर्दी में रहने के कारण गरमियों में उन्हे ज़रा-सी भी गरमी बरदाश्त नहीं होती।

ध्रुव प्रदेश में वर्षा नहीं होती। न कभी बादल गरजते है और न कभी बिजली चमकती है। बर्फ़ के तूफ़ान अलबत्त खूब आया करते हैं।

इस प्रदेश में कोई भी खाद्य-पदार्थ नही होता। जो लोग वहाँ जाते है वे चाय, जमा हुआ दूध, मांस, बिस्कुट और अन्य पदार्थ सब अपने साथ ले जाते हैं। शराब पीने से वहाँ बड़ी हानि पहुँचती है। वहाँ हर मनुष्य को प्रतिदिन कोई आध सेर मांस, आध सेर बिस्कुट, आध पाव जमा हुआ दूध और एक तोले चाय की दरकार होती है। कुत्तों के लिये मांस और आग जलाने के लिये तेल की भी जरूरत होती है। भोजन का ठीक प्रबन्ध न होने के कारण यात्रियो को बहुधा बडी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। खाद्य पदार्थ चुक जाने से कितने ही यात्रियों को अपने प्राणों तक मे हाथ धोना पड़ता है। ऐसा भी हुआ है कि भूख के मारे लोग अपने कुत्ते तक मारकर खा गये है।

उत्तरी ध्रुव के पास ही ग्रीनलैंड में स्कीमो नाम की एक मनुष्य जाति रहती है। यात्रा में इस जाति के मनुष्यों से यात्रियों को बहुत सहायता मिलती है। बात तो यह है कि इन लोगों की सहायता बिना सभ्य संसार का कोई मनुष्य इस प्रदेश की यात्रा कर ही नही सकता। ये लोग उसी प्रदेश के रहने वाले हैं और यहाँ की भूमि के एक-एक टुकड़े से जानकारी रखते हैं। इन लोगों के रहन-सहन का ढंग बड़ा ही विचित्र है।

स्कीमो एक जगह टिककर कभी नही रहते। वे इधर-उधर घूमते ही फिरते हैं। आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। माल-असबाब भी उनके पास बहुत नही होता। उनका रूप-रंग मंगोल जाति के आदमियों से कुछ-कुछ मिलता है। अन्तर इतना जरूर है कि वे रंग में उतने गोरे नहीं होते। पुरातत्त्ववेत्ता लोगों का ख़याल है कि स्कीमो लोग वहाँ किसी समय साइबेरिया से आये होंगे। जाड़ों में वे लोग मिट्टी और पत्थर के घर बनाते और उन्ही में रहते हैं। परन्तु शीत कम होते ही वे अपने घर छोड़ देते और सील नामक मछली के चमड़े के बने हुए तम्बुओं में रहने लगते है। ग्रीनलैंड में कस्तूरी-वृष (Musk Oxen) नाम का एक जानवर होता है। वे उसका तथा वहाँ के सफ़ेद रीछ, खरगोश, हिरन आदि जानवरों का शिकार करते और उन्हीं के मांस से अपना उदर-पोषण करते हैं। वे वालरस (Wallrus) और ह्वेल नाम के समुद्री जीवों का भी शिकार खेलते और उनका भी मांस खाते हैं। उस मांस को वे अपने कुत्तों को भी खिलाते है।

स्कीमो जाति के लोगों का कोई धर्म्म नहीं। हाँ, भूत-प्रेतो को वे ज़रूर मानते और उनसे डरते भी बहुत हैं। अपने बच्चों और बूढो की वे खूब सेवा करते हैं। साफ़ रहना तो वे जानते ही नहीं। वे शायद ही कभी नहाते हों। जब शरीर पर बहुत मैल जम जाता है तब तेल मलकर उसे थोड़ा-थोड़ा करके उखाड़ डालते हैं। यात्री लोग वस्त्र, तम्बू बर्तन आदि चीज़ों का प्रलोभन देकर उनसे अपना काम निकालते हैं। उन्हें अन्य चीज़ों

की जरूरत भी नहीं। उनकी भाषा विचित्र है। वह किसी भी अन्य भाषा से नहीं मिलती।

स्कीमो लोग अपने ही बनाये हुए घर पर अपना हक़ नहीं समझते। कोई भी जाकर उसमें रह सकता है। जमीन खोदकर उसके भीतर घर बनाये जाते हैं। घर के भीतर ज़मीन पर सूखी घास डाल दी जाती है। उस पर सील मछली का चमड़ा बिछा दिया जाता है। वही उनका बिछौना है। वे हिरन का चमड़ा पहनते हैं और चिराग़ में तेल की जगह चर्बी जलाते हैं। चिराग़ एक प्रकार के नरम पत्थर के बनते हैं। उस पत्थर की चमक चिराग़ की लौ से मिलकर इतनी गरमी पैदा कर देती है कि ऐसे चिराग़ से भोजन तक पकाया जा सकता है। जिस घर में एक भी चिराग़ जलता है उसमें रहने वालों को बहुत कम सरदी लगती है।

गरमी के दिनों में स्कीमो लोग तम्बू तानकर मैदान मे रहते हैं। उस ऋतु में घरों की छतें उखाड़ दी जाती है। इससे सूर्य्य का प्रकाश भीतर पड़ता है और नमी दूर हो जाती है।

स्कीमो जाति की स्त्रियाँ पुरुषों की बहुत मदद करती है। वे एक को छोड़कर दूसरा पति कर सकती हैं। इस काम में उन्हें किसी तरह की तलाक़ की जरूरत नहीं होती। यदि एक स्त्री के दो प्रेमी हुए तो उन दोनों में कुश्ती होती है। जो जीत जाता है वही उस स्त्री का पति बनता है। पुरुष भी इस विषय में स्वतन्त्र हैं। वे भी एक को छोड़ कर दूसरी स्त्री कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में स्त्री या तो अपने माता-पिता के घर चली जाती है या अपने किसी प्रेमी के यहाँ। लड़कियों का विवाह बारह-तेरह वर्ष की उम्र में हो जाता है।

स्कीमो लोगों को अपनी ज़िन्दगी की स्थिरता का कुछ भी विश्वास नहीं। इसी से शायद वे बहुत उद्दण्ड होते हैं। वे नम्रता का बर्ताव जानते ही नहीं। भूतों से वे बहुत डरते हैं। चलते-फिरते, खाते-पीते, सभी कामों में और सभी जगह उन्हें भूतों का डर लगा रहता है। वे भूतों को प्रसन्न करने के लिए बलिदान देते हैं और उनको वश में रखने के लिए मन्त्र-यन्त्र, टोटके आदि भी करते हैं। जब एक घर छोड़कर दूसरे में जाते है तब पहले घर के किवाड़ इसलिए तोड़ देते है कि भूत घर को उजड़ा समझकर उसमें प्रवेश न करे। पुराना हो जाने पर जब वे किसी वस्त्र को छोड़ने हैं तब उसकी चिन्धी-चिन्धी करके कल करते हैं। उन्हें डर लगा रहता है कि पहनने लायक़ समझकर कहीं उसके भी भीतर भूत न घुस जाय। भूतों को शान्त रखने के लिये वे पितरों की भी पूजा करते हैं। वालरस के गले की ताँत से वे एक बाजा और उसी की हड्डी से खँजड़ी बनाते हैं। खँजड़ी पर वालरस का ही चमड़ा मढ़ते हैं। फिर उनको बजाकर उन्मत्त की तरह खूब नाचते-कूदते हैं।

स्कीमो-जाति के आदमी मुर्दे को घर से बहुत दूर ले जाकर गाड़ते हैं। उसके कपड़े-लत्ते भी उसी के साथ गाड़ देते हैं। यदि मृत मनुष्य का कोई कुत्ता हुआ तो मारकर वह भी उसी के साथ दफ़ना दिया जाता है। जब कोई स्त्री मरती है तब उसकी आत्मा को सुखी करने के लिए उसका दीपक, सीने-पिरोने का सामान, थोड़ी-सी चर्बी और कभी

कभी उसके छोटे-छोटे बच्चों तक को मारकर घर वाले उसी के साथ गाड़ देते हैं। मृत व्यक्ति के लिये अधिक समय तक शोक नहीं किया जाता।

स्कीमो लोगों के देश में रातें बड़ी लम्बी होती हैं। पर वे तारों को पहचानते है। उन्ही को देखकर वे समय का हिसाब लगाते है। सप्तर्षियों के समुदाय को वे लोग हिरनों की टोली और कृत्तिका को कुत्तों की टोली कहते हैं। सूर्य्य को पुरुष और चन्द्र को वे स्त्री समझते हैं।

स्कीमो लोग सील मछली के चमड़े की छोटी-छोटी डोंगियाँ बनाते है। उन्ही डोंगियों पर सवार होकर ह्वेल और वालरस का शिकार करते हैं। ज़मीन पर शिकार खेलने में वे कुत्तों से बड़ी मदद लेते है। उनके कुत्ते ख़ूब मज़बूत और चालाक होते हैं। वे थोड़ा भी खाकर कई रोज़ तक अच्छी तरह काम कर सकते हैं। वे पानी नहीं पीते। उसके बदले बर्फ खाते हैं। बर्फ ही उनका पानी है। बर्फ पर गाड़ियाँ घसीटने मे उनसे बढ़कर और कोई जानवर काम नहीं दे सकता। इन्ही कुत्तो और इनके स्वामी स्कीमो लोगों की सहायता से अमेरिका का कमांडर पीरी पहले-पहल उत्तरी ध्रुव के बहुत पास तक पहुँच सका था। यदि स्कीमो लोगो और उनके कुत्तों ने उसकी तथा उसके पूर्ववर्ती अन्य यात्रियों की, जिनमें से बहुतों को हिम-राशियों ने अपनी गोद में सदा के लिये सुला लिया और जिनमें से कितने ही इन राशियों के गुप्त रहस्य को प्रकट करने में भी बहुत कुछ समर्थ हुए, सहायता न की होती तो आज अमेरिका के स्वातन्त्र्य और समता का सूचक झण्डा, अनन्त स्वतन्त्रता की अधिष्ठात्री प्रकृति देवी के दुर्गम दुर्ग, उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के केन्द्र के बहुत पास न फहराता होता।

[दिसम्बर, 1922 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'लेखांजलि' में संकलित।]

विस्यूवियस के विषम स्फोट-1

पृथ्वी पहले एक प्रकार का जलता हुआ प्रवाही पदार्थ थी। लोहा और तांबा आदि धातु गलने पर जैसे तरल और अग्निमय हो जाते हैं, पृथ्वी भी वैसी ही थी। वह धीरे-धीरे ठण्डी हो गई है। उसके पेट में, परन्तु, अभी तक ज्वाला भरी हुई है। पृथ्वी का जो भाग समुद्र के पास है वहाँ बड़ी-बड़ी दरारों से, कभी कभी, पानी का प्रवाह पृथ्वी के जलते हुए पेट में चला जाता है। वहाँ आग का संयोग होने से पानी की भाफ हो जाती है और वह बड़े वेग से पृथ्वी के ऊपरी भाग को तोड़ कर बाहर निकलने का यत्न करती है। इस प्रकार की भीषण भाफ जब पृथ्वी के उदर में इधर उधर आघात करती है तभी भूकम्प आता है। जहाँ वह पृथ्वी को तोड़ कर ऊपर निकलने लगती है वहाँ ज्वालामुखी पर्वत हो जाते हैं। ऐसे पर्वतों के नीचे की भाफ निकल जाने पर वे शान्त हो जाते हैं। जब फिर कभी वहाँ पानी का प्रवाह पहुँचता है, तब फिर वहाँ की आग कुपित हो उठती है और उत्पन्न हुई भाफ पहले मार्ग से ऊपर निकलने लगती है। इस निकलने में पृथ्वी के उदर के पदार्थ वह ऊपर फेंकती है।

पानी पहुँचने से पृथ्वी के पेट की ज्वाला कहीं कहीं अत्यन्त कुपित हो उठती है, और बटलोही के ढकने के समान, पृथ्वी के ऊपरी भाग को वह बलपूर्वक ऊपर उठा देती है। ऐंडीज़ और आल्प्स आदि ऊँचे ऊँचे पर्वत इसी प्रकार ऊपर उठ आये हैं। भूगर्भ-शास्त्र के जानने वालों ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है।

जिन पर्वतों में पृथ्वी के ऊपर की उबलती हुई भाफ के निकलने का मार्ग हो जाता है, अर्थात् जिनमें भीतर से ऊपर तक, एक विशाल कुवाँ सा बन जाता है उनसे, कभी कभी, आग की विकराल ज्वाला निकल पड़ती है। ऐसे पर्वतों को ज्वालामुखी अथवा अग्निगर्भ पर्वत कहते हैं।

संसार में जितने अग्निगर्भ पर्वत हैं उन सब में विस्यूवियस बड़ा ही भयंकर है। प्रशान्त महासागर के वेस्टइंडीज़ नामक द्वीपों में, उस वर्ष, जो एक ज्वालामुखी विस्फोट हुआ और उससे एक शहर का विध्वंस हो गया, वह विस्यूवियस के हृत्कम्पकारी स्फोटों के सामने कोई चीज़ न था। विस्यूवियस, इटली में, नेपल्स की खाड़ी से थोड़ी दूर पर है। उसके चारों ओर घनी बस्ती है। अंगूर और शहतूत के बाग दूर दूर तक चले गये हैं तरु, लता, पशु, पक्षी और मनुष्यों से परिपूर्ण, ऐसी मनोहर भूमि के बीच, यह भीम भूधर खड़ा है। समुद्र की सतह से यह कोई 4,000 फुट ऊँचा है।

जिस मुँह से विस्यूवियस ज्वलन्त पत्थर, राख, भाफ और धातु-रस उगलता है उसकी परिधि 5 मील है। यह अनादि अग्निगर्भ पर्वत है। किसी समय यह एक दूसरे ही मुख से ज्वाला वमन करता था। इस प्राचीन मुख का घेरा नये मुँह से भी बड़ा है। परन्तु उस मुँह ने चिरकाल से मौन धारण कर लिया है। विस्यूवियस की इस समय,

जितनी ऊँचाई है, प्राचीन समय में वह उससे दूनी थी। परन्तु एक महा वेगवान् स्फोट में उसके सबसे ऊँचे शिखर उड़ गये। तब से उसे यह वामन रूप मिला है।

विस्यूवियस कई सौ वर्ष तक शान्त था। जान पड़ता था कि उसकी जठराग्नि मन्द हो गई और वह हमेशा के लिए शिथिल पड़ गया। इसीलिए मनुष्यों ने उसके इर्द-गिर्द अनेक बाग़ लगा दिये, अनेक नगर और गाँव बसा दिये; यहां तक कि पर्वत के ऊपर उसके ज्वालावाहक मुँह तक वे अपनी भेड़ बकरियाँ चराने के लिए ले जाने लगे। उसके शिखर नाना प्रकार के हरे हरे पेड़ो और लताओं से ढक गये। उनको देख कर यह बात कभी मन में न आती थी कि वह अग्निगर्भ पर्वत है।

63 ईसवी में अकस्मात् भूडोल आया और विस्यूवियस के पेट में फिर, सैकड़ों वर्ष के बाद, गड़बड़ शुरू हुई। 16 वर्ष तक भूडोल आते रहे और जिस प्रान्त में यह पर्वत था उसके निवासियों के कलेजे को कँपाते रहे। अनेक मकान गिर गये, मन्दिरों के अनेक शिखर टूट पड़े; ऊँचे ऊँचे महल पृथ्वी पर उलटे लेट रहे। आगे आने वाले तूफ़ान की 12 वर्ष-व्यापी एक छोटी सी सूचना थी। मनुष्य-संहारक प्रलय का यह आदि रूप था। भूडोल के धक्के धीरे धीरे अधिक उग्र होते गये। अन्त में 24 अगस्त 79 ईसवी को विस्यूवियस का भीषण मुँह, महा भयंकर अट्टहास करके, खुल गया। क्षुब्ध हुए समुद्र में जिस प्रकार एक छोटी-सी डोंगी हिलती है, एक निमेष में कई हाथ ऊपर उठ कर फिर आ जाती है—स्फोट होने के पहले, उसी प्रकार, पृथ्वी हिल उठी। सपाट जमीन पर भी जाती हुई गाड़ियाँ उलट गई; मकान गिरने लगे और उनके भीतर से मनुष्य भागने लगे; समुद्र किनारो से कोसों दूर हट गया; अनन्त जलचर सूखी ज़मीन में पड़े रह गये। वह हो चुकने पर विस्यूवियस ने अपने पेट के पदार्थ वमन करना आरम्भ किया। प्रलयकाल के मेघ के समान भाफ की घोर घटा हाहाकार करते हुए उसके मुँह से निकलने लगी। ठहर ठहर कर सैकड़ों वज्रपात के समान महाप्रचण्ड गड़गड़ाहट प्रारम्भ हुई। भाफ के साथ राख और पत्थर उड़ने लगे और दूर दूर तक गिर कर देश का सर्वनाश करने लगे। बिजली इतनी भीषणता से चमकने लगी कि पचास-पचास कोस दूर तक के लोगों की आँखो में चकाचौंध आ गई। मुँह के ठीक बीच से जलते हुए धातु और पत्थरों की राशि आकाश की ओर कोसों ऊपर उडने लगी। तीन दिन तक आस पास का देश अन्धकार-मय हो गया। विस्यूवियस ने महा प्रलय कर दिया। उसके पास के हरक्युलैनियम, पाम्पियाई और स्टेबिया नामक तीन शहर समूल लोप हो गये। उनके ऊपर बीस बीस फुट गहरी बजरी, राख और पत्थर आदि की तह जम गई। सारे जीवधारियो का सहसा संहार हो गया। विस्यूवियस ने अपने मुँह से इतनी भाफ उगली कि उसके चारो ओर महाभयंकर और महावेगवान नद बह निकले और अपने साथ उस पर्वत के भीतर से निकले हुए राख और पत्थर आदि पदार्थों को बहा कर, उन्होंने बाग़, खेत, गाँव, नगर जो कुछ उन्हें मार्ग में मिला, सबको दस दस पन्द्रह पन्द्रह हाथ ज़मीन के नीचे गाड़ दिया। इस स्फोट में अनन्त प्राणियों ने अपने प्राण खोये।

इसके बाद कोई 1500 वर्ष तक विस्यूवियस प्रायः शान्त रहा। बीच में कभी एक आध बार उसने धीरे से श्वास अथवा डकार लेकर ही सन्तोष किया। इन 1500 वर्षों

में इस ज्वालामुखी पर्वतराज की फिर पहले की सी अवस्था हो गई। सब कहीं लतायें लटक गईं, घास से उसके शिखर लहलहे हो गये, अंकुर और शहतूत के उद्यान उसके आसपास उसकी शोभा बढ़ाने लगे। कितने ही गाँव बस गये। यह सब विस्यूवियस से देखा न गया। फिर भूडोल आरम्भ हुआ। छः महीने तक पृथ्वी हिलती रही। 16 दिसम्बर 1631 ईसवी को फिर उदर-स्फोट हुआ। राख और पत्थर के समूह के समूह हृदयविदारी नाद करते हुए उड़ने लगे और सैकड़ों मील दूर जा जाकर गिरने लगे। यहाँ तक कि छोटे छोटे पत्थर कान्सैन्टिनोपल तक पहुँचे। भाफ के पानी की प्रचण्ड नदियाँ बन गई। उनमें राख पत्थर मिल जाने से कीचड़ हो गया। कीचड़ के ये सर्वग्रासकारी भयावने नद बहे और अपीनाइन पर्वत के नीचे तक चले गये। इस बार गले हुए धातु और पत्थरों की अग्निरूपिणी नदियों के प्रवाह बहे, और महा भीषण रूप धारण करके पशु, पक्षी, मनुष्य, घास, फूस, वृक्ष, लता आदि को भस्म करते हुए बारह तेरह मुखों से समुद्र में आ गिरे। इस स्फोट में 18,000 मनुष्यों का संहार हुआ है।

जब से यह स्फोट हुआ तब से विस्यूवियस को पूरी शान्ति नहीं मिली। बीच बीच में आप आग, पत्थर, भाफ, राग उगलते ही रहे हैं। 1766, 1767, 1779, 1794 और 1822 ईसवी में आपने विशेष पराक्रम दिखाया।

1794 ईसवी के स्फोट में पिघले हुए पत्थरों की एक धारा विस्यूवियस ने निकाली। वह 12 से 40 फुट तक गहरी थी। टोरडियल ग्रेको नामक नगर को तबाह करके वह 350 फुट तक समुद्र में चली गई। समुद्र में प्रवेश के समय वह 1200 फुट चौड़ी थी। 1822 ईसवी के स्फोट में धुवें के विशाल स्तम्भ 10,000 फुट तक आकाश में उड़े। 1855 में चट्टानों के टुकड़े 400 फुट तक ऊँचे उड़े और स्फोट के समय ऐसी घोर गड़गड़ाहटें हुईं कि लोगों का कलेजा काँप उठा। वे सब नेपल्स को भाग गये।

कुछ दिन से विस्यूवियस की ज्वाला नमन करने की शक्ति क्षीण सी हो गई थी। परन्तु यह क्षीणता जाती रही है। अब फिर आपने विकराल रूप धारण किया है। फिर आप आग, पानी, ईंट, पत्थर बरसाने लगे हैं। यह अद्भुत तमाशा देखने के लिए दूर दूर से लोग नेपल्स को जा रहे है। विस्यूवियस के पास एक यन्त्रशाला स्थापित है। वहाँ उसकी अग्नि लीला की दिनचर्य्या रक्खी जाती है और जो जो दृश्य दिखलाई पड़ते हैं उनका वैज्ञानिक विचार किया जाता है। 1880 ईसवी से वहाँ तार के रस्सो की रेल निकाली गई है। यह रेल विस्यूवियम के मुख से 150 गज़ तक चली गई है। इसी रेल पर लोग इस ज्वलन्त देव के दर्शन करने जाते हैं।

हरक्युलैनियम और पाम्पियाई, जिनको विस्यूवियस ने 15 हाथ पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया था और बहुत ढूंढ़ने पर भी जिनका कोई निशान तक न मिलता था, अब ज़मीन खोदकर निकाले गये हैं। हरक्युलैनियम एक छोटा सा नगर है; परन्तु पाम्पियाई बहुत बड़ा है। एक कुवाँ खोदते समय पाम्पियाई का पहले पहल पता 1748 ईसवी में लगा। तब से बराबर उसकी खुदाई और खोज हो रही है। विस्यूवियस से वह कोई एक ही मील दूर है। उसके मकान, उसके मन्दिर और उसकी नाटक शालायें आदि

इमारतें सब जैसी की तैसी निकली हैं। उनमें रक्खा हुआ सामान भी बहुत सा निकला है। मनुष्यों की ठठरियाँ भी पाई गई हैं। 1800 वर्ष के पहले रोमन लोगों के इतिहास को पाम्पियाई ने प्रत्यक्ष कर दिया है। उस पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं और अब तक लिखी जा रही हैं। उनमें लिखे गये वर्णन बहुत ही मनोरंजक है। उस समय इटली वालों के मकान कैसे थे; उनके रहने की रीति कैसी थी; उनके घरों में किस प्रकार का सामान रहता था; उनके आमोद-प्रमोद किस प्रकार के थे—इत्यादि बातों का पता पाम्पियाई से खूब लगा है। कभी बुराई से भी भलाई निकलती है। विस्यूवियस के स्फोट से यदि पाम्पियाई दब न जाता तो प्रायः दो हजार वर्ष पीछे अपने पूर्व रूप में वह क्यों दिखलाई देता?

[जनवरी, 1905 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्रबंध-पुष्पांजलि' में संकलित।]

विस्यूवियस के विषम स्फोट-2

जैसा कि इस लेख के पूर्वोक्त में कहा जा चुका है पृथ्वी के पेट में अपार गरमी भरी हुई है। उसका ऊपरी भाग तो ठण्डा है; पर भीतरी गरम। कुवें के भीतर उतरने पर बहुत गरमी मालूम होती है। यदि दूर तक पृथ्वी खोदी जाती है तो गरम पानी निकलने लगता है। गरम पानी के कितने ही चश्मे पहाड़ों से निकलते है। इसी से स्पष्ट है कि पृथ्वी के भीतर गरमी है अथवा यों कहिए कि आग जल रही है। यह धीरे धीरे ठण्डी होती जाती है; अर्थात् पृथ्वी के पेट की गरमी धीरे धीरे कम हो रही है। यह वैज्ञानिक नियम है कि जो चीज़ ठण्डी होती जाती है वह सिकुड़ती है। गरमी के पदार्थों का आकार कुछ बड़ा हो जाता है और सरदी से कम।

पृथ्वी के भीतर सब कहीं बराबर गरमी नहीं; कहीं अधिक है कही कम। जो भाग बहुत अधिक गरम है वह जब ठण्डा होता है तब कम गरम भागों की अपेक्षा अधिक सिकुड़ जाता है। इसका फल यह होता है कि उसके और कम गरम भागों के बीच की जगह खाली रह जाती है। वहाँ पर महा भयंकर कन्दरायें सी बन जाती है। और उनके ऊपर पृथ्वी के कम गरम भाग मिहराबो की तरह खड़े रह जाते हैं। ये मिहराबें जब अपने ऊपर का वजन नही सँभाल सकती तब गिर जाती हैं और उनके ऊपर वाले भूभाग उन्हीं के साथ इस वेग से नीचे की कन्दराओं में जा पड़ते हैं कि उनके गिरने से बड़ी ही भीषण गरमी पैदा हो जाती है। इसे गरमी नही, प्रचण्ड ज्वाला कहना चाहिए। यदि ये घटनायें कहीं समुद्र के पास हुई और समुद्र का जल दरारों से होकर वहाँ तक पहुँच गया तो उसकी भाफ हो जाती है। यह भाफ ऊपर निकलने की कोशिश करती है और यदि कहीं थोड़ा भी मार्ग निकलने को मिल गया तो हाहाकार करती हुई पृथ्वी के ऊपर आ जाती है। वही ज्वालामुखी पर्वत हो जाते है। जिस समय पृथ्वी के पेट की यह भीषण गरमी और भाफ ऊपर निकलने की कोशिश करती है, उस समय उसका वेग भीतर ही भीतर दूर तक फैल जाता है और पृथ्वी कँपने लगती है। इसी को भूकम्प कहते हैं। पर ऊपर निकलने को जगह मिल जाने से कंपन बन्द हो जाता है और पत्थर, राख, भाफ और गली हुई चीज़ों के समूह बड़े ही हृदय-विदारी शब्द करते हुए ज्वालामुखी के मुँह से निकलने लगते हैं।

ज्वालामुखी पर्वतों के होने के कई एक वैज्ञानिक कारण बतलाये जाते है, परन्तु आज कल पूर्वोक्त कारण अधिक मान्य समझा जाता है। इस लेख के पूर्वोक्त मे लिखा जा चुका है कि कुछ दिनो से इटली का विख्यात ज्वाला-गर्भ पर्वत, विस्यूवियस, फिर ज्वाला उगलने के लक्षण दिखला रहा है। गत अप्रैल में यह अनुमान सच निकला। कई दिनों तक विस्यूवियस ने बड़ी ही भयंकर अग्नि-वर्षा की। इसके कुछ ही दिनो बाद अमेरिका के कैलीफोर्निया प्रदेश की राजधानी सान-फ्रांसिसको के विध्वंस होने की

खबर आई। तीन मिनट के भूकम्प ने वहाँ की अनेक इमारतों को भूमिसात् कर दिया। इस कारण कितने ही घरों में आग लग गई और प्रायः तीन चौथाई शहर जलकर खाक हो गया। यह बहुत ही सुन्दर और बहुत ही बड़ा शहर था। आग लगने के कारण अनन्त धन और जन-समूह का नाश हो गया। उसकी सोलह सोलह बीस बीस मंजिला इमारतें गिर गई और आग लगकर राख हो गईं। वैज्ञानिको की राय है कि सान-फ्रांसिसको का भूमिकम्प और विस्यूवियस की अग्नि वर्षा, दोनों घटनायें, एक ही कारण से हुईं। यह कारण वही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

इसका ठीक ठीक पता नहीं लगता कि कब से ज्वाला वमन करने की शक्ति विस्यूवियस में आई। किसी किसी का ख्याल है कि वह अनादि काल से ज्वालामुखी है। एक पुस्तक में इस पर्वत के स्फोटों का बहुत ही विस्तृत वर्णन, अभी हाल ही में हमारे देखने में आया। अतएव उसके आधार पर फिर इस विषय पर कुछ लिखा जाता है। पुनरुक्ति माफ़ हो।

इस पर्वत के ज्वाला उगलने का पहला वर्णन 79 ईसवी का है। यह इतना प्रलयंकर स्फोट था कि विस्यूवियस के अग्निगर्भ मुख से निकली हुई राख से पाम्पियाई और कीचड़ से हरक्यूलैनियम ये दो शहर बिलकुल ही दब गये। इसके बाद 203 और 472 ईसवी में फिर दो छोटे छोटे स्फोट हुए। पर उनसे विशेष हानि नहीं हुई। 1500 ईसवी तक सब छोटे बड़े मिलाकर 9 स्फोट हुए। इसके बाद 1500 से 1631 तक विस्यूवियस बिलकुल ही शात रहा। इस बीच में एटना नाम के ज्वालामुखी ने खूब आग उगली और नोवा नाम का एक और ज्वालामुखी ज़मीन के पेट से निकल आया। कोई डेढ़ सौ वर्ष बाद विस्यूवियस के उदर में फिर आग भभकी। 16 दिसम्बर 1631 को फिर भयंकर स्फोट हुआ। खाक और पत्थरों की वर्षा शुरू हुई। पास के पाँच सात नगरों का नाश हो गया। नेपल्स के भी बरबाद हो जाने के लक्षण दिखाई देने लगे। पर वह बच गया। हजारों आदमियों का नाश हुआ। वे जलकर, झुलसकर और दबकर मर गये। 1737, 1760 और 1767 में फिर अग्नि स्फोट हुए। उनसे बहुत कुछ हानि हुई। 1779 के स्फोट में 2000 फ़ुट की ऊँचाई तक जलते हुए पत्थर उड़े। 1794 का स्फोट और भी अधिक भयंकर था। उसमें जलते हुए पदार्थों की तरल नदियाँ बह निकली और समुद्र में आ मिली। 19वी शताब्दी में 10 स्फोट हुए उनमें कई स्फोट बड़े भयंकर थे। अप्रैल 1872 का स्फोट सबसे अधिक भीषण था। इस दफ़े विस्यूवियस के चारों तरफ जलते हुए तरल पदार्थों की नदियाँ बड़े ही वेग से बहो। 4,000 फुट की ऊँचाई तक आग, पत्थर और गली हुई चीज़ें उड़ीं। राख तो 8,000 फुट की ऊँचाई तक उड़ी। तरल अग्नि की नदियाँ बह कर नेपल्स के पास तक पहुँच गईं। पर शहर किसी तरह जलने से बच गया। इस स्फोट से कितने ही नगर विध्वन्स हो गये। 1895 में फिर एक स्फोट हुआ। पर उससे बहुत ज्यादा हानि नही हुई।

यद्यपि अनेक प्रकार के यन्त्र बनाये गये हैं जिनसे भूकम्प की सूचना पहिले ही से हो जाती है और ज्वालामुखी पर्वतों के भावी स्फोट का भी ज्ञान हो जाता है, तथापि अनेक बार देखा गया है कि इन यन्त्रों ने अपना काम ईमानदारी से नहीं किया। वे इस

प्रकार की सूचना देने के लिए जरूर हैं, परन्तु बहुधा वे इन दुर्घटनाओं का समाचार पहले ही से देने में असमर्थ हो जाते हैं। विस्यूवियस में भी एक वेधशाला है। उसमें अनेक प्रकार के बहुमूल्य यन्त्र हैं और वैज्ञानिक विद्वान् हमेशा वहाँ रहते हैं। वे विस्यूवियस के दैनिक रंगढंग का हिसाब रखते हैं। पर गत अप्रैल के विस्यूवियस ने जो सहसा विकराल अग्नि-वर्षा शुरू कर दी, उसकी खबर उनको भी न थी। एकाएक भूमि कम्प होकर विस्यूवियस के मुँह से आग, पत्थर, राख और भाफ की वर्षा आरम्भ हो गई।

विस्यूवियस के और कई स्फोटों की तरह यह स्फोट भी बहुत भयानक था। इसमें पत्थरों की बेहद वर्षा हुई। उसके डर से हजारों आदमी भाग भाग कर विशेष मजबूत घरों मे जा घुसे; पर राख और पत्थरों की इतनी मोटी तह मकानों की छतों पर जमा हो गई कि उसके वज़न से छतें गिर पड़ीं और आदमी नीचे दब कर मर गये। जो बस्तियाँ पर्वत के नीचे, थोड़ी थोड़ी दूर पर, थी, उनका तो एकदम ही संहार हो गया। वे बिलकुल ही ध्वंस हो गईं। बड़े बड़े क़सबे, समूचे के समूचे, नष्ट हो गये—कोई जल गये, कोई राख पत्थरो के नीचे दब गये, कोई गिर कर भूमिसात् हो गये। मनुष्यों और पशुओं का कितना नाश हुआ, इसका हिसाब लगाना कठिन है। कोसों तक जहाँ खेत, वाटिकायें और अंगूर के बाग़ खड़े थे, वहाँ हरियाली की जगह ख़ाक बिछ गयी।

विस्यूवियस के एक शिखर पर जो वेधशाला है वह ऐसी जगह है और इतनी मज़बूत है कि 1872 ईसवी के स्फोट से भी उसे कम हानि पहुँची थी और इस बार इससे भी कम ही पहुँची है। वहाँ के अध्यक्ष, अध्यापक मटूकी, स्फोट के समय, वेधशाला के किवाड़ और खिड़कियाँ बन्द किये हुए बराबर भीतर बैठे रहे। यद्यपि उनके कितने हो यन्त्र टूट फूट गये और उन्हे बहुत कष्ट हुआ तथापि वे वहाँ से नही हटे। उन्होंने स्फोट-सम्बन्धी बहुत सी बातें जानी है। शीघ्र ही वे सर्वसाधारण के लाभ के लिए प्रकाशित की जायँगी। उनकी इस वीरता और निर्भयता पर प्रसन्न होकर इटली के बादशाह ने, सुनते है, कोई ख़िताब दिया है।

विलायती अख़बारों में इस स्फोट का वर्णन लिखे जाने तक धुवें के बादल विस्यूवियस के आस पास दूर दूर तक छाये हुए थे। यहाँ तक कि पास की खाड़ी में, अँधेरे के कारण, जहाजों का आना जाना तक बन्द था। इससे विस्यूवियस का डीलडौल अच्छी तरह देखने को नही मिला। परन्तु लोगो का अनुमान है कि जैसा 79 ईसवी में हुआ था वैसा ही इस दफ़े भी पर्वत का ज्वालागर्भ शिखर गिर कर चूर हो गया होगा। इसके सिवा और भी कितने ही रद्दो-बदल हुए होंगे। यह अजीब पहाड़ है। इसके शिखर इसी तरह टूटा फूटा करते हैं और फिर धीरे धीरे, भीतर के पदार्थ ऊपर आ आकर उन्हें ऊँचा किया करते है या नये नये शिखर पैदा कर देते हैं।

एक साहब ने विस्यूवियस के इस नये स्फोट का आँखों देखा हाल प्रकाशित किया है। वे कहते है कि स्फोट के एक दिन पहले इस बात की कुछ भी ख़बर लोगों को न थी कि कल विस्यूवियस आग उगलना शुरू करेगा। 24 घण्टे बाद, विस्यूवियस के ज्वाला-गर्भ मुँह से धुवें के बादल निकलने लगे। धीरे धीरे उनका परिमाण बढ़ा। धुवाँ नेपल्स तक पहुंचा और सारे शहर में छा गया। कुछ देर में जोर से हवा चलने लगी और उसके

साथ ही 'गड़ाम' की आवाज़ सुन पड़ी। बस फिर क्या था, प्रलय सी होने लगी। कलेजे को कँपानेवाली महाविकराल गड़गड़ाहट शुरू हुई। आकाश-पाताल एक करने वाली विकट गर्जना को सुनकर लोग एकदम घबडा उठे। किवाड़ और खिड़कियाँ टूटने लगीं और यह मालूम होने लगा कि तोपों की बाढ़ पर बाढ दागी जा रही है। दूसरे दिन सवेरे सुन पड़ा कि विस्यूवियस के मुँह से निकली हुई तरल अग्निधारा ने कई गाँव जला दिये। पर कुछ गाँव वाले मरने से बच गये। वे धारा के पहुँचने के पहले ही भाग गये थे। विस्यूवियस के मुंह तक जो रेल बनी थी वह बिलकुल ही बरबाद हो गई। ख़ाक और धुवां चारो तरफ़ छा गया। नेपल्स में दिन को रात हो गई। विस्यूवियस धुवें के भीतर घुस गया। उसका कोई भाग न दिखलाई देने लगा। तीन दिन तक यही दशा रही। कोई विशेष बात नहीं हुई। चौथे दिन बिजली की शक्ल की आग की लपटें विस्यूवियस के ऊपर उठने और कई सौ फुट आसमान में घुसने लगी। पत्थर, राख और अग्निधारा ने अनेक गाँव और नगर उजाड़ दिये। अनन्त जीवों का नाश कर डाला। जब विस्यूवियस कुछ शान्त हुआ तब देखा तो हरी घास, हरी पत्ती, हरे पेड़, हरे पौधे एकदम ही नष्ट हो गये थे। सब कही राख और धुवें का रंग व्याप्त था। आदमियों का रंग भी वैसा ही हो गया था। तब तक कुछ कुछ अँधेरा छाया हुआ था। उसी में लोग भूतों की शक्ल के बने हुए इधर उधर घूम रहे थे। नेपल्स के होटल खाली हो गये थे। लोग भागकर रोम चले गये थे। इटली के बादशाह और राजेश्वर एडवर्ड और उनकी महारानी विस्यूवियस देखने को पधारे। करोड़ों की धन सम्पत्ति जो इस स्फोट से नष्ट हुई है और जो हज़ारो आदमी मरे और बेघर द्वार के हो गये है उन पर दया करके दयाशील जन चन्दा कर रहे हैं। इटली के बादशाह ने बहुत कुछ मदद की है। एडवर्ड सप्तम ने भी कुछ दिया है।

स्फोट के शुरू होने पर विलायती पत्रो में जो तार प्रकाशित हुए थे, उनका संक्षिप्त आशय देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं। 9 अप्रैल को नेपल्स से खबर आई कि विस्यूवियस का स्फोट फिर शुरू हुआ। आकाश में 450 फुट तक आग की ज्वाला उड रही है। हर भयंकर नाद के बाद पृथ्वी के पेट में गड़गड़ाहट होती है। आस पास की जमीन हिल रही है। गाँव और नगर जल रहे हैं। आदमी मारे डर के पागल की तरह भाग रहे है। भगोड़ो से नेपल्स भर गया है। कोई दो लाख आदमी बेघर-द्वार के होकर भाग आये है। राख बरस रही है। नेपल्स राख के भीतर घुसा जा रहा है। 9 तारीख़ को खबर आई कि रेत की वृष्टि के कारण बाहर निकलना कठिन हो गया है। कीचड़ की भी वर्षा हो रही है। इस से सड़कों पर गाड़ियाँ नहीं चल सकतीं। आज आग के रूप में भूगर्भ की गली हुई चीजों की नदियाँ बहने लगी हैं। उन्होने अनेक सुन्दर सुन्दर वस्तुओं का समूल नाश कर दिया। विस्यूवियस के पास एक जगह ज़मीन फट गई। उससे आग की तरल धारा, 200 गज़ चौड़ी, बोसकोंटिकेसी नगर की तरफ बही। यह देख कर नगर वासियों ने जीने की आशा छोड़ दी। वे पागल से हो गये और जिस को जो मार्ग मिला उसी से वह भागा। सब लोग भागने न पाये थे कि वह अग्नि सरिता आ पहुँची और शहर के भीतर से होकर

निकल गई। अनन्त हानि हुई। 10 अप्रैल को भाफ की वर्षा कुछ कम हो गई; पर 11 को फिर वह प्रबल हो उठी। सरकारी हुक्म से नेपल्स में मकानों की छतें कहीं कहीं उतार दी गई हैं, जिस में राख के वज़न से वे गिर न जायँ। कई इंच गहरी रेत और राख शहर में सब तरफ बिछ गई है।

विस्यूवियस के शांत होने पर आदमी फिर अपने उजड़े हुए घरों को लौटने लगे। अब तक शायद कितने ही मकान फिर से बन गये हों। किसी किसी विषय में मनुष्य के धैर्य्य और उस की सहनशीलता का विचार करके आश्चर्य्य होता है। जिस विस्यूवियस ने अनेक बार प्रलय करके असंख्य धन और जन का नाश किया उसी के पास जा जा कर फिर आदमी बस गये। इस दफ़े भी वही हो रहा है। उस साल मार्टिनीक और सेंटविसेंट मे जो स्फोट हुआ था उससे कोई 50 हज़ार आदमी मरे थे। पर वहाँ भी अब पूर्ववत् बस्ती हो गई है। सान-फ्रांसिसको भी नये सिरे से बन रहा है और आबाद हो रहा है। इसी तरह कुछ दिनों में विस्यूवियस के पास के उजाड़ गाँव और नगर भी फिर पूर्ववत् आबाद हो जायँगे। क्या ही अच्छा हो यदि किसी अच्छे विषय में नाकामयाबी होने पर, आदमी इसी तरह के सहनशीलत्व, धीरज, उद्योग और परिश्रम से काम लें।

[जुलाई, 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' में संकलित।]

पाताल-प्रविष्ट पांपियाई नगर

किसी समय विस्यूवियस पहाड़ के पास, इटली में, एक नगर पांपियाई नाम का था। रोम के बड़े-बड़े आदमी इस रमणीय नगर मे अपने जीवन का शेषांश व्यतीत करते थे। हर एक मकान चित्रकारियों से विभूषित था। इन्द्र-धनुष के समान तरह-तरह के रंगो से रँगी हुई दूकानें नगर की शोभा को और भी बढ़ा रही थी। हर सड़क के छोर पर छोटे-छोटे तालाब थे, जिनके किनारे भगवान् मरीचिमाली के उत्ताप को निवारण करने के लिये यदि कोई पथिक थोड़ी देर के लिये बैठ जाता था, तो उसके आनंद का पार न रहता था। जब लोग रंग-बिरंगे कपडे पहने हुए किसी स्थान पर जमा होते थे, तब बड़ी चहल-पहल दिखाई देती थी।

कोई-कोई संगमरमर की चौकियो पर, जिन पर धूप से बचने के लिये पर्दे टंगे हुए थे, बैठे दिखाई पड़ते थे। उनके सामने सुसज्जित मेजों पर नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन रक्खे जाया करते थे। गुलदस्तों से मेजे सजी रहती थी। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वहाँ का छोटे-से-छोटा भी मकान सुसज्जित महलों का मान भंग करने वाला था। वहाँ का झोंपड़ा भी महल नही स्वर्ग था।

यहां पर हम केवल एक ही मकान का थोड़ा-सा हाल लिखते हैं। उससे ज्ञात हो जायगा कि पांपियाई उस समय उन्नति के कितने ऊँचे शिखर पर आरूढ़ था। पांपियाई में घुसते ही एक मकान दृष्टिगोचर होता था। उसकी बाहरी दालान रमणीय खंभों की पंक्ति पर सधी हुई थी। दालान के भीतर घुसने पर एक बड़ा लंबा-चौड़ा कमरा मिलता था। वह एक प्रकार का कोश-गृह था। उसमें लोग अपना-अपना बहुमूल्य सामान जमा करते थे। वह सामान लोहे और ताँबे के संदूकों में रक्खा रहता था। सिपाही चारों तरफ़ पहरा दिया करते थे। रोमन देवताओं की पूजा भी इसी मे हुआ करती थी।

इस कमरे के बराबर एक और भी कमरा था। उसमें मेहमान ठहराए जाते थे। उसी में कचहरी थी। इससे भी बढ़कर एक गोल कमरा था। उसके फ़र्श में संगमरमर और संगमूसा का पच्चीकारी का काम था। दीवारो पर उत्तमोत्तम चित्र अंकित थे। इस कमरे में पुराने इतिहास और राज्य-संबंधी काग़ज़ात रहते थे। यह कमरा बीच से लकड़ी के पर्दों से दो भागो में बँटा हुआ था। दूसरे भाग में मेहमान लोग भोजन करते थे।

इसके बाद देखने वाला यदि दक्षिण की तरफ मुड़ता, तो एक और बहुत बड़ा सजा हुआ कमरा मिलता। उसमें सोने का प्रबंध था। कोचें बिछी हुई थीं। उन पर तीन-तीन फुट ऊँचे रेशमी गद्दे पड़े रहते थे। इसी कमरे में, दीवार के किनारे-किनारे, अलमारियाँ लगी थीं। उनमें बहुमूल्य रत्न और प्राचीन काल की अन्यान्य आश्चर्य्य-जनक चीजें रक्खी रहती थीं।

इस मकान के चारों तरफ़ एक बड़ा ही मनोहारी बागीचा था। जगह-जगह पर फ़व्वारे अपने सलिल-सीकर बरसाते थे। उनकी बूंदें बिल्लौर के समान चमकती हुई भूमि पर गिर-गिरकर बड़ा ही मधुर शब्द करती थीं। फ़व्वारों के किनारे-किनारे माधवी-लताएँ कलियों से परिपूर्ण शरद् ऋतु की चाँदनी का आनंद देती थीं। फ़व्वारों के कारण दूर-दूर तक की वायु शीतल रहती थी। जहाँ-तहाँ सघन वृक्षों की कुंजें भी थीं।

आगे चलकर गर्मियों में रहने के लिये एक मकान था, जिसे हम मदन-विलास कह सकते हैं। पाठक, कृपा करके इसके भी दर्शन कर लीजिए। इसकी भी सजावट अपूर्व थी। इसमें जो मेज़ें थीं, वे देवदारु की सुगंधित लकड़ी की थीं। उन पर चाँदी-सोने के तारों से तारकशी का काम था। सोने-चाँदी की रत्न-जटित कुर्सियाँ भी थीं। उन पर रेशम की झालरदार गद्दियाँ पड़ी हुई थीं। कभी-कभी मेहमान लोग इसमें भी भोजन करते थे। भोजनोपरांत वे चाँदी के बर्तनों में हाथ धोते थे। इसके बाद बहुमूल्य शराब, सोने के प्यालों में, उड़ती थी। पानोत्तर माली प्रसून-स्तवक मेहमानों को देता और सुमन-वर्षा होती थी। अंत में नृत्य आरंभ होता था। इसी गायन-वादन के मध्य में इत्र-पान होता था, और गुलाब-जल की वृष्टि होती थी। ये सब बातें अपनी हैसियत के मुताबिक़ सभी के यहाँ होती थीं। त्योहार पर तो सभी ऐसा करते थे।

एक दिन कोई त्योहार मनाया जा रहा था। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ, सभी आमोद-प्रमोद में मग्न थे। इतने में अकस्मात् विस्यूवियस से धुवाँ निकलता दिखाई दिया। शनैः शनैः धुएँ का गुबार बढ़ता गया। यहाँ तक कि तीन घंटे दिन रहे ही चारों ओर अंधकार छा गया। सावन-भादों की काली रात-सी हो गई। हाथ को हाथ न सूझ पड़ने लगा। लोग हाहाकार मचाने और त्राहि-त्राहि करने लगे। जान पड़ा कि प्रलय आ गया। जहाँ पहले धुवाँ निकलना शुरू हुआ था, वहाँ से चिनगारियाँ निकलने लगीं। लोग भागने लगे। परंतु भागकर जाते भी तो कहाँ? ऐसे समय में निकल भागना नितांत असंभव था। अँधेरा ऐसा घनघोर था कि भाई बहन से, स्त्री पति से, माँ बच्चों से बिछुड़ गई। हवा बड़े वेग से चलने लगी। भूकंप हुआ। मकान धड़ाधड़ गिरने लगे। समुद्र में चालीस-चालीस गज़ ऊँची लहरें उठने लगीं। वायु भी गर्म मालूम होने लगी, और धुवाँ इतना भर गया कि लोगों का दम घुटने लगा। इस महाघोर संकट से बचने के लिये लोग ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। पर सब व्यर्थ हुआ।

कुछ देर में पत्थरों की वर्षा होने लगी, और जैसे भादों में गंगाजी उमड़ चलती हैं, वैसे ही गरम पानी की तरह पिघली हुई चीज़ें ज्वालामुखी पर्वत से बह निकलीं। उन्होंने पापियाई का सर्वनाश आरंभ कर दिया। मेहमान भोजन-गृह में, स्त्री पति के साथ, सिपाही अपने पहरे पर, क़ैदी क़ैदख़ाने में, बच्चे पालने में, दूकानदार तराज़ू हाथ में लिए ही रह गए। जो मनुष्य जिस दशा में था, वह उसी दशा में रह गया।

मुद्दत बाद, शांति होने पर, अन्य नगर-निवासियों ने वहाँ आकर देखा, तो सिवा राख के ढेर के और कुछ न पाया। वह राख का ढेर ख़ाली ढेर न था; उसके नीचे हज़ारों मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा पूरी करके सदैव के लिये सो गए थे।

हाय, किस-किसके लिये कोई अश्रु-पात करे! यह दुर्घटना 23 अगस्त, 79 ईसवी की है। 1645 वर्ष बाद जो यह जगह खोदी गई, तो जो वस्तु जहाँ थी, वहीं मिली।

यह प्राय: सारा-का-सारा शहर पृथ्वी के पेट से खोद निकाला गया है। अब भी कभी-कभी इसमें यत्र-तत्र खुदाई होती है, और अजूबा-अजूबा चीज़ें निकलती हैं। पांपियाई मानो दो हज़ार वर्ष के पुराने इतिहास का चित्र हो रहा है। दूर-दूर से दर्शक उसे देखने जाते हैं।

['भ्रमर' नाम से अक्टूबर, 1911 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'अद्भुत आलाप' में संकलित।]

ढाई हज़ार वर्ष की पुरानी क़बरें

इंगलैंड में कार्नवाल एक सूबा है। उसके उत्तर, समुद्र के किनारे, 'हारलीनबे' नामक एक जगह है। वहाँ कोई ढाई हज़ार वर्ष की पुरानी क़बरें निकली हैं। इतनी पुरानी कबरें आज तक किसी और पश्चिमी देश में नहीं निकली थीं। इन क़बरों के भीतर मनुष्यों के जो अस्थिकंकाल निकले हैं वे सम्पूर्ण रूप से अच्छी दशा में हैं। जिन लोगों की ये हड्डियाँ है वे किस समय में थे और जीवन-व्यापार कैसा था, इस विषय का विचार अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस समय कर रहे है।

इन क़बरो के निकलने के पहिले 'हारलीनवे' का कोई नाम तक न जानता था। वहाँ बस्ती भी कम थी। परन्तु इसकी रमणीकता और प्राकृतिक सौन्दर्य्य पर मोहित होकर रेडी नाम के एक साहब ने कुछ ज़मीन वहाँ पर लेकर उस पर मकान बनाना चाहा। मकान की नीव खोदने में, 14 फ़ुट की गहराई पर, रेडी साहब को एक क़बर मिली। यह क़बर एक ऐसे तहख़ाने में थी जो स्लेट नाम के एक बहुत मुलायम और खूबसूरत पत्थर का बना हुआ था। इस क़बर के भीतर हड्डियों के साथ हजारो वर्ष के पुराने कुछ ऐसे ज़ेवर और औज़ार निकले जो इस क़बर की प्राचीनता के सूचक थे। इस पर जो और ज़मीन खोदी गई तो मालूम हुआ कि यह एक बहुत पुराना क़बरिस्तान है—उस समय का जबकि ब्रांज नामक धातु के औजार काम में आते थे।

इसकी ख़बर कार्नवाल की रायल सोसायटी को दी गई और चन्दे से बहुत-सा रुपया जमा करके यह जगह अच्छी तरह खोदी गई। कोई पचास हज़ार मन रेत और मिट्टी के नीचे दबी हुई सैकड़ो क़बरें यहाँ पर मिलीं। कितने ही कंकाल अच्छी हालत में जैसे के तैसे मिले। स्लेट के बने हुए कितने ही तहख़ाने भी अच्छी हालत में मिले। हड्डियों के साथ जो चीज़ें निकली वे, अत्यन्त पुरानी होने के कारण, बड़े ही महत्त्व की समझी गईं।

जो अस्थिकंकाल और चीज़ें इन क़बरों में मिलीं उनमे से कुछ तो एक अजायबघर में रक्खी गई हैं और कुछ वही पर, एक मकान में, शीशे के छोटे-छोटे बक्सों में। जो चीजे मिली हैं उनमें से कितने ही कंघे, अँगूठियाँ, कड़े और छोटी-छोटी गोलियाँ है। स्लेट और शंख की भी कितनी ही चीजें हैं। कई चीज़ों के ऊपर तरह-तरह के भद्दे चित्र खुदे हुए हैं, जिससे साबित होता है कि ढाई-तीन हजार वर्ष पहले वहाँ के लोगों को नक़श की हुई चीज़ें पहनने का शौक़ हो चला था।

वहाँ पर जो खोपड़ियाँ निकली हैं उनमें से बहुत सी इतनी अच्छी दशा में है कि उन्हे देखकर शरीर-शास्त्र के जानने वाले झट से पहचान जाते हैं कि ये स्त्रियों की हैं या पुरुषों की। दाँत तक इन खोपड़ियों में से किसी-किसी में अभी तक पूर्ववत् बने हुए है। खोपड़ियों में एक यह विचित्रता है कि इनकी शक्ल कुछ-कुछ बन्दरों की खोपड़ियों से

मिलती है। ऊपर का हिस्सा तो छोटा है, पर नीचे का जबड़ा बड़ा। हड्डियों को देखने से मालूम होता है कि इन लोगों की ऊँचाई 5 फ़ुट 4½ इंच रही होगी।

इस क़बरिस्तान में छ: क़बरें खोदकर खुली हुई छोड़ दी गई हैं। उनके ऊपर शीशे के घर बना दिये हैं गये है। क़बरों में पाई गई हड्डियाँ साफ़ करके जैसी की तैसी रख दी गई हैं। किसी क़बर में एक ठठरी है, किसी में दो और किसी में ज्यादह ठठरियाँ, बैठी हुई दशा मे, हैं। उनके घुटने ऊपर को ठुड्ढी से लगे हुए है। एक क़बर की हड्डियाँ नीचे पड़ी हुई है। कई हड्डियों पर चोट के चिह्न हैं। कुछ हड्डियाँ चिपटी हो गई है। बहुत लोगो का ख़याल है कि उस ज़माने में लोग मनुष्यो का बलिदान देते थे। जब कोई दावत या धार्म्मिक काम होता था तब एक-आध आदमी का वलिदान जरूर किया जाता था। उसकी हड्डियां तोड़-फोड़कर क़बर में गाड़ देते थे। एक क़बर के भीतर एक खोपड़ी मिली, जो कई जगह से टूटी है। नाक की हड्डी कटी हुई है। तीन दाँत अपनी जगह से हटकर नीचे के जबड़े में घुस गये है। इससे मालूम होता है कि जिस आदमी का बलिदान किया जाता था वह बुरी तरह से मारा जाता था। उसका सिर पत्थर या किसी और औज़ार से तोड़ दिया जाता था।

जितने पुरातत्त्व-विद्वानो को इन क़बरों की हड्डियाँ और कंकाल दिखलाए गए सबने यही राय दी कि ये क़बरें ढाई हजार वर्ष से कम पुरानी नहीं हैं, अधिक चाहे हों। किसी-किसी का यह ख़याल है कि ये उस समय की क़बरें है जब रोमन लोगों के कब्ज़े में इंगलिस्तान नही आया था। लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले लोगो के सिर गोल नही होते थे। वे कुछ-कुछ चिपटे होते थे। उसी समय की ये क़बरें है। दाँतों की परीक्षा से मालूम होता है कि जिन लोगों के दाँत है वे अनाज अधिक खाते थे, मांस कम; क्योंकि दाँत बहुत घिसे हुए है। मालूम होता है कि तब तक इन लोगो के पास शिकार करने के लायक़ कोई अच्छे शस्त्र न थे। इन क़बरो में एक भी सिक्का नहीं मिला, जो इनकी प्राचीनता का बहुत बड़ा प्रमाण है।

[जून, 1908 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्राचीन चिह्न' पुस्तक में संकलित।]

तीस लाख वर्ष के पुराने जानवरों की ठठरियाँ

प्राचीन काल में कुछ जानवर ऐसे होते थे जो आजकल नहीं पाये जाते। डीनोसार जात्यन्तर्गत ट्रेचोडोंट शाखा के रेंगने वाले जीव भी ऐसे ही जानवरों में हैं। इनकी दो ठठरियाँ न्यूयार्क (अमेरिका) के अजायबघर में, हाल ही में, प्रदर्शनी के लिए रक्खी गई हैं।

इस जानवर की ठठरियाँ अब तक योरप और अमेरिका में बहुत पाई गई हैं। पर ये दोनो ढाँचे ऐसे पूर्ण और जुदी-जुदी हालतों में है कि इनकी परीक्षा करने में बड़ा सुभीता होता है।

विद्वानों का अनुमान है कि यह जानवर तीस लाख वर्ष पहले होता था। उस समय डीनोसार जाति की अन्य शाखाओं की अपेक्षा ट्रेचोडोंट शाखा के जानवर बहुत अधिक थे। इन ठठरियों के रंग-ढंग से मालूम होता है कि जिस समय में ये मरे है उस समय दोनों चर रहे थे। उनमें से एक अपने किसी वैरी जानवर के आ जाने से चौंक पड़ा है और उँगलियों के बल खड़ा हो गया है। दूसरे को आने वाली विपद् का ज्ञान नहीं है। वह चुपचाप चरने में मग्न है। इतने प्राचीन काल की घटना के इस अनुमान के ठीक होने में कोई सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि जिस समय हम इसके ढाँचे को और तत्कालीन पत्तियों, झाड़ियों, पेड़ों के तनों और फलों के चिह्नों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उस समय इस अनुमान के सिवा और कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। खड़ी ठठरी के पिछले बायें पैर पर तीन घाव हैं। वे इस जीव के किसी वैरी के किये हुए हैं। उन्हें देख-कर यह अनुमान और भी दृढ़ हो जाता है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, ट्रेचोडोंट तीस लाख वर्ष पहले विद्यमान था। उस समय ये जानवर योरप और अमेरिका के कई स्थानों में पाये जाते थे। विशेष कर अमेरिका के न्यूजर्सी, मिसीसिपी, अलबामा, वोमिंग, मोटाना, डकोटा आदि स्थानो में। क्योंकि यहीं इसकी ठठरियाँ अधिकता से पाई गई है।

जब से इस जाति के जानवर का वंश-नाश हुआ तब से आज तक इसकी ठठरियों के ऊपर अटलांटिक महासागर के किनारों पर कई हज़ार फ़ुट ऊँची चट्टानें जम गई है। भूगर्भ-विद्याविशारदों का कथन है कि इन चट्टानों की इतनी तहें तीस लाख वर्ष से अधिक काल में जम सकती है। इससे आप इन ठठरियों की प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं।

अमेरिका की पश्चिमी रियासतों में पहाड़ियों और घाटियों की बड़ी अधिकता है। इन्हीं पहाड़ियो के पास एक अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ जगह में यह खड़ी ठठरी, सन् 1904 में, पाई गई थी। जिस आदमी ने इसे पाया था उससे 1906 में न्यूयार्क के अजायबघर के प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने ख़रीद लिया।

दूसरी ठठरी डकोटा रियासत की मोरो नदी के पास मिली थी। इसे अध्यापक

कोप नाम के एक साहब के आदमियों ने, 1882 में, पाया था। उन्होंने बड़ी मुशकिल से, बहुत कहने-सुनने पर, इसे अजायबघर वालों के हाथ बेचा।

ट्रेचोडोंट जानवर की गिनती रेंगने वाले जीवों में है। उसकी अगली टाँगे बहुत छोटी है। पर पिछली टाँगें और पूँछ खूब लम्बी है। दाँतों की बनावट से मालूम होता है कि यह जानवर मांसभक्षी न था; किन्तु फल, मूल, घास, पात आदि खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इसका मुँह फैला हुआ होता था और बतख़ की तरह चौड़ी चोंच भी होती थी, जो एक हड्डीदार ग़िलाफ़ से ढकी रहती थी। उसके मुँह में सब मिलाकर दो हजार दाँत होते थे।

शरीर के अगले भाग की अपेक्षा पिछला भाग छः गुना अधिक बड़ा था। क़द और पैर की हड्डियों के आकार से जान पड़ता है कि वह तौल में बहुत भारी होता था। ठठरियों में अगले पैर के सिरे पर चार अंगुलियाँ है। पर अँगूठा बहुत छोटा है। स्थूलाकार पिछली टाँगों में तीन लम्बी-लम्बी उँगलियाँ हैं, जिनके सिरे खुर की तरह जान पड़ते है। जब यह खड़ा होता था तब इसकी ऊँचाई सत्रह फुट होती थी।

लम्बी पूँछ से इस जानवर को पानी में चलने में बड़ी मदद मिलती रही होगी। जमीन पर खड़े होने में भी वह बहुत सहायता पहुँचाती होगी। विद्वानों का अनुमान है कि इस जाति के जानवर बड़े बेढब तैरने वाले होते थे। उनकी ठठरियाँ बहुधा ऐसी चट्टानों में पाई गई हैं जो समुद्र के भीतर मग्न थीं। इन चट्टानों में समुद्री घोंघे, सीपी आदि भी पाई गई है।

आजकल जितने प्रकार के रेंगने वाले जानवर जीवित हैं उनमें से दक्षिणी अमेरिका के इगुवाना नामक जानवर का स्वभाव और चाल-ढाल इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। ये जानवर यहाँ के गलपागोस नामक टापू में झुण्ड के झुण्ड पाये जाते है। जो चीज़ें समुद्र में पैदा होती है उन्हीं पर ये अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। ये जानवर साँप की तरह सारा शरीर और लम्बी पूंछ हिलाकर समुद्र में बड़ी आसानी से तैरते हैं।

यह जानवर पानी में घुसकर मांस-भक्षी जन्तुओं से अपनी रक्षा करता होगा। क्योंकि सींग आदि रक्षा करने वाला कोई दृढ़ अंग इसके नहीं होता था। इसका चमड़ा उभरे हुए छोटे-छोटे दानों से ढका रहता था। हाल ही में एक ऐसी ठठरी मिली है जिसकी पूँछ की हड्डियों पर चमड़े के चिह्न है। इसकी हड्डियों के साथ तरह-तरह की पत्तियों, फलो और पेड़ों के तनों के चिह्न चट्टानों मे अब तक रक्षित हैं। इस जाति के पेड़ वर्तमान समय में गर्म देशों में पाये जाते है, इससे मालूम होता है कि उस समय की अवहेलना बहुत गर्म थी।

भूकम्प आदि प्राकृतिक कारणों से अमेरिका महाद्वीप के ऊँचे हो जाने से दल-दलदार नीची भूमि लुप्त हो गई। आबोहवा भी गर्म की जगह ठण्डी हो गई और पहले से से पौधे, पेड़ आदि भी न रहे। इससे कितने ही जलचर जानवरों की भी वही दशा हुई जो जल से बाहर निकली हुई मछली की होती है। इस जाति का जानवर जो सदा के लिए लुप्त हो गया, इसका मुख्य कारण यही है।

[अप्रैल, 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'प्राचीन चिह्न' पुस्तक में संकलित।]

भाग : छह

पूर्वी अफ़्रीका की कुछ जंगली जातियाँ

अफ़रीका के पूर्व जंज़िबार या जंगबार नाम का एक टापू है। उससे थोड़ी दूर पर एक और छोटा-सा टापू है। उसका नाम है ममबासा। जैसे बंबई टापू था और अब स्थल में मिला लिया गया है, वैसे ही ममबासा भी पूर्वी अफ़रीका के भूमि-भाग में मिल गया है। उसका टापूपन, अर्थात् द्वीपत्व, जाता रहा है। ममबासा तथा उसके आसपास के प्रदेशों में पहले पोर्चुगीज़ों का आधिपत्य था; परन्तु, इस समय, वहाँ हमारे प्रभु अँगरेज़ो की प्रभुता है। उस भाग का नाम है—'ब्रिटिश ईस्ट अफ़रीका'। जहाँ ब्रिटिश पताका फहराई, वहाँ रेल पहुँची समझना चाहिए। अफ़रीका का पूर्वी भाग हाथ में आते ही गवर्नमेंट ने रेल चलाने का तत्काल ही प्रबंध किया। हिंदोस्तान से हज़ारों कुली और बाबू भेजे गए। अनंत धन ख़र्च करके और अनत कठिनाइयों को झेलकर, ममबासा से उगंडा तक रेल तैयार हुई और चलने भी लगी। उसका नाम हुआ—'उगंडा गवर्नमेंट रेलवे'। उसकी लंबाई कुल 686 मील है। वह छोटी पटरी की लाइन है और गगनचुंबी पर्वतों को काटकर बनाई गई है। छोटी-बड़ी अनेक नदियाँ और नाले भी लाँघने पड़े हैं। इस रेलवे के कर्म्मचारी प्रायः सभी इस देश के हैं। इनमें से एक सज्जन अच्छे पद पर हैं। समय-समय पर वे वहाँ की मनोरंजक बातें हमको लिखा करते हैं। उनकी कुछ चिट्ठियों का खुलासा हम यहाँ पर देते हैं—

ब्रिटिश गवर्नमेंट की इस पूर्वी अफ़रीका में सबसे बड़ा शहर ममबासा है। यहाँ बंदरगाह भी है। पहले तो यह शहर कुछ न था; परंतु जब से रेल हुई, तब से इसकी बेहद तरक़्क़ी हुई है। यहाँ अब सैकड़ों मोमिन, भाठिए, कच्छी, पारसी और माड़वाड़ी देख पड़ते हैं। अरब वाले तो यहाँ पहले ही अधिकता से थे; अब इनकी संख्या और भी बढ गई है। ये लोग बड़ा व्यापार करते हैं। व्यापार की यहाँ रोज-बरोज़ तरक़्क़ी होती जाती है। कितने ही बड़े-बड़े अँगरेज व्यापारी भी यहाँ हैं। यहाँ फलों की अत्यंत अधिकता है। आम, जामुन, केला, नारियल, नीबू, नारंगी, अनन्नास और कटहल खूब होते हैं। आम और जामुन, यहाँ बारह महीने बना रहता है। इस देश में एक प्रकार का आम बहुत ही मीठा होता है। तौल में वह तीन पाव तक बैठता है और आकार उसका खरबूज़े जैसा होता है। ममबासा के दस मील इधर-उधर आम और जामुन आदि के जंगल-के-जंगल खड़े हैं। चाहे उनसे जितने फल तोड़ लिए जायँ, कोई रोकने वाला नहीं।

फल देने वाले इन प्राकृतिक बागीचों के आगे बड़ा ही विकट जंगल है। यह जंगल पर्वतमय है। अनेक बड़ी-बड़ी नदियाँ भी इससे होकर बहती हैं। यह जंगल इतना घना

है कि मनुष्य के लिये प्राय: अगम्य है। यह भयानक वन विकराल हिंस्र जीवों का घर है। इसमें शेर, बबर, चीता, गैंडा, हाथी, रीछ, ज़ेबरा, शुतुर्मुर्ग़, ज़िराफ़, अजदहा और सैकड़ों प्रकार के विभीषक सर्प विचरा करते हैं। इनके सिवा सैकड़ों तरह की विलक्षण-विलक्षण चिड़ियाँ और दूसरे जीव भी यहाँ पाए जाते हैं। कितने ही वृक्ष, फूल और बेले यहाँ ऐसी हैं, जो शायद ही और कही होती होगी। यहाँ का सिंह बहुत बलवान्, भयंकर और प्रकाडकाय होता है। उसका रंग ऊँट का-सा होता है और उसकी गरदन के बाल 15 अंगुल से भी अधिक लंबे होकर नीचे लटकते हैं। अफ़रीका के हाथी भी बहुत बड़े होते हैं। उनकी वहाँ बड़ी अधिकता है। अफ़रीका ही से सबसे अधिक हाथी-दाँत भेजा जाता है। एक-एक दाँत छ:-छ: मन का होता है। जिस समय उगंडा-रेलवे की नाप हो रही थी, उस समय एक इंजीनियर साहब को एक बहुत बड़ा दाँत मिला था। उसको उठाने में 18 आदमी लगे थे।

पूर्वी अफ़रीका का कुछ भाग जर्मनी वालों ने भी अपने अधिकार में कर लिया है। उनकी और अँगरेज़ों की हद मिली हुई है। जो देश जर्मनी वालों के अधिकार में है, उसमें किलिमान जारू नामक एक बहुत ऊँचा पर्वत है। उसकी सबसे ऊँची चोटियाँ बर्फ़ से ढँकी रहती हैं। वहाँ केले के सिवा और कोई चीज नही पैदा होती। उसी को खाकर लोग जीते हैं। जर्मनी के पादरियों ने वहाँ 'मिशन' स्थापित किए है। उनके द्वारा वहाँ के जंगली किरिस्तानों को तामील दी जाती है और किरिस्तानी धर्म सिखलाया जाता है। जर्मनी ने भी रेल बनाई है। उसका नाम 'टाँगा-रेलवे' है। अँगरेज़ों के पूर्वी अफ़रीका में भी सैकड़ों 'मिशन' हैं। वहाँ भी उस देश के जगली शिक्षा पाते हैं और हज़रत ईसा के अनुयायी बनकर क्रिश्चियनों की संख्या बढ़ाते हैं।

ममबासा समुद्र के किनारे और विषुववृत्त से थोड़ी ही दूर पर है। इसलिये वहाँ की आबोहवा न बहुत सर्द है, न बहुत गरम। उससे कोई 50 मील पश्चिम की ओर सर्दी अधिक पड़ती है। ममबासा से कोई 100 मील आगे तो इतनी अधिक सर्दी पड़ती है कि मोटे-मोटे चार-छ: कंबलो से भी जाडा नही जाता। परंतु उगंडा के पास, अर्थात् विक्टोरिया न्यान्जा झील के निकटवर्त्ती प्रदेश में, बिलकुल सर्दी नहीं पड़ती। वहाँ तो सख़्त गर्मी पड़ती है।

अँगरेज़ों के इस पूर्वी अफ़रीका में जंगली हबशियो की तीन जातियाँ रहती हैं— सुहेली, धकांवे और मसाई। उगंडा-रेलवे को प्राय: पंजाबी कुलियों ने बनाया है; क्योंकि अफ़रीका के ये जंगली पहले मजदूरी भी नहीं करते थे। असभ्यता के कारण वे सभ्यो से दूर भागते थे। परंतु अब वे काम करने लगे हैं। पाँच रुपए तनख़्वाह अथवा पेट भर खाने को चावल देने से वे, सबेरे से शाम तक, खूब काम करते है। उनमे से सुहेली कुछ अधिक सभ्य हैं। वे अरब और अफ़रीका के पुरातन हबशियों की संतति हैं। इस समय मिशनरी स्कूलों में वे शिक्षा पा रहे हैं। आशा है कि वर्ष-दो वर्ष में उनमें से कितने ही सुहेली रेल में लिखने-पढ़ने का काम करने लायक़ हो जायँगे।

सुहेलियों में जो क्रिश्चियन नही हुए, वे मुसलमान हैं; परंतु धकावे और मसाई जाति के लोग कोई धर्म्म नहीं रखते। वे सर्वथा धर्म्महीन और जंगली हैं। उनका रंग

तवे के समान काला होता है। उनके सिर पर भेड़ की ऊन के समान छोटे-छोटे, परंतु कोमल, केश होते हैं। दाढ़ी-मूँछ उनके बिलकुल नही होती। स्त्री-पुरुष सभी नंगे रहते हैं और धनुर्बाण हाथ में लिए जंगल में, शिकार की खोज में, घूमा करते है। मांस और शहद ही विशेष करके इनका खाद्य है। ये लोग हाथी-दाँत, शहद, गैंड के सीग, शुतुर्मुर्ग़ के पर और नाखून अरबों और मोमिन लोगों को देकर कभी-कभी उनसे ताँबे, पीतल और लोहे के तार लेते है। फिर इन तारो को मोड़कर हाथ, पैर और गले में वे आभूषण की तरह पहनते हैं। जो कुछ सभ्य है, वे मोटा कपड़ा भी बदले में लेते हैं और उसे कमर से लपेटते है। ये लोग पूरे निशाचर है। इनमें निर्दयता का अखंड वास है। ये अपने तीर-कमान ही को अपना सर्वस्व समझते हैं। और जीव-हत्या ही को अपना व्यवसाय जानते है। जो लोग शहरो और नगरो के पास रहते हैं और जिनका सभ्य आदमियो से संपर्क रहता है, उनमें कुछ-कुछ समझ आने लगी है। इससे कोई-कोई ज़मीन खोदकर मकई, ज्वार और बाजरा आदि बोने लगे हैं; गाय और बकरियाँ रखने लगे हैं; दूध भी बेचने लगे हैं।

मसाई जाति के लोग अधिक बलवान्, निडर और पराक्रमी होते हैं। उनका भी रंग कोयले की तरह काला होता है। हाथ में भाला लिए हुए वे जंगल में विचरा करते है। उनमें से कोई-कोई गाय, भेड़ या बकरी की खाल से शरीर का निचला भाग ढक लेते हैं। मसाई लोग पीली या लाल मिट्टी को तेल में मिलाकर अपने सारे शरीर पर पोत लेते है। इस प्रकार के लाल-पीले आदमी, उन लोगों में, बहुत ही खूबसूरत समझे जाते है। पुरुष ज़रा आराम-तलब होते है; उनकी स्त्रियाँ ही अधिक काम करती हैं। इन लोगों के पास सिवा तुबे के और कोई बरतन नही रहता। वही उनका क़ीमती पात्र है। मसाई प्रायः स्थिर नहीं रहते; घूमना ही उनका स्वभाव है। आज यहाँ, कल वहाँ। कभी-कभी दस-बीस कुटुब इकट्ठे भी रह जाते हैं। ऐसे लोग फूस के छोटे-छोटे झोपड़े बना लेते है। यों तो इनका पेट शिकार से भरता है; परंतु जब इनको शिकार नहीं मिलता और भूख से ये बहुत पीड़ित होते हैं, तब ये ताज़े रुधिर और दूध में बकरियों की मेंगनी डालकर उसे खाते हैं। वही उनकी खीर है। बकरी के बदन में लोहे की एक पैनी सलाई वे घुसेड़ देते है। उससे जो रुधिर निकलता है, उसे वे तुबे में भर लेते हैं। उसमें फिर वे उसका दूना दूध मिलाते है। जब वह सब एक हो जाता है, तब उसमें बकरियों की ताज़ी मेंगनी डालकर उसे वे खूब मिलाते हैं और मिलाकर खा जाते हैं। इनको कोई ऐसी बूटी मालूम है कि उसे लगाने से, इस प्रकार सलाई से किया हुआ बकरी के बदन का घाव शीघ्र ही अच्छा हो जाता है।

धकांबे जाति से दूसरे जंगली आदमी बहुत डरते है। उनको विश्वास है कि धकांबे विकट जादू जानते हैं और अद्भुत-अद्भुत गुण रखने वाली जड़ी-बूटियों के प्रयोग से वे जो चाहे कर सकते है। यह जाति भी बड़ी निर्दयी है। बड़ी-बड़ी चिड़ियों को ये लोग जाल में फाँसते हैं। फिर, जीते ही उनके बाल और पर उखाड़ते हैं। अनंतर उन्हें वे आग में समूची ही जीती खड़ी कर देते हैं। इस तरह उन्हें थोड़ा बहुत झुलसाकर वे खा जाते हैं। इस जाति की स्त्रियाँ प्रायः दिगंबर रहती हैं। गले और कमर में वे पत्थर के

दानों की माला, कई लड़ी करके, पहनती हैं। इसी को वे बहुमूल्य गहना समझती है।

इन असभ्य जंगली लोगों में एक विलक्षण गुण है। वह गुण सभ्यों के सीखने लायक है। ये लोग अपनी-अपनी जाति वालों से अत्यंत स्नेह रखते हैं। इनमें अपूर्व एका होता है। यदि दो-चार के बीच में एक ही चिड़िया या एक ही रोटी हो, तो उसे सब बराबर-बराबर बाँटकर खाते हैं। एक पर विपत्ति आने से सब जी-जान से उसकी सहायता करते हैं। परंतु ये बातें अपनी ही अपनी जाति में पाई जाती है। परस्पर एक दूसरी जाति से ये लोग घोर शत्रुता रखते हैं और उनमें बहुधा मार-काट हुआ करती है। धकांबे सुहेलियों के जानी दुश्मन हैं और मसाई धकांबे जाति वालों के।

[‘पूर्वी अफ़रीका की दो-चार बातें’ शीर्षक से जुलाई, 1904 की ‘सरस्वती’ मे प्रकाशित। ‘वैचित्र्य-चित्रण’ में संकलित।]

लंबे होंठ वाले जंगली आदमी

कुछ समय हुआ, योरप में एक कंपनी थी। वह विलक्षण-विलक्षण जीव-जंतुओं का रोज़गार करती थी और अजीब-अजीब जंगली आदमी ढूँढकर अपने यहाँ रखती और लोगों को दिखाकर रुपया कमाती थी। यह कंपनी अब टूट गई है। इसके यहाँ मेयर नाम के एक साहब नौकर थे। उन्होंने कहीं सुना कि अमेरिका की अमेज़न नदी के किनारे लंबे होंठ वाले विचित्र आदमियों की एक जंगली जाति रहती है। इस जाति के आदमी अपने जंगल छोड़कर आज तक कभी सभ्य भूमि में नहीं आए। इसलिये दो-तीन लंबे होंठ वाले आदमी वहाँ से लाने का विचार मेयर के मन में आया। वह दक्षिणी अमेरिका के ब्रेजील देश में पहुँचा। वहाँ जाकर उसने जो कुछ किया और उस पर जो कुछ बीती, वह सब उसी के मुँह से सुनिए। उसने अपनी सविस्तर कथा अँगरेजी की 'वाइड-वर्ल्ड' नामक मासिक पुस्तक में प्रकाशित की है।

इन जंगली आदमियों का होंठ कोई 6 इंच नीचे को लटकता रहता है। इससे उनका रूप बहुत ही भयानक और वीभत्स मालूम होता है। उनके दो-एक नमूने प्राप्त करने का मैंने अपने मन में संकल्प किया। ब्रेज़ील के बाहिया नगर में पहुँचकर मैंने वहाँ के अफ़सरों से लंबे होंठ वालों के देश में जाने की आज्ञा माँगी। मेरी प्रार्थना नामंज़ूर हुई। मुझसे कहा गया कि एक भी लंबे होंठ वाला आदमी अपने गाँव से बाहर नहीं भेजा जा सकता। भेजना तो दूर रहा, उनके गाँव के सौ मील आसपास तक भी किसी को जाने की आज्ञा नहीं मिल सकती। पर मैं नाउम्मेद न हुआ। मैं एक हफ़्ते तक बाहिया में रहकर वहाँ जाने की तरकीबें सोचता रहा। अमेजन नदी के रास्ते से ही मैं वहाँ जा सकता था। रास्ता महीनों का था। कोई आदमी मुझे वहाँ ले जाने को राजी न था। बड़ी मुश्किलों से कप्तान रोलेरिओ नाम का एक आदमी मुझे मिला। उसके पास एक छोटा-सा जहाज़ था। अंटोनिओ नाम का एक गोआनी भी मुझे मिला। वह दुभाषिए का भी काम कर सकता था और रास्ता भी उसका देखा हुआ था। हम लोगों ने छिपकर जाने का निश्चय किया। कप्तान से मैंने वादा किया कि वह रास्ते में व्यापार भी कर सकेगा। छः महीने के खाने-पीने का सामान और गोली, बारूद, बंदूक आदि चीज़ें हम लोगों ने लीं। व्यापार की चीज़ें भी अंटोनिओ ने जहाज़ पर लादी। जंगली लोगों को देने लायक़ चीज़ें भी बहुत-सी हम लोगों ने साथ ली। तीन-चार खलासी लेकर एक रात को हम सबने चुपचाप जहाज़ का लंगर उठाया। अमेज़न को फाड़ते हुए धीरे-धीरे हम आगे बढ़े।

अमेजन बहुत चौड़ी नदी है। उसके मुँह की तरफ़, पश्चिम की ओर, हमारा जहाज़ चला। कई दिन चलने के बाद, किनारे पर, ब्रेज़ील गवर्नमेंट का एक क़िला मिला। उसे पार कर जाना मुश्किल था। अगर कोई देख लेता, तो हम लोग आगे न जा सकते।

अँधेरी रात में, जहाज़ को पेड़ों की हरी-हरी डालों से तोप-तापकर, हम लोग किले वालों की नजर छिपा निकल गए। कोई डेढ़ महीने बाद हमारा जहाज़ पेरू-देश की सीमा पर पहुँचा। वहाँ से कुछ दूर आगे, गोयाज नाम के गाँव के पास, हम लोग ठहरे। अंटोनिओ और रोबेरिओ यहाँ तक पहले एक दफ़े आ चुके थे। उसके आगे वे न गए थे। गोयाज़ गाँव में एक यांगसिल नामक एक जगली रहता था। वह उस गाँव का सरदार था। सभ्य आदमियों से कई दफ़े वह मिल चुका था। हम लोग उसके पास गए और बहुत कुछ इनाम देने का लालच देकर उसे अपने साथ लिया। उसने अपने बहुत-से साथियो को भी जहाज़ पर लिया। बिना इन लोगों की मदद के लंबे होंठ वालों के देश तक पहुँचना असंभव था। ये लोग उन जंगलियो से वाक़िफ थे और उनकी बोली भी समझ सकते थे।

गोयाज़ में मालूम हुआ कि जहाँ हम लोग जा रहे है, वहाँ वाले बड़े ही भयकर जीव है। उनके होंठ इतने लबे है कि उन्हे उलटकर वे अपना सारा चेहरा ढक सकते है। वे बड़े ही लडाकू और विश्वासघाती हैं। वे बहुधा पेड़ों ही पर रहते है और कोई जानवर ऐसा नहीं, जिसका मास न खाते हो। लुटेरे भी वे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। जहाज के साथ हमने गोयाज़ से 6 नावें ली। एक-एक नाव पर छः-छः आदमी सवार हुए। जहाज पर यांगसिल और उसके आदमी चढ़े। आखिरकार हम लोग वहाँ से रवाना हुए और तीन दिन बाद लंबे होंठों वालो की बस्ती के पास पहुँचे। वहाँ से उन लोगो का गाँव कुछ ही घंटो का रास्ता था। यहीं हम लोगों ने जहाज का लंगर डाला। दूसरे दिन वहाँ से हम लोग तीन नावो पर आगे बढ़े। सब मिलाकर हम 32 आदमी थे। कुछ आदमी जहाज पर रह गए। कप्तान अंटोनिओ और हमने अपनी-अपनी बंदूकें और कारतूस साथ लिए। हम लोगो ने सोचा कि कही जंगली आदमी हम पर हमला न करें। इसलिये हम पहले ही से तैयार होकर चले। कपड़े भी हमने खूब चमकते-दमकते पहने।

हमें चले अभी दो ही घटे हुए थे कि हमने 6 लड़ाकू नावें अपनी तरफ आते देखा। प्रत्येक नाव पर दस-दस जंगली आदमी सवार थे। उन्हे देखते ही हमने अपनी नावे रोक दो। यागसिल खड़ा हो गया। उसने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाकर लंबे होठ वालो की भाषा में चिल्लाकर कुछ कहना शुरू किया। इस पर उन लोगो ने भी अपनी नावें रोक दीं। कुछ देर में हम लोग एक-दूसरे के पास आ गए। मैंने पहले पहल लम्बे होंठ वालो को अच्छी तरह देखा। मुझे बे-तरह घृणा हुई। ऐसी बीभत्स रूप मैंने कभी नही देखा था। ऐसे घृणोत्पादक, ऐसे मैले, ऐसे मरकटाकार आदमी पृथ्वी की पीठ पर शायद ही और कही हो। आदमी नही, आदमी की शकल के वे पूरे जानवर थे। आदमी भी इतने मकरूह हो सकते है, इसका मुझे विश्वास ही न था। इन जंगली लोगो का सरदार एक नाव पर खड़ा था। ऊँचाई में वह 6 फ़ुट होगा। सिर खुला था। उस पर लंबे-लबे बाल थे। बालो की जटाएँ नीचे पीठ पर लटक रही थी। और होठ! कुछ न पूछिए। कोई हाथ-भर नीचे लटक रहा था। उसने उसके चेहरे को बड़ा ही भयंकर बना दिया था। वह चिल्ला रहा था और अपनी काली-काली भुजाएँ पागल की तरह इधर-उधर फेंक रहा था। मालूम होता था कि उस पर कोई भूत सवार है। बाक़ी के असभ्य

जंगली अपने होंठों को चूस-चूसकर ऐसा अजीब शब्द कर रहे थे कि देखते डर मालूम होता था। सच मानिए, ऐसा दृश्य मैंने कभी पहले न देखा था।

कुछ देर बातचीत होने के बाद यांगसिल ने कहा—सब ठीक है। कुछ डर नहीं। सरदार साहब कहते हैं कि हम लोग उनके साथ उनके गाँव चलें। वहाँ हमारी ख़ातिर-तवाज़ो होगी और सौदा सुलुफ भी वहीं होगा। यांगसिल ने सरदार से कहा कि मैं एक बादशाह का बेटा हूँ और सरदार की प्रभुता, शक्ति और बहादुरी का हाल सुनकर उसकी बीवियों के लिए उम्दा-उम्दा चीज़ें नज़र करने लाया हूँ। यह सुनकर सरदार साहब बहुत खुश हुए। हम लोगों ने उसके गाँव की ओर प्रस्थान किया। प्रत्येक जंगली के हाथों में भाला और धनुर्बाण था। तीरों से भरा हुआ चमड़े का तरकस कंधे से लटकता था। तीर ज़हर से बुझे हुए थे। दो घंटे बाद हम लोग उनके गाँव के पास पहुँचे और किनारे पर क़दम रक्खा। उनकी औरतों को देखकर मैं काँप उठा। वे मर्दों से भी ज़ियादा घृणोत्पादक थीं।

हम लोगों को सैकड़ों जंगली आदमियों ने घेर लिया। औरत, मर्द, लड़के सब एक जगह इकट्ठे हो गये। सब नंगे थे। बहुत देर तक बातचीत के बाद एक पेड़ के नीचे हम लोग जमा हुए। मुझे जो कुछ कहना होता, वह अंटोनिओ से कहता। अंटोनिओ यांगसिल से, और यांगसिल सरदार से। करते क्या, बात करने का और कोई साधन ही न था। एक दूसरे की बात ही न समझता था। मैंने कहा, मैं तीन आदमियों को अपने साथ ले जाना चाहता हूँ। वे अच्छी तरह रक्खे जायँगे। किसी बात की तकलीफ़ न होने पावेगी। वर्ष-डेढ़ वर्ष बाद वे फिर यहीं लाकर छोड़ दिए जायँगे।

सरदार के आदमियों ने हमें रोटी और फल खिलाए। उसने कहा, आज रात को यहीं रहिए और हम लोगों का नाच देखिए। यह बात हमें मंजूर न थी। डर लगा कि रात को कहीं ये लोग हमला न करें। मैंने कहा, तुम लोग हमारे जहाज़ के पास आओ। वहीं नाच दिखाना, वहीं पर मैं तुम्हें वे चीज़ें भी नजर करूँगा, जो बादशाह ने भेजी है। सरदार ने यह बात मान ली। हमारे साथ ही कप्तान ने, इसी बीच में, खूब सौदा किया। बहुत-सी जंगली चीज़ें उन लोगों से बदले में लीं।

हम सब अपनी नावों पर सवार होकर जहाज़ की तरफ़ चले। आधी दूर तक जंगली सरदार, अपनी चार नावों के साथ, हमें पहुँचाने आया। उन्हें डराने के लिए हम लोगों ने अपनी बंदूक़ें छोड़ीं। 'धड़ाम', 'धड़ाम' आवाज़ें हुईं। जंगली लोगों पर इसका बड़ा असर हुआ। वे चकित होकर इधर-उधर देखने लगे। कुछ देर नाव चलाना भी वे भूल गये। जब वे लोग लौटने लगे, तब मैंने सरदार से कहा कि तीन छोटे सरदार मेरे साथ जहाज़ तक चलें, तो अच्छा हो और जब तक सरदार साहब नाच दिखाने आवें, तब तक वे वहीं रहें। मैंने समझा था कि इस बात को वह मंजूर न करेगा। पर उसने मान लिया। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य्य हुआ।

जहाज़ पर पहुँचकर हमने उन तीन लम्बे होंठ वालों को खाना खिलाया और अच्छी तरह रक्खा। मैंने उनसे अपने साथ चलने को कहा। उन्होंने आपस में कुछ देर तक सलाह की और चलने पर राज़ी हो गए। यह सुनकर मैं बहुत खुश हुआ। जहाज

की सफ़ाई होने लगी। झंडियाँ लगाई जाने लगीं। सुबह हम लोग अपने जंगली मेहमानों की मार्ग-प्रतीक्षा बड़े चाव से करने लगे। कुछ दिन चढ़े दस नावें दूर से आती हुई देख पड़ीं। हमारे जहाज पर दो छोटी-छोटी तोपें भी थीं। उनसे सलामी दागी गई। तब तक वे लोग पास आ गए। मैंने हुक्म दिया कि सिर्फ़ सरदार और उसके 15 साथी जहाज़ पर आवें। उन्होने वैसा ही किया। उनके आने पर मैंने उन्हें बैठने की जगह दी। जहाज़ को देखकर वे लोग आश्चर्य्य में डूब से गए। उसे देखकर वे भाँति-भाँति की चेष्टाएँ करने लगे। कोई नाचने लगा, कोई कूदने लगा, कोई होंठ हिलाने लगा।

सरदार और उसके साथियों के बैठने पर मैंने कहा, मैं तुम्हारे आने से बहुत प्रसन्न हुआ। मैंने कई चीजें सरदार को नजर की। उनमें आइने भी थे। आइनों में अपना-अपना प्रतिबिंब देखकर वे लोग बे-तरह खुश हुए। उन्होंने उनको कोई जादू की चीज़ समझी। उनको सामने रखकर वे बंदरों की तरह मुंह बनाने लगे। यह देखकर मुझे हँसी आने लगी। पर मैंने रोका। इतने में सरदार उठकर जहाज के किनारे गया और अपने आदमियों से एक बंडल ले लिया। उसे खोलकर पूमा नामक जानवर की एक खूबसूरत खाल, बंदरों की 12 खालें और थोड़े से कोमल-कोमल पर उसने नजर किए। पाँच मन 'गटापरचा' भी उसने मँगाया। उसे देखकर कप्तान साहब की छाती गज-भर चौड़ी हो गई। आप मारे खुशी के फूल उठे। तीन घंटे तक उन जंगली जीवों ने जहाज का एक-एक कील-काँटा तक देख डाला। दो दिन बाद लौटकर नाच दिखाने का उन्होंने वादा किया। तब वे अपने गाँव को रवाना हुए। साथ में वे उन तीन आदमियों को भी लेते गये।

मैंने समझा कि कामयाबी में देर नहीं। ये लोग ज़रूर दो-तीन आदमी मेरे साथ भेजने पर राजी हो जायँगे। हम लोग चुपचाप उनका रास्ता देखने लगे। तीन दिन की इंतिजारी के बाद वे लोग आए। स्त्री, पुरुष, बच्चे मिलाकर सब 70 थे। नदी के दूसरे किनारे पर उन्होंने डेरा डाला। हम लोग उनका नाच देखने के लिए उनके डेरे पर जाने लगे और वे लोग हमारे जहाज़ पर आने लगे। कोई एक हफ्ते तक यह काररवाई जारी रही। इस दरमियान में कप्तान रोबेरिओ ने 10 मन गटापरचा लिया। अब हम लोगों ने लौटने की ठानी। पिछले तीन-चार दिनों से वे पहले वाले तीन जंगली सरदार जहाज पर ही सोने लगे थे। वे हम लोगों के साथ चलने को एक पैर के बल तैयार थे। तैयार थे या नहीं, यह बात तो अभी मालूम हो जायगी, पर ये अपनी तैयारी जाहिर ज़रूर करते थे। हम लोगों ने सलाह करके चुपचाप एक रात को चल देना विचारा। हमने कहा, ऐसा न हो जो कहीं उनका सरदार इन तीनों को हमारे साथ न जाने दे। इससे बेहतर यही होगा कि हम लोग बिना खबर किए ही चल दें।

अँधेरी रात में दो बजे हमने जहाज का लंगर उठाया। हमारी नावें भी हमारे साथ-साथ चुपके-चुपके चलीं। कोई एक घंटे तक हम लोग चले गए। कोई विशेष बात नहीं हुई। पर कुछ देर में किनारे पर आदमी चलते हुए मालूम हुए। यांगसिल ने रंग-ढंग देखकर कहा, हम पर हमला होना चाहता है। उसने अपने नाव वालों से कहा, नाव छोड़-कर फ़ौरन जहाज़ पर आ जाओ और जी-जान से लड़ने के लिए तैयार हो। नहीं तो मौत अब दूर नहीं। उन लोगों ने इसकी फ़ौरन तामील की। जहाज़ पर उनके आते ही

किनारे पर भयंकर चिल्लाहट शुरू हुई और तीरों की वर्षा होने लगी। हम लोगों ने समझा कि हमला हुआ। सबने अपनी-अपनी बंदूक़ भरकर हाथ में ली। दोनों तोपें भी भरी गई।

इतने में मैंने देखा कि वे तीन लंबे होंठ वाले, जो जहाज पर सोए थे, भागने की कोशिश कर रहे हैं। मैंने उन्हें पकड़ा। बहुत धमकाने पर उन्होंने भागने का कारण बतलाया। उन्होंने कहा कि हमारी दिली इच्छा तुम्हारे साथ जाने की हरगिज न थी। हम तो सिर्फ़ इसलिये जहाज़ पर आए थे, जिसमे यहाँ की सब बातें जान लें और तुम्हारे जाने की ख़बर सरदार को दें। क्योंकि यह निश्चय हो गया था कि ज्यों ही तुम लोग यहाँ से जाने की तैयारी करो, त्यों ही तुम पर हमला किया जाय। यह सुनकर मैं क्रोध से जल उठा। मैंने इन दग़ाबाज़ो को जहाज के भीतर क़ैद कर रखा है।

अब तक जहाज़ पर बाण-वर्षा बराबर जारी थी। यांगसिल के दो आदमी घायल भी हो चुके थे। कुछ देर में उन जंगली असभ्यों की कोई तीस नावों ने जहाज को घेर लिया। उनसे उतरकर वे जहाज़ पर चढ़ने लगे। पर यांगसिल के आदमियों ने बड़ी बहादुरी से उनका मुक़ाबला किया। ज्यों ही वे जहाज़ पर चढ़े, त्यों ही हम लोगों ने उन्हें पानी में फेंका। उनका सिर जहाज़ पर देख पड़ते ही वे बेरहमी से ढकेले गये। एक आदमी ऊपर चढ़ आया। मारने-पीटने पर उसने भी कबूल किया कि सरदार का इरादा था कि जहाज़ पर क़ब्ज़ा करके जो कुछ उस पर हो छीन लिया जाय और हम सब लोग एक-एक करके मार डाले जायँ। अब हमने जाना कि इन कमबख्तों ने क्यों हमारी इतनी ख़ातिर की थी और क्यों इतनी चीज़ें नजर की थी। उन्होंने समझा था कि रबर, चमड़ा और गटापरचा आदि थोड़े ही जाने पावेंगे। अंत को वह सब हमी छीन लेंगे।

हम लोगों ने सोचा कि इन जंगली जीवों को अच्छी तरह सज़ा देना चाहिए। खूब लक्ष्य करके गोलियाँ छोड़ी जाने लगीं। दोनों तोपों में भी बत्ती दी गई। फ़ायर होते ही लंबे होंठ वालों की कितनी ही नावें उलट गईं। कितने ही जंगली पानी में ग़ोते खाने लगे। कितने ही डूबे। कितने ही गोलियाँ और गोले खाकर मरे। इससे वे लोग बे-तरह घबरा गए। पर उन्होंने पीछा न छोड़ा। बराबर तीरों की वर्षा करते ही रहे। इतने में सवेरा हुआ, हमने देखा, 30 नहीं, 40 नावें हमारा पीछा कर रही हैं। इस पर हम लोगों ने जहाज़ की चाल तेज कर दी। यह देखकर लंबे होंठ वाले और भी जोश में आकर लड़ने लगे। वे जहाज के बहुत पास आकर उस पर चढ़ने लगे। अब तक हम लोगों के तीन आदमी मर चुके थे और 8-10 घायल हो चुके थे। हमारी हालत ख़राब हो रही थी।

हमने फिर तोपों में बत्ती दी और गोले छोड़े। पास की कई नावें डूबीं और उन पर जो लोग सवार थे उड़ गए। इतने में हमने देखा कि कई नावें जहाज़ के नीचे पहुँच गईं। कितने ही जंगली जहाज़ पर चढ़ आए। उनसे हमारे आदमियों ने मल्लयुद्ध शुरू कर दिया। फल यह हुआ कि हम लोगों ने उन जंगलियों को जहाज से मार भगाया। जब उन लोगों ने देखा कि बलपूर्वक लड़कर वे जहाज़ को नहीं छीन सकते, तब उन्होंने चिल्ला-चिल्लाकर अपने क़ैदियों को माँगना शुरू किया। यांगसिल ने कहा, अब बचने

का सिर्फ़ यही एक उपाय है कि जिन जंगली लोगों को हमने क़ैद कर लिया है, उन्हें छोड़ दें। इससे ये लोग शांत हो जायँगे। अन्यथा बराबर पीछा करते रहेंगे।

यह बात सबको पसंद आई। एक क़ैदी को हमने जहाज पर खड़ा किया। हमारे कहने पर उसने जोर से आवाज लगाई और अपने सरदार से कहा कि बाणों की मार बंद की जाय और जहाज पर हमला बंद हो, तो हम लोग छोड़ दिए जायँगे। यह सुनकर लंबे होंठ वाले जंगलियों ने आपस में कुछ देर तक सलाह-मशविरा किया। उन्होंने हमारी शर्त मान ली। इस पर हमने कहा कि तुम लोग अपने हथियार किनारे पर रख आओ। तब तक लोग तुम पर वार न करेंगे। यह भी उन्होंने मंजूर कर लिया। एक घंटे के भीतर ही वे अपने अस्त्र-शस्त्र किनारे पर रख आए और खाली हाथ अपनी-अपनी नावों पर आ गए। तब हमने उनके क़ैदियों को छोड़ दिया और तेज़ी के साथ घर की तरफ जहाज़ चलाया। इस लड़ाई में हमारे 3 आदमी जान से मारे गए और 11 घायल हुए। उन जंगली असभ्यों का नुक़सान इससे बहुत अधिक हुआ होगा।

यांगमिल के गाँव पहुँचकर हम लोग वहाँ दो-तीन दिन ठहरे। फिर वहाँ से रवाना हुए और 25 दिन बाद, जहाँ से जहाज़ पर निकले थे, वहाँ पहुँचे। हम लोग बहुत थक गए थे। बीमार भी हो गए थे। मुसीबतें झेलने से हम लोगों का बदन आधा भी न रह गया था। ख़ैर, ग़नीमत हुई, जो ज़िंदा लौट तो आए।

[अप्रैल, 1909 की 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'वैचित्र्य-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

अफरीका के खर्वाकार जंगली मनुष्य

[1]

अफ़रीका आश्चर्य्यों का घर है। वहाँ की सभी बातें अजीब हैं। वहाँ के मनुष्य, वहाँ के पशु-पक्षी, वहाँ के अगम्य जंगल और वहाँ के हज़ारों कोस-व्यापी मरुस्थल अचरज से भरे हुए हैं। 1888 ईसवी में स्टैनली साहब ने इस आश्चर्य्यमयी भयावनी भूमि में, ईजिप्ट से लेकर विक्टोरिया न्यान्जा झील तक, बहुत लंबा सफ़र किया। अपनी इस कौतुकपूर्ण यात्रा का वर्णन उन्होंने एक पुस्तक में लिखा है। इस पुस्तक में अफ़रीका के खर्वाकार जंगली लोगों का भी वृत्तांत है। ये असभ्य जंगली बहुत छोटे होते हैं। परन्तु ठिगने होकर भी वे बड़े चालाक और शिकारी होते हैं।

1888 ईसवी के मार्च महीने में, जिस समय स्टैनली साहब इपोटो नामक जगह से कुछ दूरी पर ख़ेमे डाले हुए थे, उनके पास एक खर्वाकार स्त्री लाई गई। जहाँ पर ख़ेमे गड़े थे उससे 14 मील पर इन जंगली लोगों के रहने की जगह थी। ये लोग बड़े ज़बरदस्त चोर होते हैं। स्टैनली साहब के ख़ेमे तक ये धावा मारते थे और खाने-पीने की चीज़ें चुरा ले जाते थे। यह स्त्री इंदेकरु नामक नगर के खर्वाकार राजा की रानी थी।

यह प्राय: नग्न थी। इसके गले में पालिश किए हुए लोहे की पतली-पतली हँसुलियाँ थीं, जिनके किनारे, दोनों छोरों पर, घड़ी की कमानी के समान, घेरदार थे। उसके कानों से लोहे की तीन-तीन मोटी-मोटी बालियाँ लटकती थीं। बाज़ूबंद भी उसने लोहे ही के पहन रक्खे थे। उसका रंग भूरा था; मुँह फैला हुआ गोल था; आँखें बड़ी-बड़ी थीं; होंठ छोटे परन्तु भरे हुए थे। कमर में वह छाल का एक छोटा सा कपड़ा लपेटे हुए थी। यद्यपि वह प्राय: नग्न थी, तथापि उसके चेहरे से शालीनता झलकती थी। वह सब प्रकार शांत थी। ऊँचाई में वह 4 फुट 4 इंच थी। उमर उसकी कोई 19 वर्ष की होगी। उसे देखकर चित्त बहुत प्रसन्न होता था।

इस प्रकार की एक स्त्री स्टैनली साहब के साथी, सर्जन पार्क के साथ बहुत दिन तक थी। वह उनका बोझ उठाती थी; जहाँ पड़ाव पड़ता था वहाँ लड़कियाँ इकट्ठी करती थी; छोलदारी के दरवाज़े बैठी हुई रखवाली करती थी; चाय बनाना सीख गई थी, और रोज बनाकर सर्जन पार्क को पिलाती भी थी। वह उनके अत्यन्त वशीभूत थी; जी-जान से उनकी सेवा करती थी; और अनजान आदमी को कभी उनके असबाब के पास नहीं फटकने देती थी।

आक्टोबर, 1888 में स्टैनली साहब बोडो नामक किले को जा रहे थे। 28 आक्टोबर को वे अवाटिको स्थान में पहुँचे। वहाँ पर एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उनके आदमी

पकड़ लाए । ये दोनों खर्वाकार जंगली थे । इस वामनरूप जंगली के विषय में जो कुछ स्टैनली साहब ने लिखा है उसका आशय उन्हीं के मुँह से सुनिए—

"इसकी लंबाई केवल 4 फुट थी; सिर $20\frac{1}{4}$ इंच था; छाती $25\frac{1}{2}$ इंच थी; टाँगें 22 इंच थीं; भुजाएँ $19\frac{3}{4}$ इंच थीं । यह पूरा जवान था । उम्र इसकी कोई 21 वर्ष होगी । इसका रंग ताँबे का जैसा था । इसके सिर पर एक अजीब क़िसम की टोपी थी; उस पर तोते के परों का एक गुच्छा था । यह टोपी इसे या तो किसी ने तोहफ़े के तौर पर दी होगी, या इसे इसने कहीं से चुरा लिया होगा । छाल के कपड़े के एक लंबे टुकड़े की लँगोटी इसने पहन रक्खी थी । उसके सिवा और यह बिलकुल दिगंबर था । इसके एक हाथ में धनुर्बाण था, और दूसरे में भाला । इसके हाथ बहुत नाज़ुक जान पड़ते थे । मालूम होता था कि केले छीलने का काम इससे लिया जाता था ।

" इस वामन को देखकर मेरे मन में जो-जो भावनाएँ हुई उनका अनुमान कोई नहीं कर सकता । यह बावन अंगुल का शरीर प्राचीन से प्राचीन मनुष्यों के वंश से उत्पन्न हुआ है । हज़ारों वर्ष पहले इसके पूर्वज जिस दशा और जिस भेष में थे उसी दशा और उसी भेष में यह भी है । इसको देखा, मानो कई हज़ार वर्ष पहले हुए मनुष्यों को देख लिया । जब से इनके वंश की उत्पत्ति हुई, तब से ये बराबर इस जंगली अफ़रीका में सुख से निवास कर रहे हैं । ईजिप्ट, आसीरिया, बाबुल, फ़ारिस, ग्रीस और रोम का उत्कर्ष भी हुआ और पतन भी हुआ । उनकी पुरानी संपत्ति, उनकी पुरानी प्रभुता और उनके पुराने तर्ज़ के मनुष्य एक भी नहीं; परन्तु ये खर्वाकार जंगली पूर्ववत् बने हुए है । इनमें कोई अंतर नहीं हुआ । नाइज़र नदी के किनारे से, धीरे-धीरे, ये अब मध्य अफ़रीका के इन अगम्य जंगलों मे आ गए हैं, और इधर-उधर पत्तों के झोपड़े बनाकर पूर्ववत् शिकार करते फिरते हैं । इनके सजातीय केप-कालोनी मे बुशम्यन कहलाते है; लुलुगू की तराई में बटवा कहलाते हैं; मोनबुटू में अक्का कहलाते हैं; और शहरू के आसपास बमबुट्टी कहलाते हैं ।

" सूदान और जैंजीबार के रहने वाले, जो मेरे साथ थे, उनके पास खड़े हुए इस छोटे से मनुष्य के बच्चे के मन में अनेक प्रकार के विचार आते रहे होंगे । उसके चेहरे को देखने ही से जान पड़ता था कि वह बड़े सोच-विचार में था । भीमाकार मनुष्यों को अपने चारों ओर देखकर, अपनी भावी दशा का विचार करके और प्राण बचने की आशा से उत्कंठित होकर इसकी अजब हालत हो रही थी । अपने से इतने ऊँचे और मोटे मनुष्यों को देखकर वह कहता होगा कि ये कहाँ से आए ! क्या ये स्वर्ग से आ गए ? अथवा पाताल से ? ये मुझे क्या करेंगे ? क्या मुझे मार डालेंगे ? कैसे ? भूनकर, जैसे हम लोग शिकार भूनते हैं ? अथवा किसी बड़े बर्तन मे डालकर मुझे उबालेंगे ?

" इस प्रकार के विचार जब इस मनुष्य के मन में आ रहे थे, तब मैंने इसको अपने पास बिठलाया; इसकी पीठ ठोंकी; इसके बदन पर हाथ फेरा । इस तरह इसे कुछ कुछ निर्भय करके मैंने इसे केले खाने को दिए । केलों को उसने बड़ी प्रसन्नता से लिया । उन्हें लेकर वह मुसकुराया । मानो उसने इस तरह अपनी कृतज्ञता प्रकट की ।. यह बौना बड़ा चालाक था । इससे हम लोगों ने संज्ञा से बातचीत की । हमने पूछा, यहाँ से गाँव

कितनी दूर है, किस तरफ़ है; वहाँ खाने को कुछ मिलेगा या नहीं; रास्ता कैसा है; चोरों का डर तो नहीं। इन प्रश्नो का उत्तर उसने संज्ञाओं ही से दिया। परंतु ऐसी योग्यता से दिया कि उनको समझने में ज़रा भी कठिनाई नहीं पड़ी।

"गेयू और इटूरी नदियो के बीच में ये छोटे आकार के जंगली अधिकता से रहते है। ये बड़े ही प्रवीण शिकारी होते है। जिस जंगल में ये रहते है, उसे थोड़े ही दिनो मे ये पशु-पक्षी-हीन कर देते हैं। अतएव शीघ्र ही इन्हें एक जगह छोड़कर दूसरी को, और दूसरी छोड़कर तीसरी को, जाना पड़ता है। इनके भाले बड़े ही भयंकर होते है। उनमें जो लोहे का फल लगा रहता है वह बहुत लंबा और तेज़ होता है। इनका मुख्य शस्त्र धनुर्बाण है। इनके बाणो की नोकें सैकड़ों तरह की होती है। इन बाणों से ये लोग हाथी मार डालते है और सैकड़ों मन हाथीदाँत इकट्ठा करके केले, तंबाकू, आलू, भाले और बाणों के बदले दे डालते हैं। ये अपने बाणों की नोकों मे एक बडा ही भीषण विष लगाते है। इनके बाण की नोक का स्पर्श रुधिर से हो जाने पर कोई जीव जीता नही रह सकता। बाण लगते ही आदमी बेहोश हो जाता है; कलेजा धड़कने लगता है, पसीने की धारा छूटती है। यह होते ही होते शीघ्र ही प्राणवायु निकल जाता है। एक मनुष्य की भुजा मे केवल आलपीन की नोक के बराबर छेद हो गया था। इतने ही से वह एक क्षण भर मे मर गया। एक मनुष्य की मृत्यु सवा घंटे मे हो गई। एक स्त्री को लोग उठाकर जब तक सौ क़दम दूर ले जायँ तब तक वह निर्जीव हो गई। एक मनुष्य तीन घंटे में और एक सौ घंटे में मरा। विष जितना ही ताज़ा होता है उतनी ही शीघ्र मृत्यु होती है। ऐसे ज्वलंत कालकूट विष से यदि शेर, हाथी और गैंडे मरकर भूमि पर लोट जायँ तो क्या आश्चर्य। ईश्वर ने इन अशक्त और खर्वाकार जगली मनुष्यों को ऐसे विकराल बाण चलाने का ज्ञान देकर उनकी अशक्तता और खर्वाकृति की न्यूनता को अपेक्षा से अधिक पूरा कर दिया है।"

[फरवरी, 1904 की 'सरस्वती' मे प्रकाशित। 'वैचित्र्य-चित्रण' में संकलित।]

[2]

स्टैनली साहब का लिखा हुआ वृत्तांत बड़ा कौतूहलजनक है। उनके लेख का कुछ और भी अंश नीचे दिया जाता है। उसे भी उन्ही के मुख से कहा गया समझिए—

"हमने अफ़रीका महादेश के समस्त पर्वत, मरुभूमि, वन इत्यादि में बहुत वर्षों तक भ्रमण करने के बाद जो अभिज्ञता प्राप्त की है उसे अपने एक ग्रंथ मे प्रकाशित कर चुके हैं। अफ़रीका के बौनो के सबध मे हमारे मन में पहले साधारणतः कई प्रश्न उठा करते थे। ये बौने सचमुच मनुष्य श्रेणी के हैं या नहीं? ये जो कुछ देखते है, उसे प्रकाशित कर सकते है या नही? मनुष्यो की तरह इनमें युक्ति, तर्क और चिंता-शक्ति है या नही? अभिज्ञता प्राप्त करने पर हम इस सिद्धांत पर पहुँचे है कि बौनो मे और हममें कोई विशेष भेद नहो। जैसे हम विचार और वार्तालाप करते है वैसे ही वे भी सोचते, विचारते और बातचीत करते हैं। डारविन साहब कुछ ही क्यों

न कहें, इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य सदा से मनुष्य है। वह बंदर की औलाद नहीं; मनुष्य का पार्थक्य अन्य जंतुओं से सदा से चला आता है। प्राचीन काल में जब हमारे पूर्व-पुरुष पर्वत-गह्वरों में वास करते और पेड़ों की छाल पहनते थे, तब भी उनमें और अन्य जीवों में बड़ा भेद था। हमने मिलान करके देखा है कि बौनों की बुद्धि हम लोगों की बुद्धि से किसी तरह कम नहीं। युग-युगांतर से उनकी दशा ऐसी ही रही है। ईसा से चार सौ पैंतालीस वर्ष पहले, हिरोडोटस के समय में, इन लोगों की जैसी दशा थी वैसी ही आज भी है। उस समय तथा उसके पहले वे एल्बर्ट झील के आसपास रहते थे। इन बौने आदमियों का आविष्कार पहले-पहल हिरोडोटस तथा एंड्रयू बाटिल ने किया था। 1876 ईसवी में हमने पहले-पहल एक बौना देखा; परंतु उसको अच्छी तरह न देख पाए। 1881 ईसवी में, जब हम एमिन पाशा को छुड़ाने के लिए फ़ौज लेकर अफ़रीका के जंगलों में गए थे, भिन्न-भिन्न उम्र के कोई पचास बौनों को वहाँ से पकड़ लाए थे। अफरीका में इहरियो और इतुरी नाम की दो नदियाँ हैं। इन्हीं दोनों नदियों के बीच के प्रदेश में बौने रहते है। इस प्रदेश का विस्तार कोई तीस हजार मील है। ऊपर लिखे हुए बौनों को जब हमने पकड़ा था, तब उनके बहुत से गाँव देखे थे और उनके संबंध में बहुत सी बातें भी जानी थी। एक गाँव को पार करने में कोई डेढ़ दो घंटे समय लगता है।

" जिन जंगलों मे ये बौने रहते है, उनके बाहर अपेक्षाकृत सुसभ्य कृषक बसते है। बौनो की अपेक्षा वे ऊँचे, बलिष्ठ और सुंदर होते है। शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए वे मनुष्यों के दाँत और बंदरो की हड्डियाँ आदि की मालाएँ बनाकर पहनते हैं। साधारण मनुष्यो की तरह बौनों की ऊँचाई भी न्यूनाधिक होती है। बौनों की अधिक-से-अधिक ऊँचाई पचास इंच होती है। सैकड़ो ऐसे भी जवान बौने देखने मे आते हैं, जो केवल तेंतीस इंच लंबे होते हैं।

" हमने पहले सुना था कि बौने—योद्धा खूब लंबी दाढी रखते है; पर अनुसंधान से मालूम हुआ कि केवल एक को छोड़कर और किसी के दाढ़ी नहीं। उनके शरीर का चमडा इतना ढीला होता है कि सहज ही मे उँगली से पकड़कर खींचा जा सकता है।

" अस्त्र, शस्त्र, गहना इत्यादि अपने इस्तेमाल के कोई भी पदार्थ ये स्वयं नहीं प्रस्तुत कर सकते। जंगल के बाहर जो कृषक रहते हैं, उन्हीं से ये लोग अन्य वस्तुओं के बदले में ये पदार्थ ले आते या चुरा लाते है। शहद, जंगली जानवरो का मास, व्याघ्र-चर्म, पक्षियो के पर आदि ही इनके परिवर्तन के मुख्य पदार्थ है। अन्य मांस जब नही मिलता, तब ये लोग गढ़ा खोदकर हाथियो या जगली भैंसों का शिकार करते हैं और उनके मांस तथा हड्डियो के बदले में कृषको से तीर-कमान, लोहे के गहने, कमरबंद, तरकस, छुरे, थैले इत्यादि पदार्थ ले आते है। कच्चे-पक्के केले तथा केले की शराब ये लोग बहुत पसंद करते हैं। इसी शराब को पीकर ये लोग आनंद से नृत्य करते हैं। यही शराब इनकी विलासिता की सामग्री है। ये लोग नाना प्रकार के जगली फल भी खाते हैं। उनमें से कुछ इतने मीठे और मज़ेदार होते हैं कि पृथ्वी की कोई भी सभ्य जाति उनका आदर कर सकती है। इसके सिवा जिन फलों को ये खाते हैं उनमें से कोई-कोई इतने विषाक्त भी होते हैं कि यदि कोई अन्य मनुष्य उनको खा ले, तो तुरंत ही मर जाय। मांस को ये अच्छी

तरह पकाकर नहीं खाते;केवल उसको सेंक लेते हैं । नहीं कह सकते कि ये उसको पकाना ही नही जानते या इनको कच्चा ही मांस अच्छा लगता है । बौने लोग नर-मांस को बड़े प्रेम से खाते हैं । हमने देखा है कि ये लोग कब्र खोदकर मृत देह को उठा ले गए हैं । हमारे दल के लोगों को मारकर भी इन्होंने खाया है । एक दिन हमने देखा कि एक आहत स्त्री को घेरे हुए कुछ बौने बैठे हैं और उसके चारों ओर अग्नि जल रही है । प्रत्येक बौने के हाथ में एक-एक बरतन है । उनके बैठने के ढंग ही से मालूम होता था कि उस स्त्री का मांस खाने का बंदोबस्त ये लोग कर रहे हैं । हमने अपने क़ैदियों से पूछकर निश्चय कर लिया है कि अफरीका के बौने नर-मांस-भक्षी हैं ।

"बौने खेती नही करते और न कोई अन्य पदार्थ ही उत्पन्न करते है । जंगल के बाहर वाले कृषक तंबाकू, केला इत्यादि उत्पन्न करते हैं । उन्हीं को चुराकर बौने अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं । इन लोगों के अस्त्र-शस्त्र, बरछे, तीर, कमान और छुरे हैं । धनुष के दोनों किनारों पर ये रेशम के फूल लगाते हैं और बीच में बंदर की पूँछ बाँधते हैं । यह पूँछ धनुष को कड़ा बनाए रखने के लिए व्यवहार की जाती है । तीरों की लंबाई कोई अठारह इंच होती है । उनका अगला सिरा विष से बुझा रहता है । इन तीरों को बड़ी सावधानी से छूना चाहिए; क्योंकि सूखा हुआ विष भी बड़ा भयानक होता है । इस विष के प्रयोग मे बड़ी ही भीषण यंत्रणा-दायक मृत्यु होती है । ईश्वर न करे किसी की मृत्यु इससे हो । इस विष से मरने की अपेक्षा अन्य सब प्रकार से मरना मनुष्य सादर स्वीकार कर सकता है । इस विष-प्रयोग की बात हम पहले न जानते थे । 1887 ईसवी में इन बौनों के साथ एक क्षुद्र युद्ध में हमारे कई सिपाही सामान्य रूप से घायल हुए । हमने उनका तुरंत इलाज किया; परंतु तब भी वे न बच सके । यदि वे तीर विषाक्त न होते, तो बिना किसी चिकित्सा ही के वे अच्छे हो जाते । घायलों में से कई एक धनुष्टंकार रोग से पीड़ित होकर मरे । कई एक के आहत स्थान सड़ गए और उनकी बुरी मृत्यु हुई । जो लोग कुछ दिन बचे भी उनका रक्त इतना दूषित हो गया कि वे अपने जीवन को बोझ समझने लगे । उनकी समझ में ऐसे जीवन से मृत्यु ही भली ।

"इस विष का प्रतिकार करने वाली ओषधि हमने कोई एक साल मे ढूँढ़ निकाली । बहुत परीक्षा करने के बाद यह मालूम हुआ कि आहत स्थान के निकट एमन-कार्ब (Amnion Carb) ओषधि का प्रवेश करने से बड़ा लाभ होता है । ये लोग अपने विष को जिस वस्तु से तैयार करते है उससे डाक्टर प्रोजर ने स्ट्रोपांथिन (Stropanthin) नाम की एक ओषधि तैयार की है । उसकी $\frac{1}{10}$ ग्रेन मात्रा व्यवहार करने से मृत्यु हो सकती है ।

"बौने मनुष्य दो भागों में विभक्त हैं । एक दल के लोगों का रंग कुछ-कुछ लाल होता है; दूसरे दल वाले बेहद काले होते हैं । दोनों ही दल वालों का मस्तक चौड़ा और ठुड्डी बड़ी होती है । उनके हाथ छोटे और चिकने तथा पैर टेढ़े होते हैं । तिस पर भी कितने ही बौनों का चेहरा खूबसूरत होता है ।

"बौनों के सरदार की एक स्त्री का रूप वर्णन करने योग्य है । उसके शरीर का रंग अत्यंत उज्ज्वल था । वह बहुत गहने न पहने थी; केवल लोहे के कुछ बाले और नाक

में नथ थी। उसके छोटे-छोटे काले बालों में एक प्रकार का तेल लगा हुआ था। इससे उसका मुख-सौन्दर्य्य और भी बढ़ गया था। वह खूब शांत थी। वह जिस कार्य्य पर नियुक्त थी, उसको बड़े मनोयोग तथा अध्यवसाय के साथ करती थी।

"ये बौने हज़ारों वर्ष से एक ही अवस्था में हैं। इसका कारण कदाचित् यह होगा कि ये सभ्य मनुष्यों के साथ नहीं मिलते जुलते। शिक्षा पाने पर ये लोग भी योरप और अमेरिका के निवासियों की तरह सभ्य हो सकते है। एक चालीस वर्ष की उम्रवाली स्त्री हमारे दल मे रहने से पाक-विद्या मे ऐसी निपुण हो गई थी कि योरप का कोई प्रथम श्रेणी का बावर्ची भी उसका मुक़ाबला न कर सकता था। वह बहुत सफ़ाई से रहती थी। साफ़ कपड़े पहनती और कोई भी वस्तु बिना हाथ धोए न छूती थी। उसमें यदि कोई दोष था तो यह कि वह बड़ी वाचाल थी। वह अपनी जिह्वा को थोड़ी देर भी न रोक सकती थी। यह न समझिए कि वह कोई बुरी बात कहती थी; उसकी बाते बड़ी ही रहस्यपूर्ण होती थी।

"हमारे क़ैदियो मे एक अठारह वर्ष का बालक भी था। वह बड़ा अल्पभाषी था। दिन-रात वह अपने काम ही में लगा रहता था। किसी से बातचीत न करता था। यदि कोई उससे प्रश्न करता, तो वह लज्जा के मारे मर-सा जाता था। कोई उस पर यदि अत्याचार भी करता, तो वह उसे चुपचाप सह लेता था।

"मतलब यह कि असभ्य बौने शिक्षा पाने पर थोड़े ही दिनो मे सभ्य हो सकते है। यद्यपि वे अपने व्यवहार की एक भी वस्तु नही बना सकते तथापि उनमें अन्य मनुष्यों तरह सज्ञानता ज़रूर है। ये लोग प्रेम करना और प्रेम का बदला लेना भी जानते है। ये बड़े ही साहसी तथा अध्यवसायी होते हैं। वन में सिंह और बाघ से भी नहीं डरते और चतुरता में चिपैंजी बंदर को भी इनसे हार माननी पड़ती है। हमें योरप वालों के ऐसे बहुत से दृष्टांत मालूम हैं, जो जंगली भैंसों और हाथियों के द्वारा हत हुए हैं। पर ये क्षुद्र असभ्य बौने इन भीषण जंतुओं को सहज ही मे मार डालते है।

"बौने लोगों के गाँव बड़े-बड़े पेड़ों के नीचे होते हैं। हमने एक ऐसा गाँव देखा है। उसमें छियानबे घर थे। वे छोटे घर बहुत ही साफ़ सुथरे थे। चलने-फिरने से बीच में जो रास्ता बन गया था वह पाँच-छः फुट से अधिक चौड़ा न था। जिस गाँव का रास्ता जितना ही अधिक चौड़ा होता है उसकी बस्ती उतनी ही अधिक होती है। घर के दोनों ओर दरवाज़े होते है। दरवाज़े तीन फुट से अधिक ऊँचे नहीं होते। आक्रमण के समय घर से बाहर भागने के लिए गुप्त द्वार भी होते है। गाँव के सब घर वृत्ताकार बने होते है। वृत्त के बीच मे उनके राजा या सरदार का घर होता है। राजा की चौकसी रखना प्रत्येक बौने का मुख्य कर्तव्य है। घरों की ऊँचाई चार फुट, लंबाई आठ-दस फुट और चौड़ाई छः-सात फुट होती है। पेड़ों के बड़े-बड़े पत्ते ही उत्तम बिछौने समझे जाते हैं।

"सवेरा होने पर प्रायः सभी बौने भोजन की सामग्री एकत्र करने के लिये घर से बाहर निकलते है। पहले दिन के बनाए हुए जालो और गढ़ों को ढूँढ़ना ही उनका प्रथम कार्य्य होता है। घरों में जो लोग रह जाते है, वह गाँव की रखवाली करते हैं।

" इन बौनों के साथ कभी-कभी बाहर रहने वाले किसानों की लड़ाई हो जाती है। इसका कारण यह है कि ये लोग रात को उनके यहाँ से चीज़ें चुरा लाते हैं। इन लोगों में कोई नैतिक नियम न होने से चोरी करने में बड़ी सुविधा होती है। इन्हें ज्यों ही कोई चीज़ पसन्द आती है, त्यों ही ये उसे ले भागते हैं। इसलिए किसान कहते हैं कि यह जाति पृथ्वी से मिट जाय तो अच्छा हो। बौने यदि अस्त्र-शस्त्र से सज्जित न हों, तो कई मिलकर भी एक किसान का मुक़ाबला नहीं कर सकते। किन्तु यदि हाथ में अस्त्र हो, तो एक बौना भी एक बड़े अस्त्रधारी योद्धा का सामना कर सकता है। हमारे दल का एक साहसी बंदूक़धारी सिपाही एक दिन एक साधारण बौने का सामना कर सका था। बौने सदा सतर्क रहते हैं। किंतु हमारे सिपाही किसी को सामने न देखकर तुरंत असावधान हो जाते हैं। इसीलिये वे मारे जाते हैं।

" बौनों की देह से एक प्रकार की दुर्गंधि आती है। इसीलिये यदि वे कहीं आस-पास होते हैं, तो तुरंत जान लिए जाते हैं।

" कितनी शताब्दियों से ये लोग जंगल में रहते हैं, इसका निर्णय करना कठिन है। किसी-किसी इतिहास-वेत्ता का अनुमान है कि ये लोग कोई साढ़े तीन हज़ार वर्ष से यहाँ रहते हैं। इतने दिन असभ्य अवस्था में रहने पर भी ये पृथ्वी से लुप्त नहीं हुए। अतएव यह आशा की जाती है कि ये भविष्यत् में अवश्य ही सभ्य हो जायँगे। "

['अफ़रीका के बौने' शीर्षक से मार्च, 1911 की 'सरस्वती' में 'पण्डित उदयनारायण वाजपेयी' नाम से प्रकाशित। 'वैचित्र्य-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

जूलूलैंड (अफ़रीका) की असभ्य जूली-जाति

जूलूलैंड दक्षिण अफरीका का एक प्रदेश है। उसका विस्तार कोई 8,900 वर्गमील है। उसके उत्तर में स्वाजीलैंड और टोंगालैंड है और पूर्व में भारत-महासागर। दक्षिण में टगेला नदी उसे नेटाल से अलग करती है। उसके पश्चिम में ड्राकेंसबर्गेन नाम की पर्वत-माला है। यह प्रदेश अँगरेज़ी गवर्नमेंट द्वारा संरक्षित नेटाल-राज्य के अधीन है। यहाँ की जन-संख्या डेढ़ लाख है। उसमें कोई साढ़े छ: सौ अँगरेज़ हैं।

इस देश में जूलू-जाति का निवास है। इससे इसका नाम जूलूलैंड है। यह जाति बांटू नामक हबशियों की एक शाखा है। नेटाल, केप-कालोनी, दक्षिण-पूर्व अफरीका और सोफाला आदि प्रदेशों के समुद्र के किनारेवाले हिस्सों में भी इस जाति के लोग रहते हैं। कोई कोई इन्हें जूलू काफ़िर भी कहते हैं, पर यह इनका उपयुक्त नाम नहीं। काफ़िर अरबी भाषा का शब्द है। जंजिबार और सोफाला के अरब लोग इन्हें मूर्ति-पूजन करते देख, घृणा से इन्हें काफ़िर कहा करते थे। तभी से इनका यह नाम पड़ गया।

जूली लोगों का आदिम स्थान कहाँ था और वे लोग कब इस प्रदेश में आए, इसका ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं मिला। कुछ लोगों का अनुमान है कि ये लोग अन्यान्य हबशी जातियों के पीछे यहाँ आए। इनके आने का समय अँगरेजों के आने के हज़ार-डेढ़ हज़ार वर्ष पहले का माना जाता है। परंतु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं।

जूली लोगों का रंग-रूप मध्य जांबेज़ी और कांगोलैंड के निवासियों से मिलता है; पर इनकी भाषा उन लोगों की भाषा से भिन्न है। इनके शब्दों के उच्चारण से हाटेंटाट लोगों के शब्दों की तरह खटखटाहट की ध्वनि निकलती है। इन लोगों के शब्दों की व्युत्पत्ति सेकुआना और इमारा भाषा के शब्दों से अधिक मिलती है। कृषि-विद्या, सामाजिक नियम, युद्ध-विद्या और अस्त्र-शस्त्र में पूर्व अफ़रीका और विक्टोरिया यान्ज़ा के निवासियों से इनका सादृश्य पाया जाता है।

जूलू लोग बांटू-श्रेणी की अन्यान्य जातियों के लोगों से सुडौल और सुंदर होते हैं। इन लोगों का रंग भी उन लोगों से कुछ साफ़ होता है। पहले ये लोग बैल, भेड़ आदि के चमड़े से अपने पहनने के वस्त्र तैयार करते थे, पर अब ये कंबल और सूती कपड़ों का भी व्यवहार करने लगे हैं। परंतु इन लोगों को कपड़े-लत्ते की परवा बहुत कम रहती है; केवल जाड़े और बरसात ही में ये लोग लंबा अँगरखा पहनते हैं। अन्य ऋतुओं में मर्द-औरत दोनों कमर से ऊपर का समूचा अंग खुला ही रखते हैं। स्त्रियाँ कभी-कभी अपने वक्षःस्थल ढँके रहती हैं; पर पुरुषों का वक्षःस्थल सदैव खुला ही रहता है। इनके अँगरखों के रंग और काट-छाँट में परस्पर बहुत भेद पाया जाता है। कोई-कोई काँच के मनकों, बटनों और कौड़ियों से अपने अँगरखों को सजाते हैं।

इन लोगों में बाल सँवारने की चाल बड़ी विलक्षण है। मर्द समूचा सिर मुड़ाकर बीच में एक चोटी रखते हैं। इसी चोटी में कोई पाँच इंच व्यास का एक चक्र लगाकर ये जूड़ा-सा बना लेते हैं। जूड़े में ये लोग कभी-कभी चिड़ियों के पर भी खोंसते हैं। तंबाकू का डिब्बा, सुई आदि भी ये जूड़े ही में रखते हैं। औरतें अपने बालों में चरबी तथा और कई चीज़ें लगाकर उन्हें कड़ा बना लेती हैं। फिर उनको एक साथ लपेटकर ऊपर को उठी हुई एक लंबी चोटी तैयार करती है। कोई-कोई अपने बालों की पतली-पतली चोटियाँ बनाकर उन्हे जुल्फ़ की तरह छाँट देती हैं। दाँतों में मिस्सी मलने और कीलें लगवाने का भी इन्हें शौक़ है। अन्यान्य असभ्य जातियों की तरह जूलू लोग भी अपना बदन रँगते है। इन लोगो में इस रिवाज ने कुछ-कुछ धार्म्मिक भाव धारण कर लिया है। जैसे हम लोगो के यहाँ कर्णवेध या यज्ञोपवीत होता है, वैसे ही इनके यहाँ भी एक रस्म होती है। उसके पहले लड़कों का बदन खून और पानी में घुली हुई सफ़ेद मिट्टी से रँगा जाता है। और एक बार सिर से पैर तक मिट्टी से पोतकर लड़के धूप में नंगे नाचने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। बदन सूख जाने पर फिर पोता जाता है। इस प्रकार जब तक बदन का रंग खूब उजला नही हो जाता, तब तक बार-बार उन पर रंग चढ़ाया जाता है। जवानी में औरतें भी कभी-कभी अपना बदन रँगती है। नाक, कान आदि छिदाने की चाल भी इन लोगों में है। बहुत-सी औरतें तो अपना ऊपर का होंठ भी छिदा लेती हैं और उसमें बहुत मोटी नथ पहनती हैं। किंतु अब यह रिवाज धीरे-धीरे कम हो रहा है।

जूलू लोग छोटी-छोटी फूस की झोपड़ियों में रहते हैं। वृक्षों की मज़बूत और झुकाई जाने लायक़ शाखाओं को ये जमीन में गाड़ देते है और उनके दूसरे सिरों को चारो तरफ़ से झुका कर मिला देते हैं। ऊपर से फूस डाल देते हैं। इनकी झोंपड़ियाँ बहुत छोटी होती हैं। इनके भीतर कोई आदमी सीधा नहीं खड़ा हो सकता। इन झोंपड़ियों का दरवाजा इतना छोटा होता है कि ये लोग चौपायों की तरह हाथ-पैर के बल उसके अंदर जाते है। ये लोग ज़मीन ही पर चटाई और कंबल बिछाकर सोते हैं और कंबल ही ओढ़ते भी हैं। तकिए का व्यवहार भी ये लोग करते हैं। इनके तकिए मुलायम चमड़े के होते हैं।

ये लोग खाने की चीज़ें और कपड़े आदि बोरों में भरकर रखते हैं। बोरों के मुँह पर पीतल की छल्लियाँ लगी रहती है। उन्हीं छल्लियों में ताले डाले जाते हैं। इन सब चीज़ों के सिवा प्रत्येक झोपड़ी में रसोई बनाने के बरतन और तीर, भाले आदि अस्त्र भी रहते हैं।

इनके भोजन की मुख्य सामग्री जंगली फल, दूध, मांस, शहद आदि है। इसके सिवा ये मछली, रोटी आदि भी खाते हैं। ये लोग शहद को बहुत पसंद करते हैं।

जूलू लोगों में लड़के-लड़कियों की शादी उनके माता-पिता के अधीन है। साधारण तौर पर लड़केवाले की ओर से एक बैल लड़की के पिता के पास भेजा जाता है। यदि उसने उस उपहार को स्वीकार कर लिया, तो समझा जाता है कि शादी की

बात पक्की हो गई। इसके बाद लड़केवाला फिर एक बैल भेजता है। तब शादी का दिन नियत होता है। शादी के समय लड़की को तीन लौंडियाँ, दस बैल और बहुत से कपड़े लड़के वाले की ओर दिए जाते है। इन लोगों का सामाजिक नियम बहुविवाह का बाधक नही है; पर यह बात आदमी की आर्थिक अवस्था पर अवलंबित है। तलाक़ की प्रथा भी इन लोगो में है। किंतु इसके लिए पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का दोष दिखाना पड़ता है।

जूलू लोग अपने पूर्व पुरुषो की पूजा करते है। उनका विश्वास है कि मरे हुए आदमियों की आत्माएँ अन्यत्र ठीक उसी तरह निवास करती हैं, जैसे वे यहाँ रहते थे और आराधना द्वारा वे बुलाई जा सकती है। मंत्र-तंत्र पर भी उन लोगों को पूरा विश्वास है। कोई शारीरिक कष्ट होने पर वे प्राय. उसे प्रेत-बाधा समझते हैं। उनके चिकित्सक ही प्राय. प्रेत-निवारण किया करते है। ये चिकित्सक बड़ी-बड़ी करामाते दिखाने का दावा करते है। ये कहते है कि चिकित्सक जब चाहे पानी बरसा सकते है और आँधी, तूफ़ान आदि को भी अपने मंत्र के बल से रोक सकते हैं। डाइन और ओझा लोगो से ये लोग बहुत डरते है।

जूलू लोगो में सुन्नत का रिवाज है। किंतु मुसलमानी धर्म्म की और बातें इनमे नहीं। इस समय ईसाई धर्म्म का प्रभाव इन लोगो पर खूब पड़ रहा है। कुछ लोग ईसाई हो भी गए है। जिन लोगों ने यह धर्म्म स्वीकार कर लिया है, उनके सामाजिक नियम भी बहुत बदल गए है।

जूलू लोग मुर्दे को नही जलाते। ये उन्हे गाड़ देते है। प्रायः ओझा लोग अपनी तांत्रिक क्रिया सिद्ध करने के लिए मुर्दों को उखाड लिया करते है। इससे अमीर जूलू लोग अपने संबंधियो की क़ब्रों पर बरसों दिन-रात पहरा बिठाए रहते है।

शिकार, खेती और पशु-पालन ही जूलू लोगों की प्रधान आजीविका है। ये लोग लोहा, पीतल आदि गलाकर मामूली हथियार बनाना जानते हैं।

जूलू लोग बड़े बहादुर और युद्ध विद्या में निपुण होते है। ये लोग पैदल ही युद्ध करते है। तीर, कमान, भाला, ढाल, तलवार, गदा आदि इनके मुख्य अस्त्र-शस्त्र है। ये कभी-कभी दूसरे प्रदेशो पर भी आक्रमण करते है। कोई अस्सी वर्ष पहले इन लोगो ने रोडेशिया, जांबेजी, न्यासालैंड तथा जर्मनीवालो के पूर्व अफ़्रीका आदि प्रदेशो का अधिकार करके वहाँ अपनी भाषा का प्रचार किया था। कुछ जूलू सरदारों ने एक दफ़े आधे अफ़्रीका को तबाह कर दिया था।

इनके सरदार डेनी जूलू का नाम पाठको ने अखबारों में पढ़ा होगा। अभी कुछ ही समय हुआ उसने बग़ावत करके अँगरेज़ी गवर्नमेंट को तंग किया था। पर अंत मे वह पकड़ा गया और उसे सज़ा हुई।

जूलू लोगों ने अपनी सामाजिक और राजनैतिक अवस्था में बहुत उन्नति की है। प्रायः सब असभ्य जातियो में 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की प्रथा ही प्रचलित है। परंतु जूलू लोगो ने राजा वंश-परंपरा के अनुसार ही होते है। इनके यहाँ फ़ौजदारी और

दीवानी दोनों तरह के क़ानून हैं। पर वे लिपिबद्ध नहीं। वहाँ क़ानून जाननेवालों की एक श्रेणी है। उस श्रेणी के लोग परंपरा से बराबर क़ानूनी विषयों ही की चर्चा करते आते हैं। वे इस काम के सिवा और कुछ नहीं करते। वहाँ खुली अदालतों में न्याय होता है और सबको बोलने की स्वतंत्रता दी गई है।

[मई, 1911 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'वैचित्र्य-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

प्रशान्त-महासागर के टापुओं की कुछ असभ्य जातियाँ

प्रशान्त-महासागर में छोटे-बड़े सैकड़ो टापू हैं। वे सब ओशनियो के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें से टोंगा, ताहिती, समोआ और हवाई आदि टापुओं के समूह का नाम पालीनेशिया है; और फ़ीजी, न्यू कैलेडोनिया, सालोमन आदि के समूह का नाम मेलानेशिया। इन टापुओं के पहले समूह में जो असभ्य आदमी रहते हैं, वे पालीनेशियन कहलाते हैं और जो दूसरे में रहते हैं, वे मेलीनेशियन। यही लोग यहाँ के मूल निवासी हैं। पहले ये बेहद असभ्य थे। पर जब से योरप और अमेरिका के सभ्य सज्जन इन टापुओं में पधारे, तब से इनकी असभ्यता कम होने लगी। अब तो वह और भी दिन-दिन कम होती जाती है। परंतु इसके साथ ही उनका विनाश-साधन भी होता जाता है। पश्चिमी सभ्यता की बदौलत इन लोगों में नए-नए व्यसनों का प्रादुर्भाव हो गया है, जो इनकी संख्या बराबर कम करता जा रहा है। जो जाति इस मनुष्य-गणना में, कल्पना कीजिए, एक हज़ार है, वह, दस वर्ष बाद दूसरी मनुष्य-गणना में पाँच ही सौ रह जायगी। यह दशा है! इनकी संख्या की कमी के और भी कई कारण हैं।

पालीनेशिया के टापू पहले बिलकुल उजाड़ थे। वहाँ के मूल निवासी और ही कही रहते थे। वे किसी उत्तर-पश्चिम के देश या प्रांत से वहाँ गए जान पड़ते हैं। यह बात उनके रूप-रंग और क़द से सूचित होती है। यहाँ वाले कद में, कोई-कोई छः फुट तक ऊँचे होते हैं। बाल काले और सीधे होते हैं। चमड़े का रंग कुछ-कुछ भूरापन लिए होता है। योरपवालो के संसर्ग से ये लोग अब काहिल हो गए है और दुराचरण की लत भी इनमें पड़ गई है। अन्यथा ये बड़े परिश्रमी और, कुछ को छोड़कर, सदाचरणशील थे।

योरपवालों के पालीनेशिया में पहुँचने के पहले वहां के निवासी खेती करना अच्छी तरह जानते थे। ये लोग रोटी, तरकारी ही अधिक खाते थे, मांस-मछली कम। नारियल यहाँ अधिकता से होता था। ये लोग नाव बनाना भी जानते थे। तैरने में तो ये बड़े ही निपुण थे। शहतूत की जाति का एक पेड़ वहाँ होता है। उसकी रस्सी ये लोग ऐसी अच्छी और मजबूत बनाते थे, और अब भी ऐसी बनाते हैं कि उसे देखकर आश्चर्य्य होता है। एक पेड़ की छाल कूटकर उसके बारीक तंतुओं से ये लोग एक प्रकार का मोटा कपड़ा भी बनाते थे। धनुर्बाण और भाले इनके हथियार थे। फावड़ा, कुदाली आदि ये लोग पत्थर के बनाते थे। इनके कुछ औज़ार सीपी के भी होते थे।

पालीनेशिया के निवासियों में अधिकांश अब क्रिश्चियन हो गए हैं। परंतु पहले वे विशेष करके सूर्य्य और चंद्रमा के उपासक थे। उन्हीं की वे पूजा करते थे; उन्हीं की

मूर्तियाँ स्थापित करते थे। हवाई नाम के टापुओं के निवासी और भी कई देवताओं को पूजते थे। वहाँ कई ज्वालामुखी पर्वत हैं। अतएव उनके कितने ही देवताओं की सृष्टि पर्वतों के कारण हुई थी। इन देवताओं के सामने मनुष्यों तक की बलि दी जाती थी। खाने की चीज़ें और शराब भी इन पर चढ़ाई जाती थी। नर-बलि तो नहीं, पर और सब प्राचीन प्रकार की पूजा अब तक यहाँ होती है। इन लोगों की कितनी ही प्राचीन देव-मूर्तियाँ पश्चिमी सभ्यता के प्रसाद से नष्ट-भ्रष्ट हो गई है। कुछ योरप के बड़े-बड़े अजायबघरों में पहुँच गई हैं। बची-खुची जो रह गई हैं, वे यत्र-तत्र पाई जाती है।

असभ्य जातियों में जैसे नाचों का प्रचार है, वैसे ही नाच पहले यहाँ भी होते थे। खेल-खूद के तरीक़े भी इनके बड़े विचित्र थे। उन्हें देखकर सभ्यताभिमानियों के मन में भय और घृणा के भाव एक ही साथ उदित होते थे। जितने धार्मिक उत्सव होते थे, सबमे भयानक नाच और उछल-कूद के तमाशे होते थे। यहाँ वाले किसी जमाने मे कमजोर बच्चों और बुड्ढों को, गले में फाँसी लगाकर, मार डालते थे। अपने समाज में निर्बल मनुष्यों को जीता रखना ये लोग अपनी तौहीन समझते थे। जवान और सबल आदमियों ही को जीते रखने के ये पक्षपाती थे। उन्हीं से ये समाज की शोभा समझते थे।

परंतु योरपवालो के संसर्ग से इन लोगों ने अपनी पुरानी चाल-ढाल बहुत कुछ बदल डाली है। धर्मांतर भी इन्होने कर डाला है और कपड़े-लत्ते मे भी रूपान्तर कर दिया है। अब इनमें से कितने ही आदमी कोट और पतलून पहनने लगे है। पहले तो ये प्रायः दिगंबर ही रहते थे। अब भी इन लोगों में अधिकांश दिगंबर नही तो अर्द्ध-दिगंबर ही बने विचरा करते है। इनकी स्त्रियाँ भी कमर के ऊपर का सर्वांग खुला रखती है; जो कुछ सभ्य हो गई हैं वही उस अंग को ढके रहती हैं। पुराने नाच-कूद अब इनके बंद हो चले हैं। किसी-किसी बहुत बड़े महत्त्व के मौक़े पर अब ये लोग पुराने ढंग का नाच नाचते है। सामोआ टापू के निवासी यद्यपि मामूली तौर पर कपड़े-लत्ते पहनने की बिलकुल ही परवा न करते थे, सिर्फ़ पत्तियों से अपने अंग-विशेष को ढके रहते थे, तथापि बड़े-बड़े उत्सवों और धार्मिक कामो के समय एक लंबा जामा पहनते थे। यहाँ के धार्मिक नर्तक एक ऊँची टोपी, नाचने के समय, पहनते थे। उसे देखकर सभ्य आदमियों को बड़ा कौतुक होता था। हवाई द्वीप के मूल निवासी पक्षियों के पर लगाकर एक अजीब तरह का लंबा कोट बनाते थे। उसके तैयार करने मे बरसों लग जाते थे। यह कोट बड़े मोल का होता था। ख़ास-ख़ास मौक़ों पर यह कोट पहना जाता था। पर ये पुराने ढंग के वस्त्राच्छादन अब योरप और अमेरिकावालों के कोट और हैट को अपना स्थान देते चले जा रहे हैं। क्रम-क्रम से उनका रिवाज कम हो रहा है।

पालीनेशिया और मेलीनेशिया के मूल निवासियों के विषय में सैकड़ों पुस्तकें लिखी जा चुकी है। इन टापुओं मे योरप वालों का प्रवेश हुए कई सौ वर्ष हुए। तब से आज तक इन लोगों के रीति-रिवाज आदि पर बराबर पुस्तकें लिखी जा रही हैं। उनमें से जो बहुत पुरानी पुस्तकें हैं, उनमें लिखी हुई कुछ बातें बड़े ही अचंभे की हैं। उन बातों का अब बहुत ही कम रिवाज है। इससे सूचित होता है कि इन टापुओं के निवासी अपनी पुरानी चाल को बहुत शीघ्र छोड़ सकते हैं। एक पुस्तक में लिखा है कि टोंगा-द्वीप के

निवासी पहले जाँघों तक गुदना गुदाते थे। उसमें वे पीले रंग की कोई चीज लगाते थे। इससे उनका यह अंग उम्र भर पीला बना रहता था और देखने में बड़ा ही विलक्षण मालूम होता था। ये लोग स्त्री और पुरुष दोनों कमर पर मोटे कपड़े या चटाई का एक छोटा-सा टुकड़ा-मात्र लपेटते थे। बाक़ी सारा अंग नंगा रहता था। संकोच और लज्जा का कहीं इनमें नाम न था। तरुण लड़कियाँ पिता और गुरुजनों के सामने इस वेश में आने जरा भी न सकुचाती थीं। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों एक ही तरह के गहने पहनते थे। ये लोग माला या हार पहनने के बड़े शौकीन थे। इनके हार विशेष करके चिड़ियों की टाँगों की हड्डियाँ और शार्क नामक मछली के दाँतों के होते थे। सीपियाँ और जंगली फलों की गुठलियों के भी हार ये लोग बनाकर पहनते थे। चिड़ियों के बाज़ू और चोंचें भी कभी-कभी ये अपने हारों में पिरो देते थे। कछुए की हड्डियों की अँगूठियाँ और बाजूबंद भी इन्हें बड़े प्रिय थे। प्रत्येक कान में ये लोग दो-दो करके उनमें हाथीदाँत या मामूली हड्डियों की तीन-तीन इंच व्यास वाली बालियाँ पहनना बहुत पसंद करते थे। यद्यपि बिलकुल ही असभ्य थे, तथापि अपने बदन को ये हमेशा साफ़ रखते थे। इसलिये ये दिन में दो-दो, तीन-तीन दफे तालाबों में नहाते थे। यदि समुद्र में नहाने का मौका आता, तो तालाब का पानी मिलते ही उसे अपने ऊपर डालकर बदन दुबारा धो डालते थे। समुद्र के पानी से चमड़ा फट जाता है। इस तकलीफ़ से बचने के लिये ये लोग ऐसा करते थे।

पालीनेशियन और मेलीनेशियन लोग बाल सँवारने के पीछे बेतरह पागल रहते हैं। मर्द-औरत सभी अपने बाल रँगने, सँवारने और उन्हें सीपियों और पक्षियों के पंखों तथा फूल-पत्तियों से आभूषित करने में घंटों खर्च करते हैं। रात को जब ये लोग सोते हैं, तब सिर के नीचे काठ की एक विचित्र तकिया रखते हैं। वह इस तरह की होती है कि बालों का जूड़ा ज्यों का त्यों बना रहता है—बाल बिखरने नहीं पाते। इस तकिए के कारण इन लोगों को सोते समय बहुत तकलीफ़ मिलती है, परंतु उसे ये खुशी से सह लेते हैं। तकलीफ़ चाहे जितनी हो, बाल न बिखरने पावें!

इन द्वीप-समूहों के निवासी एक प्रकार के सोमयाजी किंवा सोमपायी हैं। इनके सोम-रस का नाम है कावा। किसी किसी टापू वाले इसे आवा भी कहते हैं। सामोआ-टापू के निवासी बड़े-बड़े उत्सवों और त्योहारों पर कावा जरूर पीते हैं। यह एक पौधे की जड़ से बनाया जाता है। निर्दिष्ट समय पर सैकड़ों आदमी इकट्ठे होते हैं। अपने-अपने पद के अनुसार वे क़तारों में आगे-पीछे बिठाए जाते हैं। फिर सबको कावा की जड़ें दी जाती हैं। उन्हें दाँतों से चाबकर ये लोग खूब बारीक करते हैं। तब वह सारी-की-सारी लुगदी पत्तों पर रक्खी जाती है। इसके बाद वह एक बड़े बरतन में रखकर उबाली और तदनंतर छानी जाती है। जब तक ये सब तैयारियाँ होती हैं, तब तक लोग ज़ोर-ज़ोर से मंत्र-पाठ और गान करते हैं। कावा तैयार हो जाने पर स्त्रियाँ, लड़कियाँ, लड़के तक, सब लोग, नारियल के पियालों में उसे भराते हैं। एक सबसे अधिक सुंदरी लड़की प्याले में कावा लेकर समागत सज्जनों में सर्वाधिक श्रेष्ठ पुरुष के सामने ले जाती है। वह उस कावा को एक ही साँस में पी जाता है। उसके पी चुकने पर और लोग पीते हैं। किसी-

किसी टापू में कावा बनाने का काम केवल कुमारिकाओं ही को करना पड़ता है।

अतिथि-सत्कार करने में सामोआ के मूल निवासी सभ्य देश वालों से भी बढ़े-चढ़े हैं। वहाँ प्रत्येक गाँव में एक-एक ज़मींदार या राजा रहता है। अतिथियों के आदर-सत्कार का काम उसकी लड़की के सिपुर्द किया जाता है। उसे एक घर अलग दिया जाता है। बहुत-सी लड़कियाँ उसकी मदद के लिये नियत रहती है। जो लोग उस गाँव में बाहर से जाते है, वे उसी घर में ठहरते हैं। उन्हे सब तरह का आराम दिया जाता है। इसमें जो ख़र्च पड़ता है, वह सब गाँव वाले चंदा करके देते हैं। वे लोग अच्छा-अच्छा मांस और मछली खुद ही खा जाना अनुचित समझते हैं। इन चीज़ों को वे अतिथि-सत्कार के लिये रखते हैं।

अब तो नहीं, पर पहले किसी समय टोगा आदि कई एक टापुओं में छोटे-छोटे लड़के देवताओं पर काटकर चढ़ाए जाते थे। रोगियों को नीरोग करने के अभिप्राय से यह बलिदान बहुधा दिया जाता था। प्रधान-प्रधान पुरुषों की स्त्रियों को, उनके पतियों के मृतक-संस्कार के समय बहुधा फाँसी दे दी जाती थी। पर औरों के साथ ऐसा व्यवहार नही किया जाता था।

मृतक-संस्कार ये लोग बड़े ही आडंबर से करते थे और अब भी करते है। कोई-कोई वर्ष-वर्ष, डेढ़-डेढ़ वर्ष तक सूतक मानते हैं। मरने के दूसरे दिन मुर्दे को गाड़ते और सब लोग सिर घुटाते हैं। स्त्रियों तक को अपने-अपने प्यारे और सँवारे हुए बालो से हाथ धोना पड़ता है। मुर्दे की क़ब्र में उसके साथ उसके हार, गजरे, हड्डियाँ, सीपियाँ, कौड़ियाँ आदि रख दी जाती हैं। सूतक मनाने वाले फटी हुई चटाइयो के टुकड़े ही कमर से लपेटते है और एक वृक्ष-विशेष की पत्तियों की मालिका पहनते है। उनके सूतक की यही पहचान है।

इन लोगों में बड़े आडंबर के साथ विवाह होता है। कभी-कभी एक कुमारिका के कई प्रणयी निकल आते है। उनमें लड़ाइयाँ हो जाती है। यहाँ तक कि मार-काट तक की भी नौबत आ जाती है। गुप्त विवाह किंवा गंधर्व-विवाह भी कभी-कभी हो जाते है और जायज़ समझे जाते हैं। प्रीति-ग्रंथि दृढ़ हो जाने से स्त्री-पुरुष का फिर कभी पारस्परिक वियोग नही होता।

सालोमन नाम के टापुओं का जो समूह है, उसके निवासियों की आकृति बड़ी ही विभीषक होती है। वे लोग क्रूर और कुटिल स्वभाव के होते हैं। बलवान् भी बड़े होते हैं। शिकार में उनकी बराबरी और किसी टापू वाले नहीं कर सकते। लूट-पाट में भी उनका नंबर सबसे बढ़ा हुआ है। वे बहुधा अपनी नावों पर सवार होकर, धनुष-बाण तथा भाले धारण करके, पास-पड़ोस के टापुओं पर धावा मारते और जो कुछ पाते हैं, उठा लाते हैं। उनकी नावें बहुत बड़ी और बहुत मज़बूत होती हैं। प्रत्येक नाव में चालीस-चालीस, पचास-पचास आदमी सवार हो सकते हैं। अपने शत्रुओं पर जब वे धावा मारते हैं, तब उनके शरीर में पूर्वाधिक बल-विक्रम का संचार हो जाता है। जो उनके बाणों से मारे जाते हैं, उनके सिर वे काट लेते हैं। उन्हें वे अपनी बस्तियों में जमा

कर देते हैं। उनके क्रूर कर्म्म की वे सदा याद दिलाया करते है। धनुर्बाण और भाला ही उनके प्रधान शस्त्र हैं।

सालोमन टापू के निवासी अपने कान छेदकर उस छेद को धीरे-धीरे इतना बड़ा कर देते हैं कि उसके भीतर मोटी-मोटी लकड़ियाँ तक चली जाती हैं। एक साहब ने तो यहाँ तक लिखा है कि उस छेद के भीतर इन लोगों का सिर तक चला जाता है! कान भी इनके बहुत लंबे होते हैं। इनके बाल ऊपर को उठे और बिखरे हुए होते है।

इस द्वीप-पुज में एक छोटा-सा टापू वोगेनविली नाम का है। इसके निवासियों को मनुष्य नहीं, राक्षस कहना चाहिए। वे मनुष्य-भक्षी हैं। अपरिचित आदमी उनसे भागे नही बचता। पकड़कर उसे वे फ़ौरन खा जाते है। लड़ाकू ऐसे होते है कि पड़ोस के टापुओं पर अकारण चढाई करके वहाँ वालों के सिर काट लाते हैं। मनुष्य को मारना और मारकर खा जाना उनके लिये खेल है। आर० लाइडेकर नामक एक साहब ने अपनी एक किताब में ऐसा ही लिखा है।

[सितम्बर, 1911 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'वैचित्र्य-चित्रण' पुस्तक में संकलित।]

प्राचीन मेक्सिको में नरमेध-यज्ञ

प्रेस्काट नाम के साहब ने अमेरिका के मेक्सिको देश के विजय किए जाने पर एक अच्छी पुस्तक अँगरेजी में लिखी है। उसी के आधार पर हम प्राचीन मेक्सिको के उन उत्सवों का हाल लिखते हैं, जिनमें वहाँ वाले नरमेध-यज्ञ करते थे।

मेक्सिको वालों के युद्ध-देवताओं में एक देवता 'टैज़-कैटली-कोपा' नाम का था। 'टैज़-कैंटली-कोपा' का अर्थ है—'संसार की आत्मा।' वह संसार का रचयिता माना जाता था। उसकी पूजा में मनुष्य का बलिदान होता था। प्राचीन काल में, मेक्सिको में, मनुष्य के बलिदान की प्रथा थी तो; परंतु बहुत कम थी। चौदहवीं शताब्दी में उसने बहुत ज़ोर पकड़ा; और अंत में, सोलहवीं शताब्दी में, जब स्पेन वालों ने मेक्सिको पर अपना अधिकार जमाया, तब इस प्रथा का इतना प्राबल्य हो गया कि कोई पूजा इसके बिना होती ही न थी।

युद्ध में पकड़े गए क़ैदियों में से एक सुंदर युवक चुन लिया जाता था। वह 'टैज़-कैंटली-कोपा' का अवतार माना जाता था। उसका आदर और सत्कार भी वैसा ही होता था, जैसा टैज़-कैंटली-कोपा' की मूर्ति का। कई पुजारी उसके पास सदा रहते थे। वह बहुमूल्य और सुंदर-सुवासित वस्त्र धारण करता। फूलों की मालाएँ उसके गले में पड़ी रहती। जब वह घूमने निकलता, तब राजा के सिपाही उसके आगे-आगे चलते। चलते-चलते जब वह कहीं गाने लगता, तब उसके गाने की ध्वनि कानों में पड़ते ही लोग दौड़-दौड़कर उसके चरणों पर गिरते, और उसकी चरण-रज उठाकर सिर पर धारण करते। चार सुंदर युवा स्त्रियाँ सदा उसकी सेवा करतीं। जिस समय से वे उसके पास रहने लगतीं, उस समय से लोग उन्हें देवी के पवित्र नाम से पुकारने लगते। एक वर्ष तक यह देवता खूब सुख भोगता। जहाँ जाता, वहाँ लोग उसका आदर करते और उसे खूब अच्छा भोजन खिलाते। वह जो चाहता, सो करता; कोई उसे टोकने वाला न था। वह एक बड़े भारी महल में रहता। जब जी चाहता, तब चाहे जिसके महल को अपने रहने के लिये खाली करा लेता। परंतु एक वर्ष के बाद उसका यह सब सुख मिट्टी में मिल जाता।

बलिदान के दिन उसके सब बहुमूल्य कपड़े उतार लिये जाते। पुजारी लोग उसे 'टैज-कैंटली-कोपा' के मंदिर में ले जाते। दर्शकों की भीड़ उसके पीछे-पीछे चलती। मंदिर के निकट पहुँचते ही वह अपने फूलों के हारों को तोड़-तोड़कर भूमि पर बखेरने लगता। अंत में उन सारंगियों और ढोलकों के तोड़ने की बारी आती, जो उसकी रँग-रेलियों के साथी थे। मंदिर में पहुँचते ही छः पुजारी उसका स्वागत करते। इन छहों पुजारियों के बाल लंबे-लंबे और काले होते। वे कपड़े भी काले ही पहने रहते। उनके कपड़ों पर मेक्सिको की भाषा में लिखे हुए मंत्राक्षर चमकते रहते। छहों पुजारी उसे लेकर मंदिर के एक ऐसे ऊँचे भाग में पहुँचते, जहाँ उन्हें नीचे से सर्व-साधारण अच्छी

तरह देख सकते। वहाँ पर उसे एक शिला पर लिटा देते। पुजारियों में से पाँच तो उसके हाथ-पैर जोर से पकड़ लेते और एक उसके पेट में छुरा भोंक देता और तुरंत ही उसका हृदय बाहर निकाल लेता, जिसे पहले तो वह सूर्य को दिखाता और फिर 'टैंज-कैटली-कोपा' की मूर्ति के चरणों में डाल देता। देवता के चरणों पर हृदय-खंड के गिरते ही नीचे खड़े हुए सारे दर्शक झुक-झुककर देवता की वंदना करने लगते। तत्पश्चात् एक पुजारी उठता और लोगों को संसार की निस्सारता पर उपदेश देने लगता। अंत में वह कहता—'भाइयो, देखो, दुनिया कैसी बुरी जगह है। पहले तो सांसारिक बातों में बड़ा सुख मिलता है, जैसे कि इस मनुष्य को मिला था, जो अभी मारा गया है, परंतु अंत में उनसे बड़ा दुःख होता है, जैसा कि इस आदमी को हुआ। सांसारिक सुखों पर कभी भरोसा मत करो, और न उन पर गर्व ही करो।

यह तो इस बलिदान की साधारण रीति थी। बलिदान किए जाने वाले व्यक्ति को बलिदान के समय प्रायः बहुत शारीरिक कष्ट भी पहुँचाया जाता था। उसे लोग शिला पर बिठा देते थे, और खूब पीटते थे। लातों और घूँसों तक ही बात न रहती; लोग तीर और छुरे तक उसके शरीर में चुभोते थे। उसका शरीर लोहू से लदफद हो जाता, और अंत में वह इस यंत्रणा से विह्वल होकर पुजारियों से प्रार्थना करने लगता कि शीघ्र ही प्राण ले लो। बलिदान के लिये चुने गए व्यक्ति के साथियों में से यदि कोई सेनापति या प्रसिद्ध वीर पुरुष होता, तो उस व्यक्ति के साथ थोडी-सी रियायत भी की जाती थी। उसके हाथ में एक ढाल और तलवार दे दी जाती थी। वह उपस्थित लोगों में से एक-एक से लड़ता। यदि वह जीत जाता, तो उसे अपने घर जीवित चले जाने की आज्ञा मिल जाती। हार जाने पर चाहे वह एक दर्जन आदमियों को हराकर ही हारता—उसकी वही गति होती, जो और लोगों की होती थी। जब इस प्रकार का युद्ध होता, तब बलिदान के स्थान में एक गोल पत्थर रख दिया जाता। उसी के चारों ओर घूम-घूमकर बलिदान किया जाने वाला पुरुष लड़ता और दर्शक नीचे खड़े होकर युद्ध देखते।

मेक्सिको वाले इन नरमेध-यज्ञों को अपने मनोरंजनार्थ न करते थे। उनकी धार्मिक पुस्तकों में इस प्रकार के यज्ञों का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। समय आने पर बलिदानों का न होना अशुभ समझा जाता था। कभी-कभी स्त्रियाँ भी बलिदान होती थीं। जब पानी न बरसता, तब छोटे-छोटे बच्चे देवता को भेंट चढ़ाए जाते। पहले इन बच्चों को अच्छे-अच्छे कपड़े पहनाए जाते। फिर उन्हें बहुमूल्य चादर पर लिटाया जाता। इस चादर को पुजारी लोग तानकर उठाए हुए मंदिर में ले जाते। आगे बाजे बजते जाते, पीछे दर्शकों की भीड़ चलती। मंदिर में पहुँचकर बच्चों के गले में मालाएँ पहनाई जातीं, और उनसे कहा जाता कि लो, अब तुम मारे जाते हो। वे बेचारे रोने लगते, परंतु पुजारियों का कठोर हृदय न पसीजता। वे लोग उनके उस समय के रोने को शुभ समझते। बच्चे मार दिए जाते और लोग समझते कि अब पानी अवश्य बरसेगा। पुजारी लोग बलिदान के लिये बच्चों को पहले ही से खरीद लेते थे। जिस बच्चे को कोई पुजारी बलिदान के लिये खरीदना चाहता, उसके बेचने में उसके माता-पिता को

कुछ भी उज्र न होता। वे उलटा अपने को बड़ा भाग्यवान् समझते।

इस प्रकार बलिदान कर दिए जाने वाले मनुष्यों की संख्या भी थोड़ी न होती थी। मेक्सिको देश में ही एक वर्ष में बीस-बीस हज़ार आदमी इस प्रथा की भेंट हो जाते थे। कभी-कभी तो यह संख्या पचास-पचास हजार तक पहुँच जाती थी। फिर यदि कहीं किसी वर्ष राजतिलकोत्सव हुआ, अथवा किसी मंदिर की प्रतिष्ठा हुई, तो फिर क्या कहना है। यह संख्या लाखों तक पहुँच जाती थी। 1486 ईसवी में मेक्सिको के एक नगर में, एक मंदिर की प्रतिष्ठा हुई थी। वर्षों पहले से उसकी प्रतिष्ठा की तैयारी होती रही। दूर-दूर से लोग उसमें बलिदान किए जाने के लिये पकड़ मँगाए गए। जिस दिन इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई, ये लोग दुहरी पंक्ति में दो मील तक बिठाए गए। कई रात और दिन तक इनकी कुरबानी होती रही। एक-एक दिन में सत्तर-सत्तर हज़ार मनुष्य मारे गए। लोग कदाचित इतने आदमियों के, उँगली तक हिलाए बिना, मारे जाने की बात पर विश्वास न करें। परंतु इस बात की सत्यता के प्रमाण केवल उन्हीं पाश्चात्त्य विद्वानों के लेखों से नहीं मिलते, जिन्होंने मेक्सिको की बातों की खोज करके ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी हैं, किंतु मेक्सिको के आदिम निवासी तक इस बात की गवाही देते है। इसके अतिरिक्त वह मंदिर, जिसमें यह महानरमेध-यज्ञ हुआ था, उस समय भी विद्यमान था, जब स्पेन वालों ने मेक्सिको को अपने हस्तगत किया था। जिन लोगो का बलिदान होता था, उनकी खोपडियाँ मंदिर की दीवारों पर खूँटियों से लटका दी जाती थी। उस मंदिर में स्पेन वालो की बहुत-सी खोपड़ियाँ लटकी मिली थी। स्पेन के दो सैनिकों ने उन्हे गिना भी था। कहते हैं कि उनकी संख्या एक लाख छत्तीस हज़ार से अधिक थी। इन आदमियों के इस प्रकार, हाथ-पैर हिलाए बिना, मर जाने का एक बड़ा भारी कारण भी था। वह यह कि उन लोगों को दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार की मृत्यु बहुत अच्छी होती है, और मरने के बाद हमें स्वर्ग और उसके सुख प्राप्त होंगे। इसी से वे अपना बलिदान कराकर बड़ी खुशी से मरते थे।

मेक्सिको वाले हर साल अपने आस-पास के देशों पर चढ़ाई करते थे। दिग्विजय के लिये नहीं, केवल बलिदान के लिये दूसरे देशों के आदमियों को पकड़ लाने के लिये। मेक्सिको के पास 'टेज़कीला' नाम का एक राज्य था। मेक्सिको के राजा और वहाँ के राजा में यह अहदनामा हो गया कि साल में एक खास दिन, एक नियत स्थान पर, दोनों राज्यो की सेनाएँ एक दूसरी से लड़ें। हार-जीत की कोई शर्त न थी। बात थी केवल इतनी ही बलिदान के लिये एक पक्ष दूसरे पक्ष के जितने आदमी ज़बरदस्ती क़ैद कर सके, कर ले जाय। नौबत हाथापाई तक न रही, मार-काट अवश्य होने लगती। संध्या को लड़ाई बंद हो जाती। उस समय दोनों पक्ष वाले एक दूसरे से मित्रों की तरह मिलते, परंतु युद्ध के क़ैदियों की कुछ बात न होती। इन्हीं क़ैदियों का एक-एक करके बलिदान किया जाता। जब उनकी संख्या थोड़ी रह जाती, तब लोग राजा से फिर इसी प्रकार से युद्ध की आज्ञा माँगते।

मेक्सिको वाले नर-मांस-भक्षी भी थे। बलिदान के बाद लाश उस आदमी को

दे दी जाती थी, जो उसे युद्ध से पकड़ लाता था। वह उसे बड़ी प्रसन्नता से अपने घर उठा लाता और बड़े यत्न से पकाता। तब उसके बंधु-बांधव और मित्र एकत्र होते। सब लोग खुशी मनाते, और अंत में वे सब मिल कर उस नर-मांस को बड़ी प्रसन्नता से खाते।

कुछ वीर पुरुष अपने ही मन से अपने को बलिदान के लिये अर्पण कर देते थे। इन लोगों की खोपड़ियों की माला मेक्सिको का बादशाह बड़े प्रेम से पहनकर दरबार या त्योहार के दिन तख़्त पर बैठता था।

[जनवरी, 1913 को 'सरस्वती' में प्रकाशित।
'अद्भुत आलाप' पुस्तक में संकलित।]

मैडेगास्कर-द्वीप के मूल निवासी

संसार में सैकड़ो जंगली जातियाँ वास करती हैं। ऐसा एक भी महादेश, देश या द्वीप न होगा जहाँ कुछ न कुछ जंगली और असभ्य आदमी न रहते हों। हमारे देश में भी ऐसी जातियों की कमी नही। आज भारतवर्ष के बाहर एक जंगली जाति का हाल पाठकों को सुनाते हैं।

अफ़रीका के दक्षिण-पूर्व में मैडेगास्कर नाम का एक द्वीप है। यह द्वीप बहुत बडा है। इसकी चौड़ाई कोई एक सौ मील और लम्बाई तीन सौ मील होगी। यह टापू चारों तरफ घने जगलों से घिरा हुआ है। इसलिए इसमें हिंस्र जन्तुओं की कमी नही। इसके सिवा कोई चालीस पचास प्रकार के बन्दर भी इस टापू में आनन्द से विहार किया करते हैं। प्रकार से यहाँ मतलब जाति से है। सो एक एक जाति के बन्दरों ही की संख्या लाखों होगी। सब जातियों के बन्दरो की संख्या यदि गिनने को मिले तो शायद वह करोड़ों तक पहुँचे। बन्दरो की इन जातियों में एक जाति लेमर्स नाम के बन्दरों की है। इस जाति के बन्दर बड़े ही भयानक होते है। वे वहाँ बड़ी कसरत से पाये जाते है।

मैडेगास्कर मे अनेक जातियों के लोग निवास करते है। उनमे हबशी, अरब और सकालवा मुख्य हैं। ये पिछले, अर्थात् सकालवा जाति ही के लोग, इस टापू के मूल निवासी है। ये लोग मैडेगास्कर टापू के पश्चिमी समुद्र-तट पर अधिक रहते हैं। ये हबशियों ही के सदृश काले होते है। इनकी शरीर-कान्ति सुपक्व जम्बूफल के रंग को भी मात करती है। ये लोग सुदृढ़ और बलवान् भी खूब होते हैं। होना ही चाहिए। निर्बलता और कोमलता तो सभ्यता ही की सगी बहनें है। सभ्यता महारानी के सुराज्य ही में उन्हें आश्रय मिल सकता है, अन्यत्र नहीं। सकालवा जाति के मनुष्यों के बाल लम्बे और घुँघराले होते हैं। आँखें बड़ी—आकर्णनटायत—और गहरी होती है। नथुने भी खूब लम्बे-चौड़े होते हैं।

समुद्र के किनारे रहने वाले सकालवा लोग धीवर अर्थात् मछुओं का काम करते हैं। यही उनका मुख्य व्यवसाय है। मछली खाना उन्हें पसन्द भी बहुत है। जो लोग समुद्र से दूर रहते है और खेती करते है वे भी अपने सजातीय मछुओं से मछली मोल लिए बिना नही रहते। पर बदले में कोई सिक्का न देकर अपनी खेती की उपज, धान या चावल आदि ही देते हैं। नमक भी वे इसी तरह स्वयं उत्पादित धान्य से बदलकर अपना काम निकालते हैं। शराबखोरी, चोरी और लड़ना-भिड़ना इनकी आदत में दाखिल है। प्रत्येक सकालवा अपने पड़ोसी से भी सदा डरता रहता है। वह समझता है, कहीं ऐसा न हो जो धन के लोभ से वह उसे मार डाले या गुलाम बनाकर बेच ले। इस जाति में कहीं कहीं मनुष्यों के खरीद-फ़रोख्त की प्रथा अब तक जारी है।

मैडेगास्कर के इन मूल निवासियों में एक बड़े ही अद्भुत ढग का रणनृत्य होता

है। जब ये आक्रमण, युद्ध, हर्ष-प्रकाशन आदि का आदेश अपने सहयोगियों या साथियों को देते हैं तब एक विचित्र रीति से अंग-संचालन करते हैं; मुँह से कुछ नहीं कहते। इनकी बन्दूकें खूब लम्बी होती हैं। उनके ऊपरी भाग पर काँसे का एक काँटा लगा रहता है। वह शायद शिस्त लेने के लिए लगाया जाता है। नाच के समय ये लोग अपनी अपनी बन्दूक लिये रहते है। उन्हें ये एक हाथ से उछालते और दूसरे हाथ से रोकते है। उछालते समय जो हाथ खाली हो जाता है उससे ये अपने अपने रूमाल हिलाने लगते है।

इस जाति के जो मूल निवासी समुद्र के पूर्वी तट की तरफ रहते है वे प्रायः शान्त और नम्र स्वभाव के है। परन्तु उनके सिर के बाल देख कर डर लगता है। वे सुअर के बालो की तरह सीधे खड़े रहते है। वासस्थान के अनुसार इन लोगो के समुदायों के नाम भिन्न भिन्न प्रकार के होते है। यथा—जंगलों में रहने वाले जंगली, मैदानो में रहने वाले मैदानी और झीलों के किनारे रहने वाले झील वाले कहाते है।

मैडेगास्कर मे जो प्रान्त समुद्र-तट से दूर है वहाँ होवाम नाम की एक जाति रहती है। इस जाति के मनुष्य भी इस टापू के मूल निवासी है। यह राज-जाति है। यही जाति समस्त मूल निवासियो पर शासन करने का गर्व रखती है। वह कहती है, हम राजवंशी है। अतएव शासन का अधिकार हमको छोड़कर और किसी को नही। परन्तु सकालवा लोग इनका शासन नही मानना चाहते। वे कहते हैं—हम चुना दीगरे नेस्त। होवाम होते कौन है? उन्हे राजा बनाया किसने? इस कारण इन दोनों जातियो में सदा झगड़े-बखेड़े हुआ करते है। नृवंश-विद्या के ज्ञाताओं का अनुमान है कि होवाम लोग मलयवंशी है। प्राचीन समय मे कुछ जावा-निवासी मैडेगास्कर में जा बसे थे। ये लोग उन्हीं की सन्तति है। इनका रंग गोरा, क़द नाटा और बदन मोटा होता है। बाल मुलायम और काले होते है। दाढ़ी छोटी और आँखे लाल-लाल होती है। अतएव रूप-रंग और शरीर-संगठन में ये लोग सकालवा जाति के आदमियों से नही मिलते। फिर भला वे लोग इन गोरों का शासन क्यों स्वीकार करें? संसार में गोरों की धींगा-धींगी चलती जरूर है, पर सदा और सर्वत्र नहीं।

सकालवा लोग कोई छः हाथ लम्बा और डेढ हाथ चौडा कपडा कमर में लपेटते हैं। स्त्रियाँ भी ऐसा ही करती है। स्त्री-पुरुष दोनो ही एक सा वस्त्र व्यवहार करते है। याद रहे, इन लोगों ने अपने राजे अलग बना रक्खे है। मलयवंशी जाति के आदमियो के राजा को ये अपना राजा नही मानते। इनके राजा लाल रंग के कपड़े पहनते है। रानियाँ भी इसी रंग के कपड़ो से अपने शरीर की सुन्दरता बढाती है। जब ये घूमने निकलती हैं तब इनके सिर पर लाल ही रंग का एक छत्र लगाया या मुकुट रक्खा जाता है। मार्ग में लोग झुक झुक उन्हे प्रणाम करते और आशीर्वाद देते है—"चिरंजीवी रहें सदा रानी हमारी"।

स्त्रियाँ अपने बाल बहुत कम बाँधती या गूँथती है। बात यह है कि यह काम बड़े परिश्रम और बड़े कष्ट का समझा जाता है। तीन, तीन चार चार घण्टे की लगातार मिहनत से कहीं एक स्त्री के बाल सँवारे, गूँथे और बाँधे जा सकते है। इतना झंझट करे कौन? वर्ष छः महीने बाद हमारी होली दिवाली के त्योहार की तरह, इनके केश-प्रसाधन

का त्योहार भी मना लिया जता है। स्त्रियाँ, प्रसाधन के समय, अपने सिर के बालों को पहले 24 भागों में बाँटती हैं। फिर प्रत्येक भाग को अलग-अलग सँवार कर उसका जूड़ा बनानी हैं। इसी तरह 24 जूड़ों का एक समूह बनाकर और उसे मज़बूती से गूँथ कर लटका लेती हैं। कहीं कहीं जूड़ा न बनाने की भी चाल है। वहाँ समस्त केशपाश की 24 वेणियाँ बनाकर वही सिर के इधर-उधर लटका ली जाती हैं।

सकालवा लोगो का प्रधान खाद्य तो चावल है; पर वे लोग मांसभोजी भी हैं। शाक-सब्ज़ी और चावल के सिवा वे गाय, बैल, सुअर, बकरी आदि का मांस भी खाते हैं। वे दिन में दो दफ़े भोजन करते हैं—दोपहर को और फिर रात बीतने पर। इन लोगों का मेदा चावल अच्छी तरह नहीं हज़म कर सकता। यदि किसी ने ज़रा भी अधिक खा लिया तो पेट चलने लगता है। भोजन करते समय पुत्र के सामने माँ बैठी ही नहीं रहती, वह उसके पेट पर ढीला करके फीते की तरह कपड़े की एक चिट बाँध देती है। खाते खाते बच्चे के पेट से ज्यों ही फीता लग जाता है त्यों ही माँ बच्चे के सामने से खाद्य पदार्थ खींच लेती है। मतलब यह कि बच्चा इतना न खा जाय कि हज़म न कर सके।

सकालवा लोग नास के बड़े शौकीन हैं। वे दिन-रात नास सूँघा नहीं, किन्तु फाँका करते हैं। सब जानते हैं कि हमारे देश में नास सूंघा जाता है। परन्तु सकालवा लोग उसे नाक से नहीं सूँघते। वे उसे मुँह में डालते और धीरे धीरे चूसा करते है। वे बाँस काटकर उसी की नासदानियाँ बनाते हैं।

हम लोगों की तरह सकालवा भी अपने अपने घरो में छप्पर छाते हैं। उनके छप्पर घास के होते हैं। दीवारें लाल मिट्टी की होती हैं। घरों के दरवाँज़े छोटे होते हैं; सीधा खड़ा होकर आदमी घर के भीतर नहीं जा सकता। जब कोई सकालवा किसी और के घर जाता है तब एकदम घुसता नही चला जाता। वह दरवाज़े पर रुक जाता है और खड़े खड़े आवाज देता है—"क्या मैं भीतर आ सकता हूँ?" यह सुनते ही गृहिणी उत्तर देती है—"शुभागमन। आइए।" यह कहती हुई वह बाहर निकल आती है और अभ्यागत को घर के भीतर ले जाती है। वहाँ वह उसे सादर बिठाती और आगमन का कारण इत्यादि पूछती है। ये लोग आतिथ्य करना खूब जानते हैं। अभ्यागतों का दिल कभी नहीं दुखाते।

सकालवा लोग चटाइयाँ बनाने में बड़े पटु हैं। वे उसी पर बैठते और सोते हैं। उनके घर लम्बाई में पन्द्रह बीस गज़ से अधिक नहीं होते। वे बहुत गन्दे रहते हैं। कारण यह कि सोने, बैठने, भोजन बनाने, चीज़-वस्तु रखने और पशु बाँधने के लिए उनमें अलग अलग स्थान नहीं रहते। वहीं, उसी छोटे से घर में, सब काम होते हैं। जहाँ खाना बनाते हैं वहीं सो जाते हैं। जहाँ बैठते उठते हैं वहीं पशु बाँध देते है।

ये लोग शुभाशुभ का बड़ा विचार करते हैं। इन्होंने कुछ दिन शुभ मान रक्खे हैं, कुछ अशुभ। इनका ख़याल है कि अशुभ दिन सन्तानोत्पत्ति होने से वह माता-पिता के लिए क्लेशदायक होती है। अतएव यदि किसी के घर बुरे दिन बच्चा पैदा होता है तो वह तत्काल ही पानी में डुबो कर मार डाला जाता है। पर कहीं कहीं इस रीति में कुछ अपवाद भी है। वहाँ अशुभ दिन में उत्पन्न हुआ बच्चा किसी गाय या बैल के आगे फेंक

दिया जाता है। दैवात् यदि वह पशु बच्चे को नहीं कुचलता तो समझा जाता है कि बच्चा सुलक्षणी है, मार डालने की जरूरत नहीं। तब बच्चे के घर वाले उसे उठा लाते हैं और आनन्द मनाते हैं। यदि पशु ने उसे कुचल दिया और वह मर गया तो माता उसे कपड़े से ढक कर एक नई हाँडी में रख देती है और उस हाँडी को जमीन मे गाड़ देती है।

सुलक्षण-संयुक्त बच्चा जन्म के बाद सातवें दिन घर से बाहर निकाला जाता है। फिर उसे माता-पिता किसी अहीर के यहाँ ले जाते है। अहीर से मतलब उस सकाकवा से है जिसके यहाँ पशु बहुत होते हैं। वहाँ पर अहीर, और कही कही बच्चे का पिता, बच्चे को सम्बोधन करके कहता है—"तुम्हारा व्रत या व्यवसाय गोपालन हो। तुम खूब धनवान् हो। तुम बहुत से बाल-बच्चे वाले हो।" इस रस्म के अदा हो जाने पर, माता-पिता बच्चे को लेकर अपने घर लौट आते है। इसके कुछ ही समय पीछे बच्चे का नाम-करण-संस्कार होता है। बच्चो के नाम उनकी भाषा में, सदा उनकी आकृति के अनुसार, रक्खे जाते हैं। यथा—गौरकाय, श्याम मूर्ति, चिपिटाक्ष, दीर्घनास, लम्बोष्ठ, लोलजिह्व, शूर्प-कर्ण, कम्बुकण्ठ, उन्नतोदर आदि।

सन्तानवती मातायें जब कही बाहर जाती है तब बच्चों को कपड़े से पीठ पर बाँध लेती हैं। कभी कभी ऐसा दृश्य देखने को मिलता है कि स्त्री अपने सिर पर तो जल से भरा हुआ एक बड़ा सा घड़ा रक्खे है और पीठ पर छः सात वर्ष का एक बच्चा भी लादे है। सकालवा जाति के बच्चे अपनी माता से पहले पहल जो शब्द सीखते है उनका अर्थ है कि अपने साथ हमें भी ले चलो।

इन लोगों की स्त्रियाँ, भारतीय स्त्रियों की तरह, कभी बेकार नही बैठतीं। भोजन तैयार करने के बाद या तो वे धान कूटती है या सूत कातती, कपड़ा बुनती, अथवा टोपी, खाट, मचिया, टोकरी आदि बनाती है। कभी कभी खेती के काम में वे अपने पतियों की मदद भी करती हैं।

मैडेगास्कर के मूल निवासी नाचना बहुत पसन्द करते हैं। आमोद-प्रमोद में स्त्री-पुरुष सभी शरीक होते हैं। परन्तु अँगरेजों की तरह वे इकट्ठे नही नाचते। नाचने के समय पैर बहुत नही हिलाते, हाथो का संचालन ही अधिक करते है।

बहुत समय से मैडेगास्कर में स्त्रियाँ ही शासन करती हैं। जिस समय जो रानी होती है उस समय वह अपने लिए एक नया ही राज-भवन निर्म्माण कराती है। राजप्रासाद एक छोटी-सी पहाड़ी पर बनाया जाता है। बनावट में वह साधारण घरो ही की तरह होता है। पर, हाँ, कुछ बडा अवश्य होता है और उसमें कुछ राजसी ठाट के सामान भी होते हैं।

किसी समय इस टापू में मूर्तिपूजा प्रचलित थी। नाना प्रकार की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। उनमें एक मूर्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। उत्सव के दिन लोग उसे लोहे के एक अद्‌भुत वर्म्म किंवा जालीदार वस्त्र से ढक कर जगह जगह घुमाते थे। मूर्ति के आगे आगे एक आदमी, भीड़ को हटाता हुआ, दौड़ता था। सकालवा लोगों का विश्वास था कि मूर्तियों की प्रसन्नता और सन्तुष्टि पर ही देश का मंगल अवलम्बित है।

इस कराल कलिकाल में ईसाई धर्म्म-प्रचारकों को यदि सर्वव्यापक कहें तो भी

कुछ अत्युक्ति नहीं। ये सारे संसार को पुण्यात्मा बनाने और उसे स्वर्ग के सिंहासन पर बिठाने के लिए दिन-रात फ़िक्रमन्द रहते है। अपने देश, अपने प्रान्त, अपने नगर, यहाँ तक कि अपने घर तक में भी प्रभु ईसा मसीह की सुन्दर शिक्षाओं पर चाहे मनों हरताल क्यों न पोता जाता हो, उसकी इन्हें उतनी फ़िक्र नही। उन लोगों को धर्म्मभीरु और धर्म्माचरणरत बनाने की ओर इनका ध्यान उतना नहीं जाता जितना कि एशिया और अफ़रीका के विधर्म्मियों, अतएव पाप-परायणो को धर्म्मनिष्ठ बनाने की ओर जाता है। अतएव इस तरफ़ ऐसा कोई भी देश या टापू नही जहाँ परोपकारव्रत के व्रती पादरियो के क़दम शरीफ़ न पहुँचे हों। इसी सद्बुद्धि की प्रेरणा से, 1820 ईसवी में, मैडेगास्कर में भी कुछ पादरी पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा ने उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। यथा समय उस राजा की मृत्यु हुई। उसके बाद उसकी रानी ने राज्य-भार ग्रहण किया। जिस दिन वह राजासन पर बैठा उसी दिन लोहे के आभरणों से आवृत दो मूर्तियाँ उसके सामने लाई गई। उन पर हाथ रखकर रानी ने कहा—"हम तुम पर विश्वास करती हैं। हमारी रक्षा तुम्हारे ही हाथ है।" इधर इसके पहले ही बहुत से मैडेगास्कर-वासी, ईसाइयो के पेच में पड़कर, ईसाई हो चुके थे। रानी ने उन्हे दण्ड देने का निश्चय किया। किसी को उसने क़ैद कर लिया, किसी को फाँसी दे दी और किसी को जीता ही गड़ा दिया। पर स्वयं रानी ही का एक लड़का, जो ईसाई हो गया था, किसी तरह बच गया।

पूर्वोक्त रानी के मरने पर दूसरी रानी गद्दी पर बैठी। कुछ दिनों बाद, वह खुद ही ईसाइन हो गई। इस कारण उसने राज्य भर मे मुनादी करवा दी कि जितनी मूर्तियाँ है सब तोड़ डाली या जला डाली जायँ। इस आज्ञा का यथासाध्य परिपालन किया गया। फल यह हुआ कि तब से ईसाई धर्म्म ही की तूती वहाँ बोल रही है। इस समय मैडेगास्कर में छोटे-बड़े सौ सवा सौ गिरजे होंगे। अधिकांश सकालवा लोग हजरत ईसा की पवित्र भेड़ो के गल्ले में शामिल हो गये है और सातवें आसमान पर चढ़ा दिये जाने का रास्ता देख रहे है। प्रभो, मसीह, उनकी कामना फलवती कीजियो !

[दिसम्बर, 1923 की 'सरस्वती' में 'श्रीयुत शिवगोपाल मिश्र' नाम से प्रकाशित। 'पुरातत्त्व-प्रसंग' पुस्तक में संकलित।]

मिशमी जाति

'स्टेट्समैन' नामक समाचार पत्र में मिशमी जाति के विषय में एक लेख, कुछ समय पूर्व, निकला था। उसमें मनोरंजन की विशेष सामग्री है। अतएव उसका आशय नीचे प्रकाशित किया जाता है—

पाठक शायद कहेंगे कि यह मिशमी देश कहाँ से कूद पड़ा; इसका तो नाम तक हम लोगों ने नहीं सुना था। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषा-भाषियों में से बहुत कम लोगो ने इस देश या प्रान्त का नाम सुना होगा। अपने प्रान्त से यह है भी बहुत दूर। यह प्रान्त भारत के ठेठ उत्तर-पूर्वी कोने में चीन की सीमा से मिला हुआ है। इसके निवासी अर्द्ध-वन्य हैं और बड़े ही क्रूरकर्म्मा हैं। कई वर्ष हुए, इन बर्बर मिशमियों ने विलियमसन और डाक्टर ग्रेगसन नाम के दो अँगरेज अफ़सरों को जान से मार डाला था। इन लोगों की निवासभूमि आसाम के सदिया प्रान्त के पास है। चीन की सीमा से मिला हुआ होने के कारण मिशमी प्रदेश पर चीन की सरकार की नजर पड़ने लगी। यह बात भारतीय गवर्नमेंट को पसन्द न आई। फल यह हुआ कि उसने अपने अफ़सर भेज कर मिशमियों पर अपना प्रभुत्व जमाना शुरू किया और अपने एक महकमे के द्वारा वहाँ की भूमि की नाप-जोख तक करा डाली। इसी नाप-जोख और देख-भाल के सम्बन्ध मे उसके दो अफ़सर भी मारे गये। पर भारतीय गवर्नमेंट ने मिशमियो को उनकी उद्दण्डता का फल चखा ही कर कल की।

मिशमियों के देश का क्षेत्रफल कोई 3,500 वर्गमील है। भू-मापक विभाग (Survey Department) के कर्म्मचारियो ने वहाँ 15,500 फुट तक की ऊँचाई तक चढ़ कर काम किया है। बर्फ़ से ढके हुए पर्वतो पर हफ़्तों डेरे डालकर वहाँ उन्होंने जमीन की पैमायश की है और वहाँ की रत्ती रत्ती जमीन को छान डाला है। इस काम में, वर्षा और जाड़े की अधिकता के कारण, यद्यपि उन्हें बड़े घोर कष्ट सहने पड़े, तथापि उन्होने अंगीकृत काम को समाप्त करके ही पीछे पैर हटाया।

यह देश अरण्यमय है। प्रायः सर्वत्र ही यह घने जंगलों से आवृत है। सड़कें वहाँ बहुत ही कम है। जो हैं भी वे वहीं हैं जहाँ जंगल घना नहीं। मिशमियों के पास एक-मात्र हथियार है दाँव। उसे वे आवश्यक कामो ही के लिए व्यवहार में लाते हैं। वृक्षों को काट-छाँट कर उन्हें कुण्ठित करना मिशमियो को पसन्द नहीं। अगम्य जगहों में जाने के लिए ये लोग रास्ता नहीं बनाते। इस विषय में ये बिलकुल ही उदासीन हैं। किसी तरह झाड़ियों और कँटीले पेड़ो के बीच से ये निकल जायँगे। पर काट-छाँट न करेंगे। मगर ये पुल बनाना खूब जानते है। इस देश में एक ऐसा पुल है जो कोई सवा सौ गज़ लम्बा है। न उसमें कहीं कील-काँटा ही लगा है और न कहीं तार आदि ही है। सारा काम बेत और बाँस ही से लिया गया है। सभ्यता के सूचक कील-काँटों का यहाँ पता ही नहीं।

उनका प्रवेश ही इस देश में नहीं हुआ। इन लोगों के बनाये हुए पुलों के ऊपर से जानवर नही जा सकते। परन्तु बोझ, चाहे कितना ही वज़नी हो, आराम से और बिला किसी ख़तरे के, लोग उस पर से ले जाते हैं।

मिशमियो के देश मे बाँस की बड़ी अधिकता है। बेत भी खूब होता है। साग-पात और ओषधियाँ भी वहाँ बहुत पैदा होती है। टीटा नाम की एक ओषधि वहाँ होती है। वह बड़े काम आती है। उसका चालान आसाम के सदिया प्रान्त को बहुत होता है। खनिज पदार्थों का वहाँ अभी तक कहीं पता नहीं।

मिशमी लोग क़द में ठिगने होते हैं। इनकी ऊँचाई पाँच फुट चार इंच से शायद ही कभी अधिक होती होगी। पर वे होते बड़े मजबूत हैं। बिला थकावट के वे लोग दूर दूर का सफर कर सकते है। बोझ वे खूब उठाते हैं। इस काम में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही बड़े कुशल होते है। लड़कपन ही से वे लोग भार-वहन की आदत डालते है। स्त्रियों को वहाँ 'गंडु' नाम का रोग तो अवश्य होता है, पर और रोगो का वहाँ प्रायः अभाव ही सा समझिए। ये लोग बहुत कम बीमार पड़ते हैं। मिशमी लोग शौचशुद्धता को आचरणीय धर्म्म नही समझते। इस विषय में उन्हें और पशुओ को सदृश ही समझना चाहिए। अपने घर को तो ये लोग थोड़ा बहुत साफ़ जरूर रखते हैं; पर शरीर की स्वच्छता की ये जरा भी परवा नही करते। चुनाँचे ये कभी नहाते धोते नहीं। इस देश में बारिश खूब होती है। इससे इन लोगों को पानी बरसते समय भी बहुधा बाहर निकलना पड़ता है। इस कारण इनके कपड़ों का मैल, पानी पड़ने से, चाहे भले ही कुछ छूट जाय, पर शरीर को स्वच्छ करने का कष्ट ये कभी न उठावेंगे। इनमें से कुछ लोग तो यहाँ तक समझते हैं कि नहाने से तन्दुरुस्ती ख़राब हो जाती है।

अफ़ीम का प्रचार अभी तक इस देश में नहीं हुआ। पर बोतल-वासिनी देवी ने अपने पादपद्म यहाँ भी पधरा दिये हैं। अतएव शराबनोशी का रवाज चल पड़ा है। पर अभी उसका आधिक्य नहीं हुआ। यहाँ तम्बाकू पीने का आधिक्य अवश्य है। लड़के-बच्चे तक यहाँ तम्बाकू पीते हैं। जिसे देखिए वही थैली में तम्बाकू और हाथ में बाँस की एक नली लिये रहता है। छः छः, सात सात वर्ष की लड़कियाँ तक, बड़ों बूढ़ों के सामने, घड़ी घड़ी बाद, दम लगाया करती है। तम्बाकू पीने की नलियाँ धातु की भी बनती हैं। परन्तु आम तौर पर लकड़ी ही की बनी हुई नलियाँ काम में लाई जाती हैं। वे किसी वृक्ष की जड़ की बनाई जाती हैं।

मिशमी लोग शान्तिप्रिय होते हैं। लड़ना-झगड़ना इन्हें पसन्द नहीं। अपने को ये बहुत रूपवान् समझते हैं। अच्छे कपड़े पहनने के शौकीन होते हैं। रुई के सूत से ये लोग अपने कपड़े अपने ही देश में तैयार कर लेते हैं। पर ऊनी कपड़ों के लिए इन्हें तिब्बत का मुख देखना पड़ता है; वे वहीं से आते हैं। कारण यह है कि इनके देश में भेड़-बकरियाँ नहीं होतीं। मनकों की मालायें ये खूब पहनते हैं। इनकी वेशभूषा और सज-धज देखने लायक़ होती है। दाहने हाथ में माला, बायें कंधे पर दाँव और यदि सौभाग्य से मिल गई तो दाहने कंधे से तलवार लटका करती है। दाहने कंधे से वह थैली भी लटकती है जिसमें ये लोग पीने की तम्बाकू और खाने की एक आध चीज़ सदा रक्खे रहते हैं।

इनकी टोपियाँ बेंत की बनती हैं और देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं। उनसे धूप का भी बचाव होता है और यदि शत्रु तलवार या दाँव का बार करे तो उससे भी रक्षा होती है। बेंत की टोपी बारिश में काम नहीं देती। उस मौसिम के लिए ये लोग केले के पत्तों की टोपियाँ बनाते और लगाते हैं। उनके भीतर पानी नहीं प्रवेश करता। वह ढुलक कर बाहर गिर जाता है। ये टोपियाँ खूब चौड़ी होती हैं। घास का बना हुआ एक उपधान भी ये लोग पीठ पर लटकाये रहते है। वह केवल वर्षा ऋतु ही में काम देता है। उसके भीतर पानी नहीं जा सकता। यह उपधान और टोपी, वर्षा में, मोमजामे का काम देती हैं।

इन लोगों में विवाह-विषयक पूर्वानुराग का रवाज नहीं। प्रीति-सम्पादन यहाँ कोई जानता ही नही। विवाह तो यहाँ एक प्रकार का सौदा समझा जाता है। इन लोगों की अर्थहीनता देखकर यही कहना पड़ता है कि विवाह इनके लिए एक प्रकार का क़ीमती व्यवसाय है। विशेष प्रकार की एक गाड़ी यहाँ होती है। वह 'मिथुन' कहाती है। उसकी क़ीमत कोई 256 रुपये होती है। वैसी चार गाड़ियाँ देने से अच्छी से अच्छी पत्नी मिल सकती है। इतना धन खर्च करने से अमीरी ठाट-बाट का विवाह समझा जाता है। पर कभी कभी सुअर के दो बच्चे ही देने से पत्नी मिल जाती है। मिशमी देश में सुअर के एक बच्चे की क़ीमत अन्दाज़न 15 रुपये समझी जाती है। यहाँ गुलामी की प्रथा भी जारी है।

जो दास या गुलाम जी लगाकर मालिक का काम करता है और खेती-बारी में उसकी यथेष्ट मदद करता है उसके साथ मिशमी लोग बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं। उसे वे बड़े आराम से रखते हैं।

मिशमी लोगों के समुदाय में धर्म्म और मत-मतांतरों का नाम तक नही। ये इन बातो का ज्ञान बिलकुल ही नहीं रखते। परन्तु संसार के अन्यान्य अनार्य्यों की तरह ये लोग भी भूत-प्रेतो में विश्वास रखते हैं। भूत-प्रेतों की ये सदा ही मिन्नत-आरजू करते और उन्हें मनाते-पथाते रहते है। परन्तु इनके मनाने के कोई कोई ढंग बड़े ही अजीब क्या भीषण तक होते हैं। यथा—मृत पति की आत्मा को शान्ति देने या उसे सुखी करने के लिए कभी कभी ये लोग उसकी विधवा पत्नी को ज़मीन में ज़िन्दा ही गाड़ देते है। पर ऐसे भीषण काण्ड बहुत ही विरल होते हैं। यह क्रूर क्रिया तभी होती है जब मिशमी लोग देखते हैं कि विधवा स्त्री बूढ़ी हो गई है अथवा वह बाँझ है। अतएव वह समाज के लिए भार-भूत हो रही है। ऐसे बोझ को ज़मीन में गाड़कर अपने आपको हलका कर लेना बुरा नहीं समझा जाता।

मिशमी लोगों के देश में काहिलों और बूढ़ों के रहने की गुंजायश नही। खूब काम करने वाले चुस्त और चालाक आदमियों ही की गुज़र-बसर हो सकती है, बेकार बैठने वालों की नहीं। एक गाँव में एक बूढ़ा आदमी था। वह कमाता-धमाता न था। अपनी गुज़र-बसर वह आप अपने बूते न कर सकता था। वह दूसरो के लिए भारभूत था। दैवयोग से उसी गाँव में एक रात को दो बच्चे मर गये। बस वहाँ वालों को मन-चीता मौक़ा मिल गया। झट बूढ़े पर यह इल्ज़ाम लगाया गया कि इसी ने टोना-टम्बर

या जादू करके बच्चों की जान ले ली है। कुछ लोग उठे और चुपचाप उस बूढ़े को पास की पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी पर ले गये। इस घटना के बाद फिर उस बेचारे का कुछ भी पता न चला कि वह कहाँ गया। उसकी क्या दशा हुई, यह बताने की ज़रूरत नही। वह तो स्पष्ट ही है।

यदि कोई अन्य देशवासी इन लोगों का फ़ोटो लेना चाहता है तो ये लोग कैमरे को भूत समझ कर मारे डर के काँपने लगते हैं। बस कैमरा निकला कि मिशमी हिरन हो गया।

मिशमी लोग अच्छे शिकारी होते हैं। इनका सबसे प्रधान शस्त्रास्त्र धनुर्बाण है। पुराने ज़माने की तोड़ेदार (Muzzle loading) बन्दूकें भी कहीं कहीं किसी किसी के पास पाई जाती है। परन्तु वे सिर्फ शोभा के लिए हैं। शिकार का काम उनसे नही लिया जाता। बड़े शिकार के लिए ये लोग विषाक्त बाण और छोटे के लिए बाँस के त्रिशूलमुखी बाण और दाँव काम में लाते हैं। कुत्तों की सहायता से भी ये लोग शिकार खेलते हैं।

खेतीबारी के काम में मिशमी लोग निपुण नही। जोतने बोने के लिए जितनी ज़मीन दरकार होती है उतनी पर उगा हुआ जंगल काट डाला जाता है। सूखने पर कटे हुए पेड़ों और झाड़ियों में आग लगा दी जाती है। बस खेती के लिए खेत तैयार किया जाता है। उसी में जो कुछ इन्हें बोना होता है बो देते है।

खाने-पीने अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य का ज़रा भी विचार इन लोगों में नहीं। मेंढक, चूहे, साँप, छिपकली इत्यादि सभी जीव-जन्तु इनकी खूराक हैं।

वनिज-व्यापार का नामो-निशान तक मिशमियों के देश में नही। इन लोगों की आवश्यकतायें बहुत ही कम हैं। अपने ही देश की उपज से इनका काम निकल जाता है। हाँ, तिब्बती आदमियों के साथ कभी कभी कुछ यों ही सा लेन-देन ये लोग कर लेते है। सोने को यहाँ कोई नहीं जानता। पर रुपये को सब लोग पहचानते हैं।

[नवम्बर, 1926 में प्रकाशित। 'पुरातत्व-प्रसंग' मे संकलित।]

कालेपानी के आदिम असभ्य

भारत के अधिकांश मनुष्य अन्दमन-द्वीप का नाम सुनकर यह नही बता सकते कि वह कहाँ है। पर कालेपानी के नाम से वे प्राय: सभी परिचित हैं। गहरे समुद्र का जल कालिमा लिये होता है। इसी से शायद इस द्वीपपुंज को यहाँ वाले कालापानी कहते हैं। इसकी अधिक प्रसिद्धि का कारण यह है कि सख़्त और लम्बी सजा पाये हुए भारतीय या क़ैदी समुद्र-पार इसी द्वीप को भेजे जाते रहे है। वही के जेलों में वे बन्द किये जाते थे। और अब भी वे हजारो की संख्या में वहाँ क़ैद हैं। अब कुछ समय से वहाँ क़ैदियों का जाना बन्द कर दिया गया है। वहाँ के बहुत से क़ैदी भारत को लौटा भी दिये गये हैं। तथापि अब तक वहाँ बहुत से क़ैदी हैं; उनमे से कुछ तो वही बस भी गये है। दक्षिण के बहुत से मोपले उस साल बाग़ी हो गये थे। उनमे से भी बहुत से मोपले, सजा पाने पर वहीं भेजे गये है। अब तो उनकी स्त्रियाँ और बच्चे भी वही भेजे जा रहे है। ये सब लोग वहीं अलग अलग गाँवों मे बस कर मिहनत-मजदूरी और काश्तकारी करेंगे। ये वहाँ बहुत कुछ स्वच्छन्द रहेंगे, पर सीमा के बाहर न जाने पावेंगे। कहने की ज़रूरत नही, अन्दमन-द्वीप मे अँगरेज़ी राज्य है। वहाँ एक चीफ़ कमिश्नर रहता है। वही वहाँ का सर्वोच्च अधिकारी है। सरकार अब इस द्वीप की आबादी बढ़ाकर खेती किसानी वग़ैरह के पेशे की वृद्धि करना चाहती है। ये द्वीप-समूह बंगाले की खाड़ी के दक्षिणी भाग में अवस्थित हैं। वहाँ का प्रधान नगर पोर्ट-ब्लेयर है। वही वहाँ की राजधानी है।

अन्दमन या अन्दमान द्वीप-समूह मे पृथ्वी के बहुत ही प्राचीन निवासियो की जाति के कुछ लोग रहते है। यह जाति लाखो वर्ष की पुरानी है। ये अन्दमनी कहलाते है। ये नेग्रिटो अर्थात् छोटी हबशी जाति के अवशिष्ट मनुष्य है। विद्वानो का ख़याल है कि बहुत प्राचीन काल में, भूतल के अधिकाश भाग मे, इसी जाति के मनुष्यो का निवास था। फिलीपाइन नाम के द्वीपो मे रहने वाली ऐटा और मलय-प्रायद्वीप में रहने वाली सैमांग नामक जाति के लोग अन्दमनियो से बहुत कुछ मिलते-जुलते है। दक्षिण भारत की कोलार नामक जाति के लोगो मे भी नेग्रिटो जाति का कुछ रक्त-सम्बन्ध पाया जाना है। टारेस-मुहाने के पश्चिमी द्वीपों मे भी अन्दमन-द्वीप के आदिम निवासियो की तरह के आचार-व्यवहार देखने में आते है। सम्भव है, कांगो और तस्मानिया के निवासी भी इन्हीं के वशज हों। किन्तु विशुद्ध नेग्रिटो जाति अब केवल अन्दमन-द्वीपो ही में रह गई है। हज़ारो वर्ष बीत जाने पर भी, अब भी, अन्दमनियों में उनके पुराने आचार-व्यवहार वैसे ही पाये जाते हैं। दूसरे देशों और द्वीपों में या तो इन लोगों के वंश का सर्वथा ही नाश हो चुका है या दूसरी जाति के लोगों में इनके मिल जाने से, नीर-क्षीरवत् इनका अब पता ही नहीं चलता। जान पड़ता है, किसी दैविक दुर्घटना के कारण, समुद्र के नीचे

पृथ्वी का बहुत-सा भाग डूब गया। पर इनका निवास-स्थान बच गया। इससे इस जाति के लोग जो अन्य स्थानों में रहते थे वे नष्ट हो गये। पर ये लोग बच गये। किसी समय एशिया, आस्ट्रेलिया आदि देश और द्वीपपुंज सब आपस में संलग्न थे। बीच बीच में पृथ्वी के डूब जाने से इन सबकी स्थिति की वह दशा हुई जिसमें ये आज-कल देखे जाते है।

अन्दमन के आदिम असभ्य मनुष्य खर्वाकृति—बहुत ठिंगने—होते हैं। उन्हें देख कर विदेशियों के मन में कौतूहल उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ऊँचाई में ये लोग 4 फुट 10 इंच से अधिक नहीं होते। स्त्रियों की ऊँचाई पुरुषों से भी तीन चार इंच कम होती है तथा इनका शरीर गठा हुआ और हृष्ट-पुष्ट होता है।

अन्दमनियों का रंग कोयले के सदृश काला, बाल घूंघरवाले और मुख कान्तिमान होता है। पर उन्हें रूपवान् नहीं कह सकते। क्योंकि उनकी नाक चौड़ी और चिपटी, होंठ काले और आँखें उभड़ी हुई होती हैं। भौंहों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए वे उन्हें मुँडा डालते है। पर फल इसका उलटा ही होता है। ये लोग प्रसन्नचित्त, स्वाधीनता के प्रेमी और शिकार के शौकीन होते हैं। अपनी सन्तान के साथ ये बडे प्रेम और बडी दया का व्यवहार करते है। ये बड़े ही सन्तानवत्सल होते है। परन्तु कुछ लोगो का कहना है कि इनमें कृतघ्नता, धोखेबाज़ी और निर्दयता के भी भाव, कभी कभी, कारणवश, उद्दीप्त हो उठते हैं। अपरिचित आदमियों के साथ इनका व्यवहार अच्छा नही होता। ये उन्हें अपना शत्रु समझते हैं और देखते ही उन्हे मार डालने की चेष्टा करते हैं। बहुत पुराने जमाने में यदि कोई जहाज़ इन द्वीपों के किनारे नष्ट हो जाता था तो जहाज़ वालों का पता न चलता था कि वे कहाँ गये और उनका क्या हुआ। अनुमान यह है कि जहाज़ों के अपरिचित आदमियों को अन्दमनी लोग मार डालते थे। इसी से, इस तरह की घटनाओं के बाद, और जहाज़ वाले इन द्वीपों के पास से निकलते ही न थे। वे लोग इन्हें दूर ही से प्रणाम करके निकल जाते थे। कुछ लोगों का ख़याल है कि प्राचीन काल के मलयद्वीपवासी जलचोर इन द्वीपों के निवासियों को ज़बरदस्ती पकड़ ले जाते और उन्हे गुलाम बनाते या बेच डालते थे। इसी से यहाँ वाले अपरिचित जनों के दुश्मन हो गये हैं। परन्तु ये अनुमान कुछ ठीक नहीं जँचते क्योंकि अन्दमनी मनुष्य अपनी जाति के भी अपरिचित आदमियों के साथ बुरा बर्ताव करते हैं। अपरिचितों से वैर-भाव रखना इनका स्वभाव ही सा हो गया है।

अन्दमन-द्वीप के मूल निवासी भिन्न भिन्न समुदायों में बँटे हुए हैं। एक समुदाय के लोग दूसरे समुदाय वालों से बहुत ही कम मिलते-जुलते हैं। यदि कहीं, दैवयोग से, इन लोगों में मुठभेड़ हो जाती है तो ये लड़े बिना नहीं रहते। ये लोग एक ही भाषा से उत्पन्न हुई कई तरह की बोलियाँ बोलते हैं। एक समुदाय के मनुष्य दूसरे समुदाय के मनुष्यों की बोली अच्छी तरह नहीं समझ सकते। इसका कारण परस्पर मिल-जुल कर न रहने के सिवा और कुछ नहीं जान पड़ता।

सभ्य संसार के मनुष्य अन्दमनियों को बहुत समय से जानते है। परन्तु इनके विषय में, कुछ समय पहले तक, हम लोगों का ज्ञान भ्रमात्मक था। सन् 1290 ईसवी

में प्रसिद्ध यात्री मार्को पोलो इन द्वीपों के पास से गुज़रा था। उसने लिखा है कि इन लोगों का सिर मस्तिफ़ कुत्ते के समान बड़ा और पैर बहुत लम्बे होते हैं। पर यह बात ग़लत है। शेक्सपियर के 'ओथेलो' नामक नाटक में ओथेलो ने डेसडेमोना से इन लोगों का जो वर्णन किया है उसमें लिखा है कि ये लोग मनुष्याहारी हैं। परन्तु यह भी मिथ्या है। बात यह है कि अज्ञात या अल्पज्ञान जातियों के विषय में उस समय लोगों को बहुत कम ज्ञान था। वे उनके विषय में इसी तरह की विचित्र विचित्र बातों की कल्पना कर लिया करते थे। इनमें तथ्य का अंश शायद ही कुछ हो। लोगों ने तो यहाँ तक कल्पना कर ली थी कि अन्दमनी लोग मनुष्यों को मार ही नहीं डालते; उन्हें भून कर खा भी जाते है। एक बात अवश्य सच है। वह यह है कि ये लोग अपने कुटुम्बियों की खोपड़ियों तथा अन्य अंगों की हड्डियों को आभूषण के तौर पर पहनते है। यह प्रथा इनमें अब तक जारी है। अतएव, सम्भव है, इनकी ऐसी ही ऐसी प्रथायें देखकर प्राचीन काल के सभ्य मनुष्यों ने यह समझ लिया हो कि ये नर-मांसभोजी है।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, यह खर्वाकार कृष्ण-वर्ण की मनुष्य-जाति बहुत पुरानी है। इसकी उत्पत्ति हुए हज़ारों, नहीं लाखों वर्ष हो चुके होंगे। इनकी भाषा का ठौर ठिकाना नहीं। किसी भी लिपि से ये लोग परिचित नहीं। न ये खेती करना जानते है और न कपड़े बुनना या सीना ही जानते हैं। धातुओं का उपयोग भी इन्हें ज्ञात नहीं। ये लोग रगड़ कर या और किसी तरह आग पैदा करना भी नहीं जानते। दुनिया की असभ्य से भी असभ्य अन्य जातियाँ आग उत्पन्न कर सकती हैं और अपने काम में लाती हैं। पर अन्दमनी लोग आग बनाने के साधनों से नितान्त ही अनभिज्ञ हैं। इसी से जब ये लोग एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तब अधजली लकड़ी अपने साथ ले जाते है। उसी से वे वहाँ जाकर अग्नि जागृत रखते है। ये लोग मुशकिल से दो तक गिनना जानते है। इनमें से विरले ही ऐसे होंगे जो पाँच तक गिनना जानते होंगे। इनकी भाषा में पाँच सबसे बड़ी संख्या समझी जाती है।

अन्दमन द्वीप के मूल निवासी भी आखिर को मनुष्य ही हैं। सभ्यों के बीच रहने से वे अनेक सभ्यतानुमोदित काम कर सकते हैं। चेष्टा करने से वे पढ़-लिख भी सकते हैं। पोर्ट-ब्लेयर में जो गवर्नमेन्ट-हौस है उसमें एक अन्दमनी लैम्प (बत्ती) जलाने के काम पर नौकर है। ये लैम्प बिजली के है। वह आदमी इस काम को बहुत अच्छी तरह कर सकता है। यह बात कुछ समय पूर्व की है। मालूम नही, वह अब भी इस काम पर है या नही। और लोगो की तरह इस अन्दमनी को भी आराम से रहना बहुत पसन्द है। परन्तु सबसे अधिक सुख और आनन्द उसे तब मिलता है जब वह डोंगी पर सवार होकर समुद्र में मछली मारने जाता है अथवा जब वह अपने सजातियों के साथ जातीय नाच में शामिल होता है।

अन्दमनी लोग सभ्य मनुष्यो की बस्ती से दूर भागते है। वे वहाँ अपने मन से कभी नही जाते। बहुत फुसलाने से कभी कभी कोई वहाँ चला जाता है। उसे एक लँगोटी पहना कर वस्ती में लाना पड़ता है। अपने जंगली निवास-स्थलों में ये लोग स्वच्छन्दतापूर्वक नंगे बिचरा करते हैं। स्त्रियाँ अलबत्ते पत्तों का आवरण धारण करती हैं।

कपड़े से उन्हें काम नहीं। बेचारी सीना भी नहीं जानतीं। एक बड़े से पत्ते ही से वे अपनी लज्जा का निवारण कर लेती हैं। इनकी कमर में छाल की एक रस्सी सी बँधी रहती है। उसी के सहारे ये पत्ते को बाँध या लटका लेती है। इस तरह के पत्ते इन्हें सहज ही मिल जाते हैं। न उनके दाम देने पड़ते और न उन्हें सिलाने के लिए किसी दर्जी ही का मुँह ताकना पड़ता है। अन्दमनी स्त्रियाँ छाल का एक और भी आवरण रखती हैं। उसे वे कमर के दाहने बाँयें, अपने कमरबन्द में बाँधकर लटकाये रहती है। इसे वे सिर्फ शोभा के लिए, केवल उत्सवों या त्योहारों के अवसर पर, धारण करती हैं।

अन्दमनी स्त्री और पुरुष दोनों ही एक प्रकार का विलक्षण गोदना गुदवाते हैं। शंख या सीप आदि के तेज़ टुकड़ों से ये अपने हाथ, पैर या शरीर के और अंगो से मांस के छोटे छोटे टुकड़े काट कर फेंक देते हैं। ये टुकड़े एक ही सीध में, थोड़ी थोडी दूर पर काटे जाते हैं। कभी कभी कुछ विशेष आकार के भी मांस-खण्ड काट लिये जाते हैं। ऐसा करने से काटी हुई जगह में घाव हो जाते है। घाव अच्छे हो जाने पर उन जगहों का चमड़ा चिकना और मुलायम हो जाता है। उनके रंग में भी कुछ विशेषता आ जाती है। बस, इसी को वे शोभावर्द्धक समझते हैं। यही उनका गोदना है। घावों की जगह ये लोग रंग वगैरह कुछ नही भरते। रंगों का ज्ञान ही इन्हे नही। वे इनके लिए अप्राप्य भी हैं।

ये लोग बड़े कुशल शिकारी हैं। शिकार ही से ये अपना जीवन-निर्वाह करते है। जंगली सूअरो को ये लोग तीर या भाले से मारते हैं। नदियों के मुहानों में ये टरटल नामक मछली का भी शिकार करते हैं। परन्तु कैसे? तीर कमान से! डोंगी पर ये सवार होते हैं। उसके अगले भाग पर कमान पर तीर चढ़ाकर और अपने शरीर को समतुलावस्था मे रखकर, ये निस्तब्ध खड़े रहते है। बस, जहाँ पानी के भीतर कहीं मछली की झलक इन्हे देख पड़ी, तहाँ तत्काल ही इनके कमान से तीर छूटता और मछली को छेद देता है। मछली के तीर लगते ही ये झट पानी में कूद पड़ते हैं और तीर सहित मछली को पकड़ लाते है। ये लोग बड़े ही अच्छे निशानेबाज है। शायद ही कभी किसी अन्दमनी का निशाना चूकता होगा। ये लोग तैरने में भी बडे दक्ष होते है। मीलों तैरते चले जाते है। कभी थकते ही नहीं।

अन्दमन के मूल निवासी अधिकांश मांसाहारी हैं। सुअर के मांस को तो ये रस-गुल्ला ही समझते हैं। इनका सबसे अधिक भोज्य पदार्थ मछली है। वह इनके लिए सुप्राप्य भी है। कीड़े, मकोड़े और छिपकली आदि को भी ये खा जाते हैं। बेर तथा कुछ अन्य जंगली फल और शहद भी इनका खाद्य है। खाने की चीजों को वे खूब उबालते हैं और गरमागरम ही उड़ा जाते हैं।

अन्दमनी लोगों के पास शस्त्रों की मद में केवल तीर-कमान और भाला ही रहता है। और शस्त्र उन्हें प्राप्य नहीं। चाकू के बदले सीपियों और शंखों के धारदार टुकड़े-मात्र होते हैं। उन्ही से वे काटने और छीलने का काम लेते है। पहले तो वे तीरों के फल की जगह केवल एक नोकदार पैनी लकड़ी ही लगाते थे। पर अब वे लोहे के फल काम में लाने लगे हैं। यह लोहा या लोहे के फल उन्हें भारत के उन लोगों से प्राप्त होते

हैं जो अन्दमन में बस गये हैं। लोगों का पहले ख़याल था कि अन्दमनी असभ्य अपने तीरों को विष में बुझाते हैं। पर यह बात अब मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। हाँ, इनके तीरों के घाव विषाक्त जरूर हो जाते है। इसका कारण यह है कि जानवरों को मारने के बाद उनके मृत शरीर से निकाले हुए तीरों को ये लोग धोते नहीं। वही यदि मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं तो घाव को विषाक्त कर देते हैं। इसी से वह जल्दी अच्छा नहीं होता।

अन्दमनियों की कुछ रीतियाँ बड़ी ही विचित्र हैं। बहुत दिनों के बाद जब दो मित्र आपस में मिलते है तब देर तक ज़ोर जोर से चिल्लाते और आँसू बहाते है। यही उनके हर्ष-प्रकाशन की रीति है। उनको ऐसा करते यदि कोई विदेशी देखे तो उसे यही भासित हो कि इन लोगों पर कोई बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है। जब दो आदमी एक दूसरे से बिदा होते हैं तब वे परस्पर हाथ फूँकते और अपनी भाषा में कहते हैं कि ईश्वर करे तुम्हें कभी साँप न काटे। इनकी वैवाहिक पद्धति भी बड़ी ही विचित्र है। जब इन लोगों की जाति के वृद्ध पुरुषों को मालूम हो जाता है कि कोई युवा और युवती विवाह करना चाहते है तब वे एक नई झोपड़ी बनवा कर उसमें वधू को बिठा देते हैं। फिर कुछ आदमी वर की खोज में बाहर निकलते है। उसके मिल जाने पर वे लोग उससे पूछ-पाछ करते हैं। तब वह बहुत लज्जा और संकोच प्रकट करता है और विवाह करने की अनिच्छा प्रकट करता है। वह जंगल को भाग जाता है। वहाँ से उसके मित्र उसे जबर-दस्ती पकड़ लाते हैं। और वधू की झोंपड़ी के भीतर ले जाकर उसकी गोद मे वर को बिठा देते हैं। यह करके उस जोडी को वे उसी झोपडी में छोड देते है। बस, विवाह-बन्धन पूर्णता को पहुंच जाता है।

ये लोग नाचते खूब हैं। पर स्त्रियों को नाचने की आज्ञा नहीं। केवल पुरुष ही नृत्योत्सव में शरीक होते है। ये लोग हाथ नचा नचा कर कूदते हुए चक्कर काटते है। यही इनका नाच है। नृत्य के समय इनकी स्त्रियाँ पंक्ति बांध कर वहीं बैठ जाती है और अपनी रानों पर हाथ पटक पटक कर ताल देती रहती हैं। इनके नाच मे एक नेता या सूत्रधार होता है। वह, बीच बीच में, अपने पैर की एडी से, लकड़ी के एक ढोलक पर, टकार-शब्द करता जाता है। वह बीच मे रहता है। नर्तक उसी के चारो ओर नाचते हुए चक्कर काटते है। नाचते समय ये लोग मुंह से नाना प्रकार के चित्र-विचित्र शब्द करते रहते हैं। उसी को यदि आप इनका गायन कहना चाहें तो कह सकते है।

अन्दमनियो के धर्म्म का कुछ भी ठौर-ठिकाना नहीं। न तो वे किसी प्रकार की पूजा-अर्चा या प्रार्थना ही करते है और न बलिदान ही देते है। पर ये किसी को ईश्वर जरूर मानते हैं। इनका ख़याल है कि दण्ड देने के लिए वही आँधी चलाता है। समुद्र, वन, नदी आदि को भी ये एक प्रकार के देवता समझते है। उन सबकी अधिष्ठात्री आत्माओं में ये देवत्व की कल्पना करते हैं; परन्तु उनकी पूजा-अर्चा ये नहीं करते। पानी में अपनी परछाईं देखकर ये समझते हैं कि इन्हें अपनी आत्मा दिखाई दे रही है। इनका विश्वास है कि मरने के बाद इनकी आत्मायें किसी अज्ञात जगह में वास करती हैं। परन्तु इनको भावी दण्ड या फल प्राप्ति का विचार कभी सताता या आनन्दित नहीं करता।

लोगों में जितने क़िस्से या कहानियाँ प्रचलित हैं वे सब बहुत पुरानी जान पड़ती हैं। उनसे सूचित होता है कि इनका देश किसी समय समुद्र-गर्भ में निमग्न था। सम्भव है, जैसा कि एक जगह ऊपर लिखा जा चुका है, किसी अज्ञात काल में इनका देश एशिया महाद्वीप से जुड़ा रहा हो और पीछे से समुद्र में डूब गया हो। इनकी कल्पना है कि आग पहले-पहल आकाश से प्राप्त हुई थी। कह नहीं सकते, पर शायद इनकी कहानियाँ किसी ज्वालामुखी पर्वत के स्फोट या बिजली गिरने से सम्बन्ध रखती हों।

अन्दमनियों की जाति एक ऐसी जाति मालूम होती है जिसकी उत्पत्ति का पता न तो किसी इतिहास ही से मिलता है और न कथा-कहानियों ही से, अनुमान किया जा सकता है। इनकी प्राचीनता के मुक़ाबले में ईजिप्टवालों की प्राचीनता अभी कल की जान पड़ती है। अँगरेजी गवर्नमेंट इस जाति को जीवित रखने की बहुत चेष्टा कर रही है। पर उसके प्रयत्न सफल होते नहीं देख पड़ते। क्योंकि इनकी संख्या दिन पर दिन घटती ही चली जा रही है। इस समय इस जाति के मनुष्यों की संख्या दो हज़ार से भी कम ही रह गई है। इन लोगों को बड़ी ही विचित्र बीमारियाँ हो जाती है। वे दवा-पानी से नहीं अच्छी होती। उनमें कुछ ऐसी विशेषता है कि इनके सन्तति कम होती है। विरले ही घरों में बाल-बच्चे दिखाई देते हैं। इनके ह्रास का सबसे बडा कारण यही है। डर है कि सौ दो सौ वर्ष मे इस परम प्राचीन नेग्रिटो-जाति का कहीं अन्त ही न हो जाय।

[दिसम्बर, 1926 की 'सरस्वती' में 'श्रीयुत सर्वसुख शर्म्मा' नाम से प्रकाशित।
'पुरातत्त्व-प्रसंग' में संकलित।]

परिशिष्ट

भारतवर्ष का वैदेशिक संसर्ग

अनेक विद्वानों का मत है कि संसार के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध त्याग देने और संसर्ग न रखने के कारण भारतवर्ष की जो हानि हुई है वह बहुत बड़ी है। इसकी अवनति का यह एक प्रधान कारण है। कोई भी देश अन्य उन्नत देशों के साथ सम्पर्क रक्खे बिना उन्नति नही कर सकता। भारतवर्ष भी इस नियम के बाहर नही। अतएव भारतवासी यदि अवनति के गढ़े से निकल कर उन्नति के शिखर पर चढना चाहते हैं तो उन्हे भी, जापानियों की तरह संसार के सम्पूर्ण सभ्य और उन्नत देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इसी में भारतवर्ष का कल्याण है। जब तक भारतवासी इस ओर ध्यान न देगे तब तक वास्तविक उन्नति होना दुष्कर है। कारण यह है कि ऊँट जब तक पहाड के नीचे नही जाता तब तक वह अपने को सबसे बड़ा समझता है। यही हाल आज-कल भारतवासियों का है। वे कूप-मण्डूक की तरह अपने देश की चहारदीवारी के अन्दर बैठे हुए सदा यही सोचा करते है कि 'हम चुनां दीगरे नेस्त'। परन्तु यह उनकी भूल है। यदि वे अपना घर छोड़कर बाहर निकलें और यूरप के मैदानो की हवा खायें तो उन्हें मालूम हो जाय कि वे कैसी अधःपतित अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं। इसमें उन्हें अपनी अवनति और यूरोपियन जातियों की उन्नति के कारण भी ज्ञात हो जायँगे तथा अवनतिकारक कारणो को त्यागने और उन्नतिकारक उपायों को ग्रहण करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार वैदेशिक संसर्ग से अनेक लाभ हो सकते हैं। यही अनेक विद्वानो का मत है। परन्तु वे उपाय कौन से हैं जिनको अवलम्बन करके भारतवासी विदेशियों से—विशेषकर यूरोपियनो से—सम्बन्ध स्थापित कर सकते है, उनसे शिक्षायें ग्रहण कर सकते हैं और अपनी उन्नति कर सकते हैं? इन बातो का विचार लाला हरदयाल, एम० ए०, अध्यापक, स्टेनफर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका ने 'माडर्न रिव्यू' नाम मासिक पत्र में प्रकाशित अपने एक लेख में अच्छी तरह किया है। उसमें उन्होंने वैदेशिक संसर्ग से लाभ उठाने के जो चार उपायें बताये हैं वे नीचे दिये जाते हैं।

(1) **विदेशी भाषायें सीखना** : अब तक अधिकांश भारतवासी विदेशी भाषाओं में केवल अँगरेज़ी ही सीखते हैं। यद्यपि इससे उन्हें बहुत लाभ हुआ तथापि वह यथेष्ट नहीं। अब अकेले अँगरेज़ी सीखने से काम न चलेगा। देश के नवयुवकों को चाहिए कि अब वे अँगरेजी के साथ साथ जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन, स्पेनिश आदि अन्य यूरोपियन भाषायें भी सीखें। कारण यह कि इन भाषाओं का साहित्य अँगरेज़ी साहित्य की अपेक्षा बहुत बढ़ा चढ़ा है। फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में जैसे उत्तमोत्तम और मौलिक ग्रन्थ

निकलते हैं वैसे अँगरेज़ी में नहीं। अँगरेज़ी में तो अनुवादों की ही अधिकता रहती है। फिर फ्रांस और जर्मनी आदि ने शिल्प तथा विज्ञान में जैसी उन्नति की है वैसी इंगलैंड ने नहीं की। फ्रांस और जर्मनी में जितने अधिक आविष्कार करते है उतने अन्यत्र नही। ये देश संसार की आधुनिक उन्नति की जड़ हैं। इंगलैंड इन देशो से कई बातो में पीछे है। इन देशों को उन्नतिकारक विचारों का केन्द्र कहना चाहिए। अतएव भारतवासी इन देशों में विद्योपार्जन करके बड़ा लाभ उठा सकते हैं। इस काम के लिए आवश्यक है कि वे इन देशो की भाषायें सीखें। अँगरेजो भाषा और साहित्य की सहायता से हम लोग जितनी मानसिक उन्नति कर सकते है उससे कही अधिक उन्नति फ्रेंच और जर्मन भाषा तथा साहित्य की सहायता से कर सकते हैं।

फ्रेंच ऐसी भाषा है जो एक आध देश को छोड़कर यूरोप के सम्पूर्ण देशो में बोली और समझी जा सकती है। टर्की, इजिप्ट और रूस के शिक्षित अधिवासी उसी प्रकार फ्रेंच भाषा का व्यवहार करते हैं जैसे कि शिक्षित भारतवासी अँगरेज़ी का। परन्तु और देशवासी शायद यह समझते है कि अँगरेज़ी के सिवाय संसार में कोई अन्य भाषा ही नहीं। जब कभी कोई भारत सन्तान फ्रांस के रास्ते इंगलैंड को जाते हैं तब उनकी दशा बडी ही करुणाजनक होती है। वे टामस कुक ऐंड सन के आदमियो के हाथ की कठपुतली बने हुए, गूंगों और बहरो की तरह फ्रांस की वीरभूमि को पार कर जाते हैं। वे उस देश का कुछ भी आनन्द नही लूट सकते और न उससे कोई लाभ ही उठा सकते हैं। पर फ्रांस की विद्या और विज्ञान कला और कौशल, उन्नति और सभ्यता तथा समता और स्वाधीनता का क्रीडाक्षेत्र है।

जर्मनी शिल्प और विज्ञान का केन्द्रस्थल है। जर्मन भाषा में इस विषय के सैकड़ो मौलिक और गवेषणापूर्ण ग्रन्थ निकलते रहते हैं। इंगलैंड के बड़े बड़े विश्वविद्यालयों में जो उत्तमोत्तम ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं उनमें से अधिकांश जर्मनी के अनुवाद-मात्र है। इसके सिवा शिल्प-शिक्षा में तो संसार का कोई भी शिक्षित देश जर्मन का मुक़ाबला नही कर सकता। पर शोक है कि हमारे देश के निवासी इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे अँगरेज़ी के रंग में बेतरह रँगे हुए हैं। इंगलिश और इंगलैंड के सिवा वे कुछ जानते ही नहीं। जो महाशय एक बार भी इंगलैंड हो आते हैं वे बड़े भारी नेता समझे जाते है। केवल यही नही कि लोग उन्हें वैसा मानते हैं, किन्तु वे खुद भी अपने को महा-राजनीतिज्ञ और सुधारक मानने लगते है, चाहे वे जानते कुछ भी न हों। हमारे देश वासियों का ख्याल है कि विलायत के आक्सफ़र्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से पढ़कर जो लोग निकलते है वे आधुनिक ज्ञान विज्ञान के बड़े भारी आचार्य्य होते हैं। पर वास्तव मे ऐसा नहीं है। वहाँ पर जिस प्रकार की पढ़ाई होती है उसे हम सच्ची नहीं कह सकते। अतएव यदि हम लोग आधुनिक ज्ञान और विज्ञान की सच्ची शिक्षा प्राप्त करके अपनी वास्तविक उन्नति करना चाहते है तो हमें विद्योपार्जनार्थ पेरिस, बरलिन जनेवा और रोम को जाना चाहिए। इनमें से पेरिस को यदि हम सरस्वती का पीठ-स्थान कहे तो अनुचित नही। आज-कल वहीं विद्या रूपी सूर्य्य का उदय होता है, जिसका प्रकाश धीरे-धीरे सारे सभ्य संसार में फैल जाता है। विक्टर ह्यू गो ने ठीक ही कहा था

कि पेरिस वास्तव में भावी सभ्यता का निर्म्माण-गृह है। अतएव हमारे देश के विद्यार्थियों को चाहिए कि घर ही पर फ्रेंच और जर्मन भाषायें सीख कर इन देशों को जायँ। अब केवल इंगलैंड जाने से विशेष लाभ नहीं। भारतवर्ष के अल्पज्ञ ग्रेजुयटों का यह ख्याल बिल्कुल गलत है कि इंगलैंड ही उन्नति की जननी है। वास्तव में इंगलैंड बड़ा ही फिसड्डी देश है। उन्नति करने की उसकी चाल बहुत ही धीमी और आलसियों की सी है।

अतएव फ्रेंच और जर्मन भाषायें सीखना हम लोगों के लिए बहुत ही लाभदायक है। परन्तु बड़े अफ़सोस की बात है कि ऐसी उपयोगी भाषाओं को न सीख कर हम अपना समय फ़ारसी पढ़ने में व्यर्थ गँवाते हैं। भला आज-कल के समय में फ़ारसी भारतवासियों को क्या लाभ पहुँचा सकती है? विदेश जाने वाले विद्यार्थियों को संस्कृत सीखने की भी कुछ विशेष आवश्यकता नहीं। हाँ, अपनी मातृ-भाषा सीखना सबका परम कर्त्तव्य है। अतएव भारत माता के नवयुवक सपूत यदि अपने देश की उन्नति करना चाहते हैं और उनको यूरोपियन देशों के समकक्ष बनाना चाहते हैं तो उन्हें सब ओर से चित्त उठा कर फ्रेंच और जर्मन सीखना चाहिए। इन्हीं भाषाओं की सहायता से उन्हें उन्नति के रहस्य मालूम होंगे।

(2) **यूरोपियन विश्वविद्यालयों में विद्याध्ययन** : इस प्रकार अपने देश ही में विदेशी भाषायें सीखकर भारतीय विद्यार्थियों को फ्रांस, जर्मनी और स्विट्जरलैंड जाना चाहिए। वहाँ विद्याध्ययन करके वे जितना लाभ उठा सकेंगे उतना इंगलैंड और अमेरिका में नहीं। यही कारण है कि ढेर के ढेर तुर्क, मिसरी, चीनी और जापानी इन देशों के विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाते हैं।

(3) **भारतवासियों के सामाजिक जीवन में सुधार** : जब तक भारतवासी उस तरह जीवन व्यतीत करना न सीखेंगे जिस तरह कि संसार के अन्य लोग व्यतीत करते है तब तक वे न तो संसार का ज्ञान ही प्राप्त कर सकेंगे और न उन्नति ही कर सकेंगे। हम लोग जब यूरोप जाते है तब यूरोपियनो के घरो में अच्छी तरह ठहर सकते हैं। पर जब कोई यूरोपियन भारत मे आता है तब हम उनको अपने घर में नही ठहरा सकते। इसका कारण हमारी पुरानी रीति-नीति है। इस रीति-नीति को बहुत लोग अच्छा समझते है और कहते है कि वह हमारी जातीयता का चिह्न है। पर वास्तव में रस्मोरिवाज हम लोगो की उन्नति में प्रधान बाधक हैं। इनके रहते भारत और यूरोप का सम्बन्ध नही हो सकता। भारतवर्ष के लोगों को चाहिए कि अब वे हरद्वार या जगन्नाथपुरी जाने के बदले यूरोप की तीर्थ यात्रा किया करें। अब देश की चहारदीवारी के भीतर कूपमण्डूकवत् बन्द रहने तथा प्राचीनता की पूजा करते रहने का समय नहीं। संसार के अन्य देश उन्नति की दौड़ में बहुत आगे बढ़ गये है। यदि भारतवासी अपने आलस्य को त्यागकर उनके बराबर पहुँचने की चेष्टा न करेंगे तो कोई दिन आवेगा जब भारत का नाम संसार मे मिट जावेगा। अतएव हम लोगो को चाहिए कि अपनी फिसड्डीपन का अभिमान और पुरानी लकीर पीटने की चाल छोड़ दें और आगे बढ़ी हुई जातियों से मिलजुल कर उन कारणों को जान लें जिनसे वे आगे बढ़ी हैं। यह तभी हो सकता है जब हम

यूरोप जायँ, और वहाँ वालों से खूब घनिष्ठ सम्बन्ध पैदा करें, और उस काम को तीर्थ-यात्रा से बढ़कर पवित्र और महत्त्वपूर्ण समझें। जापानियों की उन्नति भी इसी प्रकार हुई है। उन्होंने जिन प्राचीन रीतियों को हानिकारक समझा उन्हें तुरन्त त्याग दिया और लाभदायक नई रीतियों के ग्रहण करने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। पुरानी सभ्यता के गन्दे कपड़ों को उतार कर और नई सभ्यता के स्वच्छ और सुन्दर वस्त्रों को धारण करके जापानियों ने यूरोपियनों से मेलजोल बढ़ाया। इस प्रकार वे धीरे-धीरे उन्नति के शिखर पर पहुँच गए। अतएव यदि हमारे देशवासी भी जापान का सा सम्मान पाना चाहते हैं तो उनको भी उन्हीं उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिन्हें जापानियों ने किया था। बिना पुरानी हानिकारक रीतियों को त्यागे और यूरोपियनों से मेलजोल बढ़ाये भारत की उन्नति नहीं हो सकती।

(4) **समाज-तत्त्व की शिक्षा** : हमारे देश की उन्नति के लिए यह बहुत आवश्यक है कि लोग आधुनिक काल के सामाजिक आदर्शों और, आन्दोलनों का ज्ञान प्राप्त करें। हमारे देशवासी अध्यात्म विद्या और धर्म्म-शास्त्र में तो बड़े निपुण हैं; पर समाज-तत्त्व के विषय में वे कुछ नहीं जानते। उन्हें जानना चाहिए कि अब आध्यात्मिक और धार्म्मिक झगड़े का समय नहीं रहा। अब हमें उन उन्नतिशील और गम्भीर भावपूर्ण विचारों का अध्ययन करना चाहिये जो वर्तमान सभ्य संसार में बड़े वेग से अपना काम कर रहे है। ये विचार ही भारत के उस रोग के लिए ओषधि का काम करेंगे जो उसे दिन पर दिन दुर्बल और दीन हीन बना रहे हैं। भारतवर्ष उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि वह यूरोपियन शिक्षा को पूर्ण रूप से ग्रहण न कर लेगा। अतएव प्रत्येक भारत-संतान का यह परम कर्त्तव्य है कि वह पुराने विचारों और रीतियों को त्याग कर नवीन विचारों और रीतियों को ग्रहण करे। इसी में देश का कल्याण है।

महाशय हरदयाल जी के बताये हुए यही चार अनमोल उपाय हैं।

[जुलाई, 1913 को 'सरस्वती' में प्रकाशित। 'अतीत-स्मृति' में संकलित।]

यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें

एक समय था जब बहुत लोग कहा करते थे कि अजी इस देश के अच्छे दिन गये। अब तो कलजुग है। इस युग में सब लोगों की दिन पर दिन ऐसी ही निकृष्ट दशा होनी जायगी और अन्त में सब लोगों का नाश हो जायगा—यह प्रारब्ध-गति किसी के टाले नहीं टल सकती—व्यर्थ प्रयत्न करने से क्या लाभ होगा? इसमें सन्देह नही कि यह ह्रासकल्पना बहुत प्राचीन समय से इस देश में चली आ रही है। इस ह्रासकल्पना या निराशावाद ही ने बहुतों को कट्टर प्रारब्धवादी बना दिया है। परन्तु अब जमाना धीरे धीरे बदल रहा है। यद्यपि निराशावादियों का दल अब तक जोर पकड़े हुए है, तथापि आशावादियों की संख्या भी सन्तोषदायक रीति से बढ़ती जा रही है। पश्चिमी विद्या से जिन लोगों का मन सुसंस्कृत हो गया है, जिन लोगों ने दुनिया के इतिहास की घटनाओं पर स्वतन्त्र रीति से कुछ विचार किया है और जिन लोगो ने अपने ही जीवन-काल मे यह देखा है कि कई देश अवनत होने के बदले दिन पर दिन उन्नत हो रहे है, उन लोगो ने उक्त निराशावाद या ह्रासकल्पना का एकदम त्याग कर दिया है। ऐसे लोगों के हृदय उन्नति की आशा से भर गये हैं। उन्हीं लोगों की जागृति से अब इस देश में यह इच्छा प्रकट रूप से देख पड़ रही है कि हमारी भी उन्नति होनी चाहिए—अब हम इस निकृष्ट दशा में बहुत समय तक पड़े रहना नहीं चाहते।

युगपरम्परागत ह्रासकल्पना के शिथिल होने और आशा तथा जागृतियुक्त उन्नतिवाद के उत्पन्न होने से हम लोगों को अवश्य ही आनन्दित होना चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि इतने ही से हमारा काम नही हो सकता। इस विचार-परिवर्तन के साथ साथ यह जान लेना भी आवश्यक है कि किसी देश या समाज या जाति की उन्नति होने के लिए लोगों में कौन कौन से गुण होने चाहिए। इस बात की शिक्षा यूरोप के इतिहास से मिल सकती है। क्योंकि उस इतिहास के पढ़ने से देशोन्नति के क्रम का जो यथार्थ बोध होता है वह अन्य इतिहासों से नहीं होता।

जिन ऐतिहासिक बातों का विवेचन इस लेख में किया जाने वाला है वे कोई नई बातें नहीं हैं; क्योंकि प्रायः सभी स्कूलों और कालेजों में इतिहास के अनेक ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं और सभी साक्षर लोगों को इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रोम, ग्रीस आदि देशों की कुछ न कुछ बातें मालूम ही हैं। ईश्वरीय नियम और कालचक्र की गति के अनुसार जब से इस देश में अँगरेज़ी राजसत्ता स्थापित हुई है और इस देश के युवकों को पश्चिमी शिक्षा मिलने लगी है तब से हमारे देश-भाइयों का ध्यान दुनिया भर की ऐतिहासिक बातों की ओर विशेष रीति से आकृष्ट होने लग गया है। छात्रावस्था में इतिहास पढ़ने का केवल यही उद्देश रहता है कि किसी प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायँ। परीक्षा पास करके प्रत्येक मनुष्य पेट भरने के किसी व्यवसाय में लग जाता है

और जीवन-कलह की घुड़दौड़ में इतिहास की शिक्षादायक बातों को भूल जाता है। उन्हें भूलना न चाहिए; उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। यद्यपि इस लेख में इतिहास के उपयोग और महत्त्व की चर्चा करने के लिए स्थान नही है तथापि इस बात की सूचना आरम्भ में दे देनी चाहिए कि मनुष्य जाति की उन्नति के लिए इतिहास के समान और कोई शिक्षक नहीं है।

यूरोष के इतिहास में, अति प्राचीन समय में, विद्या, कला-कुशलता, समाज-व्यवस्था, राज्यप्रबन्ध आदि बातों में ग्रीस देश ने सब से पहले उन्नति की। इसलिए पहले उसी देश के विषय में कुछ लिखा जाता है।

[1]
ग्रीस

यदि इस देश की तुलना हिन्दुस्तान के साथ की जाय तो मालूम होगा कि इन देशों में बहुत कुछ साम्य है। जिस तरह ग्रीस में अनेक छोटे रजवाड़े (संस्थान, रियासतें, States) थे, उसी तरह हमारे विस्तीर्ण भरतखण्ड में भी अनेक छोटे बड़े राज्य थे और अब भी है। जैसे उस देश में मूल भाषा यूनानी, अर्थात् ग्रीक, थी और स्थानभेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रान्तो मे उसके अनेक भेद हो गये थे, वैसे ही इस देश में मूल भाषा संस्कृत थी और स्थानभेद के अनुसार भिन्न भिन्न प्रान्तों में अनेक भाषायें प्रचलित हो गई हैं। ग्रीस देश के निवासी काव्यादि कलाओ में और अध्यात्म-तत्त्व-विचार में अपनी बुद्धि के प्रभाव से जैसे महत् पद पर आरूढ़ हुए, वैसे ही हमारे देश के प्राचीन ऋषि, मुनि और कविगण अनेक विद्याओं, कलाओं और तत्त्व-विचार में निपुण हो गये हैं।

ग्रीक लोग अपनी बुद्धिमानी और पराक्रम के बल पर बहुत समय तक वैभव की चोटी पर चढ़े रहे, परन्तु भिन्न भिन्न रियासतो के पारस्परिक कलह के कारण उन लोगों की ऐसी दुर्दशा हो गई कि लगभग दो हजार वर्ष तक ग्रीस देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और उनका सारा प्राचीन वैभव चला गया। ठीक यही दशा हमारे देश की भी हुई है। यहाँ भी बड़े बड़े राज्य स्थापित हुए। उनके वैभव ने इस देश के प्राचीन इतिहास को सर्वमान्य बना दिया है। परन्तु आपस की फूट से उसका सारा ऐश्वर्य्य नष्ट हो गया। हमारा कर्तव्य अब यह है कि ब्रिटिश राजसत्ता के अधीन रहते हुए हम अपनी उन्नति करें। क्योंकि अँगरेजी राज्य में हमारे लिए उन्नति के सभी साधन मौजूद है।

ग्रीस देश के प्राचीन इतिहास से एक बात यह सिद्ध होती है कि जिस देश के निवासियों में स्वाभाविक एकता होती है वह सचमुच भाग्यवान् समझा जाता है। यद्यपि यह बात सभी देशों में नही पाई जाती तथापि कुछ कम भाग्य की बात नहीं है कि जब किसी देश पर साधारण संकट आ जाय तब सब लोग अपने आपस के कलह का त्याग करके उस संकट को दूर करने के लिए मिलकर काम करें। इस प्रकार की एकता ग्रीस देश के उन रजवाड़ों में पाई जाती है जो हमेशा आपस की लड़ाई में लगे रहते थे। एक

समय फ़ारिस के राजा ज़रज़ीस ने ग्रीस पर चढ़ाई की। उसके साथ 1200 जहाज़ी बेड़े और 3000 माल ढोने वाले जहाज़ थे। सैनिकों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनकी गिनती नहीं की जा सकी। वे लोग बराबर सात दिन और सात रात पुल पर से पार होते रहे थे। जरज़ीस के सेनासमुद्र का यह भयानक प्रवाह यदि ठीक समय पर रोका न जाता तो ग्रीस जैसे छोटे से देश का आज दुनिया में कहीं पता भी न लगता। यद्यपि हमेशा आथेन्स और स्पार्टा नामक ग्रीस के दो धुरन्धर राज्यों में आपस का कलह जारी था, तथापि अपने देश पर यह संकट आया देखकर वे एकत्र हो गये। आथेन्स के राज-कर्त्ताओं और सरदारों ने स्पार्टा के राजा लियोनिडास को अपनी सम्मिलित सेना का मुखिया बनाने में असीम देश-भक्ति का परिचय दिया। लियोनिडास और उसके साथियों ने अपने देश की रक्षा के लिए कैसे प्राण त्याग किया, आथेन्स के थेमिस्टाक्लिस और अरिस्टायडिस जैसे राजनीतिनिपुण पुरुषों ने स्पार्टा के सुप्रसिद्ध एडमिरल युरिबायडिस की सहायता से शत्रु के जहाज़ों का कैसे नाश किया और अन्त में जरज़ीस हार खाकर अपने देश को कैसे लौट गया—इन सब बातों का वर्णन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं। लिखने का तात्पर्य यही है कि उस समय के शूर, राजनीतिनिपुण और स्वदेशभक्त लोगों ने परस्पर कलह को भुलाकर अपने देश की रक्षा कर ली।

परमेश्वर की कृपा से हमारे देश में प्रबल पराक्रमी अँगरेज जाति की सत्ता है। इस कारण किसी प्रकार के बाहरी संकट का भय नहीं। तथापि हमारे यहाँ आन्तरिक विघ्नों की कमी नहीं है। यदि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहने वाले, भिन्न भाषा भाषी, भिन्न धर्म-रीति और रिवाज का अनुसरण करने वाले हमारे हिन्दुस्तानी भाई ग्रीस देश के इतिहास से जागृत होकर आन्तरिक विघ्नों को हटाने का यत्न करें—पारस्परिक भेद-भाव का त्याग करके स्वदेशाभिमानपूर्वक एकता की वृद्धि करने का यत्न करें—तो हमारी बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

रोम

अब रोम के इतिहास की बात सुनिए। इटली देश के रोम नामक शहर में रहने वालों को रोमन कहते थे। इन लोगों ने अपनी शूरता, धीरज, पराक्रम और स्वदेशभक्ति से अपने शहर में प्रजासत्ताक राज्य स्थापित किया। धीरे धीरे इस छोटे से प्रजासत्ताक राज्य का विस्तार इतना बढ़ा कि उसने इटली देश की अन्य सारी रियासतों को जीत लिया और प्रायः सारे यूरोप में, अफ़्रीका के उत्तर तथा एशिया के पश्चिम भाग में भी, अपनी सत्ता स्थापित की। धर्म्म, न्याय और राजप्रबन्ध के विषय में रोमन लोग यूरोपियन राष्ट्रों के मार्गदर्शक तथा शिक्षक कहे जाते हैं। उनके अभ्युदय तथा पतन का इतिहास केवल हमारे लिए ही नहीं, किन्तु सारी मानव-जाति के लिए शिक्षा से भरा हुआ है। जिन अनेक कारणों से उनके प्रजासत्ताक राज्य की उन्नति हुई उनमें से सिर्फ़ दो बातों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

पहली बात—रोमन लोगों में 'श्रेष्ठ' और 'कनिष्ठ' ऐसे दो भेद बहुत प्राचीन

समय से चले आ रहे थे। पहले पहल सब प्रकार के अधिकार और सब प्रकार की स्वाधीनता श्रेष्ठ जाति ही के लोगों को प्राप्त थी। कनिष्ठ जाति के लोगों को न तो किसी प्रकार की स्वाधीनता दी गई थी और न वे किसी अधिकार के योग्य ही समझे जाते थे। इन दोनों में विवाह आदि सम्बन्ध भी न होता था। इस कारण उनमें सदा फूट और कलह हुआ करता था। जब अड़ोस पड़ोस के कोई रजवाड़े रोमन लोगों पर हमला करते तब शत्रु के साथ युद्ध करने के लिए कनिष्ठ जाति के लोग श्रेष्ठ लोगों में कभी शामिल न होते थे। उनका कथन यह था कि जब श्रेष्ठ लोग हमको अपने समान हक़ और स्वतन्त्रता देंगे तभी हम उन्हीं लोगों में शामिल होंगे। इस पर श्रेष्ठ आति के कुछ दूरदर्शी तथा विचारवान् लोगों ने अपने कनिष्ठ भाइयों का कहना मान लिया। स्वदेशहित की रक्षा के लिए उन लोगों ने अपनी जाति की श्रेष्ठता का वृथा अभिमान छोड़ दिया और कनिष्ठ जाति के लोगों को अपने समान हक़ दे दिये। ज्यों ही 'श्रेष्ठ' और 'कनिष्ठ' ये कृत्रिम भेद नष्ट हो गये त्यों ही रोम शहर के निवासी 'रोमन' नाम से पुकारे जाने लगे। उन लोगों की इस एकत्र शक्ति ने जादू का सा चमत्कार दिखाया। अल्प समय ही में रोम का साम्राज्य सारी दुनिया में फैल गया। इतिहासकारों ने उसको 'Mistress of the World' नाम की बहुसमान-सूचक पदवी से विभूषित किया है।

अच्छा, अब देखिए, हम लोगों में 'श्रेष्ठ' और 'कनिष्ठ' जाति-भेद हैं। क्या हम लोगों में इस जातिभेद के कारण फूट और कलह नहीं? क्या यह हानिकारक जातिभेद हमारे देश की उन्नति में विघ्न नहीं उपस्थित कर रहा? यदि कर रहा है तो 'श्रेष्ठ' कहलाने वाली जाति के नेताओं को, रोमन श्रेष्ठ जाति के लोगों का अनुकरण करके और स्वदेशहित की ओर ध्यान देकर, 'कनिष्ठ' कहलाने वाली जाति के सब लोगों को उदार-भाव से अपने में में मिला लेने की श्रेष्ठता दिखानी चाहिए। जाति की श्रेष्ठता और कनिष्ठता के सूचक कृत्रिम तथा हानिकारक भेदों का नाश होने ही से हमारा कल्याण होगा। यह ऐसी बात है कि इस पर और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

दूसरी बात—जब कभी रोमन प्रजासत्ताक राज्य पर कोई संकट आता था तब रोम के राजकर्त्ता तथा नीति-निपुण जन ऐसे मनुष्य को अपना नायक बनाते थे जो अपने गुणों के कारण और सब लोगों से अधिक श्रेष्ठ हो। वे लोग इस बात की परवा न करते थे कि वह मनुष्य किस जाति या दर्जे का है। किसी को सारे राज्य का नायक बनाने के लिए केवल स्वदेशहित ही की ओर ध्यान दिया जाता था। ज्यों ही ऐसे मनुष्य का चुनाव होता त्यों ही वह अपने घर का निजी काम छोड़ देता और अपनी मातृभूमि की सेवा करने को रोम शहर में जा पहुँचता। वहाँ प्रजा की ओर से जो अधिकार उसको दिया जाता उसका वह आनन्दपूर्वक स्वीकार करता और अपनी चतुरता तथा पराक्रम से देश पर आये हुए संकट का निवारण करता। ज्यों ही विजयी होकर अपना काम कर चुकता त्यों ही प्रजा-जनों से पाये हुए अपने सब अधिकार और ऊँचे पद का वह सन्तोषपूर्वक त्याग कर देता। इस प्रकार संकट के समय, अपने देश की सेवा करके, बड़े बड़े रोमन सरदार अपने गाँव को लौट जाते और फिर अपने घर के निजी कामों में—खेती करने या हल चलाने में—निरभिमानता से निमग्न हो जाते। वे लोग स्वपराक्रम से सम्पादित

की हुई कीर्त्ति, सम्पत्ति, ऐश्वर्य्य या वैभव की रत्ती भर भी अभिलाषा न करते थे। ऐसे ही निरभिमानी, स्वार्थ-रहित और देशहितचिन्तक सत्पुरुषों के कारण रोम का प्रजासत्ताक राज्य उन्नति की चोटी पर जा पहुँचा था।

हमारा आधुनिक इतिहास गवाही देता है कि बुरा समय आने पर हमारे देश के अनेक स्वार्थी और लोभी सरदारों तथा कार्यकर्त्ताओं ने केवल अपने ही क्षुद्र लाभ की ओर ध्यान दिया है। इसका जो परिणाम हुआ है वह विचारशील पाठकों पर विदित ही है। इतिहास बता रहा है कि जब कोई पुरुष किसी अधिकार-पद पर आरूढ़ हुआ तब उसने देशहित को एक ओर रखकर प्रायः स्वार्थसाधन और अभिमानप्रदर्शन ही को अपना कर्तव्य समझा। परन्तु स्मरण रहे कि जब तक देशोन्नति करने वाले हमारे भाइयों में रोमन लोगो के समान निःस्वार्थ महात्मा प्रकट न होंगे तब तक देशहित का कोई कार्य्य सफल न होगा। देशोन्नति का मुख्य बीज स्वार्थत्याग ही है।

[2]

विद्या का पुनरुज्जीवन

यूरोप के इतिहास से एक और भी महत्त्वपूर्ण बात जानी जाती है। वह विद्या का पुनरुज्जीवन है। जब तक ईसाई धर्म के प्रचारकों ने, केवल पारमार्थिक बुद्धि और लोककल्याण की इच्छा से, अपने धर्म्म के विशुद्ध तत्त्वों का प्रसार किया तब तक जन-समाज पर अत्यन्त हितदायक परिणाम हुआ। परन्तु आगे चलकर धर्म्मोपदेशको के हृदय में स्वार्थ ने प्रवेश किया और मुख्य मुख्य मठाधिपतियो के मन में महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न हुई। तब उन लोगों का ध्यान पारमार्थिक बोध करने तथा लोकहित-सम्पादन करने से हट गया। वे लोग स्वयं अपने अधिकार, अपनी सत्ता, अपने वैभव और अपने ऐश्वर्य्य की प्राप्ति का उपाय सोचने लगे—अनेक उपायों से वे अपनी ही सत्ता की वृद्धि का यत्न करने लगे तभी से यूरोप में सत्य ज्ञान के प्रसार का प्रवाह बन्द होने लगा और अज्ञान का अँधेरा छाने लगा। धर्म्म और नीति के पारमार्थिक स्वरूप का विस्मरण होने लगा और केवल तान्त्रिक धर्म्म तथा आडम्बर प्रबल होने लगा। सद्धर्म्म और सद्विचार की शिथिलता होते ही स्वाधीनता की वृद्धि रुक गई और उदात्त तत्त्व तथा उदार आचरण के बदले केवल बाहरी दम्भ को मान मिलने लगा। इस प्रकार लगभग दस शतकों तक अज्ञान-रूप घोर अन्धकार ने सारे यूरोप को आच्छादित कर लिया था।

यही दशा हमारे देश की भी हुई है। परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध न होने के कारण प्राणि-हिंसामिश्रित यज्ञयागादि कर्म्मों की बहुत समय तक प्रबलता रही। जब वेदान्त, बौद्ध तथा भागवत मतों के द्वारा धर्म्म का संशोधन किया जाने लगा तब हमारे धर्म्मप्रचारकों ने, ब्राह्मणों के महत्त्व की रक्षा करने के लिए, केवल बाह्य तथा तान्त्रिक धर्म्माचारों भी स्थापना करके विशुद्ध ज्ञान-प्रतिपादक मतों को पीछे हटा दिया और अज्ञान का साम्राज्य स्थिर कर दिया। इसका यह परिणाम हुआ कि धर्म्म, नीति

और ईश्वर के सम्बन्ध में लोगों की बुद्धि अनेक प्रकार की भ्रमोत्पादक कल्पनाओं से आच्छादित हो गई। जिस देश के परोपकारी ऋषियों और मुनियों ने धर्म्म, नीति और ईश्वर के सम्बन्ध में सारी दुनिया को चकित करने वाले सिद्धान्त निर्म्माण किये उसी देश में इधर सैकड़ों वर्ष से अविद्या और अज्ञान का साम्राज्य फैला हुआ देखकर किस विचारशील मनुष्य का हृदय खेद और शोक से कम्पित न होगा ?

पन्द्रहवीं सदी में पूर्वी यूरोप में राज्य-क्रान्ति हुई और वहाँ, रोमन राज्य के जीर्ण, जर्जर तथा आपद्ग्रस्त हो जाने के कारण, तुर्क लोगों ने अपनी सत्ता स्थापित की। तुर्की शासनकर्त्ताओं के हृदय में ग्रीस या रोम की प्राचीन विद्या के सम्बन्ध में कुछ सहानुभूति न थी। सिर्फ़ इतना ही नही, किन्तु उनके शासन-समय में प्राचीन विद्याभिमानी पण्डितों को बहुत कष्ट सहना पड़ा। तुर्की शासन के पहले, पूर्वी यूरोप में, ग्रीस और रोम की प्राचीन विद्या किसी प्रकार जीवित थी; परन्तु अब वहाँ भी सुरक्षित न रह सकी। अतएव उस विद्या की रक्षा करने वाले पण्डित, अपनी विद्या और प्राचीन ग्रन्थ लेकर, यूरोप के मध्य, दक्षिण और पश्चिम भागो में चले गये। वहाँ कुछ विद्वानो और राज-पुरुषों ने उन लोगो का सत्कार किया और प्राचीन विद्या को अपना उदार आश्रय दिया। उस समय सूक्ष्म विचार करने वाले ज्ञानवान् जनों को यह बात भली भाँति विदित हो गई कि प्राचीन समय में विद्या की बहुत उन्नति की गई थी और जब तक धर्म्म के नाम पर कृत्रिम बन्धन न उत्पन्न हुए थे तब तक उस विद्या की उन्नति बराबर जारी रही। यह विश्वास दृढ़ होते ही वे लोग प्रचलित धर्म्म-बन्धनों को शिथिल करने, सर्वसाधारण लोगों की बुद्धि की स्वाधीनता को पुन: उत्तेजित करने और अनेक सदियों के संचित अज्ञान का नाश करके यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने का भगीरथ-यत्न करने लगे। इसी यत्न को यूरोप के इतिहास में विद्या का पुनरुज्जीवन कहते हैं। इस यत्न का आरम्भ होते ही यूरोप भर के विचारवान् लोगों के हृदय में यथार्थ ज्ञान प्रकाशित होने लगा और विद्या-प्राप्ति की जिज्ञासा शीघ्रता से बढ़ने लगी। प्राचीन विद्या का सारा ज्ञानभाण्डार ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओं के ग्रन्थों में भरा पड़ा था, जो साधारण लोगों को बड़ी कठिनाई से हस्तगत हो सकता था। इसलिए लोगों की बढ़ती हुई जिज्ञासा की तृप्ति के लिए प्राचीन ग्रन्थों में भरा हुआ सारा ज्ञानभाण्डार प्रचलित देशी भाषाओं के द्वारा खुले हाथ लुटाया जाने लगा। ज्यों ही प्राचीन दर्शन-शास्त्र, तत्त्वविचार, नीति, न्याय, साहित्य, काव्य और इतिहास के ग्रन्थों के साथ साथ धर्म्म-ग्रन्थों के अनुवाद देशी भाषाओ में प्रकाशित होने लगे त्यों ही प्राचीन विद्या के इने-गिने कोरे अभिमानियों, और केवल स्वार्थ तथा सत्ता के बल पर कृत्रिम धर्म्मबन्धनों की रक्षा करने वाले धर्म्मोपदेशकों, की पोल खुल गई। विचारशक्ति की स्वाधीनता पूर्ण रीति से जागृत हो गई और यूरोप के सर्वसाधारण लोग मुट्ठी भर सत्ताधिकारियों के कृत्रिम दासत्व से उकता गये। विद्या का यह पुनरुज्जीवन ही यूरोप के धार्म्मिक परिवर्तन और राज्य-क्रान्ति का आदि-कारण है।

हिन्दुस्तान के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास की ओर देखने से बोध होता है कि यहाँ भी विद्या के पुनरुज्जीवन का यत्न गत तीन चार सौ वर्षों से हो रहा है। इस देश

की प्राचीन विद्या बहुत समय तक संस्कृत भाषा तथा उस भाषा के जानने वाले कुछ पण्डितों ही के अधीन बनी रही। ईश्वर, धर्म्म, नीति, न्याय, लोकव्यवहार, राज्यपद्धति इत्यादि विषयों की बातें एक विशिष्ट जाति के ही कब्जे में रही। इसका परिणाम वही हुआ जो यूरोप में हुआ था—अर्थात् सर्वसाधारण लोगों की स्वतन्त्र विचारशक्ति नष्ट हो गई। वे लोग परम्परागत कृत्रिम कल्पना-जाल में फँस गये। देश की यह निकृष्ट दशा देखकर विचारशील, अनुभवी और ज्ञानवान् साधु-सन्तो को दया आई और सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, ज्ञानदेव, एकनाथ, रामदास, तुकाराम, नानक, चैतन्य आदि महानुभावों ने देशी भाषाओं के द्वारा यथार्थ ज्ञान का प्रचार आरम्भ कर दिया। उन महात्माओं के यत्न सफल होने का समय समीप आ रहा था कि इतने में कालचक्र की गति से इस देश में अँगरेजी राज्य हो गया। तब से इस देश में विद्या के पुनरुज्जीवन ने और भी अधिक जोर पकड़ा है। यूरोप मे धर्म्म, नीति, विज्ञान, लोकव्यवहार, न्याय, राज्यपद्धति इत्यादि विषयों के यथार्थ ज्ञान की दिन दिन उन्नति और जागृति हो रही है। उस यथार्थ ज्ञान के प्रकाश से इस देश का बहुत समय का अज्ञानरूप आवरण हटता चला जा रहा है। इस प्रकार विद्या के पुनरुज्जीवन से, वर्तमान समय में, यहाँ जो विचार-परिवर्तन हो रहा है उसको हमारे विकास का पूर्वलक्षण कहना चाहिए। यदि विद्या के पुनरुज्जीवन का पवित्र कार्य्य और भी अधिक जोर से जारी रहे तो, सम्भव है, भारत की काया बहुत शीघ्र पलट जायगी और उसमें नूतन जीवन का प्रवेश हो जायगा।

इस विषय के सम्बन्ध में एक महत्त्व की बात ध्यान में रखने योग्य है। यूरोप के धर्म्माधिकारियों के हाथ में, अपरिमित सत्ता थी। विद्या का पुनरुज्जीवन होते ही जो लोग धर्म्मस्वातन्त्र्य का अवलम्बन करने, या किसी प्रकार स्वतन्त्र विचार प्रकट करने लगे थे उन्हें उक्त धर्म्माधिकारियों ने बहुत कष्ट दिया, बहुत सताया, यहाँ तक कि मृत्यु की कड़ी सजा भी दी। नूतन विचार वालों के ग्रन्थ अग्नि में जला दिये जाते थे। स्वतन्त्र मतवादियों के दल के दल पकड़कर प्रज्वलित अग्निकुण्ड में हवन कर दिये जाते थे। यूरोप में व्यक्ति-विषयक बुद्धि की स्वाधीनता—स्वयं विचार करने और स्वसम्मत पथ का स्वीकार करने की स्वतन्त्रता—स्थापित करने के कार्य्य में जिन लोगों का बलिदान दिया गया और जिन लोगों को स्वजन, स्वदेश आदि का त्याग करना पड़ा उनके पवित्र चरित्र इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सोचना चाहिए कि यूरोप में, अज्ञान तथा अविद्या का नाश करने और यथार्थ ज्ञान का प्रचार करने के लिए, स्वाधीन मतवादियों ने अपने देश के धर्म्माधिकारियों और राजकर्त्ताओं की प्रबल तथा कठोर सत्ता की रत्ती भर परवा न करके उन लोगो ने अपने प्राण तक अर्पण कर दिये! परन्तु हमारे देश में विद्या के पुनरुज्जीवन का मार्ग इतना भयंकर और क्लेशदायक नहीं है। हाँ, दो तीन सौ वर्ष पहले जिन साधु-सन्तों ने देशी भाषा में यथार्थ ज्ञान के प्रचार का प्रयत्न किया उन महानुभावों को अपने समय के अहंकारी तथा स्वयं प्रतिष्ठित पण्डितों और कोरे नाम-धारी ब्राह्मणों से अवश्य कुछ अपमान और दुःख सहना पड़ा था। परन्तु वर्तमान समय में तो विद्योन्नति के मार्ग और स्वतन्त्र विचार तथा यथार्थ ज्ञान के दरवाजे सब लोगों के लिए खुले पड़े हैं। पूर्वी और पश्चिमी विद्या का सम्मेलन बेखटके जारी हो गया है।

व्यक्तिगत स्वाधीनता का मार्ग निष्कंटक देख पड़ता है। हमारे धर्म्माधिकारियों के हाथ में कठोर दण्ड देने की कुछ भी सत्ता नहीं है। उन लोगों ने यूरोप की तरह ऐसी राक्षसी न्यायसभा कभी स्थापित नहीं की जिसके द्वारा धर्म्मस्वातन्त्र्य का अवलम्ब करने वालों को अग्नि में जलाने, समुद्र में डुबोने और देश से निकाल देने का भयानक दण्ड दिया जाय। विद्या की उन्नति, धर्म्म की जागृति और यथार्थ ज्ञान के प्रचार में, इस समय, राजकर्तृक दण्ड के भय का तो नाम तक नहीं। इस प्रकार सब बातों की अनुकूलता होने पर भी हम लोग देशोन्नति के मार्ग में अपना क़दम आगे क्यों नहीं बढ़ाते? विद्या के पुनरुज्जीवन, धर्म्म की जागृति, यथार्थ ज्ञान के प्रचार या देशोन्नति के कार्य्य में, यूरप की तरह, स्वार्थत्याग के उदाहरण यहाँ क्यों नही देख पड़ते? इसके बदले यहाँ ऐसे लोगों की संख्या अधिक क्यों देख पड़ती है जो परम्परागत कृत्रिम और हानिकारक विचार-बन्धनों ही की रक्षा करने में अपना गौरव मानते हैं? आश्चर्य्य और खेद की बात है कि इस देश के अनेक युवक, अपनी बुद्धि को पूर्वी तथा पश्चिमी विद्याओं से सुसंस्कृत कर लेने पर भी, गतानुगतिकत्व के दास बन जाते हैं—पुरानी लकीर के फ़क़ीर बने रहते हैं और अज्ञ जन-समाज को प्रसन्न करने के लिए सारे देश को अविद्या तथा अज्ञान के मोहक जाल में फँसा रखते हैं! ज्यों ही लोकोन्नति का कदम कुछ आगे बढ़ता है त्यों ही ये लोग उसकी टाँग पकड़कर उसको पीछे की ओर घसीटने लगते है!

ऊपर यूरप और हिन्दुस्तान में, विद्या के पुनरुज्जीवन और लोकोन्नति के विषय में, जो अत्यन्त महत्त्व का भेद बताया गया है उससे हम लोग बहुत सी बातें सीख सकते हैं। सबसे पहले हमको यह जानना उचित है कि इस भेद का कारण क्या है? विद्या के पुनरुज्जीवन का आरम्भ होते ही यूरप में जैसी लोकोन्नति होने लगी वैसी इस देश में क्यों नहीं देख पड़ती? मननशील पाठकों के लिए यह सूचित कर देना अनुचित न होगा कि उक्त भेद का प्रधान कारण हमारी मानसिक दुर्बलता ही है। इसके अतिरिक्त दृढ़ निश्चय, उत्साह, धैर्य स्वदेशाभिमान इत्यादि सद्गुणों का अभाव और स्वार्थपरायणता, द्वेष, मत्सर, असहिष्णुता इत्यादि दुर्गुणों का अस्तित्व भी विशेष कारणों मे गिना जा सकता है। इस विषय की अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नही है। मार्म्मिक जन इस अल्प सूचना ही से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकते है।

[3]

इंगलैंड में राज्यक्रान्ति

सत्रहवीं सदी में इंगलैंड में जो राज्य-क्रान्ति हुई उससे हमें दृढ़ निश्चय और कर्तव्यनिष्ठा आदि की शिक्षा मिलती है। विद्या के पुनरुज्जीवन से अँगरेज लोगों में स्वयं विचार करने की शक्ति और अपनी समझ के अनुसार आचरण करने की दृढ़ता उत्पन्न हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुतेरे अँगरेज़ों ने प्राचीन धर्म्म के परम्परागत और कृत्रिम बन्धनों का त्याग कर दिया और धर्म्म के नूतन तत्त्वों को स्वीकार किया। वे लोग

अपने देश में धर्म्म-परिवर्तन करके ही चुपचाप न बैठ रहे, किन्तु राज्यप्रबन्ध के विषय में भी समुचित सुधार करने का यत्न करने लगे। इंगलैंड का राज्यप्रबन्ध प्रजा के प्रतिनिधियों के एक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसको पारलियामेंट कहते हैं। इस पारलियामेंट को इंगलैंड के लहरी, अत्याचारी, अन्यायी और अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने वाले अनेक राजाओं का नियमन करना पड़ा और प्रजा को पीड़ित करने वाले बड़े बड़े सरदारों का दमन करना पड़ा। उसने राजाओं की अनियंत्रित सत्ता तथा सरदारों की हानिकारक शक्ति के विरुद्ध कई सदियों तक झगड़ा किया। तब कहीं उसे कामयाबी हुई। प्रजा के हक़ों की रक्षा करने में इंगलैंड की पारलियामेंट सभा का इतिहास अत्यन्त चित्ताकर्षक और शिक्षादायक है।

राजा प्रथम चार्ल्स की अमलदारी में स्वार्थी सरदारों ने अनेक प्रकार का अत्याचार किया। राजा भी फ़िज़ूलख़र्ची में बढ़ा चढ़ा था। अतएव वह सदा ही द्रव्य की माँग किया करता था। उसका ख़र्च पूरा करने के लिए अधिकारियों ने प्रजा पर नये नये कर लादना शुरू किया। अनेक अनुचित कारणों से जब राज्यप्रबन्ध का ख़र्च बहुत बढ़ गया तब राजा के पक्ष वालों ने पारलियामेंट में कहा कि ऐसे क़ानून बनाओ जिसमें आमदनी बढ़े पारलियामेंट ने उत्तर दिया कि इस समय इंगलैंड की सारी प्रजा अन्यायी तथा अत्याचारी राज्य पद्धति से पीड़ित हो रही है, सब लोग अपने स्वत्वों—हक़ों—की रक्षा के लिए पुकार रहे हैं, जब तक प्रजा की पुकार पर न्याय की दृष्टि से विचार न किया जायगा और जब तक अधिकारियों के अत्याचारों से प्रजा के स्वाभाविक हकों की रक्षा न की जायगी तब तक हम नये कर लगाने का कोई कानून न बना सकेंगे। इस पर राजा ने आमदनी बढ़ाने के लिए, अपनी राजसत्ता के बल पर, स्वयं ही भाँति भाँति के उपाय आरम्भ कर दिये। फल यह हुआ कि राजा और उसके पक्ष में समर्थन करने वाले स्वार्थी सरदारों तथा अधिकारियों के अन्याय से सब लोगों के मन और भी क्षुब्ध हो उठे। पारलियामेंट ने राजा और उसके स्वार्थी अधिकारियों को बहुतेरा समझाया और प्रजा के हित तथा कल्याण की ओर ध्यान देने को कहा। जब इससे कुछ लाभ न हुआ तब पारलियामेंट में कुछ सभासदों ने राजशासन की अयोग्यता पर खुल्लमखुल्ला टीका आरम्भ कर दी। राजा और उसके अधिकारियों में प्रजा के प्रतिनिधियों के तीक्ष्ण वाग्बाण सहने की शक्ति न थी। "हमारे शासन हमारी सत्ता और हमारे अधिकार के विरुद्ध यह सभा टीका करती है! यह सचमुच हमारा अपमान है"! ऐसा सोच कर राजा को बहुत क्रोध आया। जिन जिन प्रतिनिधियों ने राजसत्ता के विरुद्ध आलोचना की थी उन सबको उसने ज़बरदस्ती क़ैद कर लिया। परिणाम यह हुआ कि पारलियामेंट के प्रायः सभी सभासद, इंगलैंड के अनेक विद्वान राजनीतिनिपुण और विचारशील जन तथा साधारण लोग भी राजा की अनियन्त्रित सत्ता से असन्तुष्ट हो गये। तुरन्त ही दो परस्पर विरोधी और बलवान् पक्ष हो गये—एक राजपक्ष, दूसरा प्रजापक्ष।

अब उक्त दोनों पक्षों में भयानक विरोध बढ़ने लगा। राजा चार्ल्स अपनी ही इच्छा के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य का प्रबन्ध करने लगा। इस कार्य्य में स्ट्रैफोर्ड नाम का एक सरदार, जो कि स्वयं ही अन्यायी और अत्याचारी था, राजा का बड़ा सहायक

था। वह आयरलैंड का गवर्नर नियत किया गया। वहाँ उसने राजा की सहायता के लिए प्रजा पर ज़बरदस्ती करके एक बहुत बड़ी सेना तैयार करने का यत्न किया। परन्तु इस कार्य्य में वह सफल न हुआ और राजा तथा उसके अन्यायी सहायकों के अत्याचारपूर्ण शासन के अन्त होने का समय समीप आ पहुँचा। लगभग ग्यारह वर्ष तक पारलियामेंट की सहायता के बिना, स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने के बाद चार्ल्स को विवश होकर सन् 1640 ई० में, पारलियामेंट सभा का फिर आश्रय लेना पड़ा। अँगरेज़ी इतिहास में इस पारलियामेंट को लम्बी पारलियामेंट (Long Parliament) कहते हैं, क्योंकि यह बहुत वर्षों तक—लगभग 20 वर्ष तक—बनी रही और उसने अनेक महत्त्व के काम किये। सबसे पहले इस पारलियामेंट में उन सब लोगों को कारागार से मुक्त कर दिया जिनको राजा ने अन्यायपूर्वक सज़ा दी थी। इसके बाद राजा की अत्याचारपूर्ण और अनियन्त्रित सत्ता की जिन जिन लोगों ने सहायता की थी उन पर देशद्रोह का दोष आरोपित किया गया—उनकी जाँच की गई और अपराधियों को कड़ी सज़ायें दी गई। राजा के मुख्य सहायक लार्ड और स्ट्रैफोर्ड नाम के दो सरदार फाँसी पर लटका दिये गये; और राजा की आज्ञा से स्थापित हुई तथा प्रजा को पीड़ित करने वाली अदालतें बन्द कर दी गईं। स्ट्रैफोर्ड के अभियोग के सम्बन्ध में एक इतिहासकार लिखता है—"His trial before the Lords was in effect a trial of the King's government." अर्थात् पारलियामेंट की उक्त काररवाइयों से यह बात सिद्ध हो गई कि राजा का शासन न्याय के विरुद्ध तथा प्रजा के लिए दुःखदायी था। पारलियामेंट अर्थात् प्रजा के पक्ष का जोर बढ़ता देख राजा अपने मन में जलने लगा; पर प्रकट रूप से कुछ करने के लिए उसे साहस न हुआ। इस कारण कुछ समय तक पारलियामेंट ही की सम्मति से राज्यशासन करने का उसने निश्चय किया। परन्तु जैसे अत्याचारी, अन्यायी और दुराग्रही लोग अपने हित-कर्त्ताओं के उपदेश के अनुसार वर्ताव करने में अपनी मानहानि समझते हैं, उसी तरह राजा भी पारलियामेंट की सम्मति से चलने में अपने को अपमानित समझने लगा। फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों बाद उसने पारलियामेंट से फिर झगड़ा करना आरम्भ कर दिया। अब के तो उसने सेना एकत्र करके खुल्लमखुल्ला पारलियामेंट से युद्ध ठान दिया। विवश होकर पारलियामेंट को भी युद्ध की तैयारी करनी पड़ी। सन् 1642 ईसवी के अगस्त महीने में राजपक्ष तथा प्रजापक्ष की सेनाओं में लड़ाई होने लगी। पहले दो तीन लड़ाइयों में राजपक्ष की सेना विजयी हुई; परन्तु अन्त में जब स्काटलैंड की सेना भी पारलियामेंट की सेना में आ मिली तब सन् 1644 ईसवी में, इन दोनों ने मिल कर, मार्स्टन मूर की लड़ाई में, राजा को अच्छी तरह पराजित किया। सन् 1645 ईसवी में, नेस्बी की लड़ाई में, राजा की बची बचाई सारी सेना नष्ट हो गई। उसके सारे सहायक अपनी अपनी जान लेकर इधर उधर भाग गये। रहा राजा चार्ल्स सो उसे पारलियामेंट की सेना ने क़ैद कर लिया।

पारलियामेंट और उसकी सेना को इस बात पर बहुत क्रोध आया कि राजा ने प्रजा के कल्याण की कुछ भी परवा न की और युद्ध करके व्यर्थ ही लोगों का खून बहाया। विशेष क्रोध आने की बात यह थी कि एक ओर तो राजा पारलियामेंट के साथ सन्धि

करने तथा उसकी सम्मति से चलने की बातें कर रहा था और दूसरी ओर, गुप्त रीति से, पारलियामेंट के साथ लड़ाई की तैयारी भी कर रहा था। इस विश्वास-घातक आचरण से सब लोग बहुत ही अप्रसन्न हो गये और कहने लगे कि राजा पर अभियोग चलाया जाना चाहिए और उसको उचित दण्ड देना चाहिए[1]। इस काम के लिए स्वतन्त्र न्यायालय की आवश्यकता थी। उस समय के कोई भी न्यायाधीश राजा पर मुक़द्दमा चलाने के लिए तैयार न थे। पारलियामेंट में भी कुछ मतभेद था। तब जो लोग राजा की जाँच करने और उस पर मुक़द्दमा चलाने के अनुकूल न थे वे सभा से अलग कर दिये गये। शेष सभासदों ने यह निश्चय किया कि राजा की कारवाइयों की जाँच की जाय, प्रजा को न्याय से पीड़ित करने का अभियोग उस पर चलाया जाय और इस कार्य्य के लिए एक सर्वाधिकार-सम्पन्न नूतन न्यायालय (High Court of Justice) स्थापित किया जाय। मिस्टर ब्रैडशाइस न्यायालय के प्रधान अध्यक्ष (Lord President) नियत किये गये और उनके इजलास में चार्ल्स राजा अभियुक्त के तौर पर उपस्थित किया गया। उस पर जो अपराध लगाया गया था उसका सारांश फार्स्टर नामक ग्रन्थकार के शब्दों में इस प्रकार है—

The charge stated, that he, the King, had been entrusted with a limited power to govern according to law; beaing obliged to use that power for the benefit of the people, and the preservation of their rights and liberties; but that he had designed to erect in himself an unlimited power, and to take away the remedy of misgovernment, reserved in the fundamental constitution, in the right and power of frequent and successive Parliaments. It then proceeded to enumerate the principal occasions on which, in execution of his purpose of levying war on the present Parliament, he had caused the blood of many thousands of the free people of this nation to be shed : and it affirmed all these purposes and this war to have been carried on for the upholding a personal interest of will and power, and a pretended prerogative to himself and his family, against, the public interest and common right, llberty, justice, and peace of the peopel of this nation." इन अँगरेज़ी वाक्यों का अविकल अनुवाद देने की आवश्यकता नहीं है। संक्षिप्त भावार्थ यह है कि राजा को इस बात का नियन्त्रित अधिकार दिया गया था कि वह प्रजा के हित और कल्याण तथा हक़, न्याय, शान्ति और स्वाधीनता की रक्षा करे। परन्तु उसने, स्वार्थवश

1. गार्डिनर साहब अपने इतिहास में लिखते हैं—"They felt that he (the King) had tricked them by raising war against them at a time when wards of peace were in his mouth. They, therefor, resolved to bring him to trial.

होकर, अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया है—जो पारलियामेंट इस देश की सारी प्रजा की स्वाधीनता की रक्षा करती और राज्य के सुप्रबन्ध में राजा तथा कर्म्मचारियो की सहायता करती है उसकी सम्मति का राजा ने सदा अनादर ही किया है—और इस प्रकार स्वतन्त्र होकर अपने अन्याय से प्रजा को बहुत दुःख दिया है। इस भयानक युद्ध का जिसमें कि हज़ारों लोग क़त्ल किये गये है, वही मुख्य कारण और जवाबदेह भी है। अस्तु।

इस प्रकार जब प्रधान न्यायाधीश ने राजा पर इलजाम लगाया और उसको अपनी सफ़ाई का जवाब देने को कहा तब राजा ने कुछ भी उत्तर न दिया। वह अपने मन में यह समझता था कि मैं राजा हूँ—इन लोगों को मेरी जाँच करने का कोई अधिकार नही। परन्तु न्यायाधीशो ने राजा की उक्त समझ की कुछ भी परवा न की। बराबर दस दिन तक मुक़द्दने की जाँच होती रही। इस अभूतपूर्व मुकद्दमे की काररवाई देखने और सुनने के लिए हर दिन लाखो आदमियो की भीड़ अदालत में हुआ करती थी। ठीक ठीक जाँच करने के बाद प्रधान न्यायाधीश और उसके सब सहायकों ने एकमत से यह निश्चय किया कि राजा चार्ल्स अन्याय से प्रजा को पीड़ित करने का सचमुच दोषी है। इसलिए उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाय[1] !

न्यायाधीशों की आज्ञा के अनुसार ता० 30 जनवरी सन् 1649 ईसवी को, इंगलैंड का राजा प्रथम चार्ल्स, अपने महल के पास ही, सिर काट कर मार डाला गया। राजा को अन्यान्यपूर्ण तथा अनियन्त्रित सत्ता चलाने का फल मिल गया।

इसके बाद यद्यपि और भी अनेक विघ्न उत्पन्न हुए तथापि पारलियामेंट की सत्ता दिन दिन बढ़ती ही गई—राज्य के प्रबन्ध में उसका अधिकार दिन दिन बढ़ता ही गया। इसमें सन्देह नहीं कि पारलियामेंट के कई सभ्यों को बहुत क्लेश भोगना पड़ा, परन्तु अन्त में प्रजापक्ष ही की जीत हुई। जैसे सूर्य्य कुछ समय तक मेघमाला से आच्छादित हो जाता है, पर अन्त में सारे मेघमण्डल फोड़कर वह अपना प्रचण्ड तेज प्रकट करता है, वैसे ही प्रजापक्ष की प्रभा कुछ समय तक राजसत्तारूप मेघमाल से ढक गई थी; परन्तु अन्त मे सब विघ्नो का नाश करके वह फिर भी प्रकाशित होने लगी। धीरे धीरे प्रजा के प्रतिनिधियों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि सत्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में जो दूसरी राज्यक्रान्ति हुई उस समय लोहू का एक बूंद भी नहीं बहाना पड़ा। इंगलैंड का राजा द्वितीय जेम्स सन् 1688 ईसवी में अपना राजपद छोड़कर फ्रांस को भाग गया। तब पारलियामेंट ने विलियम नामक एक विदेशी सरदार को, जो कि चार्ल्स की मेरी नामक लड़की का पुत्र था, अपना राजा बना लिया। इस राज्यक्रान्ति की घटना से पारलियामेंट की स्वाधीनता पूर्ण रूप से स्थापित हो गई। राज्यप्रबन्ध के सब सूत्र, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष

1. "For all which treasons and crimes, this Court doth adjudge that he, the said Cherles Stuart, as a tyrant, traitor, murderer and public enemy, shall be put to death by severing his head from his body"—Readings from English History, Part II. p. 130-131.

रीति से, उसी के हमें आ गये था। अब पारलियामेंट की सम्मति लिए बिना राज्य-प्रबन्ध का कोई काम नहीं किया जाता। यद्यपि इंगलैंड में, फ्रांस और अमेरिका के समान केवल प्रजासत्ताक शासन-पद्धति नहीं है; तथापि वहाँ राजा की उचित और मर्य्यादित सत्ता के साथ प्रजा की स्वाधीनता इस प्रकार मिश्रित हो गई है कि दोनों का ध्यान देशोन्नति ही की ओर बना रहता है। यथार्थ में प्रजा की स्वाधीनता और शासन-पद्धति की यह अत्यन्त उन्नतावस्था है। दुनिया के सभी राजनीतिनिपुण पण्डितों ने इंगलैंड की शासन-पद्धति की प्रशंसा की है। क्या यह आश्चर्य्य और प्रशंसा की बात नहीं कि इंगलैंड जैसा छोटा सा टापू, इस समय, केवल अपनी ही अद्‌भुत शासन-पद्धति से, यूरोप के राष्ट्रों में अत्यन्त बलवान् और माननीय समझा जाता है ?

जब से पूर्व और पश्चिम का संयोग हुआ है और हम लोगों को पश्चिमी देशों की ऐतिहासिक बातें मालूम हुई हैं तब से हमारे बहुतेरे भाइयों के मन में अपने देश के अभ्युदय तथा उन्नति की तीव्र इच्छा जागृत हुई है। इस इच्छा को कार्य्य में परिणत करने के लिए न्यायप्रियता और स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता है। साथ ही दृढ़ता की भी आवश्यकता है। उपर्युक्त गुणों के अभाव से हमारे सब यत्नों की वही दशा होती देख पड़ती है जो कि इस वाक्य में सूचित की गई है—"उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः"। यदि अँगरेजी राज्य के कृपा-छत्र का आश्रय पाकर भी हम लोग अँगरेज़ों के इतिहास से दृढ़ता, स्वार्थ-त्याग और न्यायप्रेम की शिक्षा न ग्रहण कर सकेंगे तो उक्त संस्कृत-वाक्य में सूचित की हुई दशा सदा ही बनी रहेगी। सफलता उचित गुणों के विकास तथा वृद्धि से होती है; कोरी बातों से नहीं।

दूसरी बात यह है कि इस इतिहास से यह शिक्षा न लेनी चाहिए कि, सत्रहवीं सदी के अँगरेज़ों की तरह हमे भी अपने राजा के साथ वैसा ही व्यवहार करना उचित है। प्राचीन इतिहास के दृष्टान्तों से इस प्रकार की शिक्षा लेना बड़ा भारी भूल ही नहीं किन्तु मूर्खता होगी। ऐतिहासिक उदाहरणों से केवल तात्त्विक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिस हेतु की सिद्धि के लिए सत्रहवीं सदी में उग्र उपायों की योजना करनी पड़ी उसी हेतु की सिद्धि, अन्य देशों में, अन्य उपायों से अनेक बार की गई है। साराश यह कि हमें उपायों की ओर नहीं, किन्तु उद्देश की ओर ध्यान देना चाहिए और उसकी सिद्धि के लिए विधि-विहित (Constitutional) मार्ग से चावल भर भी न हटना चाहिए। अँगरेज़ी राज्य की छत्रच्छाया के नीचे रह कर हमें अपनी उन्नति करने के अनेक साधन मौजूद है ? हमें केवल दृढ़ता, अध्यवसाय और निःस्वार्थ भाव का आलम्बन करना चाहिए।

तीसरी बात यह है—यह न सोचना चाहिए कि अँगरेज़ जाति को वर्तमान समय की उन्नतावस्था प्राप्त करने मे जितना समय लगा है उतना ही समय हम लोगों को भी उनके समकक्ष होने को लगेगा। नहीं जिन लोगों ने इतिहास का मनन किया है उनकी राय है कि जब कोई देश किसी अन्य देश की सभ्यता का अनुकरण करने का यत्न करने लगता है तब वह देश अपने गुरु-रूप अर्थात् मार्गदर्शक अन्य देश की अपेक्षा थोड़े ही समय में सफलता प्राप्त कर लेता है। इस विषय में जापान का उदाहरण मौजूद है। यूरोप को अपना गुरु बनाकर जापान ने अल्प समय ही में अपनी उन्नति कर ली। इस प्रकार

के और भी अनेक उदाहरण हैं। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि अँगरेज़ गुरुओं की शिक्षा में रह कर भी, हम लोगों को शिक्षा, व्यवसाय, समाज आदि से सम्बन्ध रखने वाली अपनी उन्नति करने में अनन्त समय लग जायगा ? जो लोग यह कहते हैं कि इस देश की उन्नति के लिए अनेक युगों की आवश्यकता है—अतएव अपनी भावी उन्नति के विषय में किसी प्रकार का ध्येय स्थिर करना मानो द्वितीया का चाँद माँगना है—उनकी राय से हम सहमत नहीं। हाँ, हमारी उन्नति में बाधा डालने वाले अनेक प्रतिबन्ध अवश्य हैं। तथापि हमारा विश्वास है—और यह विश्वास अनेक दृढ़ प्रमाणों के आधार पर स्थित है—कि यदि करना चाहें तो हम अपनी उन्नति बहुत शीघ्र कर सकते हैं। हम लोगों को अँगरेज़ जाति के अनेक सद्गुणों का अनुकरण तथा अभ्यास भर करते रहना चाहिए। निराशावाद का त्याग करके आशावाद का अवलम्ब करना चाहिए। स्वार्थ पर तिलांजलि दे देना चाहिए। स्वभावसिद्ध मानवी स्वत्वों की प्राप्ति के लिए नियमपूर्वक प्रयत्नों और नीति समय उपायों में लगे रहना चाहिए। परमेश्वर प्रयत्न करने वालों ही की सहायता करता है, आलसियों की नहीं।

[4]
फ्रांस में राज्य-क्रान्ति

प्रस्तावना

यह बड़ा कठिन विषय है। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। विलायत में विश्वविद्यालय की शिक्षा का प्रचार करने के लिए एक अनमोल ग्रन्थमाला प्रकाशित की जा रही है। अँगरेज़ी में उसको 'University Extension Series' कहते है। इस माला में ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, जो कि ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा करने वाले विद्यार्थियों तथा अन्य लोगों को अपने घर में बैठे ही बैठे उपयोगी बातों की शिक्षा दे सकते हैं। इन ग्रन्थों के विषय में, माला के उद्देशपत्र में, लिखा है कि प्रत्येक ग्रन्थ योग्य लेखक से लिखवाया जायगा और विषयों का विवेचन उदार, विस्तृत तथा तात्त्विक दृष्टि से किया जायगा[1]। हिन्दुस्तान के कालेजों में इस माला में बहुतेरे ग्रन्थ बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाये जाते हैं। प्रस्तुत विषय पर कारलाइल बर्क और साइम्स के सर्वमान्य ग्रन्थ अनेक लोगों ने पढ़े होंगे। साइम्स ने, उक्त ग्रन्थमाला के लिए, इस विषय पर जो पुस्तक लिखी है उसकी भूमिका में नीचे उद्धृत किये गये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

"It is scarcely necessary to say that much caution should be used when applying such lessons to particular circumstances. Yet such

1, Cf.—"... and the subjects will be treated by competent writers in a broad and philosophic spirit."

applications have to be made. We rightly expect the history of the past to throw light on the question of the present. This light cannot safely be neglected by those wishing to form sound political judgments. A little knowledge may be dangerous, but complete ignoranc is more dangerous still."

ऊपर लिखी हुई बातों का उल्लेख व्यर्थ ही नहीं किया गया है। उल्लेख करने का का हेतु है। आरम्भ में कहा गया है कि यह विषय बहुत कठिन है। यह जितना कठिन है उससे अधिक कठिनाई इस बात में देख पड़ती है कि इस विषय से किस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इसका कारण यह है कि इस विषय की ओर भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते हैं। कोई कहते है कि फ्रांस देश की राज्य-क्रान्ति के समय अनेक अद्भुत, चमत्कारिक और भयानक घटनायें हो गई हैं। इसलिए उन्हीं का विशेष वर्णन होना चाहिए। कोई कहते हैं कि उस जमाने मे आदर्श विचारों की सफलता का यत्न किया गया था। इसलिए उन्हीं उदात्त, उत्तम और ऊँचे विचारो का वर्णन किया जाना चाहिए। कोई कहते हैं कि यह राज्य-क्रान्ति यूरोप के राष्ट्रों के आपस के सम्बन्ध के इतिहास का सिर्फ एक हिस्सा है। इसलिए यूरोप के सब देशों के पारस्परिक सम्बन्ध ही का अधिक वर्णन करना चाहिए। कोई कहते हैं कि इस राष्ट्र-परिवर्तन ने मध्ययुग की अनेक संस्थाओं का विध्वंस कर दिया। इसलिए इसी दृष्टि से इसका विचार करना चाहिए। कोई कहते हैं कि यह अत्यंत भयानक राजनैतिक विषय है—इससे सौ कोस दूर ही रहना चाहिए। इस प्रकार अनेकों के अनेक मत है। ऐसी अवस्था मे इस विषय से कोई नतीजा निकालना बहुत कठिन जान पड़ता है। परन्तु साइम्स साहब अपनी उक्त भूमिका में यह राय प्रकट करते हैं कि, यद्यपि इस विषय से शिक्षा ग्रहण करने का काम कठिन है तथापि हमको कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। यदि ऐतिहासिक घटनाओं की केवल रूखी-सूखी बातें बता दी जायँ और यदि उनका कुछ भी उपयोग न किया जाय—उनसे किसी प्रकार की शिक्षा न ली जाय—तो इतिहास से हमारा कोई लाभ न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास की भूतकाल की घटनाओं से, वर्तमान समय में नतीजा निकालने का काम बहुत सावधानी, चतुरता और दक्षता से किया जाना चाहिए। इस प्रकार सावधानी से नतीजा निकालने के काम में यदि कुछ भूल हो जाय तो भी वह क्षमा के योग्य है, क्योंकि भूल-मिश्रित वह नतीजा निरे अज्ञान से कही बढ़ कर है। अतएव ऐसे कठिन विषय की चर्चा करके उससे कुछ शिक्षादायक बातें प्रकट करने का साहस हमने उन्हीं साइम्स साहब के आधार पर किया है जिनकी पुस्तक विलायती विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला का एक मनोहर पुष्प है और जो सभी विद्वान् लोगो को मान्य है तथा हिन्दुस्तान के कालेजों के छात्रों को भी बड़े चाव से पढाई जाती है। इस बात का कदापि विस्मरण न करना चाहिए कि उक्त ग्रन्थमाला के उद्देश के अनुसार ही इस लेख में प्रस्तुत विषय की विवेचना अत्यन्त उदार, विस्तृत और तात्त्विक दृष्टि से की गई है। आशा और विश्वास है कि इस लेख को पढ़ कर, इस विषय से शिक्षा ग्रहण करने में, हमारे पाठकगण किसी प्रकार का प्रमाद या भूल न करेंगे।

कारण

इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि फ्रांस देश की यह राज्य-क्रान्ति अठारहवीं सदी के अन्त में हुई। यद्यपि इस राज्य-क्रान्ति का वर्णन करने में सन् 1789 से 1795 तक ही की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया जायगा, तथापि उसके कारणों का विचार करते समय कुछ पूर्व समय की बातों की ओर देखना भी आवश्यक है। इस राज्यक्रान्ति के मुख्य कारण तीन हैं—1. सर्व-साधारण लोगों की दरिद्रावस्था; 2. राज्य का प्रबन्ध; 3. अठारहवीं सदी के लेखकों का प्रभाव। इन तीनों कारणों के विषय में अलग अलग विचार किया जायगा।

फ्रांस देश के साधारण लोगों की आर्थिक दशा सन् 1690 ही से बिगड़ने लगी थी। लोगों को न पेट भर भोजन मिलता था और न पहनने-ओढ़ने को कपड़े। प्रजा की दरिद्रावस्था के विषय में, उस समय की सरकारी रिपोर्ट में, लिखा है—"सभी कुटुम्बों के लोग दो दिन से भूखे हैं। बहुतेरे लोग भूख का दुःख दूर करने के लिए दिन रात बिस्तर पर पड़े रहते हैं। कुछ लोग तो अनुचित उपायों से अपना पेट भर रहे हैं। अनेकों के यहाँ ईंधन तक नहीं है। वे लोग चारचाइयों की लकड़ियाँ जलाकर रोटी बनाते हैं।" इस विषय का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। लोगों की यह दुर्दशा, सन् 1789 ई० के दुर्भिक्ष से, और भी बहुत बढ़ गई। परन्तु दरिद्रावस्था राज्य-क्रान्ति के लिए पर्याप्त कारण नहीं है। इस दरिद्रावस्था का मुख्य कारण राज्य का कुप्रबन्ध ही था।

फ्रांस देश के निवासियों के, बहुत दिनों से, दो भिन्न भिन्न वर्ग हो गये थे। एक वर्ग में वे बड़े बड़े सरदार, जमींदार, रईस, धर्म्माधिकारी इत्यादि लोग थे जो यह समझते थे कि हमको देश की सारी सम्पत्ति का उपभोग करने का स्वाभाविक हक़ है। इन लोगों को अँगरेजी में (Privileged Classes) (हक़दार वर्ग) कहते है। दूसरे वर्ग में सर्व-साधारण (Masses) थे, जो हक़दार वर्ग के अधीन रहकर किसी न किसी प्रकार अपना पेट भरते थे। राजसत्ता का भी बहुत बड़ा भाग इन्हीं हक़दार वर्गों के हाथ चला गया था। इसलिए केवल सरकारी करों का बोझा ही साधारण लोगों पर न लादा जाता था, किन्तु उनको हक़दार वर्गों के लाभ के लिए और भी अनेक काम करने पड़ते थे। ये बड़े लोग कभी किसी प्रकार का कर न देते थे, उलटा अपनी अपनी जमींदारी में रैयत पर जुल्म किया करते थे। ज्यों ही किसान अपनी खेती की कुछ तरक्की करता त्यों ही उसके पास से अधिक कर वसूल किया जाता था। मितव्यय और व्यवसाय की कुछ भी क़दर न थी। साधारण लोगों में यदि कोई धनवान होता तो उसको सदा अधिक कर देने का भय बना रहता था। रूसो नाम के लेखक ने लिखा है—"It was ruin to a peasant to be suspected not to be on the verge of starvation." अर्थात् उस किसान को बहुत दुःख भोगना पड़ता था जिसके विषय में यह सन्देह किया जाता था कि वह दरिद्री नहीं है। तात्पर्य्य यह कि, राज्य का प्रबन्ध ठीक ठीक न होने के कारण साधारण लोग सदा दरिद्री और बड़े लोगों के आश्रित बने रहते थे। राजा की सत्ता केवल नाम की थी—वह भी हक़दार वर्ग के अधीन था!—भेद इतना ही था कि वह

अपने को सब लोगों का सबसे बड़ा हक़दार सरदार समझता था। इसमें सन्देह नहीं कि इन सब हक़दार लोगों से—बड़े बड़े सरदारों, ज़मींदारों, रईसों और धर्म्माधिकारियों से—प्रजा की कुछ भलाई भी होती थी। ये लोग अपने देश की रक्षा करते; विदेशियों को अपने देश पर आक्रमण न करने देते; और देश में शान्ति रखने का यत्न करते थे। परन्तु इस प्रकार देश की रक्षा करने और शान्ति रखने के लिए प्रजा को बहुत बे-ढब क़ीमत देनी पड़ती थी। अठारहवीं सदी में, स्वतन्त्र विचार के कुछ लेखकों ने, हक़दार लोगों के हक़ों की सारी पोल खोल दी। नूतन विचारों की जागृति से सर्व-साधारण लोगो को यह मालूम हो गया कि ईश्वर ने किसी मनुष्य को न छोटा बनाया है और न बड़ा। सब मनुष्यों के हक समान हैं। जो मनुष्य अपने को विशेष हक़दार समझता है उसको मनुष्य जाति का शत्रु समझना चाहिए।

जिन लेखको ने अठारहवीं सदी में नूतन विचारों की जागृति की उनमें वाल्टेयर, रूसो, मान्टेस्क इत्यादि मुख्य हैं। वाल्टेयर की शिक्षा का सारांश यही है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वयं विचार करने और अपने विचार के अनुसार कार्य्य करने की स्वाधीनता होनी चाहिए। रूसो ने यह मत प्रकट किया कि सारे मनुष्य समान हैं—छोटे बड़े का भेद कृत्रिम है। उसने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—"It is clearly contrary to the Law of Nature...that a handful of people should abound in supcr-fiuities while a famishing multitude is without necessaries." अर्थात् यह बात प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है कि देश की सारी संपत्ति कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में चली जाय और अधिकांश लोग जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित होकर भूखों मरे। राज्य-प्रबन्ध के विषय में उसने यह शिक्षा दी कि राज्य किसी एक व्यक्ति का नहीं, किन्तु सब लोगों का है। मान्टेस्क अँगरेजी संस्थाओ का पक्षपाती था। वह चाहता था कि फ्रांस में अँगरेज़ी संस्थाओं के ढंग पर सुधार किया जाय। इन लेखको के सिवा और भी अनेक ग्रन्थकार हुए जिन्होंने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैनिक विषयों पर नये विचार प्रकट किये। इन लेखकों के स्वतन्त्र विचारों से फ्रांस में विचारक्रान्ति का आरम्भ हो गया।

ऊपर लिखे कारणों के अतिरिक्त और भी कुछ बातें ऐसी हुई जिनसे राज्यक्रान्ति करने वालों को सहायता पहुँची। सरकारी ख़ज़ाने में द्रव्य की प्राय: सदा कमी बनी रहती थी—फ्रेंच सरकार और हक़दार वर्गों में कुछ झगड़ा हो गया था; सरकारी सेना में प्रबन्ध का आधिक्य हो गया था; और राज-सत्ता कुछ कमजोर होने लग गई थी। इन्हीं कारणों से अन्त को फ्रांस मे राज्यक्रान्ति हो ही गई।

आरम्भ

जिस समय फ्रांस में विप्लव हुआ उस समय सोलहवाँ लुई वहाँ राज्य करता था। उसके पहले, चौदहवें लुई के शासनकाल में, राज्य के प्रबन्ध का ख़र्च इतना बढ़ गया था कि सरकारी ख़ज़ाना प्राय: ख़ाली बना रहता था। इसलिए छोटे बड़े सभी लोगों पर नये कर लादे गये। परन्तु चौदहवें लुई के बाद, पन्द्रहवें और सोलहवें लुई की अमलदारी

में, बड़े बड़े सरदारों, रईसों, जमींदारों और धर्म्माधिकारियों ने बड़े बड़े वेतन और अधिकार के सब पद प्राप्त कर लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि हक़दार वर्ग के सब लोग सरकारी करों से मुक्त हो गये और करों का सारा बोझ सर्वसाधारण पर लद गया। इसी समय, अर्थात् पन्द्रहवें लुई के शासन-काल में, स्वतन्त्र विचार के लेखकों और वक्ताओं ने देश में जागृति का आरम्भ कर दिया। इन उपदेशकों के 'स्वाधीनता, समानता और बन्धुत्व' (Liberty, Equality and Fraternity) सम्बन्धी नूतन मतों ने सब लोगों पर जादू के समान असर किया। सब लोग वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हो गये। पन्द्रहवें लुई ने कुछ सुधार करने का यत्न किया, पर वह सफल न हुआ। इतने में उसके शासन का अन्त हो गया और सोलहवाँ लुई फ्रांस की राजगद्दी पर बैठा। वह अच्छे स्वभाव का आदमी था। वह राज्य-प्रबन्ध में सुधार करके सर्वसाधारण लोगों को सुखी करना चाहता था। परन्तु ऐसे विकट समय में राजा को जिन सद्‌गुणों की आवश्यकता होती है वे उसमे न थे। उसमें स्वयं विचार करने की शक्ति न थी और न उसमें अपने विचारों के अनुसार कार्य्य करने का धैर्य ही था।

साइम्स साहब ने उसके विषय में लिखा है कि, वह दूकानदारी या सवारी-शिकारी का काम भली भाँति कर सकता था[1]। मतलब यह कि जिस समय देश में नूतन और स्वतन्त्र विचारों के कारण चारों ओर हल-चल मच रही थी उस समय किसी चतुर और धैर्यवान् राजा की आवश्यकता थी। लुई इस काम के योग्य न था। दुर्भाग्य से उसको रानी भी विलासवती मिली थी। रानी ने उसको अपना दास सा बना लिया था! राजा ने अनेक बार अपने मन्त्रियों की सहायता से राज्य में सुधार करने का यत्न किया। टरगाट नाम के एक मन्त्री ने धार्म्मिक स्वाधीनता, राष्ट्रीय शिक्षा, प्रतिनिधि द्वारा राज्य-शासन करने की पद्धति तथा व्यापार की उन्नति के विषय में सुधार करने की प्रतिज्ञा भी की। परन्तु इन सुधारों का नाम सुनते ही फ्रांस के हक़दार वर्गों के लोग राजा से बिगड़ खड़े हुए। राजा ने तुरन्त ही टरगाट को मन्त्री के पद से अलग कर दिया और नेकर नाम के दूसरे मन्त्री को उसके स्थान में नियत किया। नेकर ने देखा कि सरकारी ख़जाने का द्रव्य बहुत से फिज़ूल कामों मे ख़र्च होता है। इसलिए उसने सबसे पहले यह प्रबन्ध किया कि निरर्थक व्यय न होने पावे। इसका परिणाम यह हुआ कि रानी अप्रसन्न हो गई। नेकर भी मन्त्री के पद से अलग कर दिया गया। इसके बाद और भी कई मन्त्रियों ने सुधार का प्रयत्न किया; परन्तु लुई अपनी रानी तथा बड़े लोगों के चुगल में ऐसा फँस गया था कि सुधार का एक भी यत्न सफल न होने पाया। अन्त में स्टेट्स जनरल नाम की, फ्रांस देश के सब प्रजागणों के प्रतिनिधियों की, सभा करने का निश्चय हुआ।

---

1. Cf.—"As a shopkeeper or a gamekeeper he might have done fairly well." —'The French Revolution', p. 31

स्टेट्स जनरल नाम की सभा फ्रांस में बहुत प्राचीन समय से थी। उसमें तीनों वर्गों के लोग (सरदार, धर्म्मोपदेशक और साधारण जन) शामिल रहा करते थे, परन्तु इस सभा के तीसरे वर्ग अर्थात् साधारण जनों के प्रतिनिधि, सन् 1614 से, कभी बुलाये ही न गये थे। सिर्फ़ सरदार और धर्म्मोपदेशक, अर्थात् हक़दार वर्गों के लोग ही राज्य का मनमाना प्रबन्ध कर लिया करते थे। अब, सन् 1789 में, इस सभा के साधारण जनों के 600 प्रतिनिधि पेरिस में एकत्र हुए और कहने लगे कि तीनों वर्गों के प्रतिनिधिओं की एक ही सभा होनी चाहिए। फ्रेंच सरकार हक़दार लोगों के अधीन थी। इसलिए उसने सोचा कि यदि तीनों वर्गों की सभा एकत्र होगी तो हमारा कुछ भी महत्त्व न रहेगा—हमारी प्रभुता नष्ट हो जायगी। अतएव उन लोगों ने निश्चय किया कि हम अपने वर्ग की सभा अलग करेंगे। इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। सर्वसाधारण लोगों के प्रतिनिधियों ने साफ़ कह दिया कि यदि सब वर्गों की एक ही सभा न की जायगी तो हम सरकार को किसी काम में सहायता न देंगे—हम केवल तटस्थ रहेंगे (इसी को अँगरेज़ी में 'Passive Attitude कहते है)। ज्यों ही वे इस प्रकार तटस्थ हो गये त्यों ही सारे सरकारी काम बन्द होने लगे। सरकार को द्रव्य की अत्यन्त आवश्यकता थी। बड़े बड़े हक़दार लोग स्वयं कर देना पसन्द न करते थे। प्रजा के प्रतिनिधियों की सम्मति के बिना किसी प्रकार का नया कर लगाना बहुत कठिन था। राजा बड़े बड़े हक़दार लोगों के भय से प्रजा-पक्ष का स्वीकार करने में हिचकता था। इतने में मिराबो नाम का साहसी मनुष्य प्रजा के प्रतिनिधियों का अगुआ हो गया और उन लोगों ने यह इश्तहार दिया कि हम 'राष्ट्रीय सभा' (National Assembly) के सदस्य है। हमारी सम्मति के बिना राज्य का कोई कार्य्य नहीं किया जा सकता। सरकार ने हकदार वर्गो के हकों की रक्षा करने के लिए प्रजा के प्रतिनिधियों को सभा से निकाल दिया। तब वे लोग समीप ही एक स्थान मे जा बैठे और वहाँ इस बात का विचार करने लगे कि अब अपने देश में भावी प्रबन्ध के विषय में क्या निश्चय करना चाहिए। उन लोगो ने शपथ-पूर्वक यह प्रतिज्ञा की कि जब तक हम अपने देश का प्रबन्ध नियमानुसार न कर लेगे तब तक यहाँ से न हटेंगे।

शीघ्र ही इस झगड़े का समाचार सारे देश में फैल गया। स्वतन्त्र विचार करने वाले लेखकों के कारण, साधारण लोगों को भी, सार्वजनिक हित के विषयों में. स्वयं विचार करने की आदत पड़ गई थी। इस कारण देश के एक छोर से दूसरे छोर तक यह पुकार मची कि सर्वसाधारण लोगों के प्रतिनिधियों की सभा ही सच्ची 'राष्ट्रीय सभा' है और हक़दार वर्गो के लोगो को चाहिए कि वे उसी सभा में शामिल होकर काम करे। अनेक स्थानों में छोटे बड़े दंगे भी हुए! तब हार खाकर, राजा की आज्ञा से. हक़दार वर्गों के कई लोग प्रजा-प्रतिनिधि-सभा में शामिल हुए। इस प्रकार फ्रांस की राज्यक्रान्ति की पहली लड़ाई सन् 1789 के जून महीने मे लोगों ने जीती और सच्ची राष्ट्रीय सभा स्थापित हो गई।

राज्यक्रान्ति की इस पहली लड़ाई को पूरे चार महीने भी न हुए थे कि इतने ही समय में जून 23 से अक्टूबर 6 तक चार बड़ी बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनायें हो गईं—

(1) जून 23 तारीख को प्रजा-प्रतिनिधि सभा ने खुल्लमखुल्ला सरकार से यह कह दिया कि जब तक हम इस स्थान से जबरदस्ती न निकाल दिये जायँगे तब तक हम यहाँ से हटने वाले नहीं[1]। इस धमकी का यह फल हुआ कि राजा और सब बड़े बड़े लोग डर गये तथा उस सभा में शामिल हो गये। परन्तु वे सच्चे दिल से शामिल न थे। वे गुप्त रीति से युद्ध की तैयारी कर रहे थे। (2) जब यह बात प्रकट हो गई तब जुलाई की 14वीं तारीख़ को पेरिस राजधानी के निवासियों ने बस्टाइल नामक क़िले पर हमला किया। इस शहर में हज़ारों ग़रीब आदमी ऐसे थे जो बहुत दिनों से, राज्य के कुप्रबन्ध के कारण, दुख भोग रहे थे। उन लोगों ने देखा कि राजा हक़दार वर्गों का पक्षपात करके प्रजा के प्रतिनिधियों से विरोध करने का यत्न कर रहा है। यह बात उन्हें अच्छी न लगी। पाँच छ: घंटे तक ये लोग किले को घेरे रहे। अन्त में क़िलेदार हार गया; क़िले की दीवारें तोड़ दी गईं; और वहाँ के क़ैदी छोड़ दिये गये। राजा डर गया। उसने प्रजा-प्रतिनिधि-सभा से सन्धि कर ली और यह प्रतिज्ञा की कि मैं इस सभा के साथ कभी लड़ाई न करूँगा। सभा सन्तुष्ट हो गई। उसने राष्ट्रीय सेना की सहायता से पेरिस का बलवा शान्त किया। इस पर बहुतेरे हक़दार लोग राजा से अप्रसन्न हो गये और देश के बाहर चले गये। कुछ लोगों ने अपने प्राचीन हक़ छोड़ दिये। इस प्रकार प्रजा की पूरी जीत हुई। (3) अगस्त की चौथी तारीख़ को फ्रांस के राज्य-प्रबन्ध की प्राचीन प्रणाली नष्ट कर दी गई। बड़े बड़े सरदारों, ज़मींदारों, रईसों और धर्म्माधिकारियों के सारे हक़ छिन गये और राजसत्ता भी नियमित कर दी गई।

यह राज्य-परिवर्तन राजा को पसन्द न आया। जब उसने प्रजा के कामों की मंज़ूरी न दी तब राष्ट्रीय सभा ने निश्चय किया कि राजा की मंज़ूरी की कोई आवश्यकता ही नहीं। (4) राजा वरसेलीस में अपने महल मे रहता था और वहीं प्रजा-प्रतिनिधि-सभा भी थी। जब पेरिस में यह समाचार फैला कि प्रजा की सभा की बातें राजा मंज़ूर नहीं करता, किन्तु वह और उसके सरदार ऐश व आराम में मस्त है, तब उन लोगों ने फिर बलवा किया। हजारों स्त्री-पुरुषों के झुंड के झुंड राजमहल में जा पहुँचे। राजा बलवाइयों से घिर गया। रानी अपना महल छोड़कर राजा के पास भाग गई। राष्ट्रीय सेना भी वहीं थी। उसने राजा और रानी को पेरिस जाने की सलाह दी। तब प्रजा के प्रतिनिधियों के साथ, राष्ट्रीय सेना की सहायता से, राजा और रानी पेरिस पहुँचे। इस समय, राजा, यथार्थ में, राष्ट्रीय सेना का क़ैदी हो गया। इस प्रकार राज्यक्रान्ति का आरम्भ होकर राष्ट्रीय सभा की जीत हुई।

1. Cf.—"If you have orders to remove us from this Hall, you must also get authority to use force, for we shall yield to nothing but bayonets."

—**'The French Revolution'**, p. 28

नई पद्धति के अनुसार राज्य का प्रबन्ध

अब राष्ट्रीय सभा को एक बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा—उसको इस बात का निश्चय करना पड़ा कि किन नियमों के अनुसार राज्य का प्रबन्ध किया जाय। राष्ट्रीय उन्नति की शाब्दिक चर्चा करना, बड़े बड़े शब्दों के द्वारा अपना भाव प्रकट करना, मन को लुभाने वाली वक्तृता करना, इत्यादि बातें सहज हैं। इसी प्रकार किसी प्राचीन संस्था या पद्धति को उठा देने का प्रस्ताव 'पास' करना भी बहुत सहज बात है। परन्तु उसके स्थान पर नई संस्था या पद्धति स्थापित करना और उसके अनुसार बर्ताव करना उतना सहज नहीं।

इस बात का उल्लेख ऊपर किया गया है कि सन् 1789 की चौथी अगस्त को राष्ट्रीय सभा ने अपने देश की प्राचीन राज्यपद्धति को उठा देने का प्रस्ताव किया। उसके बाद उसको नूतन राज्यपद्धति स्थापन करने में, सन् 1791 के सितम्बर तक, तेईस महीने लग गये! इतने अरसे में राज्य का चंदेरोजा बन्दोबस्त कर लिया गया था। यद्यपि प्राचीन संस्थाओं को तोड़ देने का निश्चय किया गया था, तथापि वे एक या दो दिन में तोड़ी न जा सकी। उनका प्रभाव कुछ न कुछ बना ही रहा। जो नई संस्थायें स्थापित की गई थीं उनका कार्य अब तक आरम्भ न हुआ था। ऐसी अवस्था में वहाँ एक प्रकार का अन्धेर ही सा हो गया था। राष्ट्रीय सभा चारों ओर कठिनाइयों से घिर गई थी। यद्यपि राजा से किसी विशेष प्रकार का भय न था, तथापि रानी और उसके दरबारी लोग, तथा प्राचीन समय के बड़े बडे सरदार, रईस, ज़मींदार, धर्म्माधिकारी इत्यादि राज्यक्रान्ति के कार्य्य में बाधा डालते थे। राष्ट्रीय सभा में इन लोगों की संख्या एक तृतीयांश से कम न थी। इसके सिवा सर्वसाधारण जन अत्यन्त दरिद्रावस्था में थे, विशेषत: पेरिस शहर के निवासी। राष्ट्रीय सभा के लिए वे बहुत भयकारक थे।

अब तक लोग इस आशा पर चुपचाप बैठे रहे थे कि राज्यक्रान्ति से हम लोगों को पेट भर भोजन मिलेगा। परन्तु उन्हें लोगों को पेट भर भोजन मिलेगा। परन्तु उन्हें शीघ्र ही निराश होना पड़ा। भूखे आदमियों की निराशा बहुत भयानक होती है। उन लोगों को बलवा करने के सिवा और कोई उपाय नहीं सूझता। बस्टाइल क़िले पर हमला करने तथा बरसेलीस से राजा-रानी को क़ैद करके पेरिस में लाने के समय उनके बलवे सफल हुए थे। इससे वे लोग और भी उत्साहित हो रहे थे। उनको विश्वास था कि हम अपनी बलवाई शक्ति के ज़ोर से राष्ट्रीय सभा के द्वारा मनमाना काम करा लेंगे। इन बलवाइयों को समझाने और शान्त करने के लिए बहुत ही कम समय मिलता था।

ऊपर लिखे हुए दो बाहरी विघ्नों के सिवा सभा के भीतर भी बहुत से बिघ्न हो रहे थे। राष्ट्रीय सभा के सारे सभ्य एक मत के न थे। भिन्न भिन्न मतों के कारण उन लोगों में भी फूट थी। कुछ लोग राज्यक्रान्ति ही के विरुद्ध थे, कुछ लोग नरम पक्ष के थे, जो राज्यप्रबन्ध में एकदम परिवर्तन करना पसन्द न करते थे; कुछ लोग प्राचीन पद्धति

के कट्टर शत्रु थे, जो यह चाहते थे कि सारी प्राचीन संस्थायें एकदम उखाड़ कर फेंक दी जायें और शीघ्र ही फ्रांस का काया-पलट हो जाय। इनके अतिरिक्त उस सभा में ऐसे भी लोग थे जो बलवाइयों के पक्षपाती थे और यह कहते थे कि यदि राज्यक्रान्ति का कार्य्य नियमित पद्धति के अनुसार न किया जा सकेगा तो हम यह काम बलवाइयों की सहायता से सिद्ध कर लेंगे।

इन सब कठिनाइयों का सामना करते हुए राष्ट्रीय सभा ने फ्रांस के लिए नई राज्यपद्धति के नियम तैयार किये। प्राचीन हक़दार वर्गों के सारे हक़ छीन लिये गये; उनकी जायदाद जब्त कर ली गई। इसके बदले उन लोगों के लिए सरकार ने वेतन नियत कर दिया। राजा की सत्ता मर्य्यादित कर दी गई और यह नियम बना दिया गया कि राज्य का एक भी महत्त्व का कार्य्य राष्ट्रीय सभा की सम्मति के बिना न किया जाय। यह देख कर सन् 1791 के जून मे राजा ने राष्ट्रीय सभा की क़ैद से अपना छुटकारा करने का यत्न किया; पर वह सफल न हुआ। वह तुरन्त ही क़ैद कर लिया गया। अब लोगों को यह विश्वास हो गया कि 'राजा' भी प्रजा का विश्वासघात कर सकता है। इसके पहले राजा के विषय मे उन लोगो की श्रद्धा और भक्ति शुद्ध थी; परन्तु अब यह निश्चय किया गया कि यदि राजा प्रजा के हित का विरोध करेगा तो वह अपने पद से च्युत कर दिया जायगा और फ्रांस में प्रजा-सत्ताक राज्य स्थापित किया जायगा। अन्त में राजा ने हार मान कर राष्ट्रीय सभा के बनाये राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी सब नियम, सन् 1791 ई० के सितम्बर महीने में, मंजूर कर लिये।

राष्ट्रीय सभा के बनाये नियमो के अनुसार एक वर्ष तक राज्य का प्रबन्ध किया गया। परन्तु जब दूसरे वर्ष के आरम्भ में नये प्रतिनिधियों के चुनाव का समय आया तब मालूम हुआ कि राजनैतिक कामो में बहुतेरे लोग मन लगा कर काम नही करते। मध्यम वर्ग के लोग यह देख कर सन्तुष्ट हो रहे कि हकदार वर्गों के सब हक़ छीन लिये गये। अतएव अब हमको किसी प्रकार का कष्ट न भोगना पड़ेगा। इसलिए वे अपने देश की राजनैनिक दशा के विषय मे निश्चिन्त से हो गये। सर्वसाधारण लोग तो अपढ़, अज्ञानी और दरिद्री थे। वे यही न जानते थे कि राजनीति किस चिड़िया का नाम है। उन्हे सिर्फ़ अपने पेट की चिन्ता थी। इसलिए वे भी राष्ट्रीय सभा के कार्यों में शामिल होने योग्य न थे। अब बचे बड़े लोग। यद्यपि इन लोगों के प्राचीन हक़ छीन लिये गये थे, तथापि वे अन्य वर्गों से अब भी अधिक सामर्थ्यवान् थे। यदि वे चाहते तो राष्ट्रीय सभा में शामिल होकर अपने देश की भलाई का बहुत कुछ काम कर सकते थे परन्तु उनमें से अधिकांश लोग स्वदेश त्याग करके जर्मनी की भिन्न भिन्न रियासतों में जा बसे और वहाँ से, विदेशियों की सहायता पाकर, राज्यक्रान्ति करने वालों के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने लगे। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय सभा के सारे सूत्र पेरिस के उन लोगों के हाथ में चले गये जो केवल प्रजासत्ताक राज्य के पक्षपाती तथा गरम दल वाले थे।

इस समय सभा के सामने चार कठिन विषय निर्णय के लिए उपस्थित थे—(1) जो धर्म्मोपदेशक सुधार के प्रतिकूल थे उनका क्या किया जाय? ये लोग अपने अपने गाँव मे अपने अपने अनुयायियों को नये सुधारों के विरुद्ध भड़काया करते थे।

(2)स्वदेशत्याग करके जो लोग विदेशों में चले गये थे उनके विषय मे क्या बन्दोबस्त किया जाय ? ये लोग विदेशियों की सहायता मे अपने देश-भाइयों का द्रोह कर रहे थे। (3) सर्वसाधारण लोगों की दरिद्रता का निवारण किस उपाय से किया जाय? (4) जर्मनी की रियासतों ने फ्रांस के अनेक स्वदेशत्यागियों को अपना आश्रय दे रक्खा था। उनकी सहायता से वे लोग युद्ध की तैयारी भी कर रहे थे। इन लोगों का बन्दोबस्त करने के लिए जब सभा कोई कानून बनाती तब राजा और उसके पक्ष के लोग उसे रद कर देते। सभा की कार्य्यकारिणी मण्डली और नियम बनाने वाली मण्डली में फूट थी। इसलिए सभा की इच्छा के अनुसार कोई काम न होने पाता था। अन्त में, जब सन् 1791 के दिसम्बर में, विदेशियों ने फ्रांस पर हमला करने की तैयारी की तब राजा को भी लड़ाई की तैयारी करनी पड़ी। परन्तु राजा, रानी और उनके मन्त्रिगण विदेशियों का आक्रमण न रोकना चाहते थे। इसका फल यह हुआ कि सेना का यथेष्ट प्रबन्ध न किया जा सका। इस पर एक दल वाले दूसरे दल वालो को दोष देने लगे। सभा ने राजा के दो मन्त्रियों को अभियुक्त किया। पेरिस के सर्वसाधारण लोग बलवा करके राजा के विषय मे अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने लगे। सारे देश में यह पुकार मच गई कि यदि विदेशियों का सामना करना है तो राजा को पदच्युत करके कार्य्यकारिणी मण्डली के सारे अधिकार स्वदेशभक्तों को दे दिये जायँ। सन् 1792 ई० के अगस्त महीने की 10वी तारीख़ को, रात के समय, लोगों ने राजा के महल पर हमला किया। राजा भाग गया। लोगों ने डैन्टन नाम के अपने नायक को प्रधान मन्त्री नियत किया। इस प्रकार नियमानुसार राज्य का प्रबन्ध करने का यत्न निष्फल हो गया।

भय का साम्राज्य

अब राज्यक्रान्ति का अति दारुण और भयानक रूप प्रकट हुआ। फ्रांस पर चढ़ाई करने के लिए जर्मनी की रियासतों के साथ इटली, स्पेन, आस्ट्रिया, रूस, इंगलैंड इत्यादि यूरोप के सभी देश तैयारी करने लगे। इस सम्मिलित शक्ति का सामना करना सहज काम न था। यदि इस समय फ्रांस के निवासियो में एकता होती तो वे इस सम्मिलित सेना को भी हरा देते; परन्तु इस समय तो उन लोगों मे फूट की वृद्धि हो रही थी। कोई गुप्त रीति से विदेशियों की सहायता कर रहे थे और कोई प्रकट रूप से। कोई राजा का पक्षपात कर रहे थे और कोई बलवाइयों का। नियमानुसार राज्य का प्रबन्ध करने वालो की कोई भी न सुनता था। बलवाइयो को यह विश्वास हो गया था कि हमारे बलवों में अद्भुत सामर्थ्य है। उन लोगों ने अपनी बलवाई शक्ति के ज़ोर से ही राज्य के सब सूत्र अपने अधीन कर लिये थे। तथापि वे भली भाँति जानते थे कि यह समय बड़ा विकट है—यूरोप के सब देश एकत्र होकर फ्रांस पर चढ़ाई कर रहे हैं और अपने देशवासियों मे तो फूट, गड़बड़, अप्रबन्ध, सन्देह, अविश्वास, गुप्त भेद, झगड़ा इत्यादि अनेक दुर्गुणो की वृद्धि हो रही है। ऐसी अवस्था में युद्ध की तैयारी सफलतापूर्वक कैसे की जाय ? यदि विदेशियों के दाँत खट्टे न किये जायँगे तो राज्यक्रान्ति करने वाले अपने स्वदेशबान्धवों का किया कराया सब काम नष्ट हो जायगा और फ्रांस को फिर राजा तथा हक़दार

वर्गों से पीड़ित होना पड़ेगा। यह सोच कर उन लोगों ने अपने देशवासियों में, अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए, उत्साह की जागृति आरम्भ कर दी। सारे देश में इश्तहार जारी किये गये कि "भाइयो, अपने देश की रक्षा करो!" स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, सब लोग अपने देश की रक्षा के लिए उत्तेजित हो उठे। परन्तु काम केवल उत्साह से नहीं होता। विश्वासपूर्वक कर्तव्य-बुद्धि जागृत होनी चाहिए। अफ़सरों तथा उनके अधीनस्थ लोगो को यह विश्वास होना चाहिए कि यदि हम सरकार की आज्ञा न मानेंगे तो हमारी हानि होगी। यह विश्वास, क़ैद और मृत्यु के भय से, क़ानून की सत्ता से, अथवा बलात्कार से लोगों में पैदा किया गया। बस, फ्रांस में मूर्तिमान भय का साम्राज्य (Reigh of Terror) शुरू हो गया। इस भयानक नीति के पक्षपातियो में डैन्टन, मैरट, राब्सपीयर इत्यादि लोग प्रमुख थे।

जिन लोगो ने 1792 के अगस्त महीने में बलवे की सहायता से राज्य का प्रबन्ध अपने अधीन कर लिया था वे अब फूट की जड़ उखाडने के लिए अत्याचार करने लगे। ज्यों ही किसी मनुष्य के विषय मे यह सन्देह होता कि वह राजा का पक्षपाती है या विदेशियों की सहायता करता है त्यों ही वह पकड़ लिया जाता और कारागार में बन्द कर दिया जाता। इसके बाद इन कैदियो की कुछ थोडी सी जाँच की जाती और सबके सब फाँसी पर लटका दिये जाते। कम से कम एक हज़ार आदमी, इस प्रकार, सितम्बर महीने मे, मारे गये। यद्यपि इस घोर अत्याचार के कारण सारे देश में हाहाकार मच गया तथापि उससे यह फल प्राप्त हुआ कि लोग गुप्त रीति से, राजा, हक़दार-वर्ग या विदेशियो का पक्षपात करने से डरने लगे। उन्हे मालूम हो गया कि यदि हम अपने देश के शत्रुओ के साथ मिले रहेंगे तो एक दिन हम भी जान से मारे डाले जायँगे। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि राष्ट्रीय सभा को ये भयंकर कारवाइयाँ पसन्द न थीं—सच बात तो यह है कि उस समय यथार्थ मे राष्ट्रीय सभा थी ही नहीं; उसका नायकत्व गरम दल वाले मुट्ठी भर आदमियो के हाथ में चला गया था और वही मनमाना काम किया करते थे। अब उन लोगों का ध्यान राजा लुई की ओर आकृष्ट हुआ। वह उनकी क़ैद में था ही। पर वे उसको क़ैद मे न रखना चाहते थे, क्योंकि उसके कारण देश मे फूट होने का भय था। इसलिए राजा को मार डालने और फ्रांस मे प्रजासत्ताक राज्य स्थापित करने का उन लोगो ने निश्चय किया। सभा मे इस विषय पर बहुत चर्चा हुई। अन्त मे, 11 दिसम्बर 1792 को, वह मुलजिम के तौर पर न्यायालय के सामने उपस्थित किया गया। उस पर देश-द्रोह का अपराध लगाया गया। हुक्म सुनाने के पहले खूब उत्तेजनापूर्ण वाद-विवाद हुआ। फल यह हुआ कि 310 मतों के विरुद्ध 380 मतों के अनुसार राजा का वध निश्चित हुआ। 21 जनवरी 1793 को वह फाँसी पर लटका दिया गया।

फ्रांस के राजा सोलहवें लुई के कत्ल किये जाने का समाचार जब लन्दन में पहुँचा तब वहाँ के सब लोग बहुत दुःखित हुए। सारे शहर में मातम छा गया। नाटक-घर और दुकानें बन्द हो गईं। सरकार ने लड़ाई की तैयारी की। पन्द्रह दिन के भीतर हालैंड, स्पेन, पोर्चुगाल इत्यादि अनेक देश इंगलैंड के साथी हो गये। सारा योरप फ्रांस के अत्याचारों से काँप उठा था। इससे सब लोगों ने मिल कर फ्रांस पर चढ़ाई की। बरसों

तक फ्रांस को योरप की सम्मिलित शक्तियों से से लड़ना पड़ा। इस लड़ाई का वर्णन करने के लिए प्रस्तुत लेख में स्थान नहीं। राज्यक्रान्ति करने वालों ने उत्साहपूर्वक अपने देश की रक्षा की।

इस समय फ्रेंच सरकार की कार्य्यकारिणी मण्डली के सब अधिकार डैन्टन, मैरट, राब्सपीयर इत्यादि लोगों के हाथ में थे, जो भयानक अत्याचार की पद्धति के पूरे पक्षपाती थे। उन लोगों ने कई क़ानून बना कर अपनी सत्ता बहुत दृढ़ और अमर्यादित कर ली थी। जिस आदमी के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी सन्देह होता था उसे बिना जाँच और बिना इन्साफ़ के ही वे फाँसी पर लटका दिया करते थे। इन लोगों की अमलदारी में कम से कम 3000 आदमी क़त्ल किये गये। मैरट को एक स्त्री ने धोखे मे मार डाला। सत्ताधिकारी पुरुषों ने रानी को भी फाँसी पर लटका दिया। डैन्टन ने इस दारुण अत्याचार का विरोध किया, इस कारण उसका भी वध किया गया। इन अत्याचारों का वर्णन करना असम्भव सा है। शंकारूप राक्षस की प्रेरणा से राज्यक्रान्ति करने वालों ने अपने ही देश-बान्धवों की हत्या की, जैसा कि किसी लेखक ने कहा है—"The Revolution is swallowing her own children!" कुछ समय तक राब्सपीयर ने राज्यप्रबन्ध में सुधार करने का प्रबन्ध किया, और उसने कुछ अच्छे सुधार किये भी। परन्तु 28 जुलाई सन् 1794 को वह भी फाँसी पर लटका दिया गया।

अब फ्रांस में भय का साम्राज्य इतना बढ़ गया था कि कोई आदमी अपनी जान और अपने माल को क्षण भर भी सुरक्षित न समझता था। कहा गया है कि, "अति सर्वत्र वर्जयेत्।" जब किसी बात की 'अति' होती है तब जानना चाहिए कि उसकी 'इति' भी शीघ्र ही होगी। इसी नियम के अनुसार फ्रांस के बहुतेरे लोग भयोत्पादक राज्य-पद्धति से घृणा करने लगे। स्वयं राज्यक्रान्तिकारकों में भी अनेकों ने यही मत प्रकट किया। उन्होंने कहा कि अब भयोत्पादक पद्धति की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार सारे देश में धीरे धीरे अत्याचार-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी। अत्याचार-पद्धति के पक्षपातियों ने कुछ समय तक जोर मारा; परन्तु, अन्त में, उन्हें हार खानी पड़ी। सन् 1791 से ई० के राज्य-प्रबन्ध सम्बन्धी नियमों में कुछ परिवर्तन करके, 1795 के अन्त में, नूतन प्रजासत्ताक राज्य का उचित प्रबन्ध किया गया। इसके बाद का इतिहास इस लेख में शामिल नहीं किया जा सकता। अब यह देखना चाहिए कि इस राज्यक्रान्ति का परिणाम क्या हुआ।

उपसंहार

इस राज्यक्रान्ति से राजनीति-विशारदों ने सिद्ध किया है कि विचार अथवा भाव में अद्भुत सामर्थ्य है। अठारहवीं सदी के लेखकों के उपदेश से ज्यों ही फ्रेंच लोगों में मनुष्य के स्वाभाविक हक़, संस्थाओं की पूर्णता, प्रकृति का अधिकार, ग़रीब आदमियों को रोटी देने का उचित प्रबन्ध इत्यादि बातों के विचार जागृत हुए त्यों ही वे राज्य-क्रान्ति के द्वारा अपने देश की उन्नति और सुधार का यत्न करने लगे। यह इन्हीं नूतन विचारों अथवा भावों का प्रभाव है कि वे लोग अपने देश की प्राचीन राजसत्ता तथा

हक़दार वर्गों की प्रचण्ड शक्ति के विरुद्ध सफलतापूर्वक लड़ सके। और, इन्ही नूतन विचारों की बदौलत वे लोग योरप की सम्मिलित सेना को पीछे हटा कर अपने देश की रक्षा कर सके। तात्पर्य्य यह कि, जिन विचारों अथवा भावों से मनुष्य जाति का (किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग या श्रेणी का नहीं) कल्याण और हित होता है उन विचारों या भावों में अद्भुत सामर्थ्य होता है—उनमें विलक्षण कार्य्यक्षमता होती है।

जब राज्य के प्रबन्ध से केवल विशिष्ट व्यक्तियों और वर्गों ही का हित होता है—सर्व-साधारण जन-समूह की कोई विशेष उन्नति नही होती—तब राज्य-प्रबन्ध का बाह्य आडम्बर (वह कितना ही चित्ताकर्षक क्यों न हो) बहुत समय तक नही रह सकता। देखिए, चौदहवें लुई के जमाने में फ्रेंच सरकार का दबदबा सारे यूरोप में था। परन्तु उस समय के (उसके पहले और बाद भी) फ्रेंच सरकार के राज्यप्रवन्ध में सर्व-साधारण लोग शामिल न थे। फ्रांस की तत्कालीन राजसत्ता ने सारे देश की संपत्ति, वैभव और बुद्धि को अपने ही प्रभाव की वृद्धि और उन्नति में लगा दिया था। सारे सरदार राजा की खुशामद करने में लगे थे; देश की सारी सेना राजसत्ता की रक्षा और उन्नति में लगी हुई थी; राष्ट्र की सारी सम्पत्ति राज-दरबार और राज-वैभव का ठाट बाट क़ायम रखने में खर्च होती थी; धर्म्मोपदेशक केवल बाह्य आचारों के रक्षक तथा दाम्भिक गुरु बन गये थे; बुद्धिमान् तथा शिक्षित लोग राजसत्ता के दास हो गये थे और सर्व-साधारण जन राजा के सुख तथा ऐश्वर्य्य की वृद्धि करने वाले केवल यन्त्र से बन रहे थे। तात्पर्य्य यह कि केवल राजसत्ता ही उस समय की 'सरकार' थी। किसी को स्वाधीन विचार करने, राष्ट्रीय हित की चिन्ता करने या देश की उन्नति करने का हक न था। जो कुछ किया जाता था वह राजा ही की ओर से; और, वह भी सिर्फ़ राजसत्ता के हित के लिए। इस प्रकार की स्वार्थनीति चिरस्थायिनी नहीं हो सकती। यही कारण जो देश में क्रान्तिकारक विचारों का उदय होते ही फ्रांस की प्राचीन सामाजिक और राजनैतिक पद्धति अल्प समय ही में नष्ट हो गई।

प्राचीन संस्थाओं का नाश और नई संस्थाओं का स्थापन सहज काम है; परन्तु नई संस्थाओं के द्वारा काम करना सहज नहीं। नूतन विचारों की जागृति होते ही फ्रांस में यह बात सब लोगों को मालूम हो गई कि देश की उन्नति के लिए किन किन बातों की आवश्यकता है। उन्होंने भली भाँति जान लिया कि देश की सर्वांगीण उन्नति होने के लिए राज्य का प्रबन्ध उत्तम होना चाहिए (राज्य-प्रबन्ध की पद्धति में अच्छी शक्ति हो, परन्तु वह अन्यायी और असर्य्यादित न हो); स्वाधीन भावों की उत्पत्ति होनी चाहिए, न्याय की दृष्टि से सब आदमी समान होने चाहिए (सामाजिक समता होनी चाहिए); सब आदमियों में भ्रातृभाव होना चाहिए; और राष्ट्रीय नीतिमत्ता ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय भावों के अनुसार आचरण कर सके। ये सब बातें लेखकों और वक्ताओं के लिए तो बहुत मनोहारिणी हैं; परन्तु उनके अनुसार काम करना बहुत कठिन है। यह कठिन काम लेखकों के निबन्धों से, या वक्ताओं की वक्तृताओं से, या नियामक सभाओं के प्रस्तावित नियमों से कैसे हो सकता है! फ्रांस के राज्य-क्रान्तिकारकों ने अपने देश की प्राचीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्म्मिक तथा साम्पत्तिक संस्थायें नष्ट कर डालीं और

उनके बदले ऐसी नई संस्थायें स्थापित करने का यत्न किया जो राष्ट्रीय उच्च भावों के अनुकूल थीं। यहाँ तक तो उनका काम सहज था; परन्तु जब वे लोग प्रत्यक्ष व्यवहार-भूमि पर खड़े होकर, अपनी स्थापित नई संस्थाओं के द्वारा, राष्ट्रीय उच्च भावों के अनुसार, कार्य्य करने लगे तब वे अत्यन्त घृणास्पद रीति से भग्नमनोरथ हुए। इस बात का यथार्थ बोध होने के लिए राज्यक्रान्तिकारकों के मुख्य मुख्य उद्देशों और उनकी कुछ कारग्वाइयों की आलोचना करना आवश्यक है।

(अ) **सामाजिक समता**—मुख से इस बात का उच्चार करना सहज काम था कि सब मनुष्य न्याय और क़ानून की दृष्टि में समान हैं, न कोई बड़ा है न कोई छोटा। सब लोगों के स्वाभाविक हक़ समान हैं—उनमें किसी प्रकार का कृत्रिम भेद न होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि ग़रीब आदमियों की दुर्दशा और दरिद्रावस्था देखकर परोपकाररत पुरुषों के हृदय में दया उत्पन्न हो जाती है। इसी भूतदया के अधीन होकर फ्रांस के क्रान्ति-कारकों ने गरीब आदमियों की दशा सुधारने का यत्न किया। परन्तु जिन उपायों का अवलम्ब किया गया उनसे लाभ के बदले हानि ही अधिक हुई। ग़रीबों की रक्षा के लिए बड़े-बड़े सरदारों, रईसों, जमींदारों और धर्म्माधिकारियों की सारी जायदाद जब्त कर ली गई। परन्तु यह लूट का माल कब तक काम आता ? धनी दरिद्र हो गये और दरिद्र तो जन्म ही से दरिद्री थे ! 'धनी और दरिद्री' यह सामाजिक विषय, वर्तमान समय में भी, यूरोप के अनेक देशों में चर्चा और सुधार का प्रधान विषय है। यद्यपि फ्रांस के क्रान्तिकारकों का प्रयत्न इस विषय में सफल न हुआ और यद्यपि इस समय सुधार के अनेक उपाय सोचे जा रहे हैं, तथापि यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि केवल प्रस्ताव, नियम, क़ानून या सेना के ज़ोर से 'सामाजिक समता' नहीं प्राप्त हो सकती। क्या यह आश्चर्य्य की बात नहीं है कि जो क्रान्तिकारक लोग न्याय और समता के मन्त्र का ऊँचे स्वर से घोष कर रहे थे उन्हीं लोगों ने अपने हज़ारों देश भाइयों को, बिना जाँच के, फाँसी पर चढ़ा दिया ! इन क्रान्तिकारकों की असफलता से केवल यूरोप ही को नहीं, किन्तु सारी मानव-जाति को शिक्षा लेनी चाहिए।

(आ) **नियम-निर्दिष्ट स्वाधीनता**—राज्यक्रान्तिकारकों का यह दूसरा मन्त्र था। उन लोगों का यह उद्देश था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन हो। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो मालूम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव ही से स्वाधीन है, अतएव उसकी नियमित स्वाधीनता को रोकने के लिए किसी प्रकार की कृत्रिम रुकावट न होनी चाहिए। परन्तु नियम, व्यवस्था और क़ानून के साथ साथ इस तात्त्विक स्वाधीनता का मेल कैसे किया जाय —यही बात बहुत कठिन है। कठिन ही नहीं; किन्तु आज तक दुनिया में जितने प्रयत्न किये गये है उनके इतिहास से सिद्ध होता है कि यह कार्य्य असम्भव सा है। किसी देश की सरकार व्यक्ति-स्वाधीनता के साथ क़ानून और व्यवस्था का उचित तथा सन्तोषदायक और सर्वमान्य मेल करने में सफल नहीं हुई। इसलिए, यह आश्चर्य्य की बात नहीं जो फ्रांस के क्रान्तिकारक अपने देश में स्वाधीनता की स्थापना कर सके।

(इ) **भ्रातृभाव—यह कोई नई बात न थी। ईसाई धर्म्म के अनुसार सब आदमी,**

एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। अतएव वे सब भाई भाई के समान हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से यह सिद्धान्त सब लोगों को मान्य था, तथापि व्यवहार में उसके अनुसार आचरण बहुत कम होता था। राज्यक्रान्ति के समय तो भ्रातृभाव का केवल नाम ही रह गया था। इससे बढ़कर आश्चर्य्य की और कोई बात नही कि जिन लोगों ने भ्रातृभाव को राज्यक्रान्ति का मूल तत्त्व माना था उन्ही लोगों ने हज़ारो स्त्रियों और पुरुषों का वध किया।

(ई) **राज्यप्रबन्ध**—जिस प्रकार फ्रांस की राज्यक्रान्ति समता, स्वाधीनता और भ्रातृभाव न स्थापित कर सकी, उसी प्रकार वह फ्रांस मे राज्य का स्थायी प्रबन्ध भी न कर सकी। यद्यपि अनेक सभायें हुई, प्रजा के हक़ों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में बहुत चर्चा हुई और नियम भी अनेक बनाये गये, कार्य्यकारिणी मण्डलियो के अधिकार भी नियत किये गये, नियामक मण्डलियों ने कई क़ानून भी बनाये, एक बार बने हुए क़ानून रद किये गये और नये क़ानून बने, सब लोगों में सम्पत्ति का यथोचित विभाग करने के अभिप्राय से आर्थिक नियम बनाये गये तथापि राज्य का उचित प्रबन्ध न हो सका। कागज पर नियम लिख देना (Paper Constitution) कठिन काम नही है। पर लोगों से उन नियमो के अनुसार आचरण कराना बहुत कठिन काम है। क्रान्तिकारकों की स्थापित की हुई प्रजा-सत्ताक राज्यपद्धति भी बहुत दिनो तक न चलने पाई। शीघ्र ही सारी सत्ता सैनिकों के हाथ में चली गई और कई बरसों तक फ्रांस मे सेना की बादशाही रही। परन्तु इस असफलता के लिए क्रान्तिकारकों को दोष देना उचित नही। यद्यपि अनेक कारणों से उनका उद्देश सफल नही हुआ, तथापि इसमें सन्देह नही कि उनका उद्देश बुरा न था। उन लोगो ने बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली थी। हक़दारों के हक़ उठा देने से सर्वसाधारण जन-समूह को राजनैतिक कार्य्यो मे शामिल होकर देश-सेवा करने की स्वाधीनता मिल गई थी। यह इसी स्वाधीनता का फल है कि नेपोलियन जैसा अद्वितीय सेना-नायक प्रकट हो सका। लगभग पचास वर्ष तक फ्रांस में किसी न किसी तरह की बादशाही बनी ही रही। सन् 1848 ईसवी में दूसरी बार प्रजा-सत्ताक राज्य स्थापित किया गया; परन्तु पहले के समान यह भी स्थायी न हो सका। अन्त मे तीसरी बार, सन् 1870 ई० मे, प्रजा-सत्ताक राज्य स्थापित किया गया, जो वर्तमान समय तक विद्यमान है।

इस ऐतिहासिक घटना से और भी अनेक सीखने योग्य बातें मालूम हो सकती हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का यही भाग, लेखकों और पाठकों को, विशेष मनोरंजक तथा शिक्षादायक है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इस विषय का विवेचन किया जाय कि राज्य-क्रान्ति से फ्रेंच लोगों की राष्ट्रीय नीतिमत्ता पर क्या परिणाम हुआ, तो उससे बहुत सी शिक्षादायक बातें ज्ञात होंगी। परन्तु इन सब बातों के लिए इस लेख में स्थान नही। अतएव लेखनी यही विराम करना चाहती है। पाठक क्षमा करें।

[5]

धार्म्मिक परिवर्तन

इस संसार में धर्म्म का इतिहास बहुत ही मनोरंजक और शिक्षादायक है। मानव-जाति की यथार्थ उन्नति का बहुत बड़ा साधन इस जगत् के सभी धर्म्मों के तुलनात्मक इतिहास का है। मनुष्य के विकास का सच्चा स्वरूप उसके धार्म्मिक परिवर्तनों से अच्छी तरह अध्ययन प्रकट हो जाता है। यह विषय बहुत व्यापक है। उसका पूर्ण विवेचन एक छोटे से लेख में नहीं किया जा सकता। अतएव इसको मर्य्यादाबद्ध करना आवश्यक है। इस लेख में सिर्फ़ योरप के धार्म्मिक परिवर्तन का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा, कहीं कहीं हिन्दू धर्म्म की दशा का उल्लेख भी किया जायगा और यथासम्भव कुछ शिक्षादायक बातों का निरूपण भी किया जायगा।

पहले इस बात से ओर ध्यान देना चाहिए कि योरप में ईसाई धर्म्म के प्रचार और विस्तार से लोगों को क्या लाभ हुआ। आरम्भ में, यूरोप के प्रायः सभी देशों में, मूर्तिपूजा और प्राकृतिक पदार्थ पूजा का प्रचार था, जन-समाज में ऊँच-नीच, स्वामि-सेवक आदि अनेक कृत्रिम भेदभाव रूढ़ हो गये थे, स्त्रियाँ और दास, स्वाधीनता तथा ज्ञानप्राप्ति के अयोग्य समझे जाते थे, केवल तांत्रिक और औपचारिक विधियों का विशेष महत्त्व माना जाता था और धर्म्म के यथार्थ रहस्य की ओर कुछ भी ध्यान न दिया जाता था। परन्तु ईसाई धर्म्म के प्रचार से ये सब बातें बदल गईं। स्त्रियों का आदर होने लगा, दासों की पराधीनता के विषय में हलचल मचने लगी; यह मत प्रचलित होने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति को नियम-निर्दिष्ट स्वाधीनता और ज्ञानप्राप्ति का अधिकार है; ईश्वर की समान दृष्टि के विषय में लोगों को यथार्थ ज्ञान होने लगा; मनुष्यों के बर्ताव में अन्याय के बदले न्याय की विशेष रुचि प्रकट होने लगी और धार्म्मिक आचरण के सम्बन्ध में, शुष्क तथा औपचारिक विधियों के बदले, आन्तरिक शुद्धि, प्रेम, भक्ति, नीति, दया, परोपकार, सहानुभूति आदि सात्त्विक गुणों की अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी। योरप के इतिहास में यही पहला धार्म्मिक परिवर्तन है।

उक्त धार्म्मिक परिवर्तन के पहले भी (जब सारा योरप खण्ड, धर्म्म तथा ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान में, केवल मूढ़ अवस्था में था) ग्रीस और रोम में, साक्रेटीस, प्लेटो, अरिस्टाटल, सिसरो, सेनेका, एपिकटीटस आदि बड़े-बड़े ज्ञानियों महात्माओं ने, अपने व्याख्यान, ग्रन्थ और आचरण द्वारा, लोगों को ईश्वर, धर्म्म, नीति और न्याय की शुद्ध शिक्षा देने का यत्न किया था। ईसाई धर्म्म के पैग़म्बर पाल और उनके अनुयायियों ने, उक्त अध्यात्म शिक्षा के सारभूत तत्त्वों को, अपनी नूतन धर्म्म-संस्थान में शामिल कर लिया। इसका परिणाम बहुत अच्छा हुआ। कई सदियों तक, यूरोप में, विद्याभ्यास, धर्म्मज्ञान और शुद्ध आचरण का पवित्र तथा उन्नतिकारक प्रवाह बहता रहा। इस समय यूरोप की धार्म्मिक संस्थाओं ने, मानव-जाति की उत्क्रान्ति के लिए, जो अनेक परोप-कारी तथा कल्याणकारक कार्य्य किये वे सभी इतिहासज्ञों से छिपे नहीं हैं। परन्तु कुछ समय बाद इन्हीं धार्म्मिक संस्थाओं को स्वार्थ, अज्ञान और अहंकार ने घेर लिया; योरप

के प्रायः सभी देशों का जन-समाज धर्म्म के नाम पर अनीति, अन्याय और पराधीनता से पीड़ित होने लगा; ईसाई धर्म्म का शुद्ध स्वरूप बदलने लगा; बुद्धि व्यवहार तथा राजनीति-सम्बन्धिनी स्वाधीनता का संकोच होने लगा और देशोन्नति का प्रवाह बन्द हो गया। ईसाई धर्म्म के नाम पर बड़े बड़े भयानक युद्ध हुए और खून की नदियाँ बह निकलीं। स्वाधीन स्वभाव के कितने ही मनुष्य क़तल किये गये, पानी में डुबो कर मार डाले गये, अग्नि में जला दिये गये या अन्य उपायों से पीड़ित किये जाने पर देश से निकाल दिये गये! सारांश यह कि प्रथम धार्म्मिक परिवर्तन के बाद, कुछ समय तक, योरप में अज्ञान, अनीति, अन्याय और अनाचार का पूरा साम्राज्य स्थापित हो गया। इसी को, इतिहास में 'अज्ञानमय मध्ययुग' (Dark Middle Ages) कहते हैं। तब लोगों को दूसरी बार धार्म्मिक परिवर्तन करने की आवश्यकता मालूम हुई। इस परिवर्तन का वर्णन करने के पहले, कुछ देर के लिए, अपने देश पर एक नज़र डालिए।

हमारे देश में भी, बहुत प्राचीन समय में, शुद्ध धर्म्म-ज्ञान का उदय हुआ था। वरुण, याज्ञवल्क्य, अथर्वा, सनत्कुमार, नारद, व्यास, मनु आदि बड़े बड़े महात्माओं और ज्ञानियों ने आध्यात्मिक विचार, धर्म्म, नीति और अत्याचार के शुद्ध तत्त्वों का उपदेश, समय समय पर, कर रक्खा है। परन्तु जिस तरह यूरोप में धर्म्म का वास्तविक स्वरूप अज्ञान के आवरण से आच्छादित हो गया था और सत्य ज्ञान का लोप हो गया था, उसी तरह हिन्दुस्तान में भी बहुत दिनों से अज्ञान का आवरण बढ़ता जा रहा है और धर्म्म, नीति, सदाचार, विचार-स्वातन्त्र्य तथा शील का लोप हो रहा है। वर्तमान समय में तो धर्म्म के नाम पर केवल तान्त्रिक और औपचारिक विधियाँ जारी हैं, अनेक भ्रममूलक तथा भ्रमोत्पादक आचार प्रचलित हैं, शाब्दिक आडम्बर और वेदान्त की कोरी बातें (अनुभव-रहित) देख पड़ती हैं और स्वार्थपरायणता की नीति से हमारा शील भी दूषित हो गया है। विचार-स्वातंत्र्य के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। राजनैतिक विषयों की बात, इस समय, एक तरफ़ रहने दीजिए; किन्तु अपनी सामाजिक दशा, लोक-व्यवहार, गृहस्थिति और व्यक्तिगत आचरण की ओर ध्यान देकर देखिए। आपको मालूम हो जाएगा कि हम लोग धर्म्म के नाम पर, कैसे अज्ञानमूलक और अविचारमूलक कृत्रिम बन्धनों में बँधे हुए हैं। ज्ञान, विचार और समय के अनुसार कुछ भी परिवर्तन करने का साहस हम लोगों में देख ही नही पड़ता। हम लोग अपनी पुरानी ही (और बिगड़ी हुई) लीक पीटते चले जा रहे हैं। यदि हम लोग यूरोप के धार्म्मिक परिवर्तन के इतिहास का मननपूर्वक अभ्यास करे तो आशा और विश्वास है कि सीखने योग्य अनेक बातें मालूम होंगी। अस्तु। अब उसी विषय का वर्णन किया जायगा।

हमारे यहाँ एक सनातन धर्म्म मे अनेक मत, पन्थ और सम्प्रदाय हो गये; भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न मतप्रवर्तक आचार्य्यों के मठ स्थापित किये गये; उन मतों के अनुसार लोगों पर धर्म्म का अधिकार जमाने के लिए केवल गुरु-शिष्य-परम्परा से अनेक नामधारी आचार्य्य बनने लगे; इन नामधारी आचार्य्यों और महन्तों ने बड़े बड़े राजाओं महाराजाओं से दान लेकर अपनी गद्दी के नाम पर बड़ी बड़ी रियासतें और जमींदारियाँ प्राप्त कर लीं; और, अन्त में, मूल आचार्य्यों की धर्म्मश्रद्धा, निस्पृहता, वैराग्य, परोपकार

आदि सात्त्विक गुणों को भूलकर, आप भी राजसी ठाठ बाट से रहने लगे। ठीक इसी तरह यूरोप में भी ईसाई धर्म्म के अनेक पन्थ हो गये; भिन्न भिन्न देशों मे अनेक मठ स्थापित किये गये और राजा तथा प्रजा के दान से मठाधिपति इतने श्रीमान्, स्वतन्त्र और अधिकार-सम्पन्न हो गये कि वे लोग राज-काज में भी हाथ डालने लगे। इन मठाधिपतियों में रोमनिवासी पोप सबसे श्रेष्ठ माना जाता था, क्योंकि लोगो की समझ थी कि रोम के मठ की गद्दी स्वयं पैग़म्बर पीटर की स्थापित की हुई है। रोम के पोप की सत्ता इतनी प्रबल हो गई थी कि वह केवल अन्य धर्म्माधिकारियों और मठाधिपतियों ही पर अपना अधिकार नहीं चलाता था, किन्तु वहिष्काररूप शस्त्र के आधार पर बड़े बड़े चक्रवर्ती राजाओं पर भी वह अपनी हुकूमत चलाने लग गया था। यथार्थ में रोम का पोप एक स्वतन्त्र बादशाह ही बन बैठा था। उसके अन्याय और ज़ुल्म से सब लोग तंग आ गये। पोप की देखादेखी अन्यान्य स्थानों के मठाधिपति, धर्म्माधिकारी और धर्म्मोपदेशक भी मनमानी करने लगे। ये लोग धर्म्म के नाम पर सर्वसाधारण लोगों से मनमाना धन बटोर कर अपना ऐहिक वैभव और प्रभाव बढ़ाने लगे। यदि कोई धन दे तो, पोप की आज्ञा मात्र से, उसके सब पापों का पालन कर दिया जाता था! क्षेप के पापमोवक आज्ञापत्र, बहुमूल्य पदार्थों के समान, अनेक धर्म्मोपदेशकों द्वारा बेचे जाते थे! धर्म्मसम्बन्धी विधियों और संस्कारों के समय ग्रीक, लैटिन, हीब्रू आदि प्राचीन भाषाओं का उपयोग किया जाता था, जिनसे पढ़ने और सुनने वालों को अर्थ का कुछ भी बोध न होता था। यदि कोई धार्म्मिक बातों का कुछ परिवर्तन करने का यत्न करता तो पोप और उसके धर्म्माधिकारियों की ओर से कड़ी सज़ा दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश देश के राजा और विचारवान् लोग यह सोचने लगे कि हम पोप तथा उसके धर्म्माधिकारियों के दासत्व से कैसे मुक्त हों। धीरे-धीरे इस धार्म्मिक अन्याय और दासत्व के विषय मे चारों ओर चर्चा होने लगी। कई देशों के राजाओं ने अपने को पोप की सत्ता से अलग कर लिया। इंगलैंड के राजा आठवें हेनरी ने अपनी रानी केथराइन का त्याग कर दिया था और वह इस बात के लिए पोप की सम्मति लेना चाहता था; परन्तु जब पोप ने सम्मति न दी तब राजा ने उस समय के धर्म्माधिकारियों की कुछ भी परवा न की और स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरी स्त्री के साथ विवाह कर लिया।

इस प्रकार यद्यपि राजा लोग और कुछ बड़े बड़े सरदार पोप की सत्ता से स्वतन्त्र होते चले जा रहे थे, तथापि उन लोगों का ध्यान धार्म्मिक सुधार या परिवर्तन की ओर नहीं था। वे लोग धार्म्मिक परिवर्तन करने की अपेक्षा स्वयं स्वतन्त्र हो जाने—पोप या उसके किसी धर्म्माधिकारी की अधीनता में न रहने—ही का अधिक यत्न कर रहे थे। यथार्थ में धार्म्मिक परिवर्तन का पवित्र कार्य्य योरप में मध्यम श्रेणी के विचारवान् तथा सर्वसाधारण लोगों ही ने मिल कर किया। उन लोगों को, इस कार्य्य में, राजाओं तथा बड़े आदमियों की न तो सहायता ही मिली और न सहानुभूति ही मिली। इसके बदले उन लोगों को राजाओं तथा उनके अधिकारियों की अन्यायगर्भित सत्ता का कठिन सामना करना पड़ा।

सोलहवीं सदी में जिन विचारवान् और धैर्यधारी लोगों ने ईसाई धर्म्म में अद्भुत

क्रान्ति उत्पन्न की उनमें जर्मनी के मार्टिन लूथर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसने एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें उस समय के प्रचलित धर्म्म तथा धर्म्माधिकारियों के अनाचारों की कड़ी आलोचना की गई। लूथर के उपदेश से सब लोगों की आँखें खुल गई। वे अपनी मूढावस्था से जाग कर सत्य धर्म्म का प्रचार करने तथा पोप द्वारा प्रचलित मिथ्या धर्म्म का प्रतीकार करने को तैयार हो गये। पोप को यह बात अच्छी न लगी। उसने देखा कि अब हमारा सारा अधिकार और वैभव नष्ट हो जायगा। तब उसने जर्मनी के बादशाह की सहायता से एक वृहत् धर्म्म-सभा की और लूथर को वहाँ उपस्थित होने के लिए आज्ञापत्र भेजा। बहुत लोगों ने लूथर को सभा में न जाने की सलाह दी, क्योंकि वहाँ उसके मारे जाने का भय था, परन्तु उस सत्यनिष्ठ महात्मा ने किसी की न सुनी। जब वह सभा में गया तब अनेक धर्म्माधिकारियों, राजाओं और मित्रो ने उसको समझाया कि तुम अपने नूतन धार्म्मिक मतों का त्याग कर दो और पोप की सत्ता का व्यर्थ विरोध मत करो। परन्तु उसके अन्तःकरण में परमेश्वर के शुद्ध ज्ञान की ज्योति प्रकाशित हो रही थी; वह अपने मानव-बन्धुओं को मिथ्या धर्म्म के अत्याचार तथा दासत्व से मुक्त करने ही के लिए अवतीर्ण हुआ था। वह एक परमेश्वर की सत्ता के सिवा और किसी की सत्ता से क्यों डरता! उसने निर्भय होकर अपने नूतन मतो का मण्डन किया। पोप की आज्ञा से जर्मनी के बादशाह ने लूथर को अपने देश से निकाल दिया और यह हुक्म जारी किया कि कोई भी उसकी सहायता न करे। लूथर ने पोप तथा बादशाह के आज्ञापत्रों को, अपने विश्वविद्यालय में, धार्म्मिक शिक्षा देते समय, आग में जला कर भस्म कर दिया! इसी समय से लूथर के अनुयायियों की संख्या धड़ाधड़ बढ़ने लगी। जिस तरह सूखी घास का बड़ा भारी पर्वत आग की एक चिनगारी से जल कर भस्म हो जाता है, उसी तरह पोप तथा उसके धर्म्माधिकारी की अन्यायी, अनाचारी और अज्ञान तथा स्वार्थ की नींव पर बनी हुई धार्म्मिक और सामाजिक सत्ता की पुरानी इमारत, सत्य, धर्म्म-ज्ञान के प्रचण्ड तेज से, जल गई। इस धार्म्मिक परिवर्तन मे योरप के विद्वानों ने विशेष सहायता की। इन लोगों ने प्राचीन और मृत-भाषा में लिखे हुए धार्म्मिक ग्रन्थों का अनुवाद सर्वसाधारण लोगो की मातृ-भाषा में प्रकाशित किया। ईसाइयों के प्रधान धार्म्मिक ग्रन्थ बाइबल का भी अनुवाद प्रचलित देश-भाषाओं में किया गया। इन अनुवाद ग्रन्थों के प्रकाशित होते ही पोप द्वारा प्रचलित धर्म्म के भ्रम की सारी क़लई खुल गई। लोगो का विश्वास हो गया कि धर्म्म के कार्य्य में, ईश्वर की प्राप्ति के लिए, पाप का क्षय करने के लिए, सदाचार से रहने के लिए और आत्मोन्नति के लिए किसी पोप या उसके अधिकारी की कोई आवश्यकता नहीं। इस परिवर्तित धर्म्म के अनुयायियों को प्रौटेस्टेन्ट और पोप के अनुयायियों को केथोलिक कहते हैं।

धीरे धीरे इस प्रोटेस्टेन्ट (नूतन अथवा परिवर्तित) धर्म्म के मतों का उन्नति-कारक प्रवाह यूरोप के सभी देशों में बहने लगा। इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड में भी इन मतों का प्रभाव ज़ोर से बढ़ने लगा। हज़ारों लाखों मनुष्य रोमन कैथलिक धर्म्म की अज्ञानवर्धक, पापमूलक तथा हानिकारक सत्ता से मुक्त होने लगे। धार्म्मिक क्रान्तिकारों की जीत हुई और यूरोपनिवासी अपनी बुद्धि, व्यवहार, आचार, राजकाज आदि

की स्वाधीनता का उपभोग करने लगे। ज्यों ही लोगों की विचारशक्ति पोप के प्रज्वलित मिथ्या धर्म्म के बन्धनों से स्वतन्त्र हो गई त्यों ही नूतन तत्त्वविचार, नये नये वैज्ञानिक आविष्कार, नये नये व्यापार और व्यवसाय, कलाकुशलता-सम्बन्धी नया नया उद्योग, सामाजिक सुधार और विद्या का प्रचार आदि अनेक लोकोपयोगी कार्य्यों के लिए शीघ्रता तथा सफलता से यत्न किये जाने लगे। इसका सुफल, वर्तमान समय में, हम सब लोग देख ही रहे हैं—यूरोप के प्रायः सभी देश उन्नति के मार्ग में बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

अब देखना चाहिए कि इस धर्म्म-परिवर्तन के कार्य्य में लोगो को कितना और कैसा कष्ट सहना पड़ा—उन्हें किन किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। सुधार और उन्नति, परिवर्तन और क्रान्ति, चाहे किसी व्यक्ति की हो, चाहे किसी समाज या देश की हो, कोई सहज काम नही है। सुनने और पढने के समय ये सब शब्द बड़े ही मधुर और मोहक मालूम होते है; परन्तु जो लोग अपनी या अपने समाज और देश की उन्नति का यत्न करते हैं उन्हें कण्टकमय मार्ग से चलना ही पड़ता है। उनके मार्ग में फूलों की सेज नहीं बिछी रहती, किन्तु उन्हे सदा तलवार की तेज़ धार पर नाचने के समान कठिन काम करना पड़ता है। यूरोप के अन्य देशों की बातें जाने दीजिए। जिस इंगलैंड देश के साथ हमारा इतना गहरा सम्बन्ध है उसी के इतिहास की ओर देखिए और इस बात का विचार कीजिए कि वहाँ इन धाम्मिक क्रान्तिकारियों की—नूतन मत के अनुयायियो (प्रोटेस्टेन्टों) की—कैसी दुर्दशा हुई। सबसे पहले, बाइबल के अनुवादक, मिस्टर विलियम टिंडेल का कुछ हाल सुनिए।

जिस समय लूथर ने जर्मनी में धाम्मिक सुधार का कार्य्य आरम्भ किया उसके पहले ही इंगलैंड में जान विकलिफ और उसके अनुयायियों के यत्न से धाम्मिक जागृति हो गई थी। इसलिए लूथर के प्रोटेस्टेन्ट मतों का स्वीकार और प्रचार इंगलैंड में सहज और बहुत शीघ्र हो गया। परन्तु इंगलैंड के राजा आठवें हेनरी ने (यद्यपि वह अपने स्वार्थ और अपनी निजी स्वाधीनता के लिए पोप की सत्ता का विरोधी था) और उसके बड़े बड़े अधिकारियों तथा सरदारों ने भी नूतन मतों का स्वीकार न किया था। अतएव वे लोग अपने देश के प्रोटेस्टेन्टों के साथ, सहानुभूति के बदले, सदा विरोध किया करते थे। विलियम टिंडेल नाम के एक विद्वान् आदमी ने, नूतन मतों के अनुसार, अँगरेज़ी भाषा में बाइबल का अनुवाद किया था। उसका विश्वास था कि जब तक धर्म्मग्रन्थों की शिक्षा मातृभाषा के द्वारा न दी जायगी तब तक धाम्मिक जागृति में सफलता न होगी। परन्तु उस समय इंगलैंड में प्रोटेस्टेन्ट मत के लोग इतने सताये जा रहे थे कि टिंडेल को वहाँ रहना तक कठिन हो गया। प्रायः एक वर्ष तक वह लन्दन के किसी पादरी के घर में छिपा रहा। जब वहाँ भी उसे कुछ भय मालूम हुआ और इंगलैंड में अपने ग्रन्थ के प्रकाशित होने की कोई आशा न देख पड़ी[1] तब वह इधर उधर भागता भागता विटम्बर्ग में जा

1. Cf.—I understood at the last not only that there was no room in my Lord of London's palace to translate the New Testament, but also that there was no place to do it in all England."—'Readings from English History'

पहुँचा, जो कि लूथर की धार्म्मिक शिक्षा का केन्द्रस्थान था। यहाँ कुछ सौदागरों की सहायता से उसने बाइबल का अनुवाद प्रकाशित किया और सन् 1526 में, गुप्त रीति से, उसकी छः हज़ार कापियाँ इंगलैंड को भेजी गई। इन पुस्तकों का प्रचार रोकने के लिए राजा की ओर से आज्ञापत्र जारी किया गया। जिन अँगरेज़ सौदागरों ने इन पुस्तकों की बिक्री और प्रचार में सहायता दी थी उनसे, इंगलैंड के धर्म्माधिकारी कार्डिनल वूल्सी की आज्ञा से, सेंट पाल नामक गिरजाघर में प्रायश्चित कराया गया। क्रूस के सामने अग्निकुण्ड प्रज्वलित किया गया; बाइबल के अनुवाद ग्रन्थों का प्रचार करने वाले पापी(') सौदागरों ने, अपने सिर पर पुस्तकों से भरे हुए टोकरों को उठा कर, तीन बार उस अग्निकुण्ड की प्रदक्षिणा की; और, पुस्तकों के सब गट्ठे अग्नि में झोंक दिये[1]! इसी तरह और भी अनेक उपायो से प्रोटेस्टेन्टों के मतो का प्रचार रोकने का यत्न किया गया। परन्तु इन कृत्रिम उपायो से, रुकावट के बदले, लोगों का उत्साह और धैर्य अधिकाधिक बढने लगा। सत्यधर्म्म की शिक्षा देने और नूतन मतों के ग्रन्थो का प्रचार करने के लिए अनेक गुप्त सभायें और मण्डलियाँ स्थापित की गईं और उनका प्रवेश विश्वविद्यालयों तथा कालेजों में भी होने लगा।

आठवें हेनरी के मरने पर उसका लड़का छठा एडवर्ड गद्दी पर बैठा। वह नाबालिग़ था। इसलिए उसके सरदार राज्य का प्रबन्ध करते थे। उनमें से बहुतेरे प्रोटेस्टेन्ट हो गये थे। अतएव पारलियामेंट के द्वारा क़ानून बनाये गये। फिर उनकी सहायता से देश भर में प्रोटेस्टेन्ट मतो का प्रचार किया जाने लगा। यह हुक्म हुआ कि सारे गिरजाघरों में प्रार्थना की पुस्तक (The Prayer Book) अँगरेज़ी भाषा में पढ़ी जाय। कुछ समय के बाद एडवर्ड की मृत्यु हो गई और उसकी बड़ी बहन, मेरी, इंगलैंड की रानी बनाई गई। वह कट्टर कैथलिक थी। उसने प्रोटेस्टेन्ट पन्थ को जड़ से उखाड़ डालने का यत्न किया। उसने अपने पाँच-छः वर्ष ही के शासन काल में इंगलैंड के प्रोटेस्टेन्टों को बेहद तंग कर डाला और सारे देश को, फिर से, रोम के पोप के अधीन कर दिया। सबसे पहले उसने गिरजाघरों में अँगरेज़ी में प्रार्थना-पुस्तक का पढ़ा जाना बन्द कर दिया। इससे लोगों में अशान्ति और असन्तोष उत्पन्न हो गया। इतने ही में रानी मेरी ने स्पेन के राजा फ़िलिप के साथ (जो मेरी ही के समान कट्टर कैथलिक था) विवाह करने का विचार प्रकट किया। तब तो लोग बहुत ही चिढ़ गये। देश भर में दंगा और फ़साद होने लगा। सेना की सहायता से, और फ़िलिप के साथ विवाह न करने की झूठी

---

1. Cf.—"Great baskets full of books were commanded after the great fire was made before the Rood of Northen, thus to be burned and those heretics to go there in about the fires and to cast in their fargots."

—'Readings from English History'

प्रतिज्ञा[1] करके कुछ बड़े बड़े सरदारों को अपनी ओर मिला कर, रानी मेरी ने किसी प्रकार वह बलवा शान्त किया। इसके बाद उसने फ़िलिप के साथ विवाह कर ही लिया और, अब, वह प्रोटेस्टेन्ट लोगों से भयानक क्रूरता से बदला लेने लगी। उसने अपनी चचेरी बहिन लेडी जेन ग्रे को (जो प्रोटेस्टेन्ट थी—परन्तु बिलकुल निरपराध थी) मरवा डाला और छोटी सगी बहन एलीजाबेथ को (जो मेरी के बाद इंगलैंड की रानी हुई) क़ैद कर लिया। उसने पारलियामेंट से यह क़ानून बनवा लिया कि जो लोग पोप की सत्ता न मानेंगे और उसके स्थापित किये हुए धर्म्म पर विश्वास न रक्खेंगे वे नास्तिक तथा अधार्म्मिक (Heretics) समझे जाकर आग में ज़िन्दा जला दिये जायँगे ! इस भयानक क़ानून के अनुसार काररवाई भी की जाने लगी और सत्य, धर्म्म-विश्वास, ज्ञान-निष्ठा, ईश्वर-भक्ति, आत्म-निश्चय और स्वमतानुसार आचरण करने की स्वाधीनता इत्यादि सारे दैवी गुणों की परीक्षा का समय आ पहुँचा !

सन् 1555 के आरम्भ में, रानी मेरी के भयानक द्वेषाग्निकुण्ड में, प्रोटेस्टेन्ट लोगों का बलिदान दिया जाने लगा। फ़रवरी में हूपर, सांडर्स और रोज़र्स नाम के प्रोटेस्टेन्ट पादरी और उपदेशक ज़िन्दा जला दिये गये। मार्च में आठ, अप्रैल में चार, मई में चार, जून में छः, जुलाई में ग्यारह, अगस्त में अठारह और सितम्बर में ग्यारह आदमी जला कर भस्म कर दिये गये। आक्टोबर में जो लोग जलाये गये उनकी संख्या निश्चित नहीं है; परन्तु उन लोगों में रिड्ले और लेटिमर नाम के दो प्रसिद्ध धर्म्मोपदेशक थे। जलती हुई आग में पड़े पड़े लेटिमर ने रिड्ले को पुकार कर कहा—'Play the man, Master Ridley, he shall this day light up such a candle, by God's grace, in England, as I trust, shall never be put out.'[2] अर्थात् आज परमेश्वर की कृपा से हम इंगलैंड में ऐसी ज्योति प्रदीप्त करेंगे जो कभी न बुझ सकेगी ! जिन प्रोटेस्टेन्टों ने अपने मत की रक्षा में प्राण त्याग किये उनकी कथाओं का वर्णन करना असम्भव है। रोलैंड टेलर नाम के एक पादरी के जलाये जाने की कथा ऐसी भयानक और हृदयद्रावक है कि पढ़ते पढ़ते आँखों से आँसू टपकने लगते है। जी चाहता है कि वह कथा विस्तृत रीति से यहाँ लिख दी जाय; परन्तु लेख की पृष्ठ-मर्य्यादा बढ जाने का भय है। अतएव संक्षेप में अब इतना हो कहना है कि रानी मेरी ने लन्दन, केन्ट, ससेक्स और पूर्व भाग के शहरो में भयानक अत्याचार किया। उसने अपने शासन-काल के अन्तिम तीन वर्षों मे (सन् 1555 से 1558 तक) पाँच सौ से अधिक लोगों को ज़िन्दा जलाकर भस्म कर दिया ! परन्तु, तिस पर भी, नूतन परिवर्तित धर्म्म के अनुयायियों ने अपने मतों का

1. Cf.—"I promise you, on the word of a queen, that, if it shall not appear to the Lords and Commons in Parliament to be for the benefit of the whole realm, I will never marry while I live. Where fore, stand fast against these rebels your enemies and mine + + +."
—'Readings from English History'

2. 'Outlines of English History', by S.S. Gardiner. p. 164

त्याग न किया। इन लोगों के हृदय से मृत्यु का भय मानो स्वयं ही डर कर भाग गया था। स्वधर्म्म की रक्षा के लिए—स्वमत के अनुसार बर्ताव करने के लिए—प्राणोत्सर्ग कर देना बहुत बड़ा भूषण माना जाता था! जो लोग इस प्रकार शहीद (Martyrs) हुए वे सब ईश्वर की विशेष कृपा के पात्र समझे गये। उनमें से बहुतेरों के नाम साधु-संतों और महात्माओं में गिने जाने लगे। इन शहीदों का उदाहरण देख कर प्रोटेस्टेन्ट पन्थ के लोगों में ऐसा जोश आ गया कि उन्होंने, स्वधर्म्म की रक्षा और उसके प्रचार में, भयानक से भी भयानक संकटों की कुछ भी परवा न की। मेरी के मरने पर एलीज़ाबेथ गद्दी पर बैठी। उसके जमाने में इंगलैंड की बहुत उन्नति हुई। धर्म्म के विषय में वह सदा तटस्थ रहा करती थी। परन्तु जब प्रथम जेम्स गद्दी पर बैठा तब धर्म्म के विषय में फिर छेड़छाड़ होने लगी। उसके जमाने में आयरलैंड के निवासी इतने तंग किये गये कि बहुतों ने अपने धर्म्म की रक्षा के लिए स्वदेश का त्याग तक कर दिया। इन्हीं स्वदेश-त्यागियों की बदौलत अमेरिका का प्रदेश बसा है। यह घटना इस बात की गवाही देती है कि बुरी बातों से भी भलाई हो जाया करती है।

परमेश्वर को अनेक धन्यवाद हैं कि जिस इंगलैंड के प्रतापी, पराक्रमी, सत्य-परायण और ज्ञान-सम्पन्न लोगों ने, धार्म्मिक स्वाधीनता के लिए, प्रदीप्त अग्निकुण्ड की भी परवा न की उसी विजयी और उन्नतिशील देश के साथ हमारा गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यूरोप के धार्म्मिक परिवर्तन के योग से अँगरेज़ जाति का जो भाग्योदय हुआ है उस ओर ध्यान देकर हम लोगों को कुछ शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए। अँगरेज़ी राज्य की सत्ता में रह कर, राजनिष्ठायुक्त आचरण करते हुए, हम लोगों को अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक और धार्म्मिक उन्नति करनी चाहिए। हम लोगों को सोचना चाहिए कि निरर्थक तथा हानिकारक बन्धनों से हमारी मुक्ति किस तरह होगी। ऊपर कहीं पर इस बात का कुछ उल्लेख किया गया है कि इस समय हमारे धर्म्म और समाज की दशा कैसी है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमारे सनातन धर्म्म के शुद्ध और यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का प्रचार करने के लिए यत्न किया जाय तो उससे हमारे देश की केवल आध्यात्मिक उन्नति ही न होगी किन्तु लौकिक, व्यावहारिक और राष्ट्रीय हित की भी वृद्धि होगी। यह सन्तोषदायक बात है कि यूरोप के इतिहास की शिक्षा पाकर, पश्चिमी विद्या के प्रकाश से जागृत होकर, और विशेषतः अँगरेज़ जाति के कल्याणकारक उदाहरणों से उत्तेजित होकर कुछ लोग सामाजिक और धार्म्मिक सुधारों की ओर ध्यान देने लगे हैं। इस देश की वर्तमान जागृति की ओर ध्यान देने से यह कहना पड़ता है कि अब यहाँ भी ज्ञान-सूर्य्य का उदय हो रहा है। परन्तु भविष्यत् में बहुत काम करना है। लोगों का धार्म्मिक और नैतिक शील सुधारने के लिए देशी भाषाओं के द्वारा जागृत की जानी चाहिए। हमारे धर्म्म-ग्रन्थों का ज्ञान-भाण्डार जो संस्कृत भाषा में छिपा पड़ा है, देशी भाषाओं के द्वारा घर घर, प्रत्येक व्यक्ति के पास, पहुँचाया जाना चाहिए। सत्य और सनातन धर्म्म की रक्षा तथा अपने मतों का प्रचार करने में किसी विघ्न या संकट से भयभीत न होना चाहिए। लूथर जैसे धर्म्मप्रचारकों और अँगरेज़ शहीदों के पवित्र चरित्रों से ज्ञान-निष्ठा, सत्य-सम्बन्धी अटल प्रेम और धार्म्मिक श्रद्धा इत्यादि दैवी गुणों की शिक्षा

लेनी चाहिए। यदि मिथ्याभिमान अथवा दुरभिमान का त्याग करके सामाजिक सुधार और धार्म्मिक परिवर्तन का कार्य्य किया जाय तो हमारे देश की उन्नति होने में बहुत समय न लगेगा। सत्य ज्ञान के अभाव से मोह और अज्ञानरूपी अन्धकार शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। और, परमेश्वर की कृपा से हमारे सनातन हिन्दू धर्म्म के अनुयायियों में वह सामर्थ्य एक दिन अवश्य देख पड़ेगा कि जिसका वर्णन पुराण-ग्रन्थों में पढ़ कर यूरोप-निवासी इस समय भी मुग्ध हो रहे हैं। तथास्तु।

[जून, जुलाई, अगस्त, सितम्बर एवं नवम्बर, 1913 की 'सरस्वती' में तिमूर्ति शर्म्मा एवं त्रिविक्रम शर्म्मा नाम से प्रकाशित। असंकलित।]

इन सामग्रियों में अत्यधिक विविधता होने के कारण उन्हें कई भागों में बाँटा गया है। पहले भाग में प्राचीन भारत की सभ्यता-संस्कृति का दूसरे देशों में किस प्रकार विकास हुआ था, इसकी झलकियाँ हैं। दूसरे भाग में विदेशी विद्वानों द्वारा जो संस्कृत-साहित्य पर काम हुए थे एवं जिन कामों के कारण यूरोपीय समाज में भारत के प्रति दृष्टि बदली थी—उन सामग्रियों को संयोजित किया गया है। तीसरे भाग में विश्व के अनेक देशों पर विविध विषयों के निबन्ध हैं। साथ ही इसमें दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी के द्वारा जारी आन्दोलन का विस्तृत विवरण भी है तथा लीग ऑफ नेशन्स पर एक आलोचनात्मक निबन्ध भी है। चौथे भाग में विदेशी विद्वानों, संस्कृतज्ञ, समाज-सुधारक, राजनयिक, सेनानायक, वैज्ञानिकों के जीवन-चरित हैं। इनकी संख्या 34 है। पाँचवें खण्ड में उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव की यात्राओं का रोमांचक वर्णन, इटली के विस्यूवियस नामक ज्वालामुखी एवं पांपियाई नगर आदि पर ग्यारह निबन्ध हैं। छठे भाग में अफ्रीका, मैक्सिको, मैडेगास्कर, अंडमान आदि के मूल आदिवासियों के जीवन का समाजशास्त्रीय चित्रण है।

आज जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है उसको लाने में आचार्य द्विवेदी जी का अन्यों के साथ महान् स्थान है। अब वह समय आ गया और हिन्दी अपने उस स्थान पर विराजमान है, जहां से उसे हटाने मे भगीरथ प्रयत्न का भी सफल होना कठिन है। और इसका श्रेय बहुत कुछ आचार्य द्विवेदी जी को भी है।

आचार्य द्विवेदी जी युग प्रवर्तक थे, उन्होंने एक युग की समाप्ति देखी है और दूसरे युग के आरम्भ कराने में हाथ बंटाया है, किन्तु स्वयं उनको इस असार संसार को उसी दीनावस्था में त्यागना पड़ा जैसा कि ऐसे पराधीन देश में विद्वानों और युग-प्रवर्तकों को करना पड़ता है।

मुझे इधर पचीस-तीस वर्षों से आचार्य द्विवेदी जी से थोड़ा परिचय था, एकाध बार उनकी चरण-सेवा का मुझे भी अवसर मिला था, मैं भली भांति इसका अनुभव कर सकता हूं कि हिन्दी के ऐसे युग प्रवर्तक विद्वान सेवक का हिन्दी जनता ने कुछ भी ख्याल नहीं किया व न उनके अन्तिम समय को सुखी बनाने में कोई हाथ ही बंटाया।

—शिवप्रसाद गुप्त

संस्थापक— 'आज' [दैनिक]

वाराणसी

किताबघर प्रकाशन